समास 21

समास
21

समास - २१

सम्पादकीय

बातचीत

संज्ञान की विधियाँ और बच्चों की शिक्षा
के.बी. जिनन से उदयन वाजपेयी की बातचीत ०१

सैयद हैदर रज़ा

एक अप्रतिम कलाकार की यात्रा - यशोधरा डालमिया ६८

कविताएँ

ऐसे कटता है दिन और अन्य कविताएँ - ध्रुव शुक्ल १०६
क़िस्सागो रो रहा है - मनोज कुमार झा ११७
चम्पू एवं अन्य कविताएँ - संगीता गुन्देचा १२३
कृष्णमोहन झा की कविताएँ १३६
मौलिक वह तस्वीर - अमृता भारती १५०
प्रकृति और नियति का यह विरोध क्यों? - अफ़ानासी फ़्येत १७०

बोली

बुढ़ऊ का बियाहु (बैंसवाड़ी) - चन्द्रभूषण १७५

कहानी/उपन्यास अंश

फ़ानी बाक़ी - शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी १८२
एक ख़ंजर पानी में - ख़ालिद जावेद २२१
ख़ुदकुशी नामा - रिज़वानुल हक़ २५१

निबन्ध

आलोचना की भाषा - अशोक वाजपेयी २६०
तान्त्रिक उपासना - वागीश शुक्ल २६५
निर्देशक की व्यथा-कथा - राजेन्द्र पांचाल ३२०
बूझती अंगुलियाँ-३ - जगदीश स्वामीनाथन-अखिलेश ३२७
मलिक मोहम्मद जायसी - क्षितिमोहन सेन ३४१

विजयदेव नारायण साही

कविता की एक सतह यह भी – उदयन वाजपेयी ३५०

कविता की साखी और साही का काव्य-न्याय – मदन सोनी ३५७

समीक्षा

'समास' की परिक्रमा : एक दृश्यावलोकन – रामशंकर द्विवेदी ३६६

लेखक परिचय ३८६

सम्पादकीय

हम पिछले क़रीब पन्द्रह महीनों से अभूतपूर्व मुश्किल दौर से गुज़र रहे हैं। दुनिया का शायद ही कोई देश बाक़ी हो जिसमें कोविड-१९ का संक्रमण और उसके फलस्वरूप मृत्यु का सिलसिला न चला हो। हर देश में इस संक्रमण ने वहाँ के शासकों की लापरवाही के समतुल्य ही विकरालता प्राप्त की है। हमारे देश में यह विकरालता अभूतपूर्व ही रही और आज भी है। यह कह पाना किसी के भी वश में नहीं है कि हम इस संक्रमण की गिरफ़्त से कब और कैसे बाहर आ सकेंगे। यह पहली बार नहीं है जब कोई संक्रामक रोग इतने व्यापक स्तर पर दुनियाभर में फैला हो। लगभग सौ वर्षों पहले स्पहानी फ़्लू पूरी दुनिया में फैला था और उसके फलस्वरूप भी बहुत बड़ी संख्या में लोगों की मृत्यु हुई थी। कोविड-१९ के पहले ही सार्स और मार्स जैसे संक्रामक रोग विश्व के कुछ इलाकों में फैले थे। लेकिन इन तमाम रोगों और कोविड-१९ के बीच एक बुनियादी फ़र्क है: कोविड-१९ की उत्पत्ति कथा कोहरे ने ढकी हुई है। बहुत समय तक यह कहा जाता रहा कि यह रोग चीन के वुहान शहर के ऐसे बाज़ारों से फैली है जहाँ जंगली जानवरों का माँस बेचा जाता है। इन जानवरों ने जिस एक पर कोविड-१९ के फैलने का दोष मढ़ा गया था, वह चमगादड़ थी। क़रीब नौ-दस महिनों तक यह कहानी हर जगह बतायी और दिखायी जाती रही कि कोविड-१९ चमगादड़ों से मनुष्यों में संक्रमित हो गया है। उसी दौरान अमेरिका के एक बड़े जीव-वैज्ञानिक टॉमस कोवन ने कोविड-१९ के जन्म के लिए फ़ाइव-जी इंटरनेट सेवाओं को ज़िम्मेदार ठहराया। उन्होंने कहा कि जर्मन दार्शनिक रूपर्ट स्टाइनर का यह कहना था कि जब-जब भी विश्व का व्यापक स्तर पर बिजलीकरण (इलेक्ट्रीफ़िकेशन) होता है, कोई न कोई महामारी फैलती ही है क्योंकि इलेक्ट्रीफ़िकेशन के कारण मनुष्य की कोशिकाएँ कमज़ोर पड़ जाती हैं, इसी तरह फ़ाइव-जी इंटरनेट सेवाओं के शुरू होते ही कोविड-१९ फैलना शुरू हो गया। इसके प्रमाणस्वरूप टॉमस कोवन ने यह बताया कि चीन के वुहान शहर में ही सबसे पहले फ़ाइव-जी इंटरनेट सेवाएँ शुरू की गयी थी और उसके कुछ ही समय बाद वहाँ दुनिया के पहले लगभग दस हज़ार कोविड संक्रमित लोग मिले। इस तर्क का पर्याप्त अन्वेषण किये बगैर ही इसे कई हल्क़ों ने तिरस्कृत करना ठीक समझा। यहाँ यह बताते चलना शायद ठीक हो कि जिन दिनों भारत कोविड-१९ संक्रमण की पहली लहर से पीड़ित था, भारत के तमाम शहरों में फ़ाइव-जी इंटरनेट सेवाओं की लाइनें डाली जा रही थीं। यह बता देना भी शायद ग़लत नहीं होगा कि फ़ाइव-जी इंटरनेट सेवाएँ बहुत तेज़ अवश्य होंगी लेकिन इस तेज़ी को लाने के लिए फ़ाइव-जी की इलेक्ट्रोमेग्नेटिक तरंगें बहुत कम 'वेवलेंग्थ' की होंगी। इस कारण इन्हें विकीरित करने वाले 'सेल्स' घरों की बहुत नज़दीक लगाये जाएँगे जिसके कारण उन घरों के वध्य सदस्यों को कैंसर जैसी बीमारियाँ होने के खतरे, कई वैज्ञानिकों के मत में, बहुत बढ़ जाएँगे।

पिछले कुछ हफ़्तों से कोविड-१९ की उत्पत्ति की एक नयी कहानी कही जा रही है। यह पूरी तरह नयी तो नहीं है क्योंकि इसे कोविड-१९ संक्रमण की शुरुआत से ही भले ही धीमे स्वर से पर कहा अवश्य जा रहा था और उसे मुस्तैदी से नकारा भी जा रहा था। इसे कहने वाले पहले प्रमाणिक वैज्ञानिक फ़्रांस के

मोन्तेनिये हैं। ये वही वैज्ञानिक हैं जिन्हें एड्स रोग के कारणभूत वायरस को खोजने के लिए नोबल पुरस्कार दिया गया था और संयोग से ये ही वह वैज्ञानिक हैं जिन्होंने अत्यन्त प्रमाणिक वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर यह साबित किया था कि पानी स्मृति सम्पन्न होता है। पानी को स्मृतिविहीन (न्यूट्रल) मानकर जैविकी की समझ विकसित करने वाली परम्परा के वैज्ञानिकों ने मोन्तेनिये के इस शोध का पुरज़ोर विरोध भी किया था क्योंकि अगर यह सच है कि पानी की स्मृति होती है तब समूचे जीव-विज्ञान का पुनरीक्षण करने की आवश्यकता होगी और यही नहीं उस स्थिति में समूचे चिकित्सा-विज्ञान पर भी पुनर्विचार करना होगा। मोन्तेनिये ने कोविड-१९ के वायरस की संरचना के अध्ययन के आधार पर यह अनुमान लगाया था कि इसे प्रयोगशाला में विकसित किया गया होगा। मोन्तेनिये के इस अनुमान को भी नकार दिया गया था। पर नकारे जाने के बावजूद वह अनुमान बना रहा था। इसके कुछ महीनों बाद, अभी कुछ हफ़्तों पहले कोविड-१९ के वायरस के प्रयोगशाला में विकसित किये जाने के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं। इस समय तक दुनिया के अनेक वैज्ञानिक इस अनुमान को मानने को बाध्य जान पड़ रहे हैं। यह सप्रमाण कहा जा रहा है कि यह वायरस वुहान की एक प्रयोगशाला में विकसित किया गया है जिसकी वित्तीय सहायता अमरीका भी कर रहा था। हमने कोविड-१९ के कोरोना-२ वायरस के जन्म की यह लम्बी कहानी इसलिए कही क्योंकि अगर इसमें से आखिरी कहानी (अनुमान) सही है तो यह हम सबके लिए भयानक ख़बर है। जिस बीमारी के जन्म की सच्चाई को इतनी सफ़ाई से पन्द्रह महीनों तक छिपाया जा सकता है, उसके इलाज के परिणामों या दुष्परिणामों को भी छिपाया जा ही सकता है।

कोरोना-२ वायरस की उत्पत्ति इस बात का इशारा है कि अगर मनुष्य की कोई भी ज्ञान परम्परा अपनी सीमा के विषय में सजग नहीं होगी तो वह पूरी मनुष्यता या दुनिया को नष्ट करने की कगार पर ले आएगी। यह समय है जब विज्ञान को अपनी सीमा पहचानने और उसका आदर करने की कोशिश करनी होगी। विज्ञान के अलावा दुनिया में ऐसी कोई ज्ञान परम्परा नहीं है जिसमें अपनी सीमा का विवेक न हों। अपनी सीमा को पहचाने बग़ैर किसी भी ज्ञान परम्परा में नैतिक मूल्यों का अभाव होता ही है। अगर विज्ञान इस विवेक को अपने अस्तित्व की प्रक्रिया में शामिल करने का उपक्रम करने में विफल हो जाता है, मनुष्य और प्रकृति के बचे रहने की सम्भावना कम हो जाएँगी। या कम-से-कम उसके स्वस्थ बने रहने की सम्भावना कम हो जाएँगी। विज्ञान का अन्य ज्ञान परम्पराओं की तरह ही अपनी सीमा बाँध लेना ही पहाड़ों और नदियों, पेड़ों और पक्षियों, जानवरों और मनुष्यों सबके लिए श्रेयष्कर है।

भोपाल,
२० जून, २०२१

उदयन वाजपेयी

संज्ञान की विधियाँ और बच्चों की शिक्षा

के.बी. जिनन से उदयन वाजपेयी की बातचीत

के.बी. जिनन बच्चों की शिक्षा और संज्ञान (कॉग्निशन) के मार्गों पर विचार करने वाले भारत के अद्वितीय चिन्तक और एक्टिविस्ट हैं। जिनन साहब केरल के त्रिशूर और उसके निकट के एक गाँव में रहते हैं। उन्होंने अपनी शुरुआती शिक्षा एक सैनिक स्कूल में प्राप्त की थी, उसके बाद वे भोपाल के एक राष्ट्रीय तकनीकी संस्थान में पढ़ने आ गये थे। इस दौरान उन्हें यह अनुभव होना शुरू हो गया था कि हमारे देश के बड़े संस्थानों में लगभग किसी को सीखने में कोई रुचि नहीं है, विद्यार्थियों का सारा ध्यान डिग्री लेने तक सीमित है। इसके बाद श्री जिनन अहमदाबाद के प्रसिद्ध राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान में आगे की शिक्षा के लिए चले गये। यहाँ रहते हुए उन्होंने उन रास्तों का आभास होना शुरू हो गया था जिनपर वे आगे जाकर चलने वाले थे। पिछले अनेक वर्षों से श्री जिनन बच्चों की शिक्षा और मनुष्य मात्र के संज्ञान के स्रोतों और मार्गों को समझने के लिए विभिन्न कोणों से बड़े होते बच्चों को ध्यान से देखते, सुनते और समझने के प्रयास में लगे रहे हैं। जिनन साहब को मैंने सबसे पहले उनके एक 'वेबिनार' में बोलते हुए सुना था। उन्हें सुनकर बच्चों की शिक्षा और पालन-पोषण के विषय में मुझे अपने तमाम विचार टूटते हुए जान पड़े। मुझे यह महसूस हुआ कि मैं एक ऐसे व्यक्ति को सुन रहा हूँ जिसने बच्चों के मन और मानस को बहुत भीतर तक देखा और अनुभव किया है। मैंने उनकी खोज की और अपने उन मित्रों की सहायता से मुझे उनसे सम्पर्क करने में ज़्यादा समय नहीं लगा जो बच्चों की शिक्षा पर काम करते हैं। के.बी. जिनन से मेरी यह बातचीत तीन दिनों तक 'ऑनलाइन' हुई थी। जिनन साहब उन बिरले लोगों में हैं जो मानवीय अस्तित्व को आत्यन्तिक स्तर पर प्रभावित करने की योग्यता रखते हैं। उनकी संज्ञान सम्बन्धी खोजें मनुष्यों के प्रति उनकी गहरी करुणा और लगाव से उत्पन्न हुई हैं।

उदयन- आपके बच्चों पर निरन्तर शोध का सम्बन्ध निश्चय ही आपके अपने बचपन के अनुभव से होगा, किसी हद तक। आप अपने बचपन के बारे में कुछ कहिए।

जिनन- मेरा जन्म केरल में स्कूल के शिक्षकों के घर हुआ। मुझे अपने बचपन की स्मृति बहुत अच्छी नहीं है। मेरे पिता सख़्त थे। चूँकि मेरे माता और पिता दोनों शिक्षक थे, विशेषकर पिता के प्रभाव के कारण हमारा घर ही स्कूल में तब्दील हो गया था। इसलिए एक अर्थ में मुझे नहीं लगता कि मेरा बचपन सुखद था। सख़्त पिता का होना, बच्चों के लिए अच्छा नहीं होता।

उदयन- सख़्त पिता कहने से आपका क्या आशय है? सख़्त पिता के कई आशय हो सकते हैं।

जिनन- उनका अकेला ज़ोर पढ़ने पर था। उन्होंने हमें कभी पड़ोस के बच्चों के साथ घुलने-मिलने या खेलने नहीं दिया। इसलिए हमारी बहुत कुछ क़ैद में बितायी जैसी ज़िन्दगी थी। पाँचवी कक्षा में मैं

तिरूवनन्तपुरम् के सैनिक स्कूल चला गया जो एक और तरह का जेल था। लेकिन सैनिक स्कूल का यह थोड़ा-सा फ़ायदा था कि घर पर हमारे पिता हमें बहुत जल्दी पकड़ लेते थे लेकिन कक्षा में तीस छात्रों के होने के कारण आपको थोड़ा ज़्यादा गुंजाइश मिल जाया करती थी। इसलिए मुझे सैनिक स्कूल अपने घर की तुलना में ज़्यादा पसन्द था, क्योंकि वहाँ पलायन के अधिक अवसर थे। पाँचवी कक्षा में मैं होस्टल में था, वह सैनिकों जैसी ज़िन्दगी थी।

उदयन- वहाँ किस तरह की पढ़ाई होती थी?

जिनन- वहाँ वैसी ही शिक्षा होती थी- जैसी हर जगह होती है इसलिए इसमें क्या आश्चर्य है कि सभी स्कूल यह दावा करते रहते हैं कि वे श्रेष्ठ हैं। लेकिन जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो पाता हूँ कि शिक्षा की सारी व्यवस्था, सारा ढाँचा बेकार और जीवन के विरुद्ध है।

उदयन- यह मैं समझता हूँ। हम उस पर बाद में आयेंगे। लेकिन पहले यह बतायें कि वहाँ आपके किस तरह के दोस्त थे।

जिनन- दरअसल मैं खेल-कूद में अव्वल था। इसी कारण उन्होंने मुझे उस स्कूल में रहने दिया। वरना पढ़ाई में हमारी कक्षा के बत्तीस छात्रों में मेरा नम्बर कभी भी छब्बीस से बेहतर नहीं हो पाया। मैं हमेशा ही सत्ताईवें, अट्ठाइवें और तीसवें नम्बर पर आता था। मुझे कक्षा में रहना कभी पसन्द नहीं था। किसी तरह मैं परीक्षा में पास हो जाता था।

उदयन- आप कौन-से खेल खेलते थे?

जिनन- मैं एक अच्छा एथलीट था। सौ मीटर दौड़ में मैं स्कूल, राज्य आदि का विजेता जैसा था। वह अकेला ही मेरा मनोरंजन था।

उदयन- आपको अपने स्कूल के दिनों की और क्या चीज़ें याद है?

जिनन- मैं एक तरह का विद्रोही था। लेकिन केवल एक हद तक क्योंकि उसके बाद सैनिक स्कूल बाहर फेंक दिया जाता। हालाँकि मुझे दो-तीन बार लगभग स्कूल के बाहर कर दिया गया था। लेकिन खेलों में प्रवीण होने से मैं बच गया।

उदयन- स्कूल में आपके अपने दोस्तों से कैसे सम्बन्ध थे?

जिनन- उस तरह के बन्धनों के बीच भी लोग मनोरंजन के रास्ते ढूँढ ही लेते हैं। इसलिए हम बच्चों को दबाव उस तरह महसूस नहीं होता था। वहाँ दबाव था, बन्धन थे लेकिन उन सब के बीच हमने अपने मन को ख़ुश रखने के रास्ते खोज लिये थे। वह सैनिक स्कूल था इसलिए सभी लोगों से फौज में जाने की अपेक्षा की जाती थी। जब मैं दसवीं या ग्यारहवीं कक्षा में था, मैं अपना नाम सैकण्ड लेफ्टिनेन्ट के.बी.

जिनन लिखा करता था। आप उस विचार के बाहर सोच भी नहीं सकते थे। जब आप सैनिक स्कूल में भर्ती होते हैं, सारा परिवेश ऐसा बनाया जाता है कि आप नेशनल डिफ़ेंस एकेडमी (एन.डी.ए.) में पढ़कर फौजी अफ़सर बने। मुझे अपनी वह निराशा याद है जिसने मुझे मेरे एन.डी.ए. में दाखिल पाने में विफल रहने पर घेर लिया था। वह लगभग जीवन का अन्त महसूस होता था। जब हम छोटे होते हैं, हमें इस तरह के दबाव महसूस नहीं होते, हम उन स्थितियों को सामान्य समझते रहते हैं। हम यही सोचते थे कि जीवन इतना ही है कि आप फौजी अफ़सर बन जाएँ। आज जब मैं उस बारे में सोचता हूँ, मुझे विश्वास नहीं होता कि मैं कितना खुश हूँ कि मैं एन.डी.ए. के लिए चुना नहीं गया।

उदयन- आपका एन.डी.ए. में न चुना जाना हम सबके लिए शुभ ही रहा है। अगर आप वहाँ चले गये होते तो आप भी एक और अफ़सर बनकर रह जाते। या शायद ऐसे अफ़सर बन जाते जो कुछ प्रश्न आदि उठाता।

जिनन- मुझे लगता है कि मैं वहाँ देर तक टिक नहीं पाता। या तो उन्होंने मुझे निकाल दिया होता या मैं खुद बाहर आने का रास्ता खोज लेता। मैं यह इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि जैसे जैसे आप बड़े होते हैं, आप अपने ऊपर बढ़ते दबाव को झेलने में असमर्थ हो जाते हैं। लेकिन जब आप १८, १९ या २० वर्ष होते हैं आप उस सारे दबाव को तोड़ कर बाहर आने की कोशिश करते हैं।

उदयन- आप स्कूल के बाद कहाँ गये? क्या आपने किसी विश्वविद्यालय में दाख़िला ले लिया?

जिनन- पहले की शिक्षा व्यवस्था में आप ग्यारहवीं पास करके डिग्री पाने के लिए, कॉलेज आदि में सीधे भर्ती हो सकते थे। हम सैनिक स्कूल के छात्र स्कूल की पढ़ाई के बाद सीधे डिग्री के लिए जा सकते थे। जैसा लगभग सभी के साथ होता है, बिना सोचे समझे मेरी दिलचस्पी का दूसरा क्षेत्र इंजिनियरिंग था। मैं तब जानता तक नहीं था कि वह होती क्या है। क्योंकि सभी लोग वही कर रहे थे इसलिए मुझे भी लगा कि मुझे भी वही करना चाहिए। मैंने एक साल तैयारी की, सारा कुछ रट-रुट लिया और अच्छे नम्बर पाकर भोपाल के बड़े इंजिनियरिंग महाविद्यालय, एम.ए.सी.टी. (जिसे अब एम.ए.एन.आई.टी. कहते हैं) में जाकर पढ़ने लगा।

उदयन- इसका अर्थ हुआ कि आप किसी हद तक हमारे शहर भोपाल के भी हैं।

जिनन- वह शहर मुझे बहुत पसन्द है। वह मेरे दूसरे घर जैसा है।

उदयन- आप भोपाल के इस महाविद्यालय में इंजिनियरिंग पढ़ने आ गये...

जिनन- मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इंजिनियरिंग पढ़ रहा था, पर इतना ज़रूर है कि मैं एम.ए. सी.टी. में था। मैं ज़्यादा पढ़ना चाहता था सो मैं वहाँ छह वर्ष रहा। पहले वर्ष तो मैं कक्षाओं में जाता था पर दूसरे वर्ष से मैंने वह बन्द कर दिया। सौभाग्य से मुझे महाविद्यालय से निकाल भी दिया गया था। साल

भर के लिए छात्रावास से। वह मेरा प्रस्थान बिन्दु था। तृतीय वर्ष के दौरान या शायद द्वितीय वर्ष १९८२ में। पहली बात तो यह है कि देश भर के इंजिनियरिंग महाविद्यालय ऊपर से नीचे तक औसत दर्जे के हैं। हमारे महाविद्यालय में केवल आपस में झगड़े होते रहते थे। वहाँ दो छात्र समूह होते थे, एक बिहारी समूह और दूसरा उसका विरोधी समूह। इस विरोधी समूह में बिहारियों के सिवा सभी लोग होते थे। झगड़ा इस बात पर था कि पैसों पर किसका नियन्त्रण होगा। मसलन मैस का सचिव महत्वपूर्ण होता था और महाविद्यालय का अध्यक्ष भी। हमारे उस कॉलेज में राजनैतिक दलों से सम्बद्ध छात्र संघ नहीं थे। या तो बिहारी समूह था या उसके विरोधी। हमारी राजनीति उतनी ही थी। मैं भी इनमें से एक समूह था। जब उसके बारे में आज सोचता हूँ, वह अजीब ज़िन्दगी जान पड़ती है।

उदयन- आप कह रहे थे कि उन्हीं दिनों आपको कोई नया रास्ता, कोई प्रस्थान बिन्दु मिला, वह क्या था?

जिनन- दो-तीन घटनाएँ हुईं। मुझे याद है कि मैंने उन्हीं दिनों ब्रूनो को पढ़ा जिन्हें स्टेक पर जला दिया गया था। मुझे उस किस्म की क़िताबें पढ़ने में आनन्द आने लगा। मुझे यह महसूस हुआ कि हमारी इंजिनियरिंग शिक्षा व्यवस्था या मेरी इसके पहले की शिक्षा में हमें कोई भारतीय नाम सुनाई नहीं देता। मैं कोई देशभक्ति का झण्डा उठाये व्यक्ति नहीं था। मेरा सवाल तो महज यह था कि क्या इन लोगों ने कुछ किया ही नहीं है? इसके बाद से मैंने अपने आसपास के परिवेश पर ध्यान देना शुरू कर दिया और पाया कि हमारे कॉलेज के न तो छात्र और न शिक्षक सीखने के प्रति सचमुच प्रतिबद्ध थे। यह एक दिलचस्प रहस्योद्घाटन था क्योंकि एक तथाकथिक शैक्षिक संस्थान में ऐसा तो कोई होना ही चाहिए जो सीखने और शिक्षा में दिलचस्पी ले रहा हो। वहाँ के सारे छात्रों के ध्यान का केन्द्र परीक्षा पास करना, कोई विचित्र प्रवेश-परीक्षा जैसे आई.ए.एस. आई.पी.एस. या ओ.एन.जी.सी. आदि में उत्तीर्ण हो होकर कहीं बाबू होना था। एक तरह का इंजिनियरिंग क्लर्क होना। तब से मैं यह सोचने लगा कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं, वह है क्या? हम यह सब क्यों कर रहे हैं। उन दिनों हमारे महाविद्यालय ऐसे एक दो शिक्षक थे जिनके आप खुले मन से बात कर सकते थे। उनमें से एक श्री नायक थे। वे एक स्कूल चलाते थे। वे बच्चों में मेरी दिलचस्पी को जानते थे। जब मुझे महाविद्यालय से साल भर के लिए निकाला गया, वे बोले अगर तुम चाहों तो स्कूल में बच्चों के बीच रहो। मैं स्कूल में रहकर वहाँ पढ़ाने लगा। मैं बच्चों के साथ रहना चाहता था। मैं जानना चाहता था कि हम उनके साथ ठीक-ठीक ऐसा क्या करते हैं जो उनका गहरे तक नुक़सान करता है। मैं उस स्कूल में साल भर रहा। उस महाविद्यालय से निष्कासन ने मुझे पढ़ने और कुछ और करने का पर्याप्त अवकाश दिया। उस एक साल में मैं बिल्कुल ही कॉलेज नहीं गया। उस साल मैं ब्रिटिश काउसिंल लाईब्रेरी का सदस्य बन गया और क़िताबें पढ़ने लगा। मैंने रसेल के अपने बच्चों पर किये प्रयोगों पर उन्हें पढ़ा। वे

एक छोटा-सा स्कूल चलाते थे। मैंने गाँधी के बारे में भी पढ़ा। वे अद्‌भुत खोज थे। क्योंकि तब तक मार्क्सवादी होने के कारण मैं गाँधी को नहीं पढ़ता था।

उदयन- क्या आप उन बरसों में मार्क्सवादी थे?

जिनन- एक तरह का। मैं कह नहीं सकता कि उसे क्या कहा जाये। वह कुछ इस तरह से था : मेरा परिवार वामपन्थी विचारों का था। हालाँकि मैंने मार्क्सवाद का अध्ययन नहीं किया था। आप मुझे छद्‌म-वामपन्थी क़िस्म का कह सकते थे। लेकिन इस सब के बीच एक प्रोफ़ेसर थे, श्री जैन। वे शिल्पकार थे। वास्तु-कला विभाग में थे। मैं भी कुछ-कुछ करने लगा था, उसे कला कहना ठीक है या नहीं, कह नहीं सकता। मेरी श्री जैन से दोस्ती हो गयी।

उदयन- आप किस सामग्री से काम करते थे?

जिनन- मैं सूखे पत्ते उठा लेता था या सूखे बीज आदि। मैं उनके साथ कुछ करता था। मैं कविता भी लिखने लगा था। मैंने उसे किसी को पढ़ाया नहीं। श्री जैन ने मुझे गाँधी को पढ़ने कहा। उन्होंने मुझे कहा कि तुम गाँधी जैसे दिखते हो। उन्होंने मुझे 'सत्य से मेरे प्रयोग' पढ़ने को दी। वह क़िताब पढ़ना मेरे लिए अद्‌भुत अनुभव था। मैं इसके लिए श्री जैन का शुक्रगुज़ार हूँ कि उन्होंने मुझ पर गाँधी पढ़ने का दबाव बनाया। वह मेरी अपने लिए अनुपम खोज थी। उनमें सरलता थी, तब भी उनके चिन्तन की सूक्ष्मता स्पष्ट नज़र आती थी। यह बहुत कम होता है। मैं दूसरी पुस्तकें भी पढ़ रहा था। उन दिनों में आयन रेंड से बहुत प्रभावित हुआ था। मैं उन्हें पढ़कर कुछ दिनों बहुत व्यक्तिवादी रहा पर गाँधी जी के विचारों के कारण मेरे मन में सन्तुलन आया। उन्होंने जीवन का दूसरा आयाम दिखाया। लेकिन तब भी मैं आयन रेंड का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे कुछ ठोस करने की प्रेरणा दी। मुझे उस उपन्यास का कुछ भी याद नहीं है लेकिन वह भाव मेरे साथ रह गया कि हमें अपने जीवन में कुछ प्रामाणिक करना चाहिए।

उदयन- गाँधी के विषय में क्या आप यह कह रहे हैं कि आप जीवन में सीधी-सरल चीज़ें करके भी बेहद जटिल ढंग से विचार कर सकते हैं।

जिनन- उनके करने और कहने में अन्तर्विरोध नहीं था। मुझे उनमें यह चीज़ बहुत आकर्षक लगी कि वे करने के पहले कहते नहीं थे। उनका अनुभव हमेशा ही उनके ज्ञान का केन्द्र रहा। उन्होंने अपने अनुभव से जो भी सीखा, उसके ही सत्त्व को धारण कर उसे समझा। मैं इस तरह आज कह पा रहा हूँ लेकिन जब मैंने उन्हें पढ़ा था, उन्हें भावना के स्तर पर पढ़ा था। मैं उन्हें पहली बार पढ़कर बहुत रोया था। मुझ पर इस बात का गहरा असर हुआ था कि उनकी जैसी सरलता और भोलेपन के साथ वे सारे विश्व को प्रभावित कर सके। मुझे याद है कि कई लोग गाँधी जी के विषय में यह कहते रहते थे कि वे ऐसे नहीं थे, वैसे नहीं थे, तब मैं उन्हें लगातार यह कहता रहता था कि मुझे ऐतिहासिक गाँधी में कोई रुचि नहीं है, मुझे

उन गाँधी में रुचि है जिन्हें मैं रच रहा हूँ। मुझे वह रचना ऊर्जस्वित कर रही है। मैं जानता नहीं कि वह तथ्य है या नहीं। मुझे तथ्यों में दिलचस्पी भी नहीं, मुझे तो उनके लेखन ने अद्‌भुत अन्तर्दृष्टि दी है।

उदयन- आपकी बच्चों की शिक्षा की आलोचना का बिन्दु यह रहा है कि वहाँ ज्ञान जानने की प्रक्रिया से पहले ही दे दिया जाता है। शायद गाँधी जी में आपने यह देखा होगा कि वहाँ अनुभव हमेशा ज्ञान के पहले आता है। तब तक आपने जानने की प्रक्रिया का ज्ञान के पहले आने को अनुभव नहीं किया होगा। गाँधी में पहली बार देखा होगा।

जिनन- शायद आप ठीक कह रहे हैं। लेकिन तब मैंने इसे इस तरह नहीं सोचा था।

उदयन- मैं यह इसलिए कह रहा हूँ कि जानने की प्रक्रिया और ज्ञान के सम्बन्ध का उलट जाना (जिससे जानने की प्रक्रिया ज्ञान के पहले आये) ही आपकी दृष्टि की दार्शनिक पीठिका है।

जिनन- बिल्कुल।

उदयन- क्या आप गाँधी को पढ़ने के बाद उनकी चर्चा अपने दोस्तों से भी कर रहे थे या आपने अपने इस अध्ययन को गोपनीय ही रखा था?

जिनन- वहाँ ऐसे लोग नहीं थे जिनसे ऐसी बातें की जा सकें। इंजिनियरिंग कॉलेज में गाँधी पर शायद ही कभी चर्चा होती होगी। न सिर्फ़ गाँधी पर बल्कि किसी और चीज़ पर भी चर्चा नहीं होती, सिर्फ़ अमिताभ बच्चन जैसों की फ़िल्में देखने जाया जाता था। शायद ही किसी को इन सब विषयों में कोई रुचि रही होगी। लेकिन हम इसके लिए किसी को भी दोष नहीं दे सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि किसी में कोई दोष था। दरअसल परिवेश ही वैसा था। हमने अपने लोगों के लिए इसी तरह के जीवन की व्यवस्था की है। आधुनिकता का लक्ष्य सभी को दोयम दर्जे का बनाना है। उसमें अविश्वसनीय स्तर की मूढ़ता उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। हमारे कॉलेज के लोग उसी में फँसे थे।

उदयन- वे उसी मूढ़ता में श्रेष्ठता हासिल करने में लगे रहते हैं।

जिनन- इसीलिए उन्हें दोष देना ग़लत है। वे बेचारे तो इस परिवेश के भुक्त-भोगी और पीड़ित हैं। बल्कि इस सारे परिवेश को प्रोत्साहित करने वाले भी इसके शिकार ही है। इस पूरे प्रसंग में खलनायक कोई नहीं है। ये सब परिवेश के शिकार है और इन स्थितियों ने इनको पूरी तरह ग्रस लिया है।

उदयन- मुझे लगता है कि अलावा महात्मा गाँधी के कोई भी और यह सोच नहीं पाया कि हम आधुनिकता से बाहर निकल सकते हैं। हम सबने आधुनिकता को मानव जाति की नियति मान रखा है। लेकिन कोई भी युग नियति नहीं होता।

जिनन- मेरी दृष्टि में आधुनिकता मूलतः अनुभव का नकार है। मैं यह भी कहता हूँ कि आधुनिकता के मायने है, मध्यस्थता के सहारे जानना। यहाँ अनुभव का नकार है और शरीर का। ज्ञान कोई दूसरा देता है और आप उसे ग्रहण कर लेते हो। चाहे वह धार्मिक ज्ञान हो या वैज्ञानिक। मुझे इन दोनों में कोई खास फ़र्क दिखायी भी नहीं देता। ऐसी कोई भी समझ जो व्यक्ति द्वारा वास्तविकता के अनावरण के पहले ही प्राप्त हो जाती है, मष्तिष्क के काम करने के ढंग को निश्चय ही प्रभावित करती होगी। मष्तिष्क की निर्मिति को प्रभावित करती है।

उदयन- इसका अर्थ यह भी हुआ कि आपके अनुसार आधुनिकता में ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया कुछ ऐसी है जिसमें आपके अनुभव और इस तरह जीवन का ही नकार है इसलिए इसमें जीते मनुष्य वास्तविक मनुष्य न रह जाकर प्रेतछाया (फ़ेटम) हो जाते हैं।

जिनन- बिल्कुल। यह इसलिए है क्योंकि आप उस ज्ञान के सृजन के समय उपस्थित नहीं रहते। जैसे ही कोई आपको बना-बनाया ज्ञान देता है, आपकी संज्ञानात्मक व्यवस्था पुनर्संयोजित हो जाती है। इससे अज्ञात का क्षरण होता है, संज्ञान की प्रक्रिया का भी क्षय हो जाता है। इससे गुणात्मकता का भी क्षय होता है, ऐन्द्रिकता का क्षय होता है और प्रवृत्तिमूलक ज्ञान (इन्ट्यूशन) का भी। इससे उस सबका लोप हो जाता है जो इन्द्रियों का क्षेत्र है, सौन्दर्य का और अज्ञात का। इस सबका क्षरण हो जाता है। इसीलिए आधुनिकता में आप सभी को आत्मविश्वस्त पाएँगे क्योंकि किसी को कुछ पता नहीं है।

उदयन- शायद इसलिए क्योंकि वे नियन्त्रण करते हैं और नियन्त्रित होते हैं।

जिनन- अपने कॉलेज दिनों के बहुत बाद एक बार मैं भोपाल गया था। विप्रो ने शिक्षा में संलग्न लोगों के लिए कोई आयोजन किया था। हम कहीं जा रहे थे और मैंने देखा एक जगह लिखा था, 'यह कुछ बाँटने की जगह है'। उन दिनों साक्षरता मिशन चल रहा था। वह जगह किसी राशन की दुकान की तरह ही थी जहाँ ज्ञान बाँटने का काम चल रहा था।

उदयन- इंजिनियरिंग कॉलेज और गाँधी जी को खोजने के बाद आप क्या करते रहे?

जिनन- गाँधी जी को पढ़ने के बाद अगले दो साल इंजिनियरिंग कॉलेज में रहते हुए मैंने तय किया कि मैं अन्तिम वर्ष की परीक्षा में नक़ल करके पास नहीं होऊँगा। पहले साल भी बिना नक़ल के ही पास हुआ था पर दूसरे से चौथे साल तक नकल करके ही पास हुआ करता था। अन्तिम वर्ष में मैंने पढ़ाई की और पास हुआ। मैंने तब दो और फैसले किये; पहला यह कि मैं जीवन में ऐसा कोई काम नहीं करूँगा जो मुझे पसन्द नहीं है। मुझे लगा कि आधुनिकता का अभिशाप यह है कि ६५ प्रतिशत लोग वह काम कर रहे हैं जो वे करना नहीं चाहते। वे अपनी ज़िन्दगी को किसी तरह से खींच रहे हैं। दूसरा फ़ैसला यह किया कि मैं अपना समय दूसरों को नहीं दूँगा यानी मैं नौ से पाँच बजे की नौकरी नहीं करूँगा। इसलिए जब मैंने

इंजिनियरिंग की परीक्षा पास कर ली तो मुझे यह स्वांग करना पड़ा कि मैं नौकरी ढूँढ रहा हूँ वरना हमारे जैसे सीमित आमदनी के परिवार के माँ-पिता नाराज़ हो जाते। उस पर मैं घर का बड़ा बेटा था और मेरा यह कहना मुश्किल पैदा कर देता कि मैं काम करना नहीं चाहता पर दरअसल मेरी अन्तःप्रेरणा इतनी शक्तिशाली थी कि स्थितियों से समझौता करते नहीं बना। कई लोग ऐसी प्रेरणा होने पर यह निर्णय लेते हैं कि वे ऐसा कुछ समय के बाद करेंगे। मुझे लगा 'कुछ समय बाद' कुछ नहीं होगा। 'कुछ समय बाद' जैसी कोई चीज़ नहीं होती। यदि तुम कुछ करना चाहते हो, तुरन्त करो फिर चाहे जैसी भी स्थिति हो। संयोग से उन्हीं दिनों मैंने बम्बई के आई.डी.सी. (इण्डस्ट्रियन डिज़ाइन कोऑपरेशन) में आवेदन दिया था। मेरा चयन उस बरस वहाँ नहीं हुआ। लेकिन जब मैं वहाँ परीक्षा देने गया था, मुझे किसी ने बताया कि अहमदाबाद में डिज़ाइन का एक और संस्थान है, एन.आई.डी., वह भी बहुत अच्छा है। एक बार फिर मैंने सालभर कुछ नहीं किया। और अगले साल मैं एन.आई.डी. में चला गया। अहमदाबाद के उस संस्थान में मुझे विलक्षण अनुभव हुआ। शुरूआत में वहाँ मुझे लगा था कि मुझे अब कम-से-कम तीन साल तक नौकरी की चिन्ता नहीं करना है क्योंकि मुझे छात्रवृत्ति मिलती थी। वहाँ स्नातकोत्तर पढ़ाई के लिए जाने का ख़ास मक़सद यही था। साथ में छात्र-जीवन जीने का भी सुख रहेगा। लेकिन जब मैं एन.आई.डी. पहुँचा तो मुझे समझ में आया कि वह कमाल की जगह है। वहाँ मैं सीखने के गहरे स्तरों में दिलचस्पी लेने लगा। सीखने के परिवेश का अर्थ क्या होता है? आदि। मैं यह सब पश्चात-विवेक से बोल रहा हूँ। मैं सीखने के परिवेश और शिक्षण के परिवेश में अन्तर करता हूँ। एन.आई.डी. में सीखने का परिवेश था जहाँ सब लोग सीखने में जुटे थे। वहाँ शिक्षक-शिक्षण जैसा कुछ नहीं था। वहाँ अटेण्डेन्स नहीं ली जाती थी। जब छात्र एक-दूसरे से मिलते थे तो आपस में पूछते थे कि वे उन दिनों क्या खोज रहे हैं। जिन लोगों को सीखने में दिलचस्प थी, वे पुस्तकालय में घण्टों बैठे रहते थे, या कुछ करते रहते थे। वहाँ इस तरह बिल्कुल अलग परिवेश था जैसा कि कई वास्तुकला के महाविद्यालयों में होता है। मेरे इंजिनियरिंग कॉलेज में भी वास्तु-कला का विभाग, बाकी विभागों से बहुत अलग था। वहाँ भी लोग रात-रात भर काम करते थे, नयी तरह का करते थे। आज मुझे लगता है कि वास्तु-कला और डिज़ाइन में कुछ ऐसी अद्‌भुत सम्भावना है जिसके सहारे सारी शिक्षा की पुनर्कल्पना की जा सकती है। इन दोनों ही विषयों में एक तरह अमूर्त गुण हैं। मैं उन कथ्यों और प्रक्रियाओं की बात नहीं कर रहा जो वे आजकल इस्तेमाल में ला रहे हैं। वे भी आधुनिक दृष्टि के विन्यास में फँस गये हैं। लेकिन इन दोनों ही धाराओं में बहुत सम्भावना है जिसके सहारे शिक्षा को सचमुच नये ढंग से सोचा जा सकता है। मैं हमेशा कक्षा में रहकर कुछ न कुछ कर रहा होता। लेकिन धीरे-धीरे मुझे यह समझ में आने लगा कि किस तरह हमारे सौन्दर्य बोध का औपनिवेशीकरण हो रहा है और कैसे एन.आई.डी. में सच्चा पश्चिमी परिवेश बनाया गया है। वहाँ कुछ इस तरह था कि आपको पश्चिमी आदर्शों को आत्मसात करने के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी जायेगी जिससे आप उपनिवेशीकृत हो जायें। इसलिए हम जब स्वतन्त्रता की बात करते हैं, हमें उसे परिभाषित करने वाली सीमा को निश्चय ही देखना चाहिए। मुझे लगता है कि इस तरह

के अत्यन्त परिष्कृत संस्थानों से नुकसान ही कहीं ज़्यादा होता है। औपनिवेशीकरण भी कहीं अधिक शक्तिशाली ढंग से होता है।

उदयन- सूक्ष्मतर स्तर पर...

जिनन- एक और बात पश्चात बोध के आधार पर, मुझे समझ में आ रही है कि जो लोग वि-उपनिवेशीकरण के कार्य में संलग्न थे, वे भी वह कार्य आधुनिकता के ढाँचे में ही कर रहे थे। वे उसी ढाँचे में पश्चिमी ज्ञान की जगह भारतीय ज्ञान रख देना चाहते थे। उन्होंने कभी भी ज्ञान की निर्मिति की प्रक्रिया पर कभी ध्यान नहीं दिया। दरअसल सौन्दर्यबोध कभी भी उनका सरोकार नहीं था। आज वास्तुकला या डिज़ाइन के क्षेत्र में यही सब हो रहा है। इसलिए भी एन.आई.डी. में रहते हुए मैं संस्कृति के प्रश्न में गहरी दिलचस्पी लेने लगा। अगर आपका सौन्दर्यबोध अपना नहीं हैं, अगर आप अपना ज्ञान स्वयं नहीं रचते, अगर मूल्यों की कसौटी आपकी अपनी नहीं है तब संस्कृति का कोई अर्थ नहीं रह जाता। तब वह केवल सिर्फ़ नाचना-गाना रह जाता है जैसा कि अमरीकियों के साथ हुआ है। मुझे यह भी लगता कि आधुनिक सन्दर्भों में संस्कृति के सच्चे अर्थ का कोई मूल्य नहीं है। अगर आप स्वयं ज्ञान का सृजन नहीं करते, संस्कृति का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरा ख्याल है कि हर पीढ़ी को ज्ञान का पुनर्सृजन करना होता है। हो सकता है आप किसी नये ज्ञान का सृजन न भी करें पर ज्ञान का पुनर्सृजन अनिवार्य है। पारम्परिक समाजों में ज्ञान का पुनर्सृजन और पुनर्परिष्कार हुआ करता है।

उदयन- उपलब्ध ज्ञान का पुनर्सृजन और परिष्कार...

जिनन- इन समाजों में एक तरह से कोई शिक्षण नहीं होता। उस अर्थ में वे अज्ञात के क्षेत्र में रहते हैं, ज्ञान का सृजन करते हैं। यह हो सकता है कि वे अपने पिता को देखकर कुछ दोहरा रहे हों, लेकिन दोहराव की इस प्रक्रिया में वे ज्ञान का सृजन कर रहे होते हैं। इन समाजों में अनुभव की महत्ता सबसे अधिक है।

उदयन- जब आप इस तरह सृजन करते हैं, आप पुनर्सृजन भी नहीं करते बल्कि आप 'उसी' ज्ञान का सृजन करते हैं। आप की ही बात को अगर बढ़ाऊँ तो शायद हम कह सकते हैं कि जब कोई व्यक्ति अपने अनुभवों के आधार पर जानने की प्रक्रिया में 'उसी' ज्ञान का सृजन करता है, उसका जीवन उस ज्ञान को त्यागता या नकारता नहीं है। इस तरह वह अपने जानने की प्रक्रिया में कभी भी अनुपस्थित नहीं होता और जब वह जानने की प्रक्रिया को पार करके ज्ञान तक पहुँचता है, वह उस ज्ञान में उपस्थित रहता है। तब भी जब वह ज्ञान या जानना वही पहिया क्यों न हो जिसका आविष्कार उसके पुरखे कर चुके हैं।

जिनन- पहिए का पुनराविष्कार आवश्यक है। बहुत सारे प्रत्यय-जाल (ट्रेप-वर्ड्स) हैं। इनमें से एक प्रत्यय-जाल हैः पहिए का पुनराविष्कार मत करो। मैं सोचता हूँ, हमें पहिए का पुनराविष्कार करना ही

चाहिए। अगर आप जीव-जगत देखें, वहाँ केवल पुनराविष्कार हो रहा है। इसके अलावा कुछ भी नहीं हो रहा। तब भी वह क्रीडात्मक, लीलामय, सृजनात्मक और स्वतः स्फूर्त होता है। जीव-जगत की यही सुन्दरता है और इसे ही लोग समझते नहीं है। वे जीव-जगत का केवल यान्त्रिक आयाम देखते हैं, वे यह नहीं देखते कि जीव-जगत स्वतःस्फूर्त है, वहाँ सृजनशीलता, आनन्द, क्रीड़ा सब हैं, तब भी वहाँ वही बनता रहता है, जो बन चुका है।

उदयन- क्या आप सोचते हैं कि डार्विन के विकासवाद में लगातार नये बनने के विचार में ही इसी समस्या का कण मौजूद है? मैं अक्सर कहता हूँ कि डार्विन ने स्पेस में यात्राएँ की थी और समय का सिद्धान्त दिया था। शायद इसीलिए आधुनिकता ने प्रकृति पर भी अपना यह सिद्धान्त आरोपित कर दिया और कहा कि वह निरन्तर नया सृजन करती रहती है। इसके स्थान पर आपकी कही बात कहीं अधिक मौजूँ जान पड़ रही है। प्रकृति निरन्तर वही का वही सृजन करती है पर हर बार कुछ अधिक परिष्कृत...।

आप एन.आई.डी. के विषय में शुरू में कह रहे थे कि वहाँ खुलापन था पर वहाँ ऐसे कौन से लोग थे जिनसे आप प्रभावित हुए। क्या दशरथ पटेल आदि वहाँ थे।

जिनन- दशरथ तब तक वहाँ नहीं थे। एक बात वहाँ थी कि किसी को भी वहाँ ज्ञान की राजनीति में रुचि नहीं थी। अनेक शिक्षा संस्थानों का यह दुखद पक्ष है। वे यह नहीं समझते कि ज्ञान राजनीति होती है। इसलिए एन.आई.डी. में ज्ञान के किंचित गहरे आयाम ग़ायब थे। चूँकि वे ज्ञान के राजनीति से अनभिज्ञ थे इसलिए पश्चिमी में बहाउवास के समय ज्ञान उत्पन्न (१९२० के दशक में जर्मनी में) को इस संस्थान में क्रियान्वित किया गया। इसलिए वहाँ सौन्दर्य के मूल्य पश्चिमी ही थे। इसलिए वहाँ भी गहरे प्रश्नों पर विचार-विमर्श नहीं था। हम शायद कह सकते हैं कि एन.आई.डी. बहाउवास को सीखने का खुला स्थान था।

उदयन- क्या आप सोचते हैं कि एन.आई.डी. जैसे संस्थान वैसे बन जाते हैं जैसे वे हैं क्योंकि हम डिज़ाइन के अपने विचारों को भूल चुके हैं?

जिनन- मैं सोचता हूँ कि जब से अंग्रेज़ों ने यहाँ अपनी शिक्षा व्यवस्था लागू की, 'हम' वहाँ थे ही नहीं। अगर हम देखें कि आधुनिक शिक्षा के प्रतिमानों में क्या है तो हम पाएँगे कि वहाँ केवल पश्चिम ही उपस्थित है। वहाँ पश्चिम के सिवा कोई नहीं है। अगर वे किसी स्वदेशी ज्ञान परम्परा को इसमें शामिल भी करते हैं तो ऐसा केवल पश्चिम के ढाँचे में ही किया जाता है और बहुत सी स्वदेशी लोग इसी विचार से प्रसन्न हो जाते हैं कि अब वे वहाँ पहुँच गये हैं। यह उनके अपने स्वदेशी ज्ञान की अप्रमाणिकता के कारण होता है। उनकी अपने बारे में समझ के अभाव में। अगर आप आयुर्वेद की मिसाल लें तो यह देख सकते हैं कि आयुर्वेद कभी भी आधुनिक एलोपैथिक व्यवस्था के ढाँचे में नहीं समा सकती। बल्कि उसे आधुनिक शिक्षा व्यवस्था कहना चाहिए। सारी आधुनिक शिक्षा के प्रतिमान, वे जो कुछ भी पढ़ा रहे हों, एक ही प्रतिमान से

तय होते हैं। उन्होंने इसी तरह आयुर्वेद के प्राणों को मार डाला और उसके स्थान पर एक छद्म कार्यक्रम ले आये हैं। मेरे एक दोस्त कहा करते थे कि जिस तरह प्रवासी भारतीय (एन.आर.आई.) होते हैं वैसे देशवासी भारतीय भी होते हैं, शिक्षित लोग देशवासी भारतीय (रेजिडेंट इण्डियंस) है। इनमें आर.एस.एस. जैसी संस्थाओं के लोग शामिल हैं जो भारत के बारे में बातें अवश्य करते हैं लेकिन उनके विमर्श में भारत की आत्मा नहीं है। उन्होंने आधुनिक प्रतिमानों के आधार पर एक और भारत की रचना कर ली है।

उदयन- आप यह बिल्कुल सही बात कह रहे हैं। हमें यह समझना आवश्यक है। आप एन.आई.डी. में तीन वर्ष रहे...

जिनन- मैं वहाँ हुए एक रोचक अनुभव के बारे में बताता हूँ। मैं वहाँ जाकर सब कुछ अपने आप करने लगा। वहाँ पाठ्यक्रम आदि सब था पर मुझे सौन्दर्य में गहरी दिलचस्पी उत्पन्न हो चुकी थी। मुझे सौन्दर्य की राजनीति में रुचि पैदा हो गयी थी। उसकी प्रमाणिकता का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया। मैं एन.आई.डी. से बाहर निकल कनोरिया कला केन्द्र चला जाता था। अहमदाबाद में वह ऐसा एक स्थान था, जहाँ जाकर समय बिताता, कुछ कलाकारों से मिलता, कुछ करता। जिस एक बात ने एन.आई.डी. में मुझे विचलित कर दिया वह यह थीः काम करने से पहले योजना बनाना। मैं इसे ग़लत मानता था क्योंकि ऐसा करने पर आप अपने शरीर को अपनी बुद्धि से अलग कर देते हैं। पहले से मेज़ पर बैठकर योजना बनाने से यह होता है कि आपके दिमाग में 'काम' पहले ही 'घट' जाता है, बाद में आप उसे क्रियान्वित करते हैं। ऐसे में शरीर को बुद्धि की गुलामी करना पड़ती है। यह मुझे नापसन्द था। मैं सीधे सामग्री पर काम करना चाहता था। मैं कबाड़खाने जाता और वहाँ हथौड़े चलाता, कुछ पत्थर ले लेता और उनपर काम करता। मैं सीधे काम करने लगा और इस तरह अपने शरीर को वापस अपने भीतर ले आया। शरीर महत्वपूर्ण हो गया। संस्थान में सिरेमिक विभाग था। मेरी उसकी तकनीक आदि में बहुत रुचि नहीं थी, लेकिन मेरी दिलचस्पी कुछ करने, महसूस करने, छूने और सीधे-सीधे सामग्री को समझने में थी। ख़ुशक़िस्मती से वहाँ के विभागाध्यक्ष ने मुझे उस विभाग में काम करने की इजाज़त नहीं दी क्योंकि मैं औपचारिक रूप से प्रोडक्ट्स डिज़ाइन का छात्र था। लेकिन तब भी मेरी दिलचस्पी मिट्टी से काम करने में थी। मैं मिट्टी लेकर अपने कमरे में चला जाता और काम करने लगता। वैसे काम करना बहुत खूबसूरत था क्योंकि कमरे में काम करने के कारण मैं मिट्टी पर काम करने से जुड़ी सारी व्यवस्थाओं से बच गया। मैं यह कहूँगा कि मुझे मिट्टी ने ही बताया कि मिट्टी को कैसे बरता जाता है। यह मुझे किसी शिक्षक ने नहीं बताया। मिट्टी ही बताती है कि तुम मेरे साथ कैसा व्यवहार करो। इस तरह मेरा सामग्री से सीधा सम्पर्क होने लगा। यही पारम्परिक कलाकार करते रहे हैं। उन्होंने सामग्री या पदार्थ से ही शिक्षा ली है। वहाँ यह नहीं है कि उन्हें कोई बता रहा हो कि उन्हें मिट्टी के साथ क्या करना चाहिए। मुझे लगा कि परम्परा और आधुनिकता में यह मौलिक

फ़र्क़ है। उन दिनों मेरे साथ यह अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना घटीः मैं यह सीख गया कि कैसे सीखा जाता है। मुझे किसी ने पद्धति या प्रक्रियाएँ नहीं सिखायीं।

जैसा कि आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में होता है कि आपको बताया जाता है कि तुम इस पद्धति से यह करो तो यह परिणाम होगा। विशेषकर मिट्टी के काम में यह बताया जाता है कि तुम स्लेपवर्क करो, या पेचवर्क करो आदि। मेरा सौभाग्य कि मैं इस सब से बच गया।

इसके बाद मुझे प्रोजेक्ट मिला था कि मैं कोलकाता की गूँगी-बहरी लड़कियों के साथ कोई सृजनात्मक कार्य करूँ। यह कई मायनों में विलक्षण अनुभव था। आप यह मानकर चलते हैं कि आप बोलते हैं और दूसरे आपको समझते चलते हैं। इस तथ्य को कम ही चुनौती मिलती है। मैं पहली बार ऐसे समूह के साथ काम कर रहा था, जहाँ बोलने का कोई मतलब नहीं है। वे लड़कियाँ न सुन सकती थी, न बोल सकती थीं। मैं शुरू में वहाँ से भाग जाना चाहता था। मैंने अपने गाईड को ख़त भी लिखा कि मैं यह स्थिति सम्भाल नहीं सकता। संयोग से वह ख़त उन तक पहुँचा ही नहीं।

उदयन- यह वहाँ काम करते हुए आपकी आरम्भिक प्रतिक्रिया थी।

जिनन- वह इसीलिए थी क्योंकि मैं उस स्थिति को सम्भाल ही नहीं पा रहा था। उन्होंने मुझे जवाब नहीं दिया सो मैं वहाँ रहता रहा और कुछ ही दिनों में मुझे वहाँ आनन्द आने लगा। मुझे इस सम्पर्क में अर्थ नज़र आने लगे। आप ऐसे लोगों को जो बोल नहीं सकते, सुन नहीं सकते, कुछ नया करने को प्रेरित कैसे करेंगे? आप उनसे नयेपन के बारे में कैसे बात करेंगे। आप उनके सामने भंगिमाएँ बना सकते हैं पर आप उन्हें नया कहने के लिए क्या करेंगे? वह बहुत-सी अच्छा तीन-चार महीनों का प्रयोग था। कोलकाता में रहते हुए मुझे अनेक लोगों से मिलने का अवसर मिला। वहाँ ऐसे लोग रहते थे जो सचमुच गहरे थे। मुझे याद है कि मैं एक शख़्स दीपक मजूमदार से मिला था। मैं पहली बार ऐसे व्यक्ति से मिल रहा था जो प्रामाणिक था जिसके अपने विचार थे। वह पुस्तक से शिक्षित नहीं थे। उनके पास कहने को अपना कुछ था। कुछ समय बीतने के बाद मैंने तय किया कि कोलकाता ही मेरा घर होगा। अपना डिप्लोमा प्रोजेक्ट करने के बाद मैं वापस कोलकाता चला गया। वहाँ मेरी अनेक दिलचस्प लोगों से मुलाकात हुई, कुछ फ़िल्मकार थे, कुछ कलाकार थे। मैंने कुछ समय शान्ति निकेतन में भी गुज़ारा। मैंने वहाँ जाकर रहने का भी विचार किया था पर शान्तिनिकेतन की स्थिति तब भी दुखद ही थी। अब तो वह पूरी तरह ख़राब स्थिति में है। मुझे लगा कि वहाँ लोग टैगोर पर परजीवी बन गये हैं। शान्ति निकेतन में दो-तीन महीने रहने के बाद मैंने सोचा कि यह वह जगह नहीं जहाँ मैं रह सकूँ, वहाँ स्वांग अधिक था। खुद बंगाली लोग ऐसे लोगों को 'आतेल' कहा करते थे। 'आतेल' यानि छद्म बौद्धिक। वहाँ कुछ दिलचस्प लोग भी थे जो कुछ-कुछ करने की कोशिश कर रहे थे।

उदयन– सोमनाथ होर उन दिनों वहाँ रहे होंगे।

जिनन– वे अद्‌भुत व्यक्ति थे। उनका काम बहुत सुन्दर है। मैं उनसे मिला था। वे ज़्यादा नहीं बोलते थे। इस बीच मैंने यह भी तय कर लिया था कि डिज़ाइन मेरे बस की बात नहीं है, मुझे तो शिल्पकार होना है। मैंने शिल्प बनाना प्रारम्भ कर दिया। मैंने अपने कामों का प्रदर्शन करना भी शुरू कर दिया।

उदयन– यह सब आप कोलकाता में रहते हुए ही कर रहे थे?

जिनन– उन दिनों मैं बहुत से कलाकारों से मिलता था, कला-दीर्घाओं (गैलरियों) में जाता था। लेकिन पता क्यों मुझे लगा कि वह सब बिल्कुल ही निरर्थक था। वहाँ एक तरह माफ़िया था जिसे ख़रीदार, गैलरी-वाले, पत्रकार और ख़ुद कलाकार संचालित करते हैं। उस सब में जीवन या आध्यात्मिक अनुभव का सच्चा अंवेषण नहीं था। वे लोग इन सब की बातें ज़रूर करते थे, लेकिन उनकी गतिविधियों में इन सबका सिरे से अभाव था। वे ये सब बातें इसलिए करते थे क्योंकि इससे पैसा मिलता था। इन सब बातों को जानबूझकर बनाया और बनाये रखा जाता था जिससे सामान्य आदमी इस सब के रहस्य को समझ न पाये और उसके प्रभाव में आ जाये। बहरहाल मैं इस सब से पूरी तरह निराश हो गया और मैंने यह सोचकर शिल्प करना छोड़ दिया कि यह सब मुझसे होगा नहीं।

उदयन– आप वहाँ कितने सालों तक थे?

जिनन– मैं वहाँ बहुत नहीं रहा। सिर्फ़ १९८८ से १९९२ तक तीन साल से कुछ अधिक रहा। लेकिन वहाँ रहते हुए सौभाग्य से मेरा सम्पर्क कारीगरों के समुदायों से होने लगा। वह मेरे लिए बेहद महत्वपूर्ण अन्तरण था। इसी बीच एक दिलचस्प घटना घटी। मुझे नागालैण्ड में आमन्त्रित किया गया। मैं वहाँ मुकुपचुंग में जाकर रहा, जहाँ 'आओ' समुदाय रहता था।

उदयन– वह जगह क्या थी?

जिनन– चुचुइम्लान। वहाँ एक गाँधीवाद संगठन था जो इन लोगों को सभ्य बनाने का प्रयास कर रहा था। लेकिन आदिवासी लोगों का मेरा अनुभव इससे ठीक उलटा था। मुझे लगता था कि वे कहीं अधिक सभ्य हैं और उन्हें चाहिए कि वे हमें सभ्य बनायें। हम उन्हें सभ्य बनाने में क्यों लगे हैं? वे जिस तरह का जीवन जी रहे थे, वह अद्‌भुत था। हालाँकि मैं वहाँ केवल दो हफ़्तों तक ही था पर मैं यह देख सकता था कि वहाँ स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं, उन पर बिल्कुल भी कोई पाबन्दी नहीं है। बच्चे अपना समय अद्‌भुत ढंग से बिताते हैं। मुझे यह लगा कि आदिवासी जीवन भारत के तथाकथित मुख्यधारा के जीवन से कहीं अधिक बेहतर और सभ्य है। हम उन्हें क्यों सभ्य बनाने में लगे हैं? मैं वहाँ रहते हुए कुछ लोगों को पढ़ने भी लगा। वेरियर एल्विन तब मेरे जीवन में आये। मैंने उन्हीं दिनों नृत्तत्वशास्त्री हेमिंगडोर्फ़ को भी पढ़ा। उनका लिखा एक वाक़िया मेरे स्मृति में अटका रह गया है। उन्होंने आश्चर्य से लिखा है कि दो आदिवासी समुदायों के बीच

कुछ समस्या थी तो एक समुदाय के लोगों ने जाकर दूसरे समुदाय की जगहों पर आगज़नी की और बहुत गड़बड़ हो गयी। मामला काफ़ी बिगड़ गया। उन दिनों अंग्रेज़ शासक वहाँ थे। उन्होंने दोनों समुदायों के लोगों को समझौते के लिए बुलाया। हेमिंगडोर्फ़ भी वहाँ थे। दोनों समुदायों के मुखिये आये और वे टेन्ट में बैठकर बातें करने लगे। मुखियों के साथ दोनों ही तरफ़ के कुछ लोग भी आये थे। हेमिंगडोर्फ़ ने विलक्षण चीज़ देखी कि दोनों ही समुदायों के लोग जो आपस में बुरी तरह से लड़े थे, वे जल्दी ही दोस्त बन गये और एक दूसरे का मज़ाक़ उड़ा रहे थे। वे आपस में बता रहे थे कि वे कैसे भागे थे, या छुपे थे, कैसे उन्होंने आग लगायी थी वगैरह। हेमिंगडोर्फ़ को समझ नहीं आया कि कैसे ये लोग इतनी जल्दी सारा लड़ाई-झगड़ा भूलकर दोस्त बन गये। ऐसा ही तो बच्चे भी करते हैं। बच्चे में भी यह क्षमता होती है कि वह लड़ाई-झगड़ा तुरन्त भूल जाता है। वे ये सारी त्रासदियाँ ढोते नहीं हैं। वे नाराज़ होते हैं तो उसे रोकर तुरन्त शान्त कर लेते हैं। हेमिंगडोर्फ़ का यह अनुभव मेरे साथ बना रहा। इस घटना ने ग्रामीण आदिवासी समुदायों के प्रति मेरे दृष्टिकोण को गहरे तक प्रश्नांकित किया। जब मैंने कारीगरों के साथ काम करना शुरू किया तो मेरे सामने यह मूल प्रश्न था कि मैं एक उपनिवेशीकृत मनुष्य की तरह उपनिवेशीकृत डिज़ाइन जिसके पास पश्चिमी सौन्दर्यबोध है, इन लोगों के साथ कैसे व्यवहार करूँ? वहाँ मुझे उनके साथ काम करने के लिए रखा गया था। उन्हीं दिनों मैंने 'डू नथिंग' (कुछ न करो) पद्धति विकसित की। इससे मेरा आशय यह था कि मैं इन कारीगरों का सचमुच मैं सम्मान करता था, मेरे पास उन्हें सिखाने कुछ नहीं था, मुझे उन्हें वह जगह देनी है जहाँ वे उस आत्मसम्मान के साथ काम कर सकें जिसे शहरी या कस्बाई तथाकथित विशेषज्ञ उनसे छीन लिया करते थे। मुझे लगा कि मुझे उनके आत्मसम्मान पर डाका नहीं डालना चाहिए। हम शहरियों ने अपना आत्मसम्मान पश्चिमी बुद्धि के हाथों में सौंप दिया है। हमें कम-से-कम उसे उन लोगों से छिनना नहीं चाहिए जिनके पास वह अभी भी है। वे ही अब थोड़े से बचे खुचे भारतीय हैं। हम उन्हें वैसा बने रहने दें। इस दृष्टि से मैंने एक पद्धति विकसित की है जहाँ लगभग कोई विशेष पद्धति नहीं थी। आप कुछ खास नहीं करें। उनके काम को समझें और आप ग्रामीण कारीगर और शहरी बाज़ार के बीच किसी तरह के मध्यस्थ बन जायें। इस पद्धति से यह सम्भव हुआ कि उन कारीगरों ने बिल्कुल मौलिक और सुन्दर काम तैयार किये।

उदयन- आप उनसे किसी भी विशेष चीज़ या शैली की माँग नहीं कर रहे थे।

जिनन- न मैं माँग कर रहा था, न वे मेरी नक़ल कर रहे थे। जब मुझे ऐसा लगा कि वे मेरे किये की नकल कर सकते हैं, मैंने कैसा भी शिल्प बनाना बन्द कर दिया। इस सब के कारण कमाल का काम होना शुरू हो गया। इसके अलावा, उनका अपने बच्चों के प्रति व्यवहार हमारा अपने बच्चों के प्रति व्यवहार से हज़ार गुना बेहतर था। ग्रामीण स्थिति में 'पेरेन्टिंग' जैसा कुछ नहीं था। बच्चे सौ प्रतिशत मुक्त थे, उनके माता-पिता यह जानने की चिन्ता नहीं करते थे कि वे कहाँ गये हैं। यह इसलिए नहीं था कि वे अपने बच्चों

से प्यार नहीं करते थे। यह इसलिए था क्योंकि वे जीवन पर विश्वास रखते थे। उनमें जीवन के प्रति अथाह विश्वास है। अपने बच्चे का 'निजीकरण' आधुनिक घटना है। जबकि आदिवासी-ग्रामीण इलाके का बच्चे लगभग सबका होता है। वहाँ वह सिर्फ़ अपने माता-पिता का नहीं होता। मैं उस सम्बन्ध का अध्ययन गहराई से करने लगा। एक बार मैं ओड़िसा की एक बड़ी सुन्दर बागशाला में था जहाँ कुम्हारों के साथ काम कर रहा था। मेरे पास केवल क़िताबें थीं। लेकिन उनके साथ रहते हुए मुझे क़िताबों की निस्सारता का अचानक बोध हुआ। मैंने सोचा, मेरे चारों ओर इतना सुन्दर जीवन है- कहीं कुम्हार काम कर रहे हैं, कहीं बुनकर, कहीं गुलोल लोग हैं जो भेड़ों की देखभाल करते हैं, कहीं किसान हैं, (वह आत्मनिर्भर किस्म का गाँव था जहाँ हर तरह के लोग थे) - और मैं क़िताबें पढ़कर अपना समय जाया कर रहा हूँ। मुझे क़िताबें पढ़ने की निस्सार अनुभव हुई और तब से मैंने पढ़ना पूरी तरह बन्द कर दिया। एक और चीज़ बहुत स्पष्ट हुई कि ज्ञान सांस्थानिक चीज़ नहीं है जिसे आप स्कूल-कॉलेज़ों में पाते हैं। जब आप इस तरह के ग्रामीणों के बीच रहते हैं, आप यह महसूस करते हैं कि ज्ञान सामुदायिक चीज़ है और वह हर जगह मौजूद है और हरेक व्यक्ति ज्ञान में ही है या ज्ञान में शामिल है। मेरे मन में यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञान सामुदायिक कार्यकलाप है। इसलिए मैं यह ध्यान से देखने लगा कि लोग काम कैसे करते हैं। मुझे सबसे महत्वपूर्ण बात यह समझ में आयी कि आदिवासी ग्रामीण इलाक़ों में शिक्षा नहीं दी जाती। कुम्हार का बच्चा कुम्हारी अपने आप सीख जाता है। उसका पिता उसे कुछ भी सीखने को नहीं कहता। वे दस बरस के होते तक बच्चे से कुछ भी नहीं चाहते। सिर्फ़ कभी कुछ उठाने वग़ैरह को कहते हैं। दस-ग्यारह या बारह साल का होने तक बच्चे कुम्हारी अपने आप सीख चुके होते हैं। वे तब तक कई नक़ली चूल्हें, भट्टी आदि बना चुके होते हैं, बर्तनों को आग में झूठ-मूठ पका चुके होते हैं। वे हर तरह की चीज़ें करते रहते हैं लेकिन उनके माता-पिता उस सब में कोई हस्तक्षेप नहीं करते। उनके माता-पिता उनके पास जाकर तब तक उन्हें यह नहीं कहते कि तुम्हें यह करना चाहिए या नहीं। इसलिए बच्चा उस उम्र तक पूरी तरह स्वायत्त और स्वतन्त्र रहता है। हरेक के पास अपना अवकाश होता है। कोई किसी से किसी तरह की मांग नहीं करता। सभी का एक-दूसरे के प्रति गहरा सम्मान रहता है।

उदयन- क्या आप वहाँ बहुत समय तक रहे थे, उन लोगों को काम करता देखते हुए?

जिनन- मैं वहाँ, जैसा कि मैं आपको बता चुका हूँ, 'कुछ नहीं' कर रहा था। मैं भले ही कुछ नहीं कर रहा था पर मैं पूरी तल्लीनता से उनका अवलोकन करता कि वे क्या कर रहे थे, कैसे कर रहे थे, वे अपने बच्चों का ध्यान किस तरह रख रहे हैं, गर्भवती स्त्रियाँ भी किस तरह काम कर रही हैं। मेरे लिए उनकी सारी सामाजिक ज़िन्दगी महत्वपूर्ण हो गयी थी। मैं यह जानना चाहता था कि वे लोग कैसे जीते हैं। शहरों में आपको ये सारी चीज़ें देखने में नहीं आती। शहरों में बहुत-सा जीवन कृत्रिम हो गया है और उस गाँव में जीवन प्रामाणिक ढंग से हो रहा था जिसमें लम्बे समय तक बहुत कम ही बदलाव की आवश्यकता

होती थी। लेकिन तब भी वह हर समय ताज़ा था, सुन्दर था। हम शहरों में ऊब की शिकायत करते हैं। मुझे शहरों की यही विडम्बना लगती है: हम नयेपन की बात करते हैं पर तब भी हमें ऊब की शिकायत रहती है। हम व्यक्ति-वैशिष्ट्य की बात करते हैं पर हमारे पास वह नहीं है। हमारी व्यक्ति-वैशिष्ट्य की धारणा नक़ली है। मेरा विचार है कि आधुनिकता में सच्चा व्यक्ति-वैशिष्ट्य होता ही नहीं है। अगर आप अपने आप ज्ञान का सृजन नहीं करते, आपको व्यक्ति-वैशिष्ट्य की बात नहीं करना चाहिए। मैं समझता हूँ कि ज्ञान की स्वतन्त्रता ही सबसे बड़ी स्वतन्त्रता होती है। इसे लोग समझ नहीं पाये हैं।

उदयन- आप वहाँ रहते रहे और अपने आस पास के जीवन को देखते रहे। धीरे-धीरे नागालैण्ड के उस गाँव में रहते हुए 'बच्चे' की आपकी धारणा पूरी तरह बदल गयी।

जिनन- पूरी तरह। मैंने शायद आपसे पहले भी कहा है कि उस समय मैंने पढ़ना पूरी तरह छोड़ दिया। मैंने उन्हीं दिनों एक शब्द बनाया : अनुभव का भाषाकरण (टेक्स्चुलाईज़ेशन ऑफ़ एक्सपीरियंस) मैं तब तक ईवान इलीच के बारे में नहीं जानता था। उन्हें मैंने बाद में पढ़ा पर मैंने दो तरह के होने के ढंगों को समझना शुरू किया : एक में भाषाकृत अनुभव था दूसरे में प्रामाणिक अनुभव। इसलिए मैंने पूरी तरह पढ़ना बन्द कर दिया था इसलिए मेरी संज्ञानात्मक व्यवस्था पुनर्संयोजित होने लगी। पढ़ने वाले की चिन्तन प्रक्रिया यह होती है : वह 'पढ़ता है, फिर सोचता है, पढ़ता है फिर सोचता है।' एकाध बार दुनिया में आता है और फिर पढ़ता है और तब सोचता है। वह एकाध बार संसार में आता है और फिर से वह वही शुरू कर देता है: पढ़ता है और सोचता है। यह सारी व्यवस्था ज्ञान का विश्लेषण करने का प्रयत्न है। ज्ञान को याद करना है। इन लोगों की संज्ञानात्मक व्यवस्था इस पद्धति पर निर्भर है। जबकि अपढ़ व्यक्ति की संज्ञानात्मक व्यवस्था के गुण ये हैं : वह अज्ञान के क्षेत्र में रहता है, उसे अपनी इन्द्रियों का उपयोग करना होता है, उसे अपने चारों ओर के संसार का ध्यान से पर्यवेक्षण करना होता है। जिज्ञासा मानवी आविष्कार नहीं है, वह जीवन मात्र में बुनी होती है। हर जीवित प्राणी जिज्ञासु होता है। अपढ़ व्यक्तियों की संज्ञानात्मक पद्धति इन्द्रियों, पर्यवेक्षण पर निर्भर होती है। वे समझने का प्रयास नहीं करते, समझ को अपने आप होने देते हैं। आधुनिकता के लिए मेरा कहना है कि तर्कणा (रीज़निंग) समझने की इस स्वभाविक प्रक्रिया को होने नहीं देती। इसकी सारी तथाकथित समझ तर्कणा (रीज़निंग) के द्वारा उत्पन्न हुई है। यह सब भाषा के संसार में ही होता है। इसलिए वास्तविक समझ विकसित हो ही नहीं पाती। जबकि एक आदिवासी-ग्रामीण व्यक्ति के लिए समझ अनुभव के संसार में बिना किसी प्रयास के सहज ही विकसित होती है। एक प्रत्यय है जो संज्ञान-वैज्ञानिकों (कोग्नीटिव साईंटिस्टों) ने बनाया है: स्व-संयोजित व्यवस्था। वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्यों की भी स्व-संयोजित व्यवस्थाएँ होती हैं और ज्ञान भी स्व-संयोजित होता है। अगर आप उसे बनाने तर्कणा का बल प्रयोग न करें। इस बेहद मूलभूत विचार पर संज्ञान वैज्ञानिक काम नहीं कर रहे हैं। अन्ततः मैं यह जान गया हूँ कि संज्ञान-विज्ञान (कोग्नीटिव साईंस) मिथक है। आधुनिकता में सभी कुछ पश्चात-विचार है।

सबसे पहली बात तो यह है कि आप ग़लत क्षेत्र से शुरुआत करते हैं। उन्होंने एक शब्द खोज निकाला है रूपंकरण (एम्बोडिमेंट), इसकी ज़रूरत ही क्या थी? यह सोचा ही कैसे जा सकता है कि कभी रूप या शरीर नहीं था। यह सवाल कोई नहीं पूछता। आधुनिकता की विडम्बना यह है कि वह ग़लत क्षेत्र में है और सोचती है कि सभी ग़लत क्षेत्र में हैं। अभी तक शरीर या रूप नहीं था और अचानक वे कह रहे हैं कि रूपंकरण (एम्बोडिमेंट) महत्वपूर्ण है।

उदयन- वे अपने दोषों को सार्वभौमिक दोष की तरह प्रस्तुत करते हैं।

जिनन- बिल्कुल। कुछ ऐसा जान पड़ता है मानो सारा कुछ पश्चिमी आधुनिक लोग ही खोज रहे हैं और वे सभी को सिखा रहे हैं। ग़ैर-पश्चिमी शिक्षितों की मुश्किल यह है कि वे इस सब को स्वीकार कर लेते हैं। वे सोचते हैं कि सभी कुछ पश्चिम के लोग ही खोज रहे हैं। एक दूसरा शब्द है- आलोचनात्मक विचार (क्रिटिकल थिंकिंग)। मुझे यह शब्द अजीब जान पड़ता है। आजकल इसका बोलबाला है। मैं पूछता हूँ आप किस के प्रति आलोचनात्मक होना चाहते हैं। आपकी आलोचना की प्रामाणिकता क्या है? मान लीजिए आपने दस क़िताबें पढ़ रखी है तो आपकी आलोचना की वही क़िताबें होंगी क्योंकि आपके पास कोई सीधा अनुभव तो है नहीं जिसके कारण आप आलोचनात्मक हो सकें? हम इन बातों को चुनौती नहीं देते। दे भी दें तो उसे सुनता कौन है?

उदयन- आपने कहा है कि हमें अपनी इन्द्रियों को खुला रखना चाहिए। माना कि हमने आधुनिकता में अपनी इन्द्रियों को हानि पहुँचायी है। आपका इससे क्या आशय है?

जिनन- हमारी इन्द्रियाँ ही हमें सूचनाएँ देती हैं। सभी जीवित प्राणी एक या अधिक इन्द्रियों का उपयोग करते हैं। यह सिर्फ़ आधुनिक मनुष्य ही है जिसने इन्द्रियों से सूचनाएँ लेना बन्द कर दिया है। मैं कई वर्षों से स्नात्कोत्तर छात्रों की कार्यशाला लेता रहता हूँ। मैं दो सवाल उनसे अक्सर पूछता हूँ जिन्हें आप नवमीं कक्षा के छात्र से लेकर किसी भी शिक्षित व्यक्ति से पूछ सकते हैंः पहला आकाश का क्या रंग हैं? इसके जवाब में ९९ प्रतिशत लोग कहेंगे, नीला, कुछ चतुर सुजान कहेंगे, सफ़ेद या ऐसा ही कुछ। दूसरा, पत्ते का रंग क्या होता है? मुझे इसका जवाब अमूमन मिलता है, हरा। अधिकतर यही जवाब मिलते हैं। मैंने यही नवमीं कक्षा के पहले के छात्रों से पूछा, तो उस छोटे से छात्र ने पलट कर जवाब दिया कि आप दिन के किस समय की बात कर रहे हैं। इस पूरे तन्त्र में हम शिक्षक हैं और छोटा लड़का छात्र तब भी वह एक सामान्य पर महत्वपूर्ण सवाल पूछता है। सच्चाई यह है कि हमें सवाल पूछना आता ही नहीं। इस पूरे प्रकरण से यह दिखता है कि शिक्षक की इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो चुकी हैं।

उदयन- आपने यह कमाल की बात कही है। हममें अधिकतर इन्द्रियों के होते हुए भी उनका उपयोग नहीं करते। हमने इन्द्रियों को 'बायपास' कर लिया है, हम उन्हें दरकिनार कर जीवन बिताने लगे हैं।

जिनन- दरअसल उपस्थिति का उपस्थिति की तरह अर्थ एक ऐन्द्रिक अनुभव है। यह भी है कि ध्यान लगाना या आध्यात्मिक क्रिया करना आदि सभी इन्द्रियों को जाग्रत करने के उपाय है। बिना इन्द्रियों के अनुभव कहाँ, जीवन कहाँ और ज्ञान कहाँ? हमने दरअसल ज्ञान का मिथक रच रखा है। आजकल आधुनिक विमर्श एक दावा कर रहा है: ज्ञान का लोकतन्त्रीकरण। मैं समझता हूँ कि केवल और केवल ग़ैर-साक्षरों* के संसार में ही ज्ञान का लोकतन्त्रीकरण होता है क्योंकि आप जैसे ही कहते हैं कि आपको ज्ञान प्राप्त करने पढ़ना पड़ेगा, आप तुरन्त ज्ञान को प्राप्त करने का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। ज्ञान संसार का होता है और इन्द्रियाँ उसे बिना किसी चुनाव के ही ग्रहण करती रहती हैं। इसलिए ग़ैर-साक्षरों के लिए इन्द्रियाँ ही ज्ञान को सभी को उपलब्ध करा देती है। इसके अलावा कोई रास्ता भी नहीं होता क्योंकि इन्द्रियाँ अपने आप क्रियाशील रहती हैं। आप इन्द्रियों को अवरुद्ध अवश्य कर सकते हैं या उन्हें मार सकते हैं। पर एक बच्चे के लिए इन्द्रियाँ सहज रूप से अनायास ही सक्रिय रहती हैं। यही प्रकृति का धर्म है।

उदयन- आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, बच्चे की इन्द्रियों को अलग से क्रियाशील करना नहीं पड़ता। वे अपने आप ही वैसी रहती हैं, खुली और ग्रहणशील!

जिनन- मैं समझ नहीं पाता कि कोई भी शिक्षा ज्ञान के इस मौलिक हेतु इन्द्रियों के बिना कैसे दी जा सकती है। मैंने जड़ों से जुड़े रहने की धारणा पर विचार करना भी शुरू किया। यहाँ भी मुझे यही समझ में आया कि बिना इन्द्रियों के जड़ों से जुड़े रहना सम्भव नहीं। पेड़ की जड़ों से अलग मनुष्य अपनी जड़ें साथ लेकर चलता है। इन्द्रियाँ ही मनुष्य की जड़ें हैं। आप जहाँ भी हो, अगर आपमें पर्यवेक्षण की क्षमता है तो आपकी जड़ें उत्पन्न हो जाती हैं। कई लोग सोचते हैं कि जड़ों से जुड़ने के लिए आपको अपने अतीत या बचपन में देखना चाहिए। यह ग़लत है। जड़ों से जुड़ना एक निरन्तर क्रिया हैं, अगर आपकी इन्द्रियाँ सक्रिय हैं। जड़ों से जुड़ना कोई अतीत व्यामोह नहीं है। यहाँ बचपन को याद करने जैसा कुछ नहीं।

उदयन- इसका आशय यह हुआ कि मनुष्य जहाँ भी है, अगर उसकी इन्द्रियाँ खुली हैं और ग्रहणशील वह तुरन्त अपनी जड़ें जमा लेगा। उसे बचपन में इसलिए जाने की आवश्यकता नहीं है।

आपने अभी तक जो कहा है, उससे वह संज्ञानात्मक-क्षति (कोग्निटिव डेमेज) किसी हद तक पता चल जाती है जिसका आपने अन्यत्र ज़िक्र किया है। आपने अभी कहा कि जब आपने पढ़ना बन्द

---

* मैंने 'निरक्षर' का उपयोग बन्द कर दिया है। उसमें कोई कमी नज़र आती है। इसके स्थान पर मैं 'ग़ैर-साक्षर' का उपयोग करता हूँ।

कर दिया, आपका दिमाग दोबारा संयोजित हुआ। आपके संज्ञानात्मक-क्रियाकलाप पुनर्संयोजित हुए, आप यह कह कर क्या कह रहे हैं।

जिनन- अपने नागालैण्ड के प्रवास के बाद ही मैं बच्चों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करता रहा हूँ। जाने क्यों मेरा अनुभव तन्त्र अधिकतर उन चीज़ों का तिरस्कार करता रहा है जिसकी चर्चा पश्चिमी चिन्तक चलाये रखते हैं। मैं यह मानता रहा हूँ कि आपको ध्यान से देखना (पर्यवेक्षण) करते रहकर समझते रहना पड़ेगा। मैंने अपने इस अध्ययन के चलते पुणे में तीन वर्षों के लिए स्कूल भी चलाया था। वह स्कूल पुणे शहर के बाहर था। हम बच्चों को मुक्त छोड़ देते थे। वहाँ के बच्चों का मानस ग्रामीण था। बच्चे स्वतन्त्र रहकर कई अद्‌भुत चीज़ें अपने आप करते रहते थे। और हमने उन बच्चों के क्रिया-कलापों का अभिलेखन भी किया। मैं वहाँ शिक्षकों से यह पूछता था कि बच्चे आपकी नक़ल करेंगे, पर क्या आप इसके लायक हैं कि वे आपकी नकल कर सकें। उनसे दूसरा सवाल मैं यह पूछता था कि क्या आप भी सीखने को तैयार हैं? अगर आप खुद सीखने के इच्छुक नहीं हैं तो आप बच्चों का समय बर्बाद कर रहे हैं। बच्चों में पैदाइशी सीखने की प्रवृत्ति होती है। दिक्कत यह है कि शिक्षक बच्चे को शिक्षा देना सीखाता है। बच्चे अनुभव मात्र को सीखते हैं। जब बच्चा शिक्षक को शिक्षा देते देखता है तो वह पढ़ाना सीख जाता है। यह एक महत्वपूर्ण संज्ञान नियम (कोग्निटिव रूल) है जिसे आधुनिक शिक्षा ने भुला दिया है। अगर बच्चे का सामना एक सीखने वाले व्यक्ति से होगा, वह भी सीखने लगेगा। बच्चे की नैसर्गिक प्रवृत्ति सीखने की होती है। उसे सिखाना नहीं पड़ता। परेशानी यह है कि उनका सामना सिखाने वालों (शिक्षकों) से होता है, सीखने वालों से नहीं। वे ज्ञान हासिल करने की स्थिति होते है, वे ज्ञात के क्षेत्र नहीं होते। इस तरह देखें तो उनके साथ दो दुर्घटनाएँ घटती हैं, पहली यह कि उन्हें बना बनाया ज्ञान मिल जाता है और दूसरा सिखाने वाला (शिक्षक) जो शिक्षा दे रहा है, वह ज्ञान का सर्जक नहीं है। इस जगह मैं कहूँगा कि शिक्षाशास्त्रियों ने एक मूलभूत संज्ञान नियम (कोग्निटिव रूल) भुला दिया है।

मैं एक और प्रत्यय का इस्तेमाल करता हूँ: संज्ञानात्मक-बेसुरापन (कोग्निटिव डिसोनेन्स)। जब शरीर और दिमाग़ दो अलग चीज़ें सीख रहे हो तो वहाँ संज्ञानात्मक-बेसुरापन होता है। आधुनिक शिक्षा आपके शरीर और दिमाग को विभाजित कर देती है क्योंकि शिक्षा केवल दिमाग़ की होती है, शरीर उसमें भागीदार नहीं हो पाता। मान लीजिए कोई आपको तैरना या योग सिखा रहा है। यह सिखाना सबसे पहले अमूमन भाषा के माध्यम से ही होगा। दिमाग़ भाषा को ग्रहण करेगा और शरीर को कहेगा कि तुम ऐसा करो, वैसा करो। लेकिन जब आप देखते और सीखते हैं तब यहाँ भाषा की मध्यस्थता नहीं होती और वह विभाजन नहीं हो पाता।

उदयन- यानी भाषा की मध्यस्थता के साथ ही शरीर और दिमाग़ में विभाजन हो जाता है।

जिनन- इन दो प्रकार के सीखने में दिमाग दो तरह से बनते हैं। आदिवासी-ग्रामीण इलाकों में दिमाग़ अनुभव के सहारे बनता है। जबकि आधुनिकता में पहले भाषा आती है और दिमाग़ अपनी ही कहानी बनाने लगता है। परम्परा में भाषा अनुभव से विकसित होती है। आप बेंगलुरू झुग्गियों की मिसाल ले लें। वहाँ बच्चे

चार साल के होने तक चार-चार भाषाएँ सीख जाते हैं। उन्हें कोई शिक्षा नहीं मिलती। वे झुग्गियों में रहने वाले ग़ैर-साक्षरों के बच्चे होते हैं और शिक्षा उनके जीवन में होती नहीं है। लेकिन वहाँ के वयस्क भाषाएँ बोलते हैं पर किन्हीं सन्दर्भों में। मान लीजिए कोई वयस्क कहता है कि कुर्सी को मेज़ के पास लाकर रख दो। बच्चा देखता है कि कुर्सी को मेज़ के पास रखा जा रहा है। या कोई कहता है कि पानी का गिलास ला दो। बच्चा देखता है कि पानी का गिलास लाया जा रहा है। इस स्थिति में वयस्क आवाज़ उत्पन्न कर रहा है और बच्चा अर्थ बना रहा है। जबकि आधुनिकता में अर्थ ही दे दिया जाता है। यहाँ भाषा अपने अर्थों के साथ सिखायी जाती है और इस तरह उसमें बच्चे की भागीदारी को रोक दिया जाता है।

उदयन- यहाँ बच्चा रोबोट में तब्दील होने लगता है।

जिनन- बिल्कुल। आधुनिकता में भाषा आधारित संज्ञान-व्यवस्था होती है। इसमें बना बनाया ज्ञान होता है जो भाषाकृत होता है। ऐसी मानसी व्यवस्था में केवल तर्कणा और सोचना ही क्रियाशील होते हैं। अगर आप तर्कणा के युग (एज ऑफ़ रीज़न) को ध्यान से देंखे, आप पाएँगे इसकी स्थापना मुद्रणालय (प्रेस) की स्थापना के दो-तीन सौ वर्षों बाद हुई है। मुद्रण प्रेस ने मुद्रित शब्द को समूचे यूरोप में फैलाया। जब एक हद तक वहाँ के लोग पढ़ने लगे, उस संस्कृति में सोचने की व्यवस्था स्थापित हुई क्योंकि पढ़ने से सोचने और तर्क करने की प्रक्रियाओं को प्रेरणा मिलती है। जबकि आदिवासी ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में ऐन्द्रिक समझ विकसित होती है। यहाँ भाषा इसलिए है कि आप अपने समझे हुए की बात कर सकें। न कि समझ बनाने के लिए (जैसा कि आधुनिकता में होता है)। यह मूलभूत फ़र्क है। मिसाल के लिए जब बच्चा पहली बार आम खाता है फिर दूसरी बार खाता है, फिर तीसरी बार। वह अपनी इन्द्रियों के सहारे इन अनुभवों की सामान्यता को ग्रहण करता है।

उदयन- यह 'आम' शब्द के सहारे नहीं होता।

जिनन- ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के सहारे ही मानसिक व्यवस्था बनती है। यहाँ बच्चे को हर अनुभव की स्मृति रहती है जिसका नाम है, आम या आमची, या माँगा। इन सबमें अनुभव नहीं बदलता। इसलिए ग़ैर-साक्षर व्यक्ति की संज्ञान-व्यवस्था (कोग्निटिव-सिस्टम) अनुभव और इन्द्रियों से उपजती है, भाषा उसका एक अंश मात्र होती है और वह भी छोटा-सा अंश।

उदयन- ऐसा कोई बच्चा जब पन्द्रह साल की उम्र में कुछ पढ़ता है तब क्या उसका पठन किसी अलग तरह का होगा?

जिनन- निश्चय ही। आप कहावतों को देखिए। आधुनिकता में कहावतें अर्थहीन हैं क्योंकि कहावतों की जड़ अनुभवों में होती है। मैं आपको एक दिलचस्प बात बताता हूँ। मैं डिज़ाइन और वास्तुकला महाविद्यालयों में जाता हूँ। मैंने विशेषकर डिज़ाइन के संस्थानों में एक बात देखी है कि पढ़ाई के शुरुआती

पहले और दूसरे या तीसरे वर्ष तक दिल्ली, बम्बई, बैंगलुरू, जैसे महानगरों के छात्रों का बोलबाला रहता है क्योंकि उनको अच्छे से बोलना आता है। इन वर्षों में गाँव से आये लोग बहुत चुप-चाप रहते हैं क्योंकि वे बातचीत के इस खेल में कमज़ोर होते हैं। पर जब वे तीसरे या उसके बाद के वर्षों में पहुँचते हैं तो वे वह करने में जो वे कर रहे होते कहीं बेहतर होते हैं क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि 'करने' की है। इसीलिए ऐसा व्यक्ति जिसकी जड़ें अनुभव में होती है, जब पढ़ता है, वह बेहतर पाठक होता है, उसकी समझ बेहतर होती है। वह अपने दिमाग में अजीब अजीब कहानियाँ नहीं बनाता। इन्द्रियों के साथ एक बात और भी है। वे प्राकृतिक होती हैं इसलिए जब आप उनका उपयोग करते हैं, आप प्रकृति से जुड़ें रहते हैं। आप जैसे ही इन्द्रियों को अपने जीने के ढंग से हटा देते हैं, आप प्रकृति से दूर चले जाते हैं। अलगाव और कुछ नहीं, इन्द्रियों से, अनुभवों से, अपने प्राकृतिक अस्तित्व से दूर जाना है।

उदयन- अपनी इन्द्रियों से दूर जाने से संज्ञान-क्षति (कोग्निटिव डेमेज) होगी ही।

जिनन- ऐसी स्थिति में समस्या यह है कि आप कुछ भी संज्ञान में ले ही नहीं रहे हैं। कोग्निशन हो ही नहीं रहा है। हमारा शरीर तीन आयामों की दुनिया को समझने के लिए बना है। जब मैं आपको कुछ काली चीज़ दिखा कर 'काला रंग' कहता हूँ तब ठोस संज्ञान होता है पर मैं आपको सिर्फ़ काला रंग कहता हूँ तो आप उसके अर्थ का अनुमान लगाते हो। अनुमान लगने की सामर्थ्य होनी चाहिए पर उसके पहले मूर्त संज्ञान आवश्यक है। हम मूर्त अनुभव को नकार कर सीधे अनुमान लगाने में लग गये हैं। क़िताबों के उपयोग से हम काल्पनिक अर्थ के आधार पर कल्पनाएँ कर रहे हैं। मैं एक बार मर्शेल मेकलुएन को सुन रहा था। उसने एक कमाल की बात कही कि 'रीडिंग' शब्द का मूल अर्थ है, 'अन्दाज लगाना'। पढ़ने का अर्थ है कि आप तेज़ी से अनुमान लगा रहे हैं। हम अपने पढ़े के विषय जितने भी निश्चित रहें पर सच यह है हमने ऐसा करके अपने दिमाग में केवल कहानी गढ़ ली है। हमारे अपने अन्दाजों के विषय में ऐसी निश्चिंतता ही आधुनिकता की विडम्बना है।

उदयन- हमें अपने स्कूल के बारे में कुछ और बताइए?

जिनन- वह स्कूल पहले से ही काम कर रहा था। मेरी एक मित्र ने मुझे उस स्कूल में आमन्त्रित किया। वहाँ २०११ में जाने के पहले तक मैं लोगों से यह कहता घूम रहा था कि बच्चों को स्कूल मत भेजो- वे ख़तरनाक होते हैं। मैं आज भी यही कहता हूँ। हमने अपनी सबसे क्षति स्कूल बना कर की है। सीखने का स्थान स्कूल है, यह विचार ही सीखने की अस्तित्वगत प्रवृत्ति को नष्ट कर देता है। सीखने की प्रवृत्ति अस्तित्व मात्र में है, केवल मनुष्यों में नहीं। जब आप बच्चे से कहते हो कि आप स्कूल में सीखते हो, आप उसे यह भुलवा देते हो कि जीवन ने उसे ज्ञान दिया है और यह भी वह जीवन की अपनी ज्ञान व्यवस्था एक अंश है।

उदयन- शायद इसलिए क्योंकि तब बच्चे के लिए स्कूल के अलावा सारे स्थान अज्ञान के अवकाश बन जाते हैं।

जिनन- और वह बच्चा स्वयं भी ज्ञान का सर्जक नहीं रह जाता।

उदयन- इस तरह वह जीवन के ज्ञान-नाट्य का चरित्र नहीं रह जाता।

जिनन- पर मैं उस स्कूल में गया और सारे शिक्षकों को एकत्र कर उन्हें सीखने के विषय में अपने सरोकार बताए। मैंने उन्हें यह भी बताया कि हम कभी बच्चों को ध्यान से देखते नहीं हैं। मैं उन्हें कहा कि जो एक चीज़ आपको यहाँ नहीं करना है, वह है शिक्षा देना। आप यहाँ बच्चों को शिक्षा मत दीजिए। आप यहाँ वो सब कीजिए जिसमें आपकी सचमुच रुचि है। अगर आपको खाना बनाने में सचमुच रुचि है, आप खाना बनाईए। अगर कपड़े सिलने में है, आप कपड़ा सिलिए। अगर आप क़िताब लिखना चाहते हैं या पढ़ना चाहते हैं, आप लिखिए या पढ़िए। पर जो भी करिए, पूरी लगन से करिए। मैं चाहता हूँ कि आपकी लगन को ही बच्चा सीखे, आपकी काम की लगन को। दूसरी बात मैंने यह कही कि हमें एक समूह की तरह यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि बच्चा क्या है? बच्चे को खुला छोड़ो, उन्हें जो चाहे सो करने दो। मैंने एक और बात की। मैंने वहाँ से कचरा पेटी के विचार को हटा दिया। मैंने आदिवासी-ग्रामीण इलाक़ों में देखा है कि वहाँ कचरा जैसा कोई शब्द नहीं है। वहाँ कचरे की पेटी नहीं होती। हम आधुनिक संसार में बच्चों को व्यवस्थित रूप से कचरे पैदा करने की शिक्षा दे रहे हैं, विशेषकर घरों की बैठक में कचरे का डिब्बा रखकर। मैंने उनसे कहा कि कचरे का विचार यहाँ, स्कूल में होना ही नहीं चाहिए क्योंकि कचरा प्रकृति में होता ही नहीं है। प्रकृति में कचरा कुछ नहीं होता, यह आधुनिक मनुष्य की रचना है। शुरू में इससे कुछ लोगों को समस्या हुई क्योंकि वे ज़रूरत से ज़्यादा साफ़ सुथरे क़िस्म के थे। मैंने उनसे कहा कि बच्चों के मन में कचरे की धारणा नहीं होती क्योंकि उनके लिए सब कुछ काम का होता है, उपयोगी होता है। वह टूटी पत्ती हो, टूटी बोतल हो। सारी चीज़ें साबूत हों या टूटी-फूटी, उनके काम की होती हैं। उन्हें जब भी किसी चीज़ की ज़रूरत होगी, वे कुछ ढूँढकर उसका उपयोग लेंगे। मैंने कहा, कचरा पेटी मत रखो और साफ़ सफाई ज़रूरत से ज़्यादा मत करो। चीज़ें जहाँ जैसी बिखरी पड़ी है, वैसी ही रहने दो। मैंने अध्यापकों से कहा कि आप लोग बच्चों को ध्यान से देखो-सुनो और उसका अभिलेखन करो। इसके फलस्वरूप हमारे पास बच्चों पर क़रीब चार हज़ार विडियो तैयार हो गये। हमने उन्हें व्यवस्थित भी किया। हम अध्यापक शाम को बैठते और इन विडियो को देखते और यह जानने की कोशिश करते कि क्या हो रहा है। इससे हम सीखने की कोशिश करते।

उदयन- क्या आप अपने उस अनुभव से कुछ साझा करेंगे?

जिनन- पहले ही हफ़्ते हमने एक विडियो देखा कि एक बच्चा ए-४ आकार के काग़ज़ पर कुछ रेखांकन कर रहा था। फिर दूसरा बच्चा आया और वह भी उसी काग़ज़ पर रेखांकन करने लगा। इसके

बाद एक और आया फिर एक और। ये चारों बच्चे एक काग़ज़ कुछ बनाने लगे। न किसी ने किसी से पूछा, न किसी ने किसी को मना किया। कुछ देर बाद जिस बच्चे ने रेखांकन करना शुरू किया था, वह उठकर चला गया। बाकी रेखांकन करते रहे। यहाँ हम सभी के लिए एक बेहद महत्वपूर्ण सबक था : बच्चे ज़िम्मेदारी लेते हैं पर वे एकाधिकारी नहीं होते। वे एक-दूसरे के स्वातन्त्र्य का इतना सम्मान करते हैं कि उन्हें 'धन्यवाद' आदि वे सारी बकवास बातें करने की ज़रूरत नहीं होती, जो आजकल हम कहते हैं। वे न तो शामिल होने की इजाज़त ले रहे थे, न जाने की। जबकि यह सब आधुनिक परिवेश में अनिवार्य हो गया है। यह इसीलिए सबक़ था क्योंकि मनुष्यों को ऐसा ही होना चाहिए। उन्हें एक-दूसरे के इतने क़रीब होना चाहिए कि उन्हें इस तरह की औपचारिकताओं की आवश्यकता न पड़े। जब हमारी क़रीबी में सचाई होती है, ये सारे शब्द निरर्थक हो जाते हैं। ज़ाहिर है, आजकल व्यवहार में सचाई है ही नहीं, इसलिए ये सारे शब्द हैं। हम वहाँ इसी तरह बच्चों के व्यवहारों को रिकार्ड करते रहे।

उदयन- क्या आप हमें इसी तरह की कुछ और अभिलिखित घटनाएँ बता सकते हैं?

जिनन- उस स्कूल में बच्चों के साथ काम करते हुए आधुनिक मूल्य-बोध पर गहरे प्रश्न उठने लगे। उनमें और बच्चों के मूल्य-बोध में बहुत फ़र्क़ है। जब मैं 'बच्चे' कहता हूँ, मेरा आशय सभी जगह के बच्चों से है। यह बात अलग है कि शहरों में हम उन्हें बहुत क्षति पहुँचाते हैं। जब मैं बच्चे कहता हूँ, मेरा आशय 'ग़ैर-साक्षर' भी होता है क्योंकि तब तक वे 'प्रशिक्षित' नहीं किये जा पाते हैं। बच्चों के यहाँ जब कोई किसी काम में दिलचस्पी लेना बन्द कर देता है, वह हट जाता है और इसकी किसी को कोई शिकायत नहीं होती। जबकि यह हमारे लिए बड़ी समस्या है। दूसरी महत्वपूर्ण बात थी, नेतृत्व का प्रश्न। हमारी एक अमरीकी दोस्त भी हमारे स्कूल का भाग थीं। शुरू में उन्हें हमारे काम करने के ढंग पर आपत्ति थी पर धीरे-धीरे वे उसे समझ गयीं और वहाँ बच्चों को मिली स्वतन्त्रता और अ-शिक्षा का वे भी आनन्द लेने लगीं। यह इसलिए था कि उनकी समझ में 'शिक्षा' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसके बगैर 'सीखना' कैसे होगा? बहरहाल, एक दिन हम बैठे बच्चों के बारे में कुछ लिख रहे थे। हमारे पास हर बच्चे का विडियो रिकार्ड था, उसके आधार पर हम हर बच्चे के विषय में कुछ लिख लेते थे। वे कोई विडियो देखकर पूछने लगीं, 'इनका नेता कौन है?' यह आधुनिक व्यक्ति का प्रामाणिक प्रश्न है। आधुनिक व्यक्ति नेता और अनुयायी के रूप में मनुष्यों को समझता है। यह सुनकर मैं बच्चों को इस दृष्टि से देखने लगा। मैंने पाया वहाँ इस सन्दर्भ में बिलकुल अलग व्यवस्था होती है। बच्चों की दुनिया में नेतृत्व तो होता है पर नेता कोई नहीं होता। उन बच्चों में ग़ैर-शाब्दिक सम्प्रेषण हो रहा था। वे एक दूसरे की आवश्यकता को मानो महसूस कर लेते थे। कोई बच्चा कहीं खड़ा है और दूसरे को देख रहा है। वह बिना कुछ कहे सुने पहले बच्चे की आवश्यकता के अनुरूप प्रतिक्रिया करता था।

छह बच्चे मिलकर घर बना रहे थे। वे ईट उठाकर घर बना रहे थे। कभी कभार वे एक दूसरे को निर्देश देते थे पर वहाँ नेता और अनुयायी की व्यवस्था नहीं थी। मुझे याद है कि मैं एक बार एक पश्चिम के व्यक्ति के साथ नाव पर जा रहा था। वह नाव पर नियन्त्रण कर रहा था। वह चप्पू चला रहा था और नाव में बैठे लोगों को लगातार निर्देश दे रहा था। लेकिन अगर आप किसी भी भारतीय नाविक के साथ जायें, यह सब शायद ही कभी हो। वहाँ सब लोग अपने आप संतुलन स्थापित कर लेते हैं मानो सभी मिलकर 'एक शरीर' बना ले रहे हों। तब जब आप नाव में सवारी कर रहे हों। अगर आप पागल या आधुनिक ढंग से शिक्षित नहीं हों, तब आपको एक शरीर का अंश बनना नहीं आयेगा। सबके मिलकर एक शरीर बनाने का विचार कमाल का है। इसी तरह जब बच्चे काम करते हैं, वे सब मिलकर एक दिमाग़ बन जाते हैं। मेरे भाई का एक लड़का कभी स्कूल नहीं गया। अब १६ वर्ष में उसने फिज़िक्स पढ़ने को महाविद्यालय में दाखिला ले लिया है। एक दिन वह मुझे बता रहा था कि किस तरह बच्चों का दिमाग़ मिलकर एक हो जाता है। वह बता रहा था कि वो अपने चार दोस्तों के साथ पेड़ पर चढ़ा हुआ था और वे कल्पना कर रहे थे कि वह पेड़ समुद्र में चलती नाव है। वे एक दूसरे से कह रहे थे कि देखो वहाँ एक टापू है और वे सभी दोस्त वहीं कहीं टापू देखने लगे। कुछ इस तरह मानो वहाँ सचमुच में कोई टापू हो जिसकी ओर वे सब नाव से जा रहे हों। यह बच्चों के साथ सम्भव है। उनका दिमाग़ एक साथ काम कर सकता है और वे वह देखने लगते हैं जो आप बता रहे हैं। यह आधुनिक मनीषा को समझना मुश्किल है। मुझे याद है हमारे परिवार का एक बच्चा हमारी भांजी को कह रहा था कि मैं इस तितली के साथ उड़ना चाहता हूँ। इस पर मेरे आधुनिक ढंग से शिक्षित पिता कह रहे थे कि नहीं, ऐसा करने से तुम गिर पड़ोगे। यही आधुनिक मनीषा करती है : वह बच्चों के साथ रहना नहीं जानती।

उदयन- आप पुणे के बाहर स्थित उस स्कूल में तीन वर्षों तक रहे।

जिनन- हाँ। उनके लिए मुझे वहाँ रोज़-रोज़ सहते रहना कठिन हो गया था। इसलिए मैं वहाँ महीने के दस दिन बिताता था वरना उनके लिए बहुत कठिन हो जाता। उन्हें भी साँस लेने की जगह चाहिए होती थी। मैं वहाँ दस बारह दिन रहकर बीस या पच्चीस या तीस दिन के लिए वहाँ से चला जाता, क्योंकि मेरे वहाँ रहने से कामों में प्रगाढ़ता बहुत बढ़ जाती। बातचीत बहुत होती, बच्चों पर बनाये विडियो देखे जाते आदि आदि। मेरे वहाँ न रहने पर वहाँ रोज़मर्रा का ढर्रा चलने लगता और वहाँ के लोगों को कुछ राहत जैसी मिल जाती। इस तरह मैं वहाँ तीन सालों तक रहा। हमने इस तरह वहाँ व्यवस्थित रूप से बच्चों की संज्ञान-व्यवस्था (कोग्निटिव सिस्टम) का अध्ययन किया। बच्चे वास्तविक दुनिया को समझने में सामर्थ्य होते हैं, उसका ज्ञान उत्पन्न करने में भी।

उदयन- आपने बच्चों के अपने अध्ययन के दौरान यह प्रक्रिया कैसे बूझी थी?

जिनन- किसी भी वस्तु का एक आकार होता है, उसका कोई प्रकार्य होता है, वह किसी सामग्री का बना होता है, उसके बनने की कोई प्रक्रिया होगी और उसमें संरचनात्मक स्थायित्व होता है। किसी भी चीज़ के ये पाँच आयाम होते हैं। आकार, सामग्री, प्रकार्य, प्रक्रिया और संरचनात्मक स्थायित्व। मैं यह कह सकता हूँ कि यही संसार है। अपनी हर गतिविधि में बच्चे उसे ही अन्वेषित करने का प्रयास करते हैं। न तो खेल जैसा कुछ है, न खिलौने जैसा कुछ। बच्चे अपने खिलंदड़ेपन में संसार की पुनर्रचना करने का प्रयास करते हैं। वे खेलने के लिए खिलौने नहीं बनाते, वे संसार की पुनर्रचना कर रहे होते हैं जिससे वे उसे समझ सकें। आपने बचपन में क़िताब को खोलकर उसे उलटा रखकर 'घर' बनाया होगा। हर बार घर को बच्चे ऐसे ही क्यों बनाते है? मैंने बहुतों से पूछा है, वे सभी यही कहते हैं कि उन्होंने भी बचपन में ऐसा किया था। यह आकार या रूप का अध्ययन है। बच्चे कई बार मेज़ पर चादर डालकर कहते हैं कि यह घर है : यह घर का प्रकार्य है। वे तकियों, कुर्सियों आदि जो भी मिल जाये को रखकर भी घर बनाते हैं : वह घर बनने की प्रक्रिया है। इन तीनों आयामों का समझकर बाकी दो आयाम वे खुद समझ जाते हैं। जब बच्चे मेज़ पर कपड़ा डालकर घर बनाते हैं, वे सामग्री का भी अध्ययन कर लेते हैं क्योंकि वे समझ जाते हैं कि कपड़े की क्या सीमा है, किसी भी सामग्री की सामर्थ्य क्या है? आदि। और एक बार वे घर बना लेते हैं तो वे यह भी समझ लेते हैं कि यह संरचना किस तरह बनी रहेगी। बच्चा संरचना के स्थायित्व को इस तरह समझ जाता है। अपनी तमाम गतिविधियों में बच्चा ठीक यही कर रहा होता है। बच्चा हर अनुभव से दोबारा गुज़रता है, हर अनुभव की पुनर्रचना करता है और इसी मार्ग से उसकी समझ बन रही होती है। बच्चा एक ख़ास समय पर माँ होने का खेल खेलता है। जब आप बच्चे को बनी बनायी गुड़िया देते हैं, आप उसमें प्रकृति प्रदत्त विकास की प्रक्रिया को नष्ट कर देते हैं। बच्चा माँ होने का अभिनय तब करता है जब वह मातृत्व का खुद अनुभव करता है। तीन साल की उम्र से पाँच छह साल तक बच्चा माँ होने का खेल खेलता है। बच्चा कुछ भी उठा लेगा और कहेगा कि यह मेरी बेटी है या बेटा है, उसे दूध पिलायेगा, सुलाएगा आदि। वह वही सब करेगा जो ऐसे समय होता है पर यहाँ वह यह सब अपनी कल्पना से करेगा। वह ऐसी कोई भी चीज़ उठा लेगा जो थोड़ा बहुत बच्चे की तरह लगता हो और कहेगा कि यह मेरा बच्चा है। फिर उससे यह खेल छूट जायेगा और वह दूसरे खेल में प्रवेश करेगा। बच्चा जिस भी गतिविधि में संलग्न होता है, वह उसके अनुभव पर आधारित होती है। वह अपने खेल के बच्चे को दूध तब पिलायेगा जब उसे पिलाया जाता था। सम्भवतः उसके इस खेल के छह महीने पहले ही उसका माँ का दूध पीना छूटा हो। खिलौने आदि सभी कुछ बच्चों की संज्ञान व्यवस्था (कोग्निटिव सिस्टम) को क्षति पहुँचाते हैं। दरअसल संज्ञान व्यवस्था सारी आधुनिकता से ही क्षतिग्रस्त होती है। यह सिर्फ़ स्कूल में पढ़ने-लिखने भर से ही क्षतिग्रस्त नहीं होती, टेलिविजन, खिलौनों आदि सभी कुछ बच्चों के बल्कि संज्ञान व्यवस्था के विरुद्ध है।

उदयन- आप क्या यह कह रहे हैं कि आधुनिकता में यह विचार है कि बच्चे को उसके यथार्थ का अपना संज्ञान खुद विकसित ही न करने दो। इसकी जगह उसे यथार्थ का बना बनाया या तैयारशुदा संज्ञान

दे दो जिससे वह उपलब्ध संज्ञान की कारा में रहा आये। इसी कारा में बरसों पहले आपने खुद को सैनिक स्कूल में पाया था।

जिनन- मैं नहीं सोचता कि यह व्यवस्था कम से कम शुरुआत में जान-बूझकर बनायी गयी थी। सुधार बिगाड़ बाद में हुए। पर जब वे स्कूल बना रहे थे, वे सोचते थे कि यह अच्छा रहेगा। मुझे याद है कि कई समयों में लिखित (मुद्रित भी) शब्द के विरुद्ध चेतावनी दी जाती रही हैं। प्लेटो, अरस्तू से लेकर भारत में भी अनेक आध्यात्मिक परम्पराओं में यह चेतावनी दी जाती थी और है। यह कहा जाता रहा है कि इस तकनीक के प्रति सावधान रहने की ज़रूरत है वरना ये आपको नष्ट कर सकती है। लेकिन लोगों को यह क्षति समझ में नहीं आयी है कि इसने हममें किस तरह का अलगाव उत्पन्न किया है। पर यह अच्छा समय है क्योंकि डिजिटल दुनिया नये निरक्षर पैदा कर रही है। इसके आलोक में 'साक्षर निरक्षर' यह समझ पाएँगे कि किस तरह साक्षरता ने मौलिक 'साक्षर निरक्षर' पैदा किये थे। इन सब से यह पुनर्परिभाषित हो रहा है कि ज्ञान किस तरह उत्पन्न होता है। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि लिखित शब्द के आने के बाद ज्ञान वह हो गया जिसे लिखा जा सके, जो लिखा नहीं जा सकता था, उसे ज्ञान की श्रेणी से हटा दिया गया। इसके फलस्वरूप संवेदनाएँ चली गयीं, मानवीय मूल्य भी, सौन्दर्य चला गया। आपका लिखना और पढ़ना ही सब कुछ हो गया। आज के सन्दर्भ में देखें तो यह कहना होगा कि जिस भी चीज़ को डिजिटल माध्यम में ढाला जा सके, वही ज्ञान है।

उदयन- इस तरह लोगों की तीन कोटियाँ बन गयी हैं, विशुद्ध निरक्षर, साक्षर पर डिजिटल दृष्टि से निरक्षर और डिजिटल दृष्टि से साक्षर (या कुशल)।

जिनन- मैं होने के तीन प्रकार को मानता हूँ। पहला वह जिसमें व्यक्ति की इन्द्रियाँ सक्रिय होती है, जिसकी जड़ें जैविकी में होती है, वह इस तरह जीता है मानो उसके भीतर प्रकृति जी रही हो। दूसरे प्रकार में वे लोग हैं जो छपे हुए शब्द के सहारे जीते हैं और अन्तिम प्रकार में वे लोग हैं जो डिजिटल संसार के सहारे जीते हैं। अब मैं कुछ विवादास्पद कहना चाहता हूँ। मैं उस बारे में बहुत निश्चित नहीं हूँ पर मैं उस विचार पर कुछ और अधिक ठहरना चाहता हूँ। मुझे यह लगता है कि संसार का नया 'स्त्रैणकरण' 'डिजिटल आयोजन (इन्टरफ़ेस)' के कारण हुआ है।

उदयन- आपका इससे क्या आशय है?

जिनन- मैं यह कह रहा हूँ कि ग्रामीण आदिवासी इलाकों में सच्चा 'अर्धनारीश्वर' गुण मिलता है। हममें 'स्त्री' और 'पुरूष' दोनों ही तत्त्व सक्रिय रहते हैं। छपे हुए शब्द के आने के साथ ही पुरुष तत्व हावी हो गया क्योंकि इसमें तार्किकता ही सर्वोपरि हो जाती है इसलिए शरीर, इन्द्रियों और स्वतःस्फूर्तता का तिरस्कार होता है। इसके कारण मनुष्य के नारी तत्व का तिरस्कार हो जाता है। मनुष्य के स्त्री तत्त्व का लोप

हो जाता है क्योंकि आपकी इन्द्रियों को निष्क्रिय कर दिया जाता है। डिजिटल व्यवस्था आने के बाद हम अपनी इन्द्रियों का बहुत विकृत ढंग से उपयोग करते हैं और केवल दो इन्द्रियों का इस्तेमाल करते हैंः दृश्य और श्रव्य इन्द्रियों का। यह उपयोग भी बेहद कटे-फटे, टूटे-फूटे ढंग से होता है। इसके कारण मनुष्यों में एक नयी तरह का स्त्रीत्व तैयार हो रहा है। मैं यह भी सोचता हूँ कि आज जिस तरह की यौनिकता प्रकट हो रही है, वह भी इसी का परिणाम लगती है।

उदयन- अगर मैं आपकी बात पर विचार करूँ तो कह सकता हूँ कि इस छद्म स्त्रीत्व के हावी होने के कारण मनुष्य के शौर्य को व्यक्त होने का कोई स्थान नहीं मिल पाता और वह असमय ही फट पड़ता है, एक और फ़िदाईन के रूप में दूसरी ओर बलात्कारी की तरह। ये दोनों ही हर स्त्री-पुरुष में उपस्थित शौर्य के विकृत प्रस्फुटन लगते हैं। हम जैसे-जैसे डिजिटल व्यवस्था से घिरते जा रहे हैं, यौन-हिंसा बढ़ रही है और आतंकवाद बढ़ता ही चला जा रहा है।

जिनन- मेरा यह मानना भी है कि डिजिटल परिवेश के बढ़ने से पुरुषों और स्त्रियों में समलैगिंकता भी बढ़ती जा रही है। वे पहले भी समलैगिंग होते थे पर अब मनावैज्ञानिक रूप से भी वे अधिक से अधिक समलैंगिग होते जा रहे हैं। आज, संज्ञान (कोग्निशन) का वातावरण ही ऐसा है। मेरा कहना है कि सब कुछ संज्ञान से ही सम्भव होता है, कोग्निशन से। आपका जो संज्ञान होता है, आप वही होते हो। आप अपने संज्ञान से ही निर्मित होते हैं। आपकी मूल्य-व्यवस्था, आपकी प्रवृत्ति, सब कुछ संज्ञान से निर्मित होते हैं क्योंकि हम जो भीतर लेते हैं वही हममें रूप लेता है।

उदयन- हम पूरे समय कुछ न कुछ इन्द्रियों से ग्रहण करते ही रहते हैं।

आपका मैंने कमाल का एक वाक्य सुना है जिसका मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है : बच्चा सत्य, नैतिकता, स्वतन्त्रता और विश्वास में जन्म लेता है। इसमें मुझे यह समझ में आता है कि बच्चा स्वतन्त्रता में जन्म लेता है पर उसका नैतिकता में जन्म लेना क्या है? (नैतिकता को अंग्रेज़ी के एथिक का समतुल्य मानकर यह कहा जा रहा है। उसे धर्म भी कह सकते हैं।) आपके एक यूरोपीय मित्र ने इस वक्तव्य पर बढ़त करते हुए कहा था कि बच्चे का ऐसा होना ही उसका प्रकृतिमय होना है। इसका यह आशय हुआ कि नैतिकता (धर्म) आप जीवन जीते हुए नहीं सीखते आप उसके साथ पैदा होते हैं।

जिनन- बिल्कुल यही है। जीवन की आकांक्षा जीवन को बनाये रखना है। दरअसल जीवन मात्र में ये सब चीज़ें उपस्थित होती हैं। सारे जीव-जन्तु नैतिक होते हैं, केवल मनुष्य ही नहीं। मैंने बहुत शोध करके यह पाया है कि प्रकृति में एक 'मातृ-तत्व' (मदर-प्रिंसपल) होता है। इसका अर्थ यह है कि बच्चा कभी भी किसी भी माँ से नहीं अकुलाता। मेरे पास बाघ का एक दिलचस्प विडियो है जहाँ उसने एक लंगूर का शिकार किया है। वह उस मरे हुए लंगूर को पेड़ पर खाने के लिए ले जाता है। जब वह बाघ पेड़ कर चढ़ रहा था,

उसने मरे हुए लंगूर से कुछ नीचे गिरते हुए देखा। जब बाघ ने उस ओर देखा तो पाया, वह लंगूर का छोटा-सा बच्चा है। वह लंगूर से चिपका हुआ था जब उसे बाध ने मारा था। बच्चे को देखते ही बाघ लंगूर को छोड़कर पेड़ के नीचे गया और लंगूर के बच्चे के साथ हो गया। वह भूख भूल गया, क्रोध भी। फिर अगले तीन घण्टों तक उसने लंगूर के बच्चे के साथ दिलचस्प समय बिताया। इसके बाद से मैं इस तरह की विडियो फ़िल्मों में खोज में लग गया। ऐसी बहुत-सी विडियो फ़िल्में हैं।

एक और विडियो है जिसमें हिरण को शेरनी बचाती है। यह सच है कि शेर उसे मारने की फ़िराक़ में है पर शेरनी उसे मारने नहीं दे रही। इस तरह की कई घटनाएँ प्रकृति में होती रहती हैं जिनसे यह समझ में आता है कि प्रकृति में ऐसी कोई शक्ति है, ऐसा कोई मौलिक तत्व है जो हर बच्चे को, हर जीव-शिशु को बचाना चाहता है। उसका पोषण करना चाहता है। यह मनुष्य की खोज नहीं, यह प्रकृति में ही निहित है। जीवन हमेशा ही अपने को बचाना चाहता है, उसका पालन-पोषण करना चाहता है। आधुनिक पालन-पोषण का मॉडल (सस्टेनेन्स मॉडल) बकवास है। लालन-पालन हमारा निर्णय नहीं, जीवन मात्र का गुण है। चूँकि जीवन अपना लालन-पालन करना चाहता है, वह हमें तीन चीज़ें देता हैः पहली है नैतिक व्यवस्था इसके चलते आप ही भक्ष्य है, आप ही भक्षी। आप दोनों ही बन जाते हैं। हर जीव यही है भक्ष्य भी, भक्षी भी। इस तरह एक अद्‌भुत सन्तुलन उत्पन्न होता है। आप पाएँगे कि एक खाया-पिया शेर (जिसका पेट भरा है) लेटा रहेगा और उसके आसपास हर तरह के जानवर खाते-पीते रहेंगे। वह केवल तब परभक्षी होगा जब वह भूखा रहेगा। वरना नहीं। कल ही मुझे किसी ने एक विलक्षण विडियो भेजा है। वह अफ्रीका का है। अपने जाल में बैठी मकड़ी शिकार का इन्तज़ार कर रही है। एक छोटा-सा मेंढक जाल में कूद कर फँस जाता है। वह जाल से बाहर निकलने की कोशिश कर रहा है पर वह उसमें उलझ गया है। तभी धीरे-धीरे मकड़ी आती है और मेढ़क को चखती है। शायद उसे उसका स्वाद पसन्द नहीं आता। वह पीछे हटती है और अपने जाल के वे सारे रेशे काट देती है जिनसे वह छोटा मेंढक फँसा था। वह मेंढ़क को भाग जाने देती है। अगर वह उसे खा नहीं सकती, वह उसे क्यों फँसा कर रखे। मैं जानता हूँ कि कई लोग इसे रूमानी समझेंगे पर मैं समझता हूँ कि जीवन का एक ही उद्‌देश्य है कि वह अपना लालन-पालन करना चाहता है। वह इसके लिए हर सम्भव प्रयास करता है।

उदयन- इसे ही आप 'मातृ-तत्त्व' 'मातृ-सिद्धान्त' कहते हैं। यह पहला तत्त्व हो गया। बाकी दो क्या हैं?

जिनन- मैंने अभी जो कहा वह जीवन का नैतिक आयाम है। मैं यह भी समझता हूँ कि जीवन तीन प्रश्नों 'क्यों' 'क्या' और 'कैसे' पर घट रहा है। 'क्यों' नैतिक आयाम है। 'क्या' संज्ञान (कोग्निटिव) तत्त्व है और 'कैसे' सौन्दर्य आयाम या तत्त्व है। ये तीनों ही हर गतिविधि में परिलक्षित होते हैं। दरअसल मुझे सौन्दर्य में गहरी दिलचस्पी है। ये तीन तत्व, 'क्या' 'क्यों' और 'कैसे' प्रकृति में अन्तर्निहित हैं। मैं यह भी

कहता हूँ कि हमें ये तीन तरह के ध्यान (अटेन्शंस) दिये गये हैं। सामान्य आदमी में तीनों ध्यान सक्रिय रहते हैं। लेकिन जब आपमें किसी एक तरह का ध्यान किंचित अधिक तीव्र होता है तब आप में एक विशिष्ट रूझान उत्पन्न होता है। अगर आप एक अच्छे कवि या अच्छे लेखक हैं, आपमें 'क्या' का ध्यान अधिक तीव्र होगा। उसकी दिलचस्पी 'क्यों' और 'कैसे' में कम होगी। सुन्दर चीज़ को देख-सुन कर आप उसका आनन्द लेते हैं। बहुत सारे प्रश्न नहीं पूछते पर जैसे ही आप 'कैसे' के प्रश्न पर आते हैं आप टेक्नोलॉजी बनाने पर आ रहे होते हैं। पर अगर आप 'क्यों' पर आते हैं, वह शुरू में अदृश्य रहा आता है पर धीरे-धीरे वह अपने को प्रकट करने लगता है। ये तीनों ध्यान हैं। किसी कारण किसी में कोई अधिक होता है किसी में कोई और। किसी में तीनों बराबर से रहते हैं।

उदयन- अगर किसी में कोई एक ध्यान अधिक है, वह उसके स्वभाव को इंगित करने लगेगा। आप यह कह रहे हैं कि सामान्य धरातल पर ये तीनों ही एक साथ सक्रिय होते हैं।

जिनन- जब आप कुछ सुनते हैं, आप इस बात पर ध्यान लगाते हैं कि 'क्या' सुनायी दे रहा है। यह पहली बात है। अगर आप सुनी जा रही भाषा के 'कैसे' पर ध्यान देने लगते हैं, आप बहुत करके उसकी व्याकरण समझ जायेंगे। और जब उस पर 'क्यों' का ध्यान लगाएँगे, आप बोलने वाले का सामाजिक और मानसिक सन्दर्भ समझ ने की ओर बढ़ेंगे। तब आप यह सोचने लगेंगे कि यह व्यक्ति यह सब 'क्यों' बोल रहा है वगैरह। हो सकता है कि यह सब कहते हुए मैं कोई कहानी बुन रहा हूँ पर मेरी कई बरसों से यही भावना है।

उदयन- एक कवि की तरह मैं आपकी बात को बिल्कुल समझ रहा हूँ। कवि के लिए 'क्या' बहुत महत्वपूर्ण होता है और 'कैसे' और 'क्यों' बहुत बाद में आते हैं। इसलिए होता यह है कि कवि लिखता पहले है, उसे समझता कहीं बाद में है।

जिनन- हमारे समय की त्रासदी यह है कि लोग कविता समझाने की कोशिश करते हैं।

उदयन- मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ। यह मैं कई बार दे चुका हूँ। यह पुरी के जगन्नाथ के बारे में है। आप उडिसा में रह चुके हैं, इसलिए आप उनसे परिचित होंगे। उनकी आँखें बहुत बड़ी बनायी जाती हैं। मैंने वहाँ के मुख्य पण्डित से पूछा कि जगन्नाथ की आँखें इतनी बड़ी क्यों हैं? वे होशयार व्यक्ति थे, वे समझ गये और बोले कि आप मुझसे इसलिए पूछ रहे हैं क्योंकि आपके मन में इन आँखों के बारे में कोई विचार है। मैंने उनसे कहा कि यह मन्दिर है और मन्दिर में खड़े होकर अपनी व्याख्या करने में मुझे संकोच है। इस पर उन्होंने कहा कि आप कहिए। मैं बोला कि जगन्नाथ जगत को बनाने वाले हैं और उनकी आँखें इतनी बड़ी इसलिए हैं क्योंकि वे अपनी ही रचना, यानि जगत को देखकर चकित हो गये हैं। उनकी आँखें विस्मय के कारण बड़ी हो गयी है। वे आपकी दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि उनकी बड़ी आँखें जगत के

'क्या' को देखकर चकित हो गयी हैं। जगन्नाथ की आँखें कह रही हैं कि 'मैंने यह 'क्या' बना दिया है।' लेखक या कलाकार पर सौन्दर्य का यह दबाव होता है कि वह अपने ही काम पर चकित हो जाता है।

जिनन- लेखक अक्सर अपने लिखे को पढ़कर खुद चकित हो जाता है और सोचता है कि क्या मैंने ही यह लिखा है?

उदयन- अगर आप अपने लिखे से खुद चकित नहीं होते, आप बेहतर लेखक नहीं है। ऐसी स्थिति तभी होती है जब आपको पहले से ही पता होता है कि आप क्या रचने वाले है। बहरहाल हम बच्चों और भरोसे या विश्वास की बात कर रहे थे।

जिनन- इस बारे में मैं यह कहूँगा कि छोटे बच्चे कभी झूठ नहीं बोलते। झूठ उनकी चेतना में ही नहीं होता। एक घटना बताता हूँ। बच्चे ने कुछ किया था और मैं उससे बोला कि मुझे इस बारे में सच बताओ। उस दिन उसने पहली बार जाना कि सच के अलावा भी कोई चीज़ होती है जो बोली जा सकती है। बाद में उसने फिर कुछ किया और मैं उससे बोला कि मुझे पता है कि तुम मुझसे झूठ बोल रहे हो। मैंने यह भी कहा कि तुम्हारा चेहरा ही मुझे यह बता रहा है। इस तरह अनजाने ही मैंने उसे दूसरा पाठ पढ़ा दिया कि झूठ बोलने के लिए यह ज़रूरी है कि झूठ बोलते समय दूसरी तरह चेहरा बना लिया जाए। यही बात आदिवासियों के साथ भी है : वे कभी झूठ नहीं बोलते। उन पर पूरी तरह भरोसा किया जा सकता है। मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूँ कि हम अपने होने में सत्य में ही स्थित हैं। बच्चे सत्य में पैदा होते हैं। हम उन्हें झूठ बोलना सिखाते हैं। हम ही उन्हें धोखा देना सिखाते हैं, चीज़ें क़ब्ज़े में करना सिखाते हैं आदि। बच्चे के लिए सभी चीज़ें उसकी हैं और कुछ भी उसका नहीं है। वह यह नहीं जानता कि फलाँ चीज़ उसकी है, कोई और चीज़ किसी और की। यह सब बच्चे पर ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान देने के कारण होता है। हम उसे कहते हैं कि वह तुम्हारा नहीं हैं, तुम्हारा तो यह है। आदिवासी-ग्रामीण इलाकों में बच्चों को विशेषकर रूप से कुछ भी नहीं दिया जाता। वहाँ वह कुछ भी इस्तेमाल कर सकता है। वह भले ही उसका हो न हो। संज्ञान-विज्ञान (कोग्निटिव साईंस) के लोग यह दर्शाने का बहुत प्रयास कर रहे हैं कि अर्थव्यवस्था की जड़ें जैविकी में होती हैं। यह सौ प्रतिशत ग़लत है। आधुनिकता के साथ मुश्किल यह है कि वह सब कुछ पश्चिमी चिन्तन के आधार पर साबित करना चाहती है। उन्हें उससे बाहर आने की आवश्यकता है। मैं अक्सर कहता हूँ कि अगर आपको कुत्ते का स्वभाव समझना है तो आपके पास दो-तीन रास्ते हैं। पहला यह कि आप जंगल जाकर कुत्ते को देखें। दूसरा यह कि उस कुत्ते को शहर में देखें जो यहाँ-वहाँ घूमता फिरता है। तीसरी यह कि आप अपने पालतू कुत्ते का अध्ययन कर लें। आप क़िताब भी पढ़ ही सकते हैं। क़िताब पढ़ने के तो हम लोग अब विशेषज्ञ बन गये हैं। पर हमें कुत्ते को समझने कम-से-कम सड़कों पर भटकते कुत्ते का तो अध्ययन करना ही चाहिए। हमारी समस्या यह है कि हम नियन्त्रित (कन्ट्रोल्ड) कुत्ते का अध्ययन करते हैं और कह देते हैं कि यही कुत्ते की प्रकृति है। पश्चिमी वैज्ञानिक यही कर रहे हैं। अगर उन्हें सौन्दर्य,

संज्ञान या मूल्यों आदि की जैविक जड़ें जाननी है, उन्हें ग्रामीण-आदिवासी लोगों का अध्ययन करना चाहिए। और वह भी आधुनिकता के सन्दर्भ में नहीं। इसलिए भी ग़ैर-पश्चिमी बौद्धिकों को एकत्र होकर अपनी बात रखना चाहिए। एक चीज़ और हो रही है : कुछ लोग अपने विषय में कुछ अधिक आत्मालोचनात्मक हैं। लेकिन उनमें भी इतनी मानवीयता नहीं है कि वे अपने पश्चिमी दायरे से बाहर आकर देखें। मुझे नहीं पता कि आपने कभी यह एक्रोनिम (शब्द-संक्षेप) WEIRD सुना है या नहीं। इसका आशय है, 'वेस्टर्न एजुकेटेड इन्डस्ट्रियलाईज़्ड रिच डेमोक्रेटिक' का। (पश्चिमी, शिक्षित, औद्योगिकीकृत, दौलतमन्द, लोकतान्त्रिक व्यक्ति) इस संक्षेप को भी एक पश्चिमी व्यक्ति ने ही बनाया है। उसने इसे कैसे बनाया? वह मनोविज्ञान पढ़ रहा था और उसने कुछ ऐसे 'परीक्षक-खेल' बनाये थे जिससे यह पता चल सके कि वे लोग किस मानसिकता के हैं। यही मनोवैज्ञानिक जब किसी दक्षिण अमरीकी देश जाता है तो पाता है कि वहाँ के लोग उन सारे नियमों को मानते ही नहीं है जो इसने बनाये हुए हैं। उनके अपने अलग नियम हैं। यह होने पर वह पश्चिमी लोगों के उन पूर्वाग्रहों को समझता है जो मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर उन लोगों में पाये गये हैं क्योंकि वे जिन लोगों का अध्ययन करते हैं उनमें से ६५ प्रतिशत अमरीका से आते हैं और उनके सभी निष्कर्ष उनके अमरीकी युवकों के अध्ययन के आधार पर आते हैं। यह देखकर 'वियर्ड' शब्द-संक्षेप बनाया गया। पर यही कुछ सभी अध्ययनों के विषय में सही है। अब वे दिमाग़ के बायें और दायें भाग में विभाजन के बारे में बातें कर रहे हैं। अगर उन्हें सच्चा अविभाजित मष्तिष्क समझना है तो उन्हें ग़ैर-साक्षर व्यक्ति का अध्ययन करना चाहिए। यह वे नहीं करते। वे केवल साक्षर व्यक्तियों का अध्ययन करते हैं और वहीं से सभी तरह के निष्कर्ष निकालते हैं।

उदयन- आपने साक्षर और ग़ैर-साक्षर व्यक्ति के संज्ञानों में अन्तर को रेखाकिंत किया है। साक्षर व्यक्ति में, इसके अनुसार, ज्ञान 'जानने की प्रक्रिया' के पहले ही आ जाता है जबकि ग़ैर-साक्षर व्यक्ति में जानने की प्रक्रिया में ही ज्ञान का सृजन होता है। इन दोनों तरह के लोगों के संज्ञान (कोग्निशन) में क्या बुनियादी फ़र्क़ होते हैं।

जिनन- इन दो तरह के संज्ञान में पहला सबसे महत्वपूर्ण फ़र्क है कि ग़ैर-साक्षर संज्ञान में सन्दर्भ अज्ञात होता है, वह निरन्तर बदलता रहता है, वह त्रिआयामी होता है, उसमें अनुभव बहुआयामी होता है। वहाँ कोई सिखाने वाला नहीं है। साक्षर संज्ञान में ज्ञान पहले से तैयार रहता है, वह 'रेडीमेड' होता है, वहाँ शिक्षा दी जाती है।

अज्ञात और ज्ञात हममें दो तरह के व्यवहार उत्पन्न करते हैं। अज्ञात के क्षेत्र में आपको अनिवार्यतः विनम्र होना होता है, वहाँ इसके अलावा कोई रास्ता नहीं होता। उसमें आप अहंकारी होकर अपनी शर्तें लागू नहीं करवा सकते। 'अज्ञात' की स्थिति में विनय और मानवीयता स्थापित होती है। अज्ञात और ज्ञात प्रतिमान शुरू से ही मनुष्यों के जीवन मूल्यों को प्रभावित करते हैं। अज्ञात के क्षेत्र में आपको ध्यान देना होता है।

जीवन का अस्तित्वगत परिवेश ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिससे जीवन जिया जाता रहे। इसके साथ ही हर प्रजाति को ऐसी कुछ गुण मिले हुए हैं जो जीवन को बनाये रखने में आवश्यक होते है। बाह्य स्थितियाँ और भीतरी गुणों का समावेश आवश्यक है। होता यह है कि जब बाह्य परिस्थितियाँ बदलती हैं, स्वभाविक रूप से भीतरी गुण भी बदलते हैं। हममें सारे गुणों की सम्भावना है। हममें उनकी सामर्थ्य है। कुत्ता वही है पर वह घर में एक तरह से व्यवहार करता है, जंगल में दूसरी तरह से। मानवीय व्यवहार भी बाह्य परिस्थितियों के बदलते ही पूरी तरह बदल जाता है। मैंने आपको बताया था कि मैं वे सारी चीज़ खोजता रहता हूँ जिनका सम्बन्ध सीखने से हो। वे प्रकृति में हों, पेड़-पौधों में, मनुष्य में या कहीं भी। मुझे एक बहुत ही दिलचस्प विडियो मिला जो वन्य-बालक के विषय में है। (वन्य-बालक वे बालक होते हैं जिन्हें पशु पालते पोसते हैं।) मैंने ऐसे तीन प्रसंग देखें हैं। तीन वन्य-बालकों को तब पाया जा सका जब वे दस या ग्यारह या बारह साल के हो चुके थे। एक प्रसंग में बच्चे को कुत्तों ने पाला था क्योंकि उसके माता-पिता हमेशा नशे में रहते थे। वे उस बच्चे की ज़रा भी देखभाल नहीं करते थे। बच्चा कुत्तों के साथ रहकर कुत्तों सा ही हो गया। वह देखने में ज़रूर मनुष्य लगता था पर व्यवहार में वह कुत्तों जैसा ही था। यह कुत्तों जैसा ही चलता था। इसलिए यह कह सकते हैं कि हममें चलने की सम्भावना सोयी रहती है, हम चल ही लेंगे इसकी कोई गारंटी नहीं है। यही कुछ देखने के साथ भी है। हमें आँखें देखने को प्रदान की गयी हैं पर यदि हम बच्चे को पहले तीन वर्ष अँधेरे में रखें, उसमें देखने की क्षमता समाप्त हो जाएगी। हमारे सारे ऐन्द्रिक गुण केवल सम्भावनाएँ हैं। इसलिए बाह्य परिस्थितियाँ हमारी निर्मिति के लिए गहरे स्तर तक जिम्मेदार हैं। पारम्परिक परिस्थितियों चूँकि जीवन का पोषण करने के लिए बनायी गयी हैं, इसलिए प्रकृति प्रदत्त गुण ऐसी परिस्थितियों में जाग्रत हो जाते हैं।

ग़ैर-साक्षर और साक्षरों के बीच एक मौलिक अन्तर यह है कि ग़ैर-साक्षरों में नैसर्गिक गुणों के जाग्रत होने से संज्ञान उत्पन्न होता है। जबकि आधुनिक मानव-केन्द्रित स्थितियों में आपको एक बाहरी माध्यम अनुकूलित करता है। ग़ैर-साक्षरों में जाग्रत करना प्रमुख है, साक्षरों में अनुकूलन। पर पारम्परिक परिस्थितियों में भी थोड़ा बहुत अनुकूलन होता ही है और आधुनिक स्थितियों में जाग्रत करना। शिक्षण प्रक्रिया बहुत अधिक सत्यानाशी हो गयी है, विशेषकर इसलिए भी यहाँ हम बने बनाये (रेडीमेड) ज्ञान को सौंपने का काम करते हैं। ये दोनों ही चीज़ें (अनुकूलन और रेडिमेड ज्ञान का दिया जाना) बच्चों की समूची आन्तरिक व्यवस्था को पुनर्संयोजित कर बहुत ही यान्त्रिक, क्लोन के जैसे व्यवहार का रास्ता बना देती हैं। साक्षर लोगों इसलिए आत्मविश्वासी होते हैं क्योंकि उनका कभी भी अज्ञात, अनिश्चय से सामना नहीं हुआ होता। उन्होंने अपने ज्ञान पर कभी सन्देह नहीं किया होता। वे हमेशा ही निश्चयात्मक तथ्यों से व्यवहार करते रहते हैं। इसलिए उनके व्यवहार में ग्रामीण आदिवासी लोगों से मौलिक अन्तर होता है।

उदयन- आप संज्ञान या कोग्निशन जिसे कह रहे हैं, उसे कुछ और स्पष्ट करिए।

जिनन- मैं संज्ञान केवल मानसिक प्रक्रियाओं को नहीं कह रहा। जैसा कि पश्चिमी लोग कहते हैं। मैं संज्ञान को व्यवहार की सम्पूर्ण निर्मिति की तरह देख रहा हूँ। मैं यह भी कहूँगा कि व्यवहार भी संज्ञान के भीतर ही आता है। क्योंकि मनुष्य सब कुछ सोखता है।

उदयन- अगर हम ग़ैर-साक्षर के अज्ञात से घिरे रहने के विचार पर आयें तो इस विषय में आपने कहा है कि यह आपको अधिक विनम्र बनाता है जिससे सम्भवतः आपका आशय यह है कि इस स्थिति में सारी मूल्य व्यवस्था ही अलग तरह की हो जाती है।

जिनन- जब आप 'अज्ञात' से शुरू करते हैं, आप चकित होते हैं। इन लोगों के भीतर जिज्ञासा हमेशा बनी रहती है। ऐसा क्यों है कि आधुनिक शिक्षित लोगों को जिज्ञासु होने का स्वांग भरना पड़ता है। नब्बे प्रतिशत लोगों में कोई जिज्ञासा नहीं होती, वह पूरी तरह खत्म कर दी जाती है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अगर वह बच भी जाती है तो वह अजीब सी मनुष्य-केन्द्रित जिज्ञासा होती है। वह जीवन का पोषण करने नहीं होती। इसलिए जीवन का जीवन को पोषित करने का मूल उद्देश्य नष्ट हो जाता है क्योंकि हमारे भीतर जीवन द्वारा दी गयी जिज्ञासा सक्रिय नहीं हो पाती। 'अज्ञात' के क्षेत्र में ही विनम्रता, जिज्ञासा और आश्चर्य की प्रतिष्ठा होती है क्योंकि आप अज्ञात के साथ केवल एक ही व्यवहार कर सकते हैं कि आप उसका अन्वेषण करें। तब आपके पास एक ही रास्ता बचता है कि आप जिज्ञासु रहें। इन दोनों में फ़र्क़ यह है कि ग़ैर-साक्षर लोग वास्तविक संसार के बारे जानते हैं जबकि साक्षर लोगों पर लिखित सूचनाएँ आरोपित की जाती हैं। यह सच है कि वे उस सब को ज्ञान कहते हैं और इससे मैं पूरी तरह असहमत हूँ क्योंकि उन्होंने जो याद कर लिया है, उसे ही वे ज्ञान मान लेते हैं। इसलिए शब्द और संसार का फ़र्क़ सामने आने लगता है। मैं यह कहता हूँ कि साक्षर शब्द सीखते हैं पर ग़ैर-साक्षर संसार सीखते हैं। इसके कारण शब्द साक्षरों को धारण कर लेते हैं जबकि संसार ग़ैर-साक्षरों को रूप देता है, उन्हें बनाता है। मैं यह बताता चलूँ कि 'ग़ैर-साक्षर' का मैं दुर्गुण की तरह इस्तेमाल नहीं कर रहा। इस तरह की तमाम शब्दावली साक्षरों की बनायी हुई है। यह देखना दिलचस्प है कि साक्षर लोग संसार को किस तरह बनाते हैं। उनके संसार में हमेशा ही ऊँच-नीच रहती है। हर समय कोई किसी को नीचे गिराकर अपनी ऊँचाई दिखाता है। दूसरी बात यह है कि वे हमेशा ही पश्चात-विचार करते हैं। वे किसी चीज़ को बहुत बाद में याद करके वर्तमान सन्दर्भ में ले आते हैं जो दरअसल अर्थहीन है।

उदयन- आप सौन्दर्य के बारे में बहुत बात करते हैं। आपको उस विषय पर अपने विचार रखना चाहिए। यह ऊपर देखने पर साधारण पर दरअसल अस्तित्वगत प्रश्न है। यह हमारे जीवन का लगभग संचालक तत्व है फिर हम इसे इस तरह भले ही न पहचान पायें।

जिनन- मैं अभी हाल में कुछ पढ़ रहा था कि मैंने पाया कि सौन्दर्यशास्त्र (एस्थेटिक्स) पश्चिम के दार्शनिक चौखटे में सत्रहवीं शती में ही जोड़ा गया है। यह सच है कि कला मानसिक कर्म का सृजन है पर

वह भी पश्चात-विचार है। आप शैक्षणिक प्रतिमानों (पैराडाइम) को देख लीजिए, उसमें केवल ज्ञान ही केन्द्रीय रहा है। बाद में यह महसूस किया गया है कि लोगों में इन्द्रिय-शैथिल्य आता जा रहा है तो उन्होंने शिक्षा में कला को भी जोड़ दिया। पर कला के आने के बाद भ्रम बढ़ गया। इस सबका बहुत बाद जब यह पता लगा कि इस तरह शिक्षा से बदमाश उत्पन्न हो रहे हैं तब मूल्य-शिक्षा की बात लायी गयी। ये सारी बातें पश्चात-विचार हैं। आजकल 'होलिस्टिक' शिक्षा की चर्चा होती है। वे हर थोड़े समय बाद एक नयी चीज़ जोड़कर 'होल' (सम्पूर्ण) शिक्षा बनाने का प्रयास करते रहते हैं। वे यह भूल गये हैं कि हमारी अपनी प्रकृति ही सम्पूर्ण होने की है। शिक्षाविद् सोचते हैं कि उन्होंने धोखे से खण्ड-खण्ड शिक्षा दी, अब वे उसे 'होलिस्टिक' या सम्पूर्णतावादी बनाने की कोशिश कर रहे हैं। मैं इसे आधुनिकता का 'न्यूनता-रोग' (डिफ़िसिट सिन्ड्रोम) कहता हूँ। आधुनिकता 'कमी' या न्यूनता या डिफ़िसिट से शुरू होती है जबकि परम्परा सम्पूर्णता से शुरू होती है। आप इस सब को पीछे बढ़ाते हुए 'अज्ञात' या 'ज्ञात' के क्षेत्र में रहने तक जा सकते हैं। वहीं से ये दोनों बातें शुरू होती है।

उदयन- क्या आप 'न्यूनता-रोग' (डिफ़िसिट सिन्ड्रोम) की कुछ व्याख्या कर सकते हैं?

जिनन- हर प्राणी प्रचुरता के गुणों के साथ पैदा होता है। ये मानसिक गुण नहीं हैं, उनसे कहीं गहरे हैं। इनके विषय में न बात होती है, न इन पर विचार किया जाता है। ये जीवन के वे तथ्य है जो प्रदत्त है, ये दिये हुए तथ्य है कि हर प्राणी प्रचुरता में रहते हैं। अधिकांश ग़ैर-साक्षर लोग आने वाले कल के विषय में नहीं सोचते। वे 'वर्तमान' में पूरी तरह प्रसन्नता से रहते हैं। यह इसलिए है क्योंकि वे प्रचुरता में रहते हैं। इसके विपरीत जब साक्षर अपने कामों की योजनाएँ आने वाले कल को ध्यान में रखकर बनाते हैं, वहाँ न्यूनता होकर रहती है क्योंकि आने वाला कल न्यूनता या डिफ़िसिट से ही आता है।

उदयन- आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं।

जिनन- क्या आपको 'गुरूजी' रवीन्द्र शर्मा की याद है?

उदयन- बिल्कुल। वे आदिलाबाद में रहते थे और हमारी अक्सर बात होती थी। जाति प्रथा की उनकी समझ विलक्षण थी। संयोग से वे बड़ौदा कला संस्थान में नसरीन मुहम्मदी के छात्र भी थे।

जिनन- उन्होंने एक बार मुझे बताया था कि पारम्परिक समाज में प्रचुरता इसलिए भी रहती थी क्योंकि वे चीज़ों की गिनती नहीं करते थे। चीज़ों को गिनने के कारण आप प्रचुरता में रहना छोड़कर न्यून होते चले जाते हो। चीज़ों की गिनती करते ही आप प्रचुरता में कमी लाना शुरू कर देते हैं। आदिवासी-ग्रामीण लोगों के ज्ञान के बारे में एक बार दिलचस्प बात मुझे यह भी पता चली कि वे केवल प्रचुरता में ही नहीं, 'समयहीनता' में रहते हैं क्योंकि वे अपनी उम्र नहीं जानते। और हम अपने हर जन्मदिन के साथ अपनी मृत्यु की गणना में लगे रहते हैं। ग़ैर-साक्षर व्यक्ति उस विचित्र समय में नहीं रहता

जो हमने बना लिया है। इसलिए ही आदिवासी-ग्रामीण इलाकों में ऊब का कोई अनुभव नहीं है। जैसे कचरे का नहीं है। न प्रकृति में कचरा होता न आदिवासी-ग्रामीण इलाकों में। ऊब का अनुभव तब होता है जब समय आगे न सरक रहा हो। मैंने यह हमेशा देखा है कि आप जब भी आदिवासी- ग्रामीण इलाकों में जायें, आप ग्रामीण लोगों को बस का इन्तज़ार करते देखेंगे। वे ऐसा घण्टों कर सकते हैं पर उन्हें थोड़ी-सी भी ऊब नहीं होती। जबकि हमारे जैसे लोगों के साथ अगर ऐसा एक मिनट के लिए भी होता है, हम ऊब महसूस करने लगते हैं। हम बेचैन हो जाते हैं, हमें समझ में नहीं आता कि हम क्या करें। बहुत बुनियादी स्तर पर हमें यह समझ बदलनी होगी कि मनुष्य होने का क्या अर्थ है?

उदयन- आपकी बस के इन्तज़ार की बात को अगर जन्मदिन मनाने की बात से जोड़कर देखें तो हम यह भी कह सकते हैं कि अगर हमें पाँच मिनट भी बस का इन्तज़ार करना पड़े तो हम ये पाँच मिनट अपनी पूरी ज़िन्दगी से घटा कर देखते हैं क्योंकि हमने भविष्य में अपनी जीवन की (भले ही ग़लत) गणना की हुई है। इस कारण हमारे भीतर डर उत्पन्न होता होगा और इस डर को ढाँकने ऊब होती होगी। शायद ऊब आवरण है।

जिनन- पश्चिमी प्रतिमानों के हिसाब से ऊब ही सृजन को सम्भव करती है। यह नितान्त ग़लत विचार है। वे यह नहीं समझ पा रहे कि ऊब न होने का क्या आशय है? यहाँ भी सृजन पर दृष्टि डालनी होगी। आधुनिक सृजन का अधिकांश अहंकेन्द्रित होता है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की ख़ुशहाली होता है न कि जीवन मात्र की समृद्धि या ख़ुशहाली से। मैं दरअसल इसे सृजनात्मकता कहता ही नहीं हूँ, इसे विध्वंसात्मकता कहता है। मैं सृजन और विध्वंस में फ़र्क़ करता हूँ। सृजन जीवन की प्रक्रिया का अंश भर है। आप भी नयी चीज़ों को खोजते हैं पर यह खोज जीवनमात्र और हर प्राणी के लिए होती है। इसे मैं सृजनात्मक कहता हूँ। आदिवासी सृजन निजीकृत नहीं होता, वह केवल आपके लिए नहीं होता। इसका पेटेंट नहीं होता, इसकी वित्तव्यवस्था नहीं बनती। जबकि आधुनिक सृजनात्मकता स्वार्थी होती है। वह जीवन की प्रक्रिया के अनुकूल नहीं होती। मैं आधुनिकता के विषय में यह दिलचस्प बात पा रहा हूँ कि वह लगातार शब्दों को अनुकूलित कर उनका वे अर्थ दे रही है जो उसके लिए बेहतर हों, उसके हित के हों। ऊब ऐसा ही शब्द है जिसका वे उत्सव मना रहे हैं। बहुत से लोग उसके बारे में इस तरह बात करते हैं मानो वह कोई महान अनुभूति हो।

उदयन- मैं यहाँ से एक और धारणा की ओर आपके ध्यान का विस्तार चाहता हूँ। आपने अभी एक बीज-विचार रखा कि हम सभी सामर्थ्य या किन्हीं गुणों की सम्भावना के साथ पैदा होते हैं। इसमें आपने उस वन्य-बालक का उदाहरण दिया था जिसे कुत्तों ने पाला तो वह खुद भी कुत्तों जैसे व्यवहार करने लगा। आज जीवविज्ञान में यह बात लगभग स्वीकृत हो चुकी है कि हमारे शरीर की बल्कि हर प्राणी के शरीर की हर कोशिका में यह सामर्थ्य या सम्भावना रहती है कि वह शरीर का कोई भी अंग बन सके। पर चूँकि मिसाल

के लिए नाक की कोशिका के लिए बाकी सारी सम्भावनाएँ चरितार्थ नहीं हो पातीं, इसलिए वह कोशिका नाक बन जाती है। हमें ग्रामीण-आदिवासी परिवेश में सामर्थ्य या सम्भावना के बारे में कुछ और विचार करना चाहिए क्योंकि अभी ही आपने आधुनिक परिवेश में न्यूनता-रोग (डिफ़ीशिएंसी सिन्ड्रोम) में बात की है और अब वे सम्पूर्णतावादी (होलिस्टिक) पद्धति की चर्चा कर रहे हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में यह जोड़-तोड़ की सम्पूर्णता है (सम्मेटेड होलिज़्म) है जिसका आशय है कि यहाँ गणितीय सम्पूर्णता है। लेकिन सामर्थ्य और 'अज्ञात' का सामना करते रहने के विचार एक अलग तरह की सम्पूर्णता या 'होलिज़्म' का प्रस्ताव है जो जैविक है न कि गणितीय। ये दो अलग की सम्पूर्णताएँ या 'होलिज़्म' हैं।

जिनन- कल मैं अर्धनारीश्वर की बात कर रहा था। वह सम्पूर्णता है। दरअसल कई द्वैत साथ आकर सम्पूर्णता की रचना करते हैं। परूष और स्त्रैण गुण साथ आकर एक सम्पूर्णता बनाते हैंः अर्धनारीश्वर। वैयक्तिकता और सामूहिकता साथ आकर एक हो जाते हैं। पारम्परिक समाजों में वैयक्तिकता और सामूहिकता एकनिष्ठ होकर हर व्यक्ति में रहती हैं। जबकि आधुनिकता में सामूहिकता को हटा दिया जाता है। और साथ ही अतीत को भी हटा दिया जाता है। यह इसलिए है क्योंकि वे उस ज्ञान पर निर्भर है जो बाहर से आ रहा है। जबकि पारम्परिक आदिवासी-ग्रामीण समाज सीधे-सीधे जीवन के ज्ञान पर निर्भर हैं। इस दृष्टि से उनका अस्तित्व अपने आप लाखों वर्ष पुराना हो जाता है। इसलिए उनका दिमाग़ जिस क्षण में सार्वभौमिक सार्वकालिक है उसी क्षण में विशिष्ट भी है। सामर्थ्य सार्वभौमिक-सार्वकालिक दिमाग में होती है। इसलिए जब आधुनिकता 'सामर्थ्य' को नकारती है, वह सार्वभौमिक-सार्वकालिक मानस को भी नकार देती है और तब वह अहंकेन्द्रित व्यक्तिमत्ता सम्पन्न मानस बनाती है जो केवल इसी एक जीवन से 'इनपुट' ले पाता है, इसी एक जीवन से निवेशित हो पाता है। आधुनिक शिक्षा मानस को केवल 'अभी' से निवेशित करती है। 'अभी' यानि वह ज्ञान जो 'अभी', इस समय उपलब्ध है। और केवल वह ज्ञान जो भाषाकृत हो चुका है। पारम्परिक समुदायों में मनुष्य का अस्तित्व ही लाखों-करोड़ों वर्ष के ज्ञान में ही रहता है। वहाँ उसी का प्रकटन होता रहता है। वहाँ वह ज्ञान उन मनुष्यों में निरन्तर जागता रहता है।

उदयन- क्या आपने ग्रामीण-आदिवासी इलाकों में ऐसा कुछ विशेष अनुभव किया है जो शहरों में मुश्किल ही है।

जिनन- उन इलाकों में क्रोध बहुत कम किया जाता है। मैंने उन इलाकों में यह देखा है कि वहाँ कोई भी बच्चे को 'नहीं' नहीं कहता। आधुनिक घरों में बच्चे लगातार केवल 'नहीं' सुनते रहते हैं। दरअसल क्रोध, भय ऐसी संवेदनाएँ हैं जिन्हें अस्थायी रूप से इस्तेमाल किया जाता है और फिर भूल जाया जाता है। बच्चे का नैसर्गिक स्वभाव खुश और सन्तुष्ट रहना है। इसलिए बच्चे अगर नाराज़ हो भी जायें तो वे कुछ मिनटों के लिए वैसे होते हैं फिर वे वह सब भूलकर खुश हो जाते हैं। यह बच्चे का स्वभाव है पर आधुनिक सन्दर्भों में वह हर दिन क्रोधित होता है, भयग्रस्त होता है क्योंकि यही कुछ उसके माता-पिता और उसका

स्कूल हर समय कर रहे होते हैं। इसलिए बच्चों के अस्थायी गुण स्थायी हो जाते हैं। क्रोध और भय महत्वपूर्ण हैं लेकिन वे किसी विशेष स्थिति का सामना करने प्रयुक्त होते हैं फिर उन्हें चले जाना चाहिए।

उदयन- वे संचारी संवेदनाएँ होती हैं...

जिनन- मैंने देखा है कि मेरी बच्ची आग के डर का कैसे सामना करती है। जब वह चार-पाँच साल की थी, वह कुछ पकाना चाहती थी। अपने आप। यह इच्छा स्वप्रेरित ही थी। उसका भाई नदी जाकर मछली ले आया। सबसे पहले उसने वह मछली उससे छीन ली। उसे डर था कि वह उसे अपने पास ही न रख ले। वह भाग कर घर पहुँची, रसोई में जाकर तेल आदि निकाला। खुद अपना चूल्हा तीन ईटों की मदद से बनाया। मुझे याद है, वह किस तरह माचिस की तीली जलाने की कोशिश कर रही थी। पर वह डर भी रही थी। वह तीली जलाती और वहाँ से भाग जाती। उसने वह सब जिस तरह धीरे-धीरे किया, बहुत खूबसूरत था। आदिवासी-ग्रामीण लोगों में यह खास बात है कि चूँकि वहाँ बच्चों के काम में हस्तक्षेप नहीं किया जाता इसलिए बच्चे अलग-अलग स्थितियों का सामना करना सीख जाते हैं। शहरों में जब भी बच्चों का विवाद होता है, उनके माता-पिता आकर झगड़ा करने लगते हैं। ग्रामीण इलाकों में ऐसा नहीं होता क्योंकि बच्चों के कामों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता, वे खुद सीख जाते हैं कि विवादों को कैसे सुलझाएँ। डर वहाँ भी होता है, पर बच्चा जानता है कि उसका सामना कैसे किया जाए। मैंने दूसरे भी कई उदाहरण देखें हैं। आपने भी यह देखा होगा कि जब भी बच्चा सीढ़ियाँ देखता है, वह ऊपर की सीढ़ी से नीचे कूदता है। बच्चे बिल्कुल ठीक-ठीक जानते हैं कि किस सीढ़ी से किस पर कूदना है। एक बार वे एक सीढ़ी कूदने में निष्णात हो जाते हैं तो एक छोड़कर दूसरी पर कूदते हैं। इसका अर्थ है कि यह जीवन में ही अन्तर्निहित है कि कैसे कितना कूदना है, वरना बच्चा सबसे ऊपर की सीढ़ी से सबसे नीचे की पर न कूद जाता। इससे साफ़ समझ में आ सकता है कि हममें अन्तर्निहित एक विवेक है, अपना ख़याल रखने की आवश्यकता है और डर भी है। ये सब हमारी भीतरी व्यवस्था का भाग हैं जिनका बच्चा उपयोग कर पाता है बशर्ते वयस्क उसमें अनावश्यक डर पैदा न करें। या उनकी मदद न करते रहें। मैंने न्यूनता रोग (डिफ़िसिट सिन्ड्रोम) को बच्चों के सन्दर्भ में ही अधिक अन्वेषित किया है। मैंने पाया कि किस तरह बच्चे के पैदा होते ही आधुनिक समाज शिक्षा के सहारे उसमें न्यूनता (डिफ़िसिट) पैदा करता रहता हैं। आधुनिक शिक्षा का प्रयास यह है कि आप बच्चे को कहें कि तुम्हें सीखना नहीं आता। इसका यह अर्थ भी है कि वह बच्चे को बताए कि तुमने सामर्थ्य नहीं है। इसी के साथ अगर आप ग्रामीण-आदिवासी स्थिति को देखें तो पाएँगे कि वहाँ अनचाही मदद या हस्तक्षेप नहीं है। बच्चा अपनी चीज़ों का ब्यौरा खुद ले लेता है। उसे ख़ुद समझ लेता है। आधुनिक समाजों में बच्चों को शुरू से ही 'न्यूनता' दी जाती रहती है।

उदयन- क्या हम आपके इस विचार पर और बात करें कि बच्चे में शिक्षा के सहारे न्यूनता (डिफ़िसिट) निवेशित की जाती है। मैं समझता हूँ कि इस एक चीज़ के कारण राजसत्ता अधिक शक्ति सम्पन्न

हो जाती है। राजसत्ता आदिवासी-ग्रामीण समाजों में इतनी शक्ति सम्पन्न इसलिए नहीं हो पाती क्योंकि उन समाजों के सदस्यों ने अपनी सामर्थ्य को समझ लिया है, उन्हें वैयक्तिक और सामूहिक प्रश्नों के समाधान पाने में विशेष मुश्किल नहीं होती। इसी सन्दर्भ में उस आधुनिक शिक्षा को देखें जो हममें बचपन से ही न्यूनता (डिफ़िसिट) को डाल देती है, वह आधुनिक राजसत्ता के शान्ति सम्पन्न होने के रास्ते खोल देती है और यही नहीं उसे निरन्तर शक्तिशाली बनाती जा रही है। इसलिए हमें यह उम्मीद नहीं रखनी चाहिए कि राजसत्ता इस तरह की शिक्षा पद्धति को समाप्त कर सकेगी क्योंकि ऐसा करके वह अपने अस्तित्व को ही ख़तरे में डाल रही होगी। अपनी शक्ति को घटा रही होगी। इसे मार्क्सवादी विचार की विडम्बना ही माननी चाहिए कि वे राजसत्ता के खत्म होने की बात तो करते हैं पर शिक्षा पर उस तरह विचार नहीं करते जैसे आप और अन्यों ने किया है। वे यह भूल जाते हैं कि राजसत्ता के खत्म हो जाने का यही पहला क़दम है। मसलन जब आप बच्चे से यह कहते हैं कि तुम मेरे मदद के बग़ैर गिर पड़ोगे, आप उसी क्षण सत्ता के एजेन्ट हो जाते हैं।

जिनन- मैं राजसत्ता को अलग से बहुत महत्व नहीं देता क्योंकि दरअसल हमारी सामुदायिकता ही सत्ता हो गयी है। हम ही सत्ता बन गये हैं। हम राजसत्ता के एजेन्ट नहीं हैं, हम ही सत्ता है क्योंकि हम खुद ही ऊँच-नीच में जीते हैं। हमारा बच्चों के प्रति व्यवहार भी इसी से संचालित होता है। अब माता-पिता बचे ही नहीं हैं, सभी बच्चों के शिक्षक हो गये हैं। हर जगह हर कोई शिक्षक की तरह व्यवहार करने में लगा है।

उदयन- इसका आशय यह है कि आधुनिक संसार से माता या पिता का लोप हो गया है। उनके स्थान पर सभी शिक्षक की भूमिका में आ गये हैं।

जिनन- बिल्कुल। मैं मातृ-भाषा के लोप की भी बात करता हूँ और यह भी कि उसे पितृ-भाषा ने विस्थापित कर दिया है। मेरे लिए मातृ-भाषा वह है जो आप अपने भीतर से सीखते हैं और जो भाषा आप पर आरोपित की जाती है, पितृ-भाषा है। वे सारी भाषाएँ जो सीखायी जाती हैं, पितृ-भाषाएँ हैं। मैं यह कह कर पिता या माता होने का निरादर नहीं कर रहा। मातृ-भाषा सम्पूर्णता में (होलिस्टिक) रहती है। बेंगलूरू की झुग्गियों के बच्चों की, मैं कहूँगा, चार मातृ-भाषाएँ होती हैं। कन्नड़, तेलुगु, तमिल और हिन्दी। वे तीन-चार वर्ष की उम्र तक ये भाषाएँ बोलने लगते हैं। यहाँ झुग्गी का अर्थ है ग़ैर-साक्षरों का स्थान जहाँ कोई पढ़ाता नहीं है। शहरों में लगातार शिक्षण होता रहता है। आप जितने बड़े शहर में होते हैं, आपको उतना अधिक शिक्षण मिल कर रहता है। अमरीका जैसे देशों में तो वे बच्चों को अच्छी तरह नष्ट करने में लगे हैं। क्योंकि आप बच्चे से उसी तरह बातें करते हों, उसे पढ़कर सुनाते हो। उस बच्चे पर भाषा की बम वर्षा होती रहती है। वे यह नहीं समझते कि भाषा हमारे जीवन का एक बहुत छोटा अंश है। लेकिन उसकी इतनी अधिक व्याप्ति हो गयी है मानो भाषा के अलावा और कुछ हो ही नहीं। हमारा अंश होने की जगह,

वह हमारी मालिक बन गयी है। न मौन के लिए जगह बाक़ी है, न अनुभव के लिए, न इन्द्रियों के लिए, न अन्तर्ज्ञान के लिए। इन सबके लिए कोई जगह छोड़ी ही नहीं जा रही।

उदयन- और इसके ऊपर यह बात भी है कि पढ़ाई जाने वाली भाषा पहले से ही तैयार-शुदा होती है। वह भी खुले रूप में नहीं पढ़ाई जाती। इससे यह होता है कि बच्चों को पहले से तैयार धारणाएँ सौंप दी जाती हैं और बच्चे उन उपलब्ध धारणाओं से व्यवहार करते रहते हैं न कि संसार से जो उनके चारों ओर फैला रहता है।

जिनन- इसमें भी सबसे ज़्यादा ख़तरनाक बच्चों को यौन-शिक्षा दिया जाना है। अगर आप आदिवासी-ग्रामीण इलाकों को देखें, आप पाएँगे कि बच्चे को जन्म देना ऐसी घटना है जिसे बच्चे अक्सर देखते हैं। जानवरों को बच्चे को जन्म देना आदि। यह उनके लिए आम फ़हम घटना है। वे इनसे यह निष्कर्ष भी सहज ही निकाल लेते हैं कि यह भी बच्चा दे रही है, यह भी...। मेरी माँ ने भी बच्चा दिया है। इस सब में उनके लिए कुछ अनोखा नहीं बाक़ी नहीं रहता। वे यह सब देख रहे होते हैं। वहाँ यौनिकता को समझने की जैविक तैयारी भी रहती है। बारह-तेरह साल की उम्र में वह यौनिकता को एक तरह से समझने की स्थिति में होता है। अब शहरों आदि में आप बच्चों को उससे कहीं पहले यौनिकता सीखने को बाध्य कर रहे हैं। उन्हें समझ में ही नहीं आता कि किस बारे में बात हो रही है। इस कारण पूरे समय मानसिक कल्पना ही आकार लेती रहती है। जबकि नैसर्गिक संज्ञान में मानस के कथ्य अपने अस्तित्व के अनुभव से आते हैं। मानस और शरीर का विभाजन दो कारणों से होता है, पहला तो शिक्षण है दूसरा भाषा का शिक्षण। शिक्षा के सहारे आप मानस को सीधे-सीधे निवेशित कर रहे हैं, उसे 'इनपुट' दे रहे हैं। मानस शरीर के रास्ते सूचनाएँ ग्रहण नहीं कर रहा। इस सबमें शरीर की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इससे शरीर तिरस्कृत हो जाता है। समूची आधुनिकता शरीर के ख़िलाफ़ युद्ध है। अब वे यह दावा कर रहे हैं कि कृत्रिम विवेक (आर्टिफ़िशियल इन्टेलिजेन्स) जीवन की तरह ही है।

उदयन- इसके फलस्वरूप शरीर सिरे से ही तिरस्कृत हो जाएगा।

जिनन- मैं अक्सर कहता हूँ कि स्त्रीवादी आन्दोलन परुष आन्दोलन है। वास्तविक स्त्रीवाद अस्तित्व के इस विभाजित रूप में कभी सम्भव नहीं होगा। यह अस्तित्वगत प्रश्न है, राजनैतिक प्रश्न नहीं है। यह आध्यात्मिक प्रश्न है। अगर अस्तित्व ही विभाजित हो गया हो, तो स्त्रैण और परुष गुण भी विभाजित हो जाते हैं। दरअसल विवाद स्त्री और पुरुष के बीच नहीं है बल्कि गुणों (स्त्रैण और परुष) के बीच के विभाजन है। यह एक आन्तरिक द्वन्द्व है।

उदयन- आदिवासी-ग्रामीण सन्दर्भ में स्त्री-स्वतन्त्रता का प्रश्न किस स्थिति में है?

जिनन- दरअसल हम उन पर अपने विचार आरोपित कर रहे हैं। अगर आप आदिवासी-ग्रामीण लोगों के साथ सचमुच रहें, आप पाएँगे कि हमारे जैसे विचार वहाँ नहीं हैं। वहाँ भूमिकाएँ स्पष्ट हैं। आधुनिक संसार में हमें कहा जाता है कि बच्चे नहीं होना चाहिए। माँ होने के विरुद्ध युद्ध-सा छिड़ा हुआ है। लेकिन आदिवासी-ग्रामीण पारम्परिक समाजों में माँ होने में गौरव अनुभव किया जाता है। अगर कोई माँ बनने के योग्य नहीं, उसे माँ होने की भूमिका के स्थान पर कोई और भूमिका दे दी जाती है। आधुनिक लोगों की समस्या यह है कि वे अपने जीने के ढंग को ही एकमात्र ढंग मानते हैं और उसे ही सारे मनुष्यों और यहाँ तक की प्रकृति तक पर आरोपित करते रहते हैं। वे हर जगह अपनी धारणाएँ प्रक्षेपित करते रहते हैं।

उदयन- आप तो अधिकतर शहरों में नहीं रहते।

जिनन- मैं इन दिनों आदिवासी-ग्रामीणों के साथ रहता हूँ। मेरी पत्नी ग़ैर-साक्षर है। वे कभी स्कूल नहीं गयी हैं। यहाँ कुम्हारों की बस्ती है। मैं इस गाँव में १९९३ में आया था और मैं इन लोगों के साथ रहने लगा। दरअसल इन सब लोगों ने बर्तन बनाने छोड़ दिये थे। क़रीब तीस वर्षों यहाँ वेश्यावृत्ति होती रही। राज्य सरकार ने कुछ करने का विचार बनाया। मैं पहले से कुम्भकला (पॉटरी) और कारीगरी कर रहा था। ऑक्सफेम इण्डिया ने मुझसे बात की और मैं कोलकाता छोड़कर यहाँ इस गाँव में आ गया। मैं यहाँ इसलिए आया क्योंकि मुझे लगा कि मुझे ग़ैर-साक्षरों के साथ रहने का एक और अवसर मिल रहा है। चूँकि यहाँ कोई हस्तक्षेप नहीं होगा तो मैं 'नो टीचिंग' (कोई शिक्षा नहीं) का अपना प्रयोग भी कर सकूँगा। इसलिए मैं लोगों के बीच कार्य करते हुए मौलिक काम कर सका, जिन्हें मेरी ओर से कुछ भी बताया नहीं जा रहा था। हम यहाँ हज़ारों नये विचार उत्पन्न कर सके। मैं यह सब सिर्फ़ यह बताने को कह रहा हूँ कि मैं यहाँ लोगों के बीच रहता हूँ, उनके रिश्तों को समझने की कोशिश करता हूँ, वे रहते कैसे हैं और कैसे स्त्री और पुरुष आपस में सम्बन्ध रखते हैं। इन पर आधुनिकता का प्रभाव पड़ा है। यहाँ भी समस्याएँ है। यहाँ तलाक लेकर किसी और से विवाह करना कहीं अधिक लचीला है। ऐसे कई आदिवासी समुदाय हैं जो स्त्रियों की ज़रूरतों पर पुरुषों की तुलना में कहीं अधिक ध्यान देते हैं। मुझे लगता है कि पारम्परिक समाज लिंग भेद को उसी तरह लेते हैं जैसा कि प्रकृति लेती है। प्रकृति ने जीवन को चलाये रखने स्त्री को पुरुष की तुलना में कहीं अधिक सामर्थ्य दी है। स्त्रियों को कहीं अधिक मानसिक और संवेदनात्मक शक्ति मिली हुई है। आधुनिक समाज के पुरुष सदस्य यह कहते रहते हैं कि स्त्रियाँ कमज़ोर होती हैं। यह बिल्कुल सच नहीं है।

उदयन- शायद इसीलिए ऐसा कहा जाता होगा। आप किस गाँव में रहते हैं? उसका क्या नाम है?

जिनन- अर्वाकोड, यह नीलम्बूर में है। यहाँ केवल कुम्हार रहते हैं।

उदयन- पूरे गाँव में सिर्फ़ कुम्हार हैं?

जिनन- जी हाँ। केरल में गाँव की स्थिति बहुत अलग है। अन्य जगहों पर गाँव अलग से नज़र आते हैं, यहाँ ऐसा नहीं है। केरल में ऐसे कारीगर समुदाय नहीं है जो विशेष यहीं यानि केरल के ही हों। मसलन मेरे गाँव के लोग आन्ध्रप्रदेश के तेलुगु भाषी हैं। दक्षिण केरल में तमिल कुम्हार हैं। बाँस से काम करने वाले समुदाय कर्नाटक हैं। मैं सोचता हूँ कि सम्भवतः केरल आदिवासी समाज रहा है और उन्होंने कुशल लोगों को अन्य जगहों से बुलाया है। यही आप बस्तर में पाते हैं। आदिवासियों के पास विशेष कौशल नहीं होते, वे सभी कुछ करने में कुशल होते हैं। विशेष कौशल सम्पन्न लोगों को यहाँ बाहर से बुलाया गया और वे यहीं के होकर रह गये। मसलन इस गाँव के लोग अभी भी तेलुगु बोलते है। मेरी पत्नी भी तेलुगु का अपना संस्करण बोलती हैं।

उदयन- क्या वह तेलुगु मलयालम मिश्रित है?

जिनन- एक तरह से।

उदयन- ये लाग यहाँ कब आये थे?

जिनन- इस बारे में कुछ कहानियाँ कही जाती हैं। मुझे इतिहास में विशेष रुचि नहीं है। मैं इतिहास को बहुत खतरनाक अनुशासन मानता हूँ।

उदयन- अब हम आपके एक और विचार आते हैं। आपने कहा है कि जहाँ बच्चे को साक्षर करने का प्रयास नहीं किया जाता, वहाँ बच्चा स्वभाविक रूप से अमूर्तन करने लगते हैं।

जिनन- पहले तो अमूर्तन को ही समझना होगा। अमूर्तन समझने की प्रक्रिया का स्वभाविक अंश है। जब आप कुछ ठोस देखते हैं, आपका उसका प्रारम्भिक सम्बन्ध बनता है। आरम्भिक सम्बन्ध ठोस जगत से ही बनता है। जब आप ठोस जगत से सम्पर्क बनाते हैं, आप उससे कुछ निष्कर्ष भी निकालते हैं, वह अमूर्तन होता है, एब्सट्रेक्शन होता है। अमूर्तन का विचार कला से आया है। उसके बाद हम अमूर्त ज्ञान आदि के बारे में सुनते रहते हैं। मैं उस बारे में बहुत भ्रमित रहता था। पर अब मुझे समझ में यह आता है कि अमूर्तन वह सब शायद नहीं है, अमूर्तन ग्रामीण-आदिवासी समाजों में सहज रूप से होता है। अमूर्तन चीज़ों की समझ है। ठोस जगत से सम्पर्क के माध्यम से वे उसका अमूर्तन समझने की स्थिति में आ जाते हैं। यह बिल्कुल नैसर्गिक है। इसे वे अमूर्तन आदि कुछ नहीं कहते। जैसे वे व्याकरण की चर्चा नहीं करते पर यह जाहिर है, वे उसका उपयोग करते हैं। वह उनके भीतर उसी तरह पैठी हुई है उसी तरह जैसे तर्क-विधान। तर्क-विधान भी हमारे भीतर पैठा हुआ है। उसकी चर्चा करना आवश्यक नहीं। वह ऐसा कुछ नहीं है जिसे अलग से अपने भीतर लाने की आवश्यकता हो। तर्क-विधान हमारी जीवन व्यवस्था का ही नैसर्गिक भाग है। आपके पास अतिरिक्त तर्क-विधान की ज़रूरत नहीं है। इसी तरह अमूर्तन भी जीवन की सम्पूर्णता का ही एक अंश है। और उसे इस तरह बरता जाता है कि वह अलग से दिखायी नहीं देता।

आधुनिकता के विषय में यह दिलचस्प बात है कि वह हमें एक अवसर दे रही है कि हम यह सच्चे तौर पर यह जान सके कि जीवन का संयोजन सचमुच कैसे हुआ है, उसके भाग क्या हैं और उन्हें कैसे आपस में संयोजित किया गया है, साथ ही हमें यह भी पता लग रहा है कि आधुनिकता ने किस तरह इस को विभाजित कर इसे ग़लत-सलत समझ लिया है।

उदयन- आपने यह भी कहा है कि बच्चे के लिए यह कहीं बेहतर है कि वह रेखाचित्र बनाने बाद भाषा पर जाये। मैं एक मिसाल देता हूँ। भोपाल के निकट एक स्थान है, भीमबेटिका। वहाँ ठेरों शैल-चित्र हैं। लेकिन आप उन रेखांकनों में आवाज़ महसूस कर सकते हैं क्योंकि उनमें गति है, ठहराव है। नाचना है, मानो किसी ताल पर। तब तक कोई लिपि अस्तित्व में नहीं आयी थी। आप लगभग यही कह रहे हैं कि बच्चा भी पहले रेखांकन करे जैसा कि भीमबेटिका में हुआ था, फिर लिपि पर आये। पर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?

जिनन- मैं यह आधुनिकता के सन्दर्भ में कह रहा हूँ जहाँ लिखित भाषा बहुत महत्वपूर्ण हो चुकी है। मैं लोगों से यह पूछता हूँ कि क्या आप दिल्ली गये हैं और क्या आप कन्याकुमारी भी गये हैं? जब हम दिल्ली जाते हैं हमारे दिमाग़ में यह आता है कि दिल्ली जाते हुए हम ऊपर जाते हैं (अगर भोपाल या मुम्बई से जा रहे हों) और अगर कन्याकुमारी जाते हैं तो यह आता है कि नीचे जा रहे हैं। दरअसल दो आयामों से सम्बन्ध हमारी संज्ञान व्यवस्था को प्रभावित करता है और हम इस विषय में सजग भी नहीं हैं। इस तरह हम दो आयामी स्पेस में रहने लगे हैं न कि वास्तविक तीन आयामी स्पेस में। सारा संज्ञान दो आयामी स्पेस में हो रहा है। जब मैं तीन वर्षों तक पुणे के स्कूल में बच्चों का अध्ययन कर रहा था, मैंने यह देखना शुरू किया कि वे क्या करते हैं और क्या रेखांकित करते हैं। वह सम्बन्ध जल्द ही स्पष्ट होने लगा। वे जो अनुभव करते थे, वही खेलते थे। खेलने से मेरा आशय वह अन्तर्सम्बन्धी गतिविधि है जिसमें वे तरह तरह की चीज़ें बनाते हैं। खेलना वह संज्ञान-गतिविधि (कोग्निटिव एक्टिविटी) है जिसमें बच्चे तीन आयामी दुनिया को तीन आयामों के सहारे ही समझते हैं जबकि रेखांकन वह संज्ञान गतिविधि है जिसमें बच्चे तीन आयामी संसार को दो आयामी स्पेस के सहारे समझते हैं। यहाँ मैं एक बात जोड़ देना चाहता हूँ कि रेखांकन करना बच्चे के लिए अनिवार्य नहीं है। अगर आप परम्परा पर ध्यान दें तो आप पाएँगे कि केवल कुछ समुदायों में ही रेखांकन होता था। हर समुदाय में रेखांकन नहीं होता था। मसलन बंगाल के पटुआ समुदाय या पटचित्र बनाने वाले समुदायों के बच्चों में रेखांकन होता था। बर्तन बनाने वाले समुदायों में नहीं होता था। जुलाहों के बच्चे भी रेखांकन नहीं करते थे। यह इसलिए क्योंकि रेखांकन पटुआ आदि समुदायों के लिए उपयोगी कर्म है। जबकि खेलना और चीज़ें बनाना आपकी संज्ञान-व्यवस्था का भाग है जिससे आप संसार को उसकी अनुकृति बनाकर समझते हैं। इस तरह बच्चे की हर गतिविधि उसके विशेष सन्दर्भ में संसार को सम्बन्धित स्पेस में समझने का यत्न होती है। आधुनिक समय में हम अधिकतर दो आयामी स्पेस के सहारे संसार

समझते हैं। बच्चे जब रेखांकन करते हैं, उन्हें स्वभाविक रूप से यह पता रहता है कि तीन आयामी संसार के सन्दर्भ में दो आयामी रेखांकन क्या है। इसलिए जब वे लेखन से परिचित कराये जाते हैं, वे यह समझ पाते हैं कि लिपि वास्तविक दुनिया की प्रतिनिधि मात्र है। आज हम इन दोनों के बीच भ्रमित हो रहे हैं। संसार हमसे छीन लिया गया है, हमारा केवल शब्दों से सम्पर्क बाक़ी है।

उदयन– जिसका अर्थ यह हुआ कि संसार शब्दों के बाद यानि अनुदर्शी ढंग से आता है।

जिनन– वो भी कभी-कभी। हमेशा नहीं। कई लोगों के लिए वह वापस आता ही नहीं है। अब शिक्षाविदों ने एक विचित्र विचार रखा है : अनुभव से सीखना (एक्सपीरिन्शियल लर्निंग)। आपको इन शब्दावलियों की विचित्रता को देखना चाहिए। वे कह रहे हैं कि अनुभव से सीखना' होगा मानो बिना अनुभव के भी सीखा जा सकता हो। यही वह पश्चात-विचार है जिसका मैं ज़िक्र कर रहा था। मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या जीवन में ऐसा क्षण भी होता है जब आप कुछ अनुभव न कर रहे हों। वे 'अनुभव क्या है' और 'सीखना क्या है' के बीच भ्रम फैला रहे हैं।

उदयन– हम अगर वापस ग़ैर-साक्षरों के 'अज्ञात' के इलाके में रहने की बात पर आयें तो क्या हम यह कह सकते हैं कि 'अज्ञात' के इलाके में रहने वाले व्यक्ति के लिए मृत्यु भी भय का कारण नहीं होगी। वह तो ग़ैर-साक्षर 'अज्ञात' का सामना करता ही रहता है। उसके लिए मृत्यु भी एक और 'अज्ञात' ही होगी। इससे अलग कुछ नहीं।

जिनन– यह एक और बात है जो मैंने गाँव में देखी। मैंने एक ऐसी माँ देखी जिसका बच्चा नहीं रहा था। वह कुछ ही दिनों में सामान्य हो गयी। जिस तरह मानसिक स्तर पर चीज़ें आधुनिक मनुष्य पर प्रभाव डालती है वैसा आदिवासी-ग्रामीण लोगों के साथ नहीं होता। मानसिक क्षति बहुत हद तक आधुनिकता की समस्या है। जब वे 'अच्छे रहने' के बारे में बात करते हैं, आधुनिक लोग बेतुकी बात करते हैं और अपने इस बेतुकेपन में इस हद तक जाते हैं कि बच्चों को यह सलाह देते हैं कि उन्हें ध्यान लगाना चाहिए। वे यह भूल जाते हैं कि बच्चे हमेशा ही ध्यान की अवस्था में होते हैं।

उदयन– जैसे तमाम जानवर...

जिनन– सारा जीवन ध्यान में ही होता है अलावा शिक्षित लोगों के।

उदयन– इसीलिए उन्हें श्रीश्री आदि की आवश्यकता होती है।

जिनन– शरीर और मस्तिष्क के विभाजन के विषय में मैं आपको एक दिलचस्प घटना बताना चाहता हूँ। एक दिन मेरी माँ और मेरे भाई की पत्नी टेलिविजन देख रहे थे। वे ख़बरें सुन रहे थे। आप जानते ही होगे कि वहाँ ख़बरें कैसे दी जाती हैं। कोई स्क्रीन पर पूरी गम्भीरता से ख़बरें सुना रहा था। साथ में बेकग्राउण्ड संगीत बज रहा था। मेरे पास उसकी विडियो रिकार्डिंग भी है। वे दोनों ध्यान से ख़बरें सुन रहीं

हैं और उनके शरीर उसके साथ के संगीत पर थिरक रहे थे। मैंने शरीर और मस्तिष्क के विभाजन की बात करते हुए शायद कहा हो कि शरीर के पास अनुभव के अलावा कोई भी गुंजाइश नहीं है। शरीर पूरे समय अनुभव करता है। क्लासरूम में शरीर शिक्षक की प्रभुता और भय, क़िताबें, क़िताब की गन्ध आदि सभी का अनुभव करता है। शरीर का क़िताब का अनुभव मष्तिष्क के क़िताब के अनुभव से अलग होता है। शरीर के लिए आप क़ुरान पढ़ रहे हों या बाइबिल, मार्क्स पढ़ रहे हो या गीता सभी कुछ एक-सा है। मस्तिष्क के लिए उनमें अन्तर होते हैं। पढन से इस अर्थ में शरीर की क्षति होती है। बल्कि यह कहना अधिक वाजिब होगा कि समस्या पढ़ने से नहीं बल्कि समझने से होती है। अगर मैंने कुछ पढ़ा और मुझे समझ में नहीं आया तो मैं उसे 'अज्ञात' की तरह अपने भीतर थामे रह सकता हूँ। लेकिन अधिकांश शिक्षित लोग न समझने की स्थिति में भी एक तरह की समझ को अपने थोप कर अपने 'पढ़े हुए' पर विश्वास करने लगते हैं। इससे यह होता है कि न समझने पर भी आप अपने ऊपर तर्क बुद्धि से बलपूर्वक एक समझ आरोपित कर लेते हैं, हालाँकि आप समझे नहीं होते। आप सोचते हैं कि चूँकि एक विशेषज्ञ कुछ बता रहा है तो वह ठीक ही होना चाहिए। इसलिए दरअसल समस्या पढ़ने से नहीं, बिना समझे किसी बात से सहमत होकर उसकी समझ अपने पर आरोपित कर लेने से होती है। संकट समझ के स्तर पर है। अगर हम यह जानते हैं कि किस तरह पढ़ा जाता है तब तो ठीक है। इसलिए जब मैं कुछ लिखता हूँ, मैं उसे पढ़ने वालों से कहता हूँ कि आप इसे उसी तरह पढ़ो जैसे कविता पढ़ी जाती है। उसे 'समझने की कोशिश' मत करो। अगर यह अपने आप समझ में आ जाये तो ठीक है वरना इसे भूल जाओ। इस तरह का पढ़ना लोग भूल गये हैं क्योंकि शिक्षा व्यवस्था ऐसी है जिसमें आपको तुरन्त जवाब देना पड़ता है। आपको अगर कुछ ग़लत भी बताया जा रहा है आपको उसे तुरन्त समझ कर जवाब देना होता है।

उदयन- यह बात कविता पढ़ने तक पर लागू होती है। उसे इस तरह पढ़ाने का चलन है कि वह समझ में आने के पहले क्षत-विक्षत होकर नष्ट हो जाती है।

जिनन- मुझे एक बच्चे से जुड़ी दिलचस्प घटना याद है। वह दूसरी या तीसरी कक्षा में था। उसने एक दिन स्कूल से आकर मुझे बताया कि उसके शिक्षक ने उसे बताया कि पहले लोग सोचते थे कि पृथ्वी गोल होती है, अब वे जानते है कि वह चपटी है। मैं चुप रहा आया। बच्चा भी यही देखता है कि वह पृथ्वी चपटी है। छह महीने बाद मैंने उसे याद दिलाया। वह मुस्कराने लगा और बोला, नहीं, नहीं ऐसा नहीं है। इसका उल्टा है। मैं सोचने लगा कि छह महीनों में शिक्षक ने उसके साथ क्या किया होगा। या तो उसने इस बच्चे को मारा-पीटा होगा और कहा होगा कि पृथ्वी चपटी नहीं, गोल है या उसने बच्चे से आग्रह किया होगा कि वह पृथ्वी को गोल ही कहे वरना उसकी नौकरी चली जायेगी। यह ही हुआ करता है। बच्चे के लिए पृथ्वी चपटी होती है। वह गोल तो तब होती है जब वह अनुमान करने की क्षमता विकसित कर लेता है। मस्तिष्क की कुछ भी समझने की एक प्रक्रिया होती है। पहले वह ठोस स्थिति के सहारे समझता है,

उसके बाद अनुमान से। लेकिन इस सब का स्कूल व्यवस्था में ध्यान नहीं रखा जाता। इसलिए बच्चे के पास केवल एक रास्ता होता है कि वह सहमति में सिर हिलाये और कहे 'हाँ'।

उदयन- और पृथ्वी को गोल बना दे। पृथ्वी का पहले सीधे ठोस अनुभव करने के स्थान पर अनुमान के सहारे पृथ्वी को गोल कर ले।

जिनन- मैं अक्सर एम.टेक. आदि स्तर तक पढ़े लोगों से कहता हूँ कि वे अपनी आँखें बन्द कर पृथ्वी की कल्पना करें। फिर मैं उनसे पूछता हूँ कि उन्होंने वहाँ क्या देखा? उन्होंने जो देखा, उसका आकार क्या था? मुझे सामान्यतः दो जवाब मिलते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि उन्होंने आर्मस्ट्रांग या ऐसे ही किसी की भेजी पृथ्वी की तस्वीर देखी। और बाक़ी कहते हैं कि उन्होंने स्कूल में रखा ग्लोब देखा। बहुत कम लोगों के दिमाग में पृथ्वी की विराटता आती है। शिक्षा से यह होता है।

उदयन- अगर मैं पृथ्वी की अन्तरिक्ष से भेजी गयी तस्वीर के दिमाग में आने के खतरे की बात करूँ, तो कहना होगा कि इन्हीं लोगों में से कुछ के लिए पृथ्वी 'डिस्पोज़िबल' है, उन्हें इस तरह पृथ्वी को नियन्त्रित करने की बात पर विश्वास करना आसान हो जाता है। अगर आप पृथ्वी को उसकी विराटता में देखेंगे, तब आप उसमें अपनी छोटी सी भूमिका खोजेंगे।

जिनन- यह स्कूल से ही शुरू हो जाता है जब आप बच्चे को ग्लोब दिखाकर कहते हो कि यह पृथ्वी है।

उदयन- इस तरह की शिक्षा जाने-अनजाने ही इस ग्रह के नष्ट किये जाने की भूमि तैयार कर रही है। आधुनिकता अन्ततः उसी पृथ्वी को नष्ट करने में लग गयी है जिस पर उसका जन्म हुआ था।

जिनन- आपको यह दिलचस्प लगेगा कि वे जो पृथ्वी को बचाने की मुहिम चलाये हैं, आप उनके प्रतीक चिन्ह (लोगो) देखिए। वहाँ हमेशा ही पृथ्वी हाथों के भीतर होती है। पृथ्वी को लेकर यह धारणा लोकप्रिय है। इसकी वास्तविक व्यापकता को लेकर हमें कोई आश्चर्य नहीं होता और न हमें यह सूझता है कि हम इसमें धूल के कण जितने ही हैं। शिक्षा यह कर रही है : पहले वह लोगों में 'बचकानापन' पैदा करती है, वह व्यापकता को संकुचित कर किसी विद्रूप में बदल देती है। आज हमारे चारों ओर 'बचकाने वयस्क' हैं। इसलिए वे पृथ्वी के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं।

उदयन- शायद इसलिए क्योंकि बचकानापन साक्षरता के कारण आसान हो जाता है। आप एक बार उन्हें साक्षर कर दें, तब आप उन्हें लिखित भाषा के सहारे नियन्त्रित कर सकते हैं, वह सब ज्ञान देकर जो ज्ञान होता ही नहीं है।

जिनन- एक बात मैं विशेष रूप से कहना चाहता हूँ। हम आमतौर पर यह कहते हैं कि 'लोगों को नियन्त्रित करना' मानो कोई नियन्त्रित कर रहा हो। मैं समझता हूँ कि इस तरह एक खलनायक बनाना ठीक

नहीं है। दरअसल छापाखाना आने के बाद से साक्षरता ने विराटता को खत्म ही कर दिया है। उसने हर चीज़ को निश्चितता में संकुचित कर दिया है। मैं सोचता हूँ कि इस सब के लिए हमें सामूहिक रूप से जिम्मेदारी लेनी होगी मानो यह सब हमारा ही किया धरा हो। हम जैसे ही खलनायक बनाते हैं, हम अपनी जिम्मेदार नहीं उठा रहे होते। मैं भी अब पश्चिम को नहीं कोसता। मैंने पश्चिम को लिखित भाषा से विस्थापित कर लिया है। वे खुद 'लिखित भाषा' के शिकार हैं। अगर 'लिखित या मुद्रित भाषा' (यानि टेक्स्ट) हमारे पास पहले आ गयी होती, हम भी उत्पीड़क हो गये होते। पश्चिम के साथ दो चीज़ें हुईं : पहली यह कि ईसाई बन्द धर्म है जहाँ सब कुछ निश्चित है आपको यह करना चाहिए यह नहीं आदि। इसके कारण जिज्ञासा नहीं बचती। दूसरी चीज़ 'टेक्स्ट'। धार्मिक विश्वास का लिखित भाषा या टेक्स्ट से संयोग के कारण कहीं अधिक खतरनाक 'बन्द (दिमाग़ी)' पैदा हो गयी है। हर चीज़ बिल्कुल निश्चियात्मक हो गयी। धर्म और विज्ञान ने साथ आकर सब कुछ को बन्द कर दिया।

उदयन- यह भारत जैसे पैगन समाजों में उतना नहीं हुआ।

जिनन- बहुत हद तक तो नहीं हुआ पर तब भी हुआ क्योंकि हमेशा ही भाषा का इस्तेमाल पूरी सावधानी से नहीं हुआ। कई तरह के 'वेदी' होते हैं, जैसे 'त्रिवेदी', 'चतुर्वेदी' आदि। अगर वे पुस्तकालयाध्यक्ष ही बने रहते तो अच्छा होता मतलब वे अपने दिमाग में भाषा धारण किये हुए थे। वे उसका उपयोग नहीं करते थे। वे यह स्वांग नहीं करते थे कि वे जानकार हैं।

उदयन- क्योंकि वह भाषा अज्ञेय ही थी।

जिनन- इस तरह कई लोगों के लिए वह भटकाव नहीं थी लेकिन वे लोग जो इसे समझना चाहते हैं, बिना उसे अनुभव किये वह केवल भाषा है। कबीर की कृतियों में भी ऐसे ही एक पण्डित की कहानी है। वह नाविक के साथ नदी में जा रहा है। पण्डित पूछते हैं कि क्या उसे अमुक वेद पता है, नाविक जवाब देता है कि उसे वह वेद पता नहीं है। फिर पण्डित किसी और वेद के बारे में पूछता है। नाविक को वह भी पता नहीं है। जब नाविक पण्डित के पहले प्रश्न का जवाब 'नहीं' में देता है, पण्डित उससे कहता है कि तब तो तुम्हारी आधी ज़िन्दगी बेकार है। दूसरे प्रश्न का उत्तर 'न' में देने में वह नाविक से कहता है कि तब तो तुम्हानी तीन-चौथाई ज़िन्दगी बेकार है। इसके कुछ देर बाद नाविक पण्डित से पूछता है कि क्या उन्हें तैरना आता है। पण्डित के 'न' कहने पर नाविक कहता है कि तब तो आपकी पूरी ज़िन्दगी बेकार है। क्योंकि तब नाव डूब रही थी। मैं कह रहा हूँ कि हमारी परम्परा में यह दोष तब आ गया था जब हम ज्ञान के प्रति कुछ कम सावधान हो गये। आदम के ईडन वाटिका में सेब खाने का किस्सा भी ज्ञान के दुरुपयोग का ही प्रसंग है। ज्ञान के व्यवहार में अयोग्यता का किस्सा।

उदयन- क्या इस पर कुछ कहेंगे?

जिनन- मुझे इस बारे में भी बहुत कम ही पता है। बाइबिल में आदम-हव्वा का क़िस्सा आता है। ईश्वर उनसे कह रहे हैं कि आपको यह सब नहीं खाना है। तब एक साँप आकर उन्हें वह सेब खिलवा देता है। उसके बाद वे स्वर्ग से निष्कासित हो गये। इसी तरह की कहानी बाईबिल में है। मैं पूरी कहानी जानूँ या न जानूँ इतना समझ सकता हूँ कि मनुष्यों को कई बार यह हिदायत दी जाती रही है कि उसे ज्ञान के प्रति बहुत अधिक सावधानी बरतनी चाहिए। ख़ासकर लिखे हुए ज्ञान के प्रति। प्लेटो की वह कहानी भी है जिसमें मिस्र का राजा के पास एक आदमी आकर कहता है कि उसने 'अक्षर' (अल्फ़ाबेट) खोज लिये हैं और आप उनका इस्तेमाल कर सकते हैं। लेकिन राजा उनका इस्तेमाल करने में बिल्कुल ख़ुश नहीं है। वह कहता है कि यह अच्छा विचार नहीं है। इवान इलिच पन्द्रहवीं शती की एक बेहद दिलचस्प बात बताता है। जब कोलम्बस पुर्तगाल की महारानी इसाबेला की खातिर विश्व विजय पर निकलता है, उस समय एक व्यक्ति है जो महारानी को उसकी अपनी जनता को जीतने में मदद कर रहा है। यह आदमी स्पहानी भाषा का शब्दकोश तैयार करता है। वह रानी से जाकर कहता है कि अगर आप शब्द-कोश को परिभाषित करती हैं, लोग आपकी आज्ञानुसार ही शब्दों का उपयोग करेंगे, क्योंकि उनका अर्थ बँध जायेगा। अगर हमारे पास सामान्य (जो सभी के पास एक-सा है) शब्द-कोश है, आप लोगों को नियन्त्रित कर सकेंगी। इसे लेकर इसाबेला ख़ुश नहीं होती, वह यह नहीं करना चाहती। लेकिन बाद वह सब व्यवस्थित किया जाता है। मैं सोचता हूँ कि कई लोगों ने हमें इस बारे में चेताया है लेकिन यह दुखद है कि जब भी कोई हमें इस बारे में चेतावनी देता है, उसे यह कह कर दरकिनार कर दिया है कि उनके पास ऐसा करने का अवश्य ही कोई दुष्प्रयोजन होगा। जब कोई कहता है कि छोटे बच्चों को लिखना मत सिखाओ, हम तुरन्त कहते हैं कि यह करना हमारा अधिकार है और इस तरह हम अपने को नुकसान पहुँचा लेते हैं। हमें यह पता ही नहीं कि इस सबको किस तरह ध्यानपूर्वक बरता जाता है। हमारे पास भाषा को बरतने का विवेक नहीं है।

उदयन- और इसीलिए भाषा आपको लेकर वहाँ चली जा सकती है जहाँ जाना आप शायद न चाहते हों। इस तरह वह आपके अनुभवों को विस्थापित कर देती है।

जिनन- वे जगहें अक्सर निरर्थक होती हैं। दरअसल वह आपको कृत्रिम कल्पना की ओर ले जाती है। इटालो केल्विनो ने एक जगह अद्‌भुत बात कही है : आपके चारो ओर देखने को इतना अधिक है कि इसमें आपका सारा जीवन लग जायेगा। आपको कहीं घुसकर देखने की आवश्यकता ही कहाँ है। आपकी सहज कल्पना में ही पृथ्वी इतनी व्यापक, सुन्दर और अन्वेषण योग्य है कि आपको उसके लिए निरर्थक कृत्रिम कल्पना करने की आवश्यकता ही कहाँ है। ज़ेन उस्ताद क्या करता है? वह घास की एक पत्ती को जीवनभर देखता रहता है। उस एक ज्ञान से उसे बाकी सब समझ में आने लगता है।

उदयन- अब हम अपनी कुछ पीछे छूट गयी बात पर लौटें। आप कह रहे थे कि ग़ैर-साक्षर समाजों में जहाँ आधुनिक ढंग की शिक्षा नहीं होती, जहाँ बच्चे को अपने आपसे सीखने दिया जाता है और जहाँ

उनकी सामर्थ्य को जागृत होने दिया जाता है, ऐसे समाजों में अगर कोई टकराव या द्वन्द्व उत्पन्न भी होता है, उसे आपस में ही सुलझा लिया जाता है, उसके लिए किसी लिखित क़ानून की आवश्यकता नहीं होती। क्या आप सोचते हैं कि हर तरह के टकरावों को सुलझाने की सामर्थ्य मनुष्यों में होती है।

जिनन- यह इसलिए है क्योंकि जीवन की बुनियादी नैतिकता स्वयं जीवन से आती है। इसके बारे में हमें अलग से चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं होती। अगर आप कुछ बच्चों को अकेला छोड़ दें और आप यह देखें कि वे एक दूसरे से कैसे व्यवहार कर रहे हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनमें जीवन को बचाये रखने वाले गुण बद्धमूल हैं। पहली बात तो यह है कि वे झूठ नहीं बोलते। संयोग से यह ऐसा गुण है जिसे आधुनिक लोग विचित्र समझते हैं। उनमें साझा करने की प्रवृत्ति होती है। आधुनिक परिवेश में ऐसा बच्चा मिलना मुश्किल है क्योंकि हम ऐसी कुछ चीज़ें कर रहे हैं जिनसे हमारे समाज में बच्चे नष्ट हो रहे हैं। पहली तो यह धारणा और व्यवहार कि घर में केवल एक बच्चा होना चाहिए। यह ख़तरनाक है। मेरा विश्वास है कि आपके कम-से-कम तीन बच्चे होने चाहिए। दूसरी बात यह है कि आप अपने जीने की व्यवस्था के कारण अपने बच्चे को बेहद आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी बना रहे हैं। आप उनका कुछ अधिक ही ध्यान रख रहे हैं और उन्हें महसूस करा रहे हैं कि वह बेहद महत्वपूर्ण व्यक्ति है। इस तरह आप बच्चों को शुरूआत से ही स्वार्थी, व्यक्तिवादी और नखरैल होने की ओर मोड़ देते हैं। ऐसे बच्चों में कोई भी मानव मूल्य नहीं होंगे।

उदयन- लेकिन आदिवासी-ग्रामीण परिवेश में स्थिति अलग होती है।

जिनन- वहाँ बच्चे पर इस तरह कृत्रिम ध्यान नहीं दिया जाता।

उदयन- वहाँ उसे केन्द्रीकृत नहीं किया जाता।

जिनन- मैंने इस गाँव में देखा है कि तीन साल का होने तक बच्चा पूरी तरह स्वतन्त्र हो जाता है। वह अपना खाना खुद खाता है। उसे माँ खाना नहीं खिलाती। वहाँ बच्चे अच्छे से खाते हैं, तभी खाते हैं जब खाना चाहिए। तीन से चार साल के होने तक वे अपने छोटे भाई-बहनों का ध्यान रखने लगते हैं।

उदयन- वे उन्हें मातृत्व प्रदान करने लगते हैं...

जिनन- बिल्कुल। छह साल के होने तक वे पकाने भी लगते हैं। अगर माँ बच्चे से कहती है कि मुझे वह गिलास उठा दो, तो यह जीवन का ही अंग है। अगर माँ कुछ कर रही है और वह उठ नहीं सकती, वह सहज रूप से बच्चे से कुछ कुछ करने को कहती ही है। मैंने एक और चीज़ पर ध्यान दिया है : आधुनिकता शत प्रतिशत वयस्क-केन्द्रित है। आदिवासी ग्रामीण क्षेत्र भी बाल केन्द्रित नहीं है। वे जीवन-केन्द्रित हैं। किसी पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। हम आधुनिक स्थापत्य को इनमें से कुछ बदलावों का दोषी मान सकते हैं।

उदयन- वह किस तरह?

जिनन- पारम्परिक समाजों के घरों में फ़र्श का ही हर काम के लिए उपयोग होता है। खाना बनाने से लेकर बैठने, खाने और सोने तक के लिए। हर काम के लिए फ़र्श का ही उपयोग होता था। बच्चा भी उसी फ़र्श पर घुटने के बल चलता, सब कुछ होते हुए देखता है, वह फ़र्श पर बैठे व्यक्ति से रिश्ता बना पाता है क्योंकि वह भी वहीं बैठकर बातें करता है। अब यह मुश्किल है कि व्यक्ति हमेशा खड़े रहते हैं और अगर बैठते हैं तो सिर्फ़ कुर्सियों पर। इसलिए बच्चा उस ऊपरी स्तर पर घट रहे जीवन में हिस्सेदार नहीं हो पाता। रसोईघर भी तीन से अधिक फ़ीट ऊपर चला गया है। अब बच्चे को अनुभव ही नहीं हो पाता कि क्या पक रहा है। घर के हर काम खड़े होकर हो रहे हैं। जबकि गाँव में बच्चा पैदा होने के बाद से ही हर क्रियाकलाप देख-सुन सकता था क्योंकि वे ज़मीन पर होते थे। टोकनी बनाने वाला फ़र्श पर बैठकर अपना काम करता था, आदि। इस तरह बच्चे की अपने चारो ओर घटते जीवन तक पहुँच थी। कुछ लोग आज ही बता रहे थे कि इन दिनों बच्चों की घुटने चलने की अवस्था लाँघ ली जा रही है क्योंकि बच्चे के पास घुटने चलने की जगह नहीं है। घुटने चलने में मुश्किल भी है क्योंकि सारा फ़र्श ही चिकना बनने लगा है। अब गोबर लिपा फ़र्श नहीं होता। अब फ़र्श संगमरमर का बनाया जाता है। वह ठण्डा होता है और चिकना। बच्चे को ऐसे में घुटने चलना मुश्किल हो जाता है। अब बच्चा हाथ-पाँव से चलता भी नहीं है। वह सीधा चलने लगता है। दुर्भाग्य से माता-पिता भी यही चाहते है। मुझे लगता है इससे भी शायद संज्ञान-प्रक्रिया में फ़र्क़ पड़ता है। बच्चे का हर अवस्था से न गुज़रना भी ठीक नहीं है। इस क्षेत्र में पर्याप्त शोध नहीं किया गया है। मैं कहता रहता हूँ कि हमें एक सीखने की शोध-शाला शुरू करना चाहिए जिसमें हम बच्चे का जीवन और जीवन मात्र को समझने का प्रयास करें। जैसे जैसे ज़्यादा से ज़्यादा लोग पश्चिम पर निर्भर होते जा रहे हैं, उनकी हालत बिगड़ती जा रही है। इस सारे प्रतिमान या जीने का ढंग पर पुनर्विचार होना चाहिए। उसे पुनर्संयोजित करने की आवश्यकता है। तभी बद्धमूल संज्ञान (रूटेड कोग्निशन) सम्भव है। मैंने कोशिश की कि अधिक से अधिक लोग अपने बच्चों को ध्यान से देखें, उनका दस्तावेज़ बनायें और उन पर्यवेक्षणों का साझा करें। लेकिन उसके लिए ज़्यादा लोगों बल्कि ज़्यादा संगठित लोगों की आवश्यकता होगी। दरअसल हमारे पास बहुत सारे ऐसे शोधकर्ता होना चाहिए जो इन सब धारणाओं को प्रश्नांकित करें और मौलिक प्रश्न पूछें। आज क्या हो रहा है? आज शोधकर्म में 'पियर रिव्यू' जाल के कारण आप वही लिख सकते हैं जो औरों ने लिखा है। कोई भी बिल्कुल नयी दृष्टि समस्या बन जाती है। मुझे नहीं पता कि क्या कोई ऐसा विश्वविद्यालय या संगठन सामने आयेगा जो सच्चे अर्थों में 'विस्कूलीकरण' (डिस्कूलिंग), संस्कृति और जीवन को ग़ैर-पश्चिमी (या ग़ैर वैकल्पिक) तरह से समझने का प्रयास करेगा। आजकल एक शब्द चला है, वैकल्पिक मॉडल। पर वह भी आधुनिकता का ही एक संस्करण है। वह शायद आधुनिकता से भी ज़्यादा ख़तरनाक है क्योंकि उसे प्राप्त करने पर लोगों को लगने लगता है कि उन्हें समाधान मिल गया है। हमें एक नये तरह के स्पेस में जाना होगा।

उदयन- आपने यह भी कहा है कि बच्चे कभी आलसी नहीं होते। आलस्य बहुत अधिक आधुनिक अनुभव है। आधुनिक समाज वह है, जिसे आप पाठ-केन्द्रित समाज कहते हैं, उसमें आलस्य एक महत्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि उसमें काम को विश्राम से अलगा दिया गया है।

जिनन- आधुनिक समाज में जब भी कोई चंचल बच्चा नज़र आता है उसे ए.डी.एस. (अटेंशन डेफ़िसिट सिण्ड्रोम) या अवधान न्यूनता रोग की श्रेणी में डाल दिया जाता है। आप बच्चे को सच्चे अर्थों में भौतिक स्पेस की पूरी छान-बीन करने ही नहीं देते, और उसे पूरी तरह नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं और तब वे विद्रोह कर देते हैं। आपके बच्चे को नियन्त्रित करने के फलस्वरूप ही उसमें क्रोध, विद्रोह, हिंसा और नष्ट करने का भाव आता है। मैंने एक बच्चा गोद लिया था। ऐसा सहज ही हुआ। मैं इस गाँव में रह रहा था। यह बच्ची जब वह दो-तीन महीने की ही थीं, हमारे घर आने लगी। मैं उसकी देखभाल करता। मैंने उसके सन्दर्भ में कुछ निर्णय लिये : मैं उसे कभी 'नहीं' नहीं कहूँगा। मैं उससे कभी झूठ नहीं बोलूँगा और हमेशा उसके पीछे चलूँगा, उसका मार्गदर्शन नहीं करूँगा। इन निर्णयों के कारण ही मैं बच्चे को समझने का अवसर पा सका। मैं यह क्यों कह रहा हूँ। अगर मैं उसे 'नहीं' नहीं कहता तो मुझे अपनी स्थिति इस तरह व्यवस्थित करनी होगी, मुझे वे सारी चीज़ें जिनके कारण मैं 'नहीं' कह सकता होऊँगा, उसके सामने से हटानी होगी। मसलन अगर मेरे पास एक बहुत महँगा कप है और अगर मैं नहीं चाहता कि वह उसे न छुए, मुझे उसे उसके रास्ते से हटाना चाहिए।

उदयन- आपको भी उसका उपयोग करना बन्द कर देना चाहिए। हमें इस स्थिति में महँगी चीज़ों का उपयोग कम करना होगा कि बच्चे को अपने ही घर में असहज ढंग से न रहना पड़े।

जिनन- लोग मुझे अक्सर कहते रहते हैं कि हमारे पास कीमती चीज़ें हैं, हम उन्हें बचाने के लिए 'नहीं' कैसे नहीं कहें। तब मैं कहता हूँ कि आपके लिए कौन अधिक क़ीमती हैं : वे चीज़ें या आपका बच्चा।

उदयन- आपके महँगी चीज़ें हटाते ही बच्चे के लिए 'नहीं' भी किसी हद तक हट जायेगा।

जिनन- यह बच्ची अपनी माँ के साथ एक दूसरे घर में रहती थी। साढ़े सात-आठ बजे उसकी माँ उसे हमारे घर छोड़ कर अपने काम पर निकल जाती थी। इस तरह मुझे इस बच्ची के पोषण का अवसर मिल गया। मैं सात-साढ़े सात बजे तक कम्प्यूटर और कैमरे पर काम करता हूँ और जब तक वह यहाँ आती है, यह सब एक तरफ रख दिये जाते हैं। मैं जानबूझकर फ़र्निचर जैसे मेज़-कुर्सियों आदि नहीं रखता। मेरे घर में फ़र्श ही सारे क्रियाकलापों के लिए इस्तेमाल होता है। जब यह बच्ची बहुत छोटी थी, खाना बनाने का काम भी फ़र्श पर ही होता था। मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूँ कि हम जो भौतिक संरचना (डिज़ाइन) और मानसिक अवकाश बच्चे को उपलब्ध कराते हैं, वह आधुनिकता की जीवन-विरोधी दृष्टि से उत्पन्न हुए हैं। आधुनिकता ने बच्चों के काम, खेल, सीखना और कला में विभाजन कर दिया है। कला को

कर्म अलग कर दिया गया है उसी तरह खेल से भी। खेलने के लिए आधुनिक शहरी लोग बच्चों को खिलौने देते हैं और उन्हें काम नहीं करने दिया जाता। सीखने को गम्भीर काम माना जाता है जो क़िताबों की मदद से कुछ नियत घण्टों में कराया जाता है। ग्रामीण इलाकों में इससे बिल्कुल अलग ये सारी चीज़ें यानी काम, खेल, सीखना और कला को विभाजित नहीं किया जाता। वे एक ही प्रक्रिया का भाग होती हैं। बच्चा काम करने से पीछे नहीं हटता क्योंकि उसके लिए काम करना खेलना ही होता है। बच्चे के लिए हर काम क्रीडामय होता है। अपने खिलन्दड़े स्वभाव के कारण बच्चा झाड़ू भी लगाता है, बल्कि वह वे सब काम करना चाहता है जो उसकी माँ करती हैं। वह उसका खेल होता है। वह हर काम जो पिता करता है, बच्चा भी करना चाहता है। इन सब चीज़ों को विभाजन का बच्चों पर बुरा असर पड़ रहा है। और यह भी चिन्ताजनक है कि शहरी जीवन में बच्चों के लिए स्थान नहीं है। वे कहीं आ-जा नहीं सकते। पेड़ों पर नहीं चढ़ सकते, न पहाड़ पर। मैं हमेशा सोचता हूँ कि किसी भी समाज की सभ्यता और संस्कृति को उनके अपने बच्चों के प्रति नज़रिये से ही आंका जा सकता है। यह हर समाज का बुनियादी लक्षण है। अगर आप आधुनिकता के बच्चों को दिये अवकाश को देखेंगे, आप तुरन्त यह जान सकेंगे कि इससे अधिक खराब परिवेश बच्चों को दिया ही नहीं जा सकता था। हर विज्ञापन में आप बच्चे से झूठ बोलते हैं। बच्चों को इन सारे झूठों से बचने के कोई नियम क़ानून नहीं हैं। बच्चा मानो हमेशा ही भटकाव के लिए उपलब्ध रहता है। ऐसी कोई सरकार नहीं, न कोई संस्था है जो इसकी जिम्मेदारी ले सके। कम-से-कम पाँच साल और उसके कम की उम्र के बच्चे के लिए किसी भी किस्म का विज्ञापन नहीं होना चाहिए। कम्पनियाँ जान-बूझकर ऐसे विज्ञापन बनाती हैं जिनमें वे बच्चों के जरिए उसके माता-पिता को फँसा सकें। इस रास्ते अनिश्चितता और भय के सृजन पर आधुनिकता पलती है। इसके बरअक्स पारम्परिक समाजों में अनिश्चितता इसलिए नहीं होती क्योंकि वे केवल 'आज' के लिए जीते हैं। वे आने वाले कल की चिन्ता नहीं करते।

उदयन- इसीलिए शायद बच्चा कभी आलसी नहीं हो पाता क्योंकि उसके पास आलस्य का समय ही नहीं होता...

जिनन- ...क्योंकि वे सारा दिन शारीरिक रूप से व्यस्त रहते हैं। अगर आप एक छोटे बच्चे को दिनभर देखते रहें तो पाएँगे कि वे हमेशा ही कुछ न कुछ कर रहे होते हैं। रात में बेसुध सोते हैं। आधुनिक बच्चों में आलस्य इसलिए भी है क्योंकि वे कक्षाओं में आठ-आठ घण्टे बिना कुछ किये बैठे रहते हैं। इसका सम्बन्ध आधुनिक शिक्षा पद्धति से है जिसके चलते उनका शरीर निश्चल होता है। इतना अधिक निष्क्रिय रहने शरीर का स्वभाव नहीं है। न ही उसकी ऐसी आदत होती है। उसे लगातार सक्रिय रहना होता है, कुछ न कुछ करते रहना होता है। हम स्कूलों में बच्चों को घण्टों बैठा कर रखते हैं। उन्हें पढ़ने को बाध्य करते रहते हैं। सुनने को भी। इसलिए थोड़े-से भोजन के अवकाश में, उस अन्तराल में बच्चों की ऊर्जा का विस्फोट होता है पर वह भी केवल कुछ स्कूलों में ही बाक़ी है। अब वह अन्तराल भी कई स्कूलों में

नियन्त्रित किया जाता है। आधुनिक मनुष्यों ने कभी भी बच्चों की वास्तविक आवश्यकताओं का सम्मान नहीं किया। पहले उनके शरीर को निष्क्रिय बनाया जाता है फिर इसके अभाव को बॉडी-बिल्डिंग आदि भरा जाता है। हमारे ग्रामीण-आदिवासी स्कूलों में यह कृत्रिम बॉडी-बिल्डिंग और व्यायाम नहीं होते क्योंकि वे सारा दिन अपने शरीर के साथ कुछ न कुछ कर ही रहे होते हैं। उन्हें बॉडी-बिल्डिंग की ख़ातिर एक अतिरिक्त घण्टे की ज़रूरत नहीं होती।

उदयन- इसलिए वहाँ किसी की भी ज़िन्दगी में आलस्य का प्रवेश नहीं होता।

जिनन- आप देख सकते हैं कि उस समाज में बूढ़े लोग भी कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। मेरी माँ अब नवासी वर्ष की हैं। यह सच है कि लम्बे समय तक शिक्षक रही हैं, लेकिन उस सबका उन पर बहुत असर नहीं है। लेकिन अच्छी बात यह थी कि वे हमेशा कुछ न कुछ करती रहती थी। जब वे पढ़ाने भी जाती थीं, वे लौटकर बगीचे की देखभाल करती थीं। इसलिए अब भी वे भले ही जल्दी थक जाती हों और बहुत स्वस्थ न हों, लेकिन जब भी उन्हें थोड़ी बहुत ताकत महसूस होती है, वे काम करने लगती हैं। वे और उन जैसे लोग जानते ही नहीं है कि आराम कैसे किया जाता है। वे हमेशा ही ऊर्जस्वित बने रहते हैं। शारीरिक रूप से वे ठीक रहते हैं। हमारी प्रकृति तो यह है कि हम आलसी नहीं होते। हम शहरी लोग आलसी हो गये हैं। मैं खुद आलसी हो गया हूँ। आलस्य ने शरीर को धारण कर लिया। यही बात बहुत से शिक्षित लोगों के साथ हो गयी है।

उदयन- हमने स्वामित्व की भावना की बात भी की थी। ग्रामीण-आदिवासी परिवेश में बच्चों में स्वामित्व की यह भावना नहीं होती।

जिनन- मेरे दोस्त का दोस्त सूरत के पास किसी ग्रामीण हाट गया था। वह साप्ताहिक हाट है। वहाँ आदिवासी और ग़ैर-आदिवासी सभी आते हैं। मेरे दोस्त का दोस्त जेवरात का व्यापार करता है। उसे वहाँ एक बात दिलचस्प लगी। आदिवासी हाट में आते, चीज़ें खरीदते और चले जाते। अगर किसी का कुछ पैसा देना बाकी रहता, विक्रेता उसका नाम नहीं लिखता था। लेकिन जब भी ग़ैर-आदिवासी का पैसा उधार रहता, विक्रेता उसके नाम पर पैसा ज़रूर लिखता। जब हाट उठ गयी, हमारे दोस्त के दोस्त ने पूछा कि तुम लोग आदिवासी लोगों की उधारी क्यों नहीं लिखते। विक्रेता बोले, कि आदिवासी कभी धोखा नहीं देते। वे अपनी उधारी याद रखकर पैसा वापस कर देते हैं। यही कुछ मैं यहाँ केरल के एक गाँव में भी देखता हूँ। जब भी ग्रामीण आदिवासी इलाक़ों के लोग पैसा उधार लेते हैं, वे उसे लौटाना अपनी ज़िम्मेदारी समझते हैं। आपको उनका वह उधार याद रखने की ज़रूरत नहीं होती। मैं आपको उन सम्बन्धों के विषय बताने की कोशिश कर रहा हूँ जो उनके वस्तुओं के साथ हैं। उनकी निष्ठा के बारे में। ऐसे भी कई स्थान है जहाँ ताले नहीं लगाये जाते। ताला-चाबी का इस्तेमाल नयी चीज़ है। मेरा दोस्त बता रहा था कि वह बस्तर में आदिवासियों के साथ रह रहा था। अबूझमाड़ में। वहाँ बहुत छोटी झोपड़ियाँ होती हैं। बड़ी से बड़ी दस फुट लम्बी दस फुट

चौड़ी से अधिक नहीं होतीं। उन्हीं में सब कुछ होता है, उसी में कुत्ता, सुअर आदि भी रहते हैं। मेरे दोस्त ने उनमें से एक से कहा कि तुम लोग अपना घर बड़ा क्यों नहीं बना लेते। उस आदिवासी व्यक्ति को समझ में ही नहीं आया कि मेरा दोस्त क्या बोल रहा है। फिर वह बोला, 'यह हमारा घर नहीं है। हमारा घर तो बाहर है!' यहाँ घर की समझ में कितना अन्तर है। जब तक आपका मानस प्रकृति का भाग बना रहता है, आप प्रकृति द्वारा संचालित होते हैं, आपकी मूल्य व्यवस्था बिल्कुल अलग होती है। वहाँ स्वामित्व नहीं होता। वह वैसा ही होता है जैसी प्रकृति है। लेकिन जैसे ही मानस मनुष्य-केन्द्रित हो जाता है, वह अपने नियम खुद बनाने लगता है जो अमूमन प्रकृति के विरुद्ध होते हैं। हमें हमारे आधुनिक प्रत्ययों जैसे दूरगामी और निकटगामी (लॉन्ग टर्म और शॉर्ट टर्म) पर सोचना चाहिए। आदिवासी समाज में ऐसे प्रत्ययों का उपयोग इसलिए नहीं होता क्योंकि ये दोनों ही उनके लिए एक हैं। जबकि आधुनिक जीवन में वे अन्तर्विरोधी हैं। आपके दूरगामी लक्ष्य और निकटगामी लक्ष्य अलग-अलग और अन्तर्विरोधी होते हैं। निकटगामी (शॉर्ट टर्म) लक्ष्य हमेशा ही नुक़्सानदेह होते हैं और आप तब उम्मीद करते हैं कुछ समय बीतने पर चीज़ें सुधर जायेंगी।

उदयन- लेकिन वैसा कभी होता नहीं है। क्या आपको लगता है कि आज ऐसी शिक्षा सम्भव है जिसका आप ज़िक्र कर रहे हैं, जिसमें बच्चे का मानस प्रकृति से जुड़ा रह सकता हो।

जिनन- बिल्कुल है। यह बिल्कुल सम्भव है, अगर हम इस सब को गहराई से समझे और ऐसी समझ के साथ कुछ लोग और अभिभावक एकत्र हो सकें। लेकिन वह बहुत आसान नहीं होगा क्योंकि हम इतना नुकसान कर चुके हें कि हमें इस रास्ते पर बहुत सम्भल कर चलना होगा। हम पहले ही ग़लतियों पर खड़े हुए हैं। हम प्रकृति के विरोध में ही खड़े हैं। बच्चा हमारे जीवन में प्रकृति की तरह ही आता है। हमें बच्चे से सीखने की प्रक्रिया में ही समझ बनानी होगी। मुझे लगता है कि हमें तीन तरह के लोग ही बचा सकते हैं। पहली तो प्रकृति ही है। हमें देखना चाहिए कि प्रकृति कितने धीरज से सीखती है और अगर हममें विनय है, हम प्रकृति से उतने ही धीरज से सीख सकते हैं। दूसरे ग़ैर-साक्षर लोग हमें सीखा सकते हैं अगर हम उन्हें अपना जैसा न बना लें। क्या आप 'निरन्तरता की धारणा' से वाक़िफ़ हैं? एक महिला हैं, जाँ लीडलॉफ़। वे पाँच-सात वर्ष अमेज़ॉन के वासियों के साथ रहीं। वहाँ के लोगों से उन्होंने कुछ अद्‌भुत सीखा। उन्होंने उस पर छोटी-सी क़िताब लिखी है। उन्होंने भी इस विषय में बहुत सुन्दर लिखा है। बच्चों में अपनी सामर्थ्य होती है। बच्चे के आने से पहले वयस्कों को भी तैयारी करनी चाहिए जिसके चलते उन्हें केवल फ़र्श या ज़मीन का दैनन्दिन जीवन में उपयोग करना शुरू करना चाहिए। इसके लिए चूँकि हमारे पास कोई मार्ग-दर्शक नहीं है, इन सब का उपयोग धीरे-धीरे करना चाहिए वरना ये ख़तरनाक हो सकते हैं। इसके लिए शायद हमें ग़ैर-साक्षर लोगों से मार्ग-दर्शन पा सकते हैं।

उदयन- असली सवाल इसके बाद भी यह है कि स्कूलों का क्या होगा?

जिनन- जब हम पुनर्विचार कर रहे होंगे, हमें पूरे जीवन की नयी तरह से कल्पना करना होगी। केवल आर्थिक व्यवस्था के लिए ही नहीं। आज सभी चीज़ें की कल्पना मुनाफ़े और अर्थ-व्यवस्था में संकेन्द्रित हो गयी हैं। अगर यही स्थिति रही तो हमें पुनर्विचार या पुनर्कल्पना से कुछ हासिल होने वाला नहीं है। ये सारी समझ बेकार है। अगर हमें जीवन, प्रकृति आदि के बारे सचमुच चिन्ता है तो सम्पूर्ण जीवन पर पुनर्विचार करने का प्रयास करना चाहिए। आज कोई भी ऐरा-ग़ैरा विकल्प सुझाता रहता है। वैकल्पिक शिक्षा, वैकल्पिक चिकित्सा आदि। ये सब पैसा बनाने की फ़िराक़ में रहते हैं। इसलिए सब अपने समाधान बेचने में लगे रहते हैं। जब तक 'धन' हमारे सोच के केन्द्र में रहेगा, हम जीवन और प्रकृति पर पुनर्विचार कर ही नहीं सकते। अगर जीवन स्वयं केन्द्र में है, तो बच्चे महत्वपूर्ण हो जाते हैं, प्रकृति भी। हमें जीवन की अन्य प्रत्ययों में, अन्य चौखटों में परिभाषा करनी होगी जहाँ प्रेम, सेवा, नैरन्तर्य, जीवन को बनाये रखने की विधियाँ आदि महत्वपूर्ण होंगी।

उदयन- आपकी दृष्टि में वह क्या है जिसे कला कहा जायेगा?

जिनन- दरअसल मेरा कला से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। मैं अब सौन्दर्य पर केन्द्रित हूँ। यह इसलिए हुआ क्योंकि मुझे लगा कि कला भी जैसा कि उसे आज समझा जाता है खेलों, ड्राईंग आदि की तरह ही आधुनिकता की निर्मिति है। आधुनिकता ने सौन्दर्य को भी ग़लत समझा है। उसने ज्ञान नामक चीज़ बनाकर और उससे व्यवहार करने को ही सीखना मान रखा है। इस तरह सीखना पूरी तरह मानसिक कर्म होकर रह गया है। जब आधुनिकता ने सभी चीज़ों का मानसीकरण कर दिया, जब उसने सभी चीज़ों को मानसिक क्रिया बनाकर रख दिया उसने सारे कार्य-कलापों को मस्तिष्क की गतिविधि की तरह देखना शुरू कर दिया। जब मैं आदिवासी-ग्रामीण इलाकों में गया, मैंने पाया कि आत्माभिव्यक्ति जैसी कोई चीज़ नहीं होती। दूसरी विचलित करने वाली चीज़ मैंने यह अनुभव की कि सौन्दर्य आधुनिक संसार के लिए ऐन्द्रिक नहीं, मानसिक अनुभव है। जब आधुनिकों ने ज्ञान की प्रक्रिया में इन्द्रियों की भूमिका को नकार दिया, उन्होंने उनकी भूमिका को जीवन के हर क्षेत्र में भी नकारा। आधुनिकता का किसी भी चीज़ की ओर जाने का ढंग है, उसके बारे में सोचना और उसे समझ लेना। कला भी सोचकर समझ ली जाने वाली चीज़ हो गयी। इस बारे में मेरे मन में तभी से शंकाएँ आने शुरू हो गयी थी जब मैंने एन.आई.डी. में पढ़ना शुरू किया था। सबसे बड़ा अपराध सभी को अपनी तरह के सोचने के ढंग में परिवर्तित करने में है जहाँ आप सभी को यह संसार आपकी अपनी तरह से दिखाने को तैयार कर लें। यह धर्मान्तरण से भी गयी-गुज़री चीज़ है। धर्मान्तरण अलग से नज़र आता है लेकिन यह परिवर्तन ज्ञान के भेष में किया जाता है और कला में यह परिवर्तन इससे भी अधिक ख़राब है। दुखद यह है कि ग़ैर-पश्चिमी कलाकार भी वैश्विक पश्चिमी कला को ही सार्वभौमिक मानते हैं। मैं इसलिए यहाँ के कलाकारों से बात करने से गुरेज़ करता हूँ क्योंकि मैं उनके साथ तर्क नहीं करना चाहता। यह इसलिए क्योंकि मैंने जो भी समझा है, वह अनुभव से है। मैं अनुभव पर

तर्क नहीं कर सकता। आप क़िताबें पढ़कर तर्क करते रह सकते हैं। लेकिन अगर मैंने कुछ देखा है, कुछ अनुभव किया है, मैं अपने अनुभव का साझा कर सकता हूँ पर मैं उस पर तर्क नहीं कर सकता।

उदयन- मैं यह समझता हूँ, सत्य के अनुभव और तर्क के सत्य के बीच के अन्तराल को मैं समझता हूँ।

जिनन- यह सालों का अन्वेषण रहा है। ऐसा नहीं कि मैंने लोगों को पढ़ने का प्रयास नहीं किया। एन.आई.डी. में पहले पहल मैं सौन्दर्य पर उपनिवेशीकरण के प्रभाव के बारे में सजग हुआ। इसका यह आशय कतई नहीं कि मैं पश्चिम के लोगों का सम्मान नहीं करता। मैं जानता हूँ कि जर्मनी के 'बाहुवास' आन्दोलन के पॉल क्ले जैसे कलाकारों का जीवन उनके अपने सन्दर्भ में बेहद खूबसूरत, विश्वसनीय था। हमारा वह सन्दर्भ नहीं है। हम केवल उस सन्दर्भ की नकल कर वह नाट्य यहाँ रचने का प्रयास कर रहे हैं। मैंने बहुत सारे दिन केन्डिन्सिकी, पॉल क्ले के कामों को देखते हुए गुज़ारे हैं। लगभग सारे पश्चिम उस्ताद चित्रकारों के चित्र देखते हुए। यह स्पष्ट रहना चाहिए कि उन्होंने अपने परिवेश में बहुत अधिक विश्वसनीय अन्वेषण किया है। शुरू में मुझे एक तरह की राजनैतिक समस्या का सामना करना पड़ा। मुझे लगा कि हमारा उपनिवेशकरण हुआ है। मैं यह सोचने लगा कि मैं कैसे अपना विउपनिवेशीकरण करूँ। इस सन्दर्भ में सौन्दर्य से मेरा पहला सामना तब हुआ जब मेरी एक दोस्त ने एक 'लोगो' डिज़ाइन किया था। उसने उसके छह संस्करण तैयार किये थे। उसने मुझे वे संस्करण दिखा कर पूछा कि मुझे उनमें से कौन-सा पसन्द है। मुझे उन छहों में कोई अन्तर नज़र नहीं आया। तभी मुझे समझ में आया कि उनमें अन्तर अवश्य है पर मेरे आँखें इतनी संवेदनशील नहीं हो पायी हैं कि वे वह अन्तर देख पाती। एन.आई.डी. जैसी संस्थान में सौन्दर्य के विषय में संवेदनशीलता विकसित करने का ही प्रयास किया जाना चाहिए। सौन्दर्य हर तरफ है, प्रश्न यह है कि वह क्या है, कि क्या हम उसके प्रति पर्याप्त संवेदनशील है। हम विकलांग लोगों की शिक्षा के विषय में बात करते रहते हैं पर यह भी सच है कि हमारे संस्थानों ने सौन्दर्य बोध से विकलांग लोग उत्पन्न कर दिये हैं। ब्यूटी-डिसेबल्ड-पीपल। केवल वही नहीं बल्कि ऐसे लोग भी जिनका सौन्दर्य बोध विकृत है। ब्यूटी-डिसटोर्टेड-पीपल। मैं यहाँ तक कहूँगा कि जो लोग कला में प्रशिक्षित हुए हैं, मसलन कलाकार या डिज़ाइनर्स, वे ब्यूटी-डिसटोर्टेड लोग है। उनका सौन्दर्य बोध विकृत हो गया है। उन लोगों को जो अन्य पेशों में आये हैं जैसे वाणिज्य, यान्त्रिकी आदि में आप कुछ सुन्दर दिखाइए, वे उससे प्रतिकृत होना जानते नहीं है। बहुत थोड़े से लोग जो बिल्कुल साधारण विषयों जैसे इतिहास या दर्शन या मनोविज्ञान आदि पढ़ते हैं, उनमें पता नहीं क्यों उतनी विकृति नहीं आयी है। शायद इसलिए क्योंकि उनका कला से किसी भी स्तर पर सामना होता ही नहीं है। इसलिए वे कहीं अधिक मुक्त ढंग से या नैसर्गिक रूप से सौन्दर्य से प्रतिकृत होते हैं। मैंने एन.आई.डी. में कई सारे प्रयोग किये यह समझने कि हम सौन्दर्य को किस तरह देखें। उनमें से एक प्रयोग यह था कि मैं महान कलाकारों के कामों को निरन्तर देखता रहा लेकिन मैं उनका नाम और

उनका समय जानने की कोशिश नहीं करता था। हरेक को कला के इतिहास, उसके काल और उसकी शैली आदि को जानने में रुचि रहती थी। मुझे लगा कि किसी चित्र को पसन्द करने या न करने का आधार यह नहीं होना चाहिए। इस तरह मैं उन फन्दों से बचने की कोशिश में बहुत से व्यक्तिगत प्रयोग करने लगा जिनमें आधुनिकता आपको फँसाती है। मुझे याद है कि मैंने फ़ोटोग्राफ़ी का पाठ्यक्रम किया। वह दो हफ़्तों का था। लेकिन मैं उसे छह महीनों तक हर रोज़ करता रहा। मैंने किसी दोस्त से कैमरा उधार ले लिया और वह पाठ्यक्रम करता रहता। मैं जानता था कि थोड़े से दिनों में आप किसी भी काम के प्रति संवेदनशील नहीं हो सकते। आपको वह काम हर रोज़ करना पड़ता है। मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि मैं कला को अपने तई गहराई से अनुभव के स्तर पर समझने का प्रयास कर रहा था। मुझे लगता है कि अनेक सौन्दर्यशास्त्री कला की बातें ज़रूर करते हैं लेकिन उन्हें इस सबका अनुभव नहीं है। वे सिर्फ़ यह बता सकते हैं कि काण्ट ने क्या कहा था या भरत ने। मैं एक बार किसी व्यक्ति से कला के अनुभव के बारे में बता रहा था कि उसने मुझसे कहा कि आप आनन्द कुमार स्वामी को क्यों नहीं पढ़ते।

उदयन- ऐसा तब कहा जाता है जब आप किसी भी अनुभव को उसके अपने वैशिष्ट्य में ग्रहण नहीं कर पाते। अगर सिद्धान्त में कला के अनुभव के सत्य को व्यक्त करने की सामर्थ्य होती तो सिद्धान्त जानकर ही लोगों का काम चल गया होता। सिद्धान्त का सौन्दर्य यह नहीं है। वह कुछ और है।

जिनन- ये सारी चीज़ें पहले पहले दिमाग से नहीं समझी जाती। कला के अनुभव के बाद आप उस पर विचार करने के उद्देश्य से उसपर दिमाग लगा सकते हैं। लेकिन शुरूआत में हमें उसके अनुभव पर ठहरना चाहिए। उस अनुभव में डूबना चाहिए। यही सौन्दर्य के साथ सम्भव है। यह चिन्तन में नहीं होता। एन.आई.डी. जाने के कुछ समय बाद से ही मैं डिज़ाइनर होना नहीं चाहता था। मैं न तो वस्तुएँ बनाना चाहता था न उन्हें बेचना चाहता था। मैंने सोचा कि मैं शिल्प करता हूँ। बाद में, मैं कोलकता जाकर शिल्प बनाने लगा लेकिन तीन प्रदर्शनियों के बाद ही मैं समझ गया कि यह गैलरी, प्रदर्शनी आदि मुझसे नहीं होंगे और मैं वह बन्द कर दिया। लेकिन मैं काम करता रहा। तभी मैंने शान्तिनिकेतन जाकर वहाँ भी पश्चिमीकृत सौन्दर्यशास्त्र के व्यवहार को देखा। वहीं मैंने बिना किसी सैद्धान्तिक आधार के सौन्दर्य के अनुभव का किंचित गहराई से अन्वेषण करने का प्रयास किया पर वह वहाँ बहुत नहीं हो सका। लेकिन जब मैंने आदिवासी-ग्रामीण लोगों के साथ काम करना शुरू किया, मैं वहाँ एक बहुत दिलचस्प बात देखने लगा। अगर आप आधुनिक परिदृश्य देखें, आधुनिक स्थापत्य, डिज़ाइन आदि सभी हर शहर में लगभग एक से लगते हैं। आप जब आदिवासी-ग्रामीण अंचलों में जाते हैं, आप पाएँगे हर आदिवासी-ग्रामीण अंचल में एक अलग सौन्दर्यात्मक दृष्टि है। आन्ध्र प्रदेश के घर हों या नागालैण्ड के, बिहार के हों, कच्छ के, हर जगह वे अलग ढंग होते हैं।

उदयन- यह कहने को साधारण सी बात है पर इसमें आधुनिकता की एक गहरी विडम्बना उजागर होती है : यहाँ व्यक्ति के अलगाव पर इसका इतना अधिक ज़ोर है तब भी इसके अधीन बने शहर या स्थापत्य एक जैसे हैं।

जिनन- मैं आपको एक घटना सुनाता हूँ। एक दिन मैं एक स्त्री को मिट्टी की गोल तश्तरी बनाते देख रहा था। वह पहले मिट्टी को बेलकर पट्टी बनाती थीं और चाकू से गोला काट रही थीं। वे इस पट्टी से गोल तश्तरियाँ बनाना चाह रही थीं। मैंने पाया कि वे हर बार के ठीक-ठीक गोला काट रही थीं। मैं सोचने लगा कि वे ऐसा कैसे कर पा रही हैं। एन.आई.डी. के पहले वर्ष में हमारा प्रशिक्षण हर दिन रेखा और गोला खींचने के लिए होता था। हम यह घण्टे भर तक करते थे। मैं यह चकित होकर सोचने लगा कि यह स्त्री किस डिज़ाइन संस्थान गयी होगी कि यह परफ़ेक्ट गोले बना रही है। यह तब हुआ जब मैंने पढ़ना बन्द कर दिया था। आमतौर लोगों पर निष्कर्ष निकालने का दबाव रहता है। पर पढ़ना बन्द करने के बाद से मुझ पर निष्कर्ष देने का दबाव हट गया। मैं चीज़ों को सिर्फ़ देखता हूँ। जब आप किसी चीज़ को देखते हैं, आपको निष्कर्ष देने की ज़रूरत नहीं होती। जब मैं ऐसा करने लगा तो ऐसा होता था कि जब एक ही चीज़ बार-बार सामने आती थीं, उसकी देखने की स्मृतियों में एक पैटर्न बन जाता था क्योंकि आप हर बार ध्यानपूर्वक देखते थे। यह करते हुए एक दिन मुझे अचानक यह विचार आया कि आदिवासी-ग्रामीण लोग सौन्दर्य से जुड़े अपने किसी नैसर्गिक गुण के सहारे अपने आस-पास की चीज़ों से प्रतिकृत होते हैं। मुझे उन लोगों और नागर लोगों में यह फ़र्क नज़र आता है कि नागर लोग कुछ करके उसमें सौन्दर्य को जोड़ते हैं जबकि ग्रामीण-आदिवासी परिवेश में लोग जो करते हैं, वह सुन्दर हो जाया करता है। वे उसे सुन्दर बनाने की इच्छा से नहीं बनाते। यह महत्वपूर्ण है। वे जो भी करते हैं, वह इसलिए सुन्दर हो जाता है क्योंकि चीज़ों की यही स्वभाविक प्रवृत्ति है। यह इसलिए नहीं है क्योंकि उनके दिमाग में उसे सुन्दर बनाने का कोई विचार है। इसे ही आधुनिकता ने खण्डित किया है। यह मेरे अन्वेषण का बेहद निर्णायक मोड़ रहा है : मैंने सौन्दर्यबोध का विउपनिवेशकरण से अपना सफ़र शुरू किया था, जहाँ मैं सौन्दर्य बोध के राजनैतिक आयाम का अवलोकन कर रहा था, वहाँ से मैं सौन्दर्यबोध के जैविक या नैसर्गिक आयाम पर आया। यह आयाम कहीं अधिक गहन और सार्वभौमिक है। यह दो तरह के लोगों के बीच का फ़र्क नहीं है यानि उपनिवेशीकृत और विउपनिवेशीकृत लोगों के बीच का फ़र्क। यह सौन्दर्यबोध इससे कहीं अधिक गहरा है, इतना कि हर मनुष्य में इस स्तर पर यथार्थ से प्रतिकृत होने की क्षमता है। लेकिन चूँकि हमने अपनी जैविकी को नकार दिया है, हम मानसिक स्तर से प्रतिक्रिया करने लगे हैं।

उदयन- क्या आप यह कह रहे हैं कि आधुनिक मनुष्य या कहें किसी भी तरह से उपनिवेशीकृत मानस (जहाँ वह आधुनिकता से ही उपनिवेशीकृत हो, ज़रूरी नहीं है। वह किसी भी तरह से उपनिवेशीकृत हो, चाहे तो ज्ञान की किसी अवधारणा से) दरअसल कुछ करता है और फिर उस पर सौन्दर्य के किसी

तैयारशुदा या अपेक्षाकृत कम तैयारशुदा विचार को आरोपित कर देता है जबकि आदिवासी-ग्रामीण परिवेश के सदस्यों के कुछ करने की प्रक्रिया ही सौन्दर्य उत्पादन की प्रक्रिया होती है।

जिनन- केवल ज्ञान को लिखा जा सकता है, उसे ही भाषाकृत किया जा सकता है, अनुभूतियों और संवेदनाओं को नहीं। अगर आप 'लेखन' का इतिहास देखें तो पाएँगे कि शुरूआत में उसका इस्तेमाल केवल कुछ चिन्ह लगाने आदि में ही किया जाता था। वह कभी विचारों के सम्प्रेषण के लिए प्रयुक्त नहीं होता था। आप ज़िन्दगी के अधिकतर अनुभवों को नहीं लिख सकते। शायद इसीलिए कई सभ्यताओं में सयाने लोग 'लेखन' को लेकर चिन्तित हुए थे। यह चेतावनी भी स्पष्ट रूप से दी गयी थी कि इसके व्यवहार से बचो। अगर आप पश्चिम का भी इतिहास देखें, आप पाएँगे कि सत्रहवीं या अठारहवीं शती तक ही आत्माभिव्यक्ति का विचार आया है। उसके पहले वहाँ उस अर्थों में कलाकार नहीं थे जिस अर्थ में हम उन्हें आज समझते हैं। लियोनार्दो आदि अपने चित्रों में आत्माभिव्यक्ति नहीं कर रहे थे। वे कुशल कार्य कर रहे थे। वह वैसा कलात्मक काम नहीं था जैसा हम आज समझते हैं जिसमें कोई विशेष तरह के विचार का अन्वेषण किया जाता है। यह विभाजन शुरू में पश्चिम में भी नहीं था। यह मस्तिष्क के शरीर पर क़ब्ज़ा कर लेने के बाद की घटना है। अगर आधुनिक व्यक्ति के किसी कार्यकलाप को देखें। मसलन आप डिज़ाइनर को देखें। वकमिंस्टर फुलर कहते हैं कि रूप प्रकार्य से पहले आता है। इसीलिए रूप और प्रकार्य का निश्चय ही स्पष्ट विभाजन हो चुका है। पारम्परिक सन्दर्भ में रूप और प्रकार्य के बीच का विभाजन नहीं है। वे साथ रहते हैं। इसीलिए कर्म और सौन्दर्य साथ हो जाते हैं। वे जो करते हैं इसलिए सुन्दर हो जाता है क्योंकि वहाँ कर्म करने के बाद सौन्दर्य के विषय में नहीं सोचा जाता। हर गढ़न विशेष संवेदनशीलता के साथ की जाती है, और स्वतः ही वह सुन्दर हो उठती है।

मैंने एक बहुत महत्वपूर्ण चीज़ समझ ली है कि हर सामग्री का अपने धर्म होता है, उसे बरतने के अपने नियम होते हैं। आदिवासी ग्रामीण लोग बिना किसी अतिरिक्त सजगता के सामग्री के उस विशेष गुण को, उस धर्म को छू पाते हैं और इसलिए वह सामग्री सुन्दर हो जाती है। यहाँ दो चीज़ें हैं : पहली सामग्री की अपनी सम्भावना है। मानो सामग्री कह रही हो, मैं इसके योग्य हूँ।, दूसरी चीज़ यह है कि व्यक्ति चूँकि अपने अहंकार से परिचालित नहीं होता, वह सामग्री के धर्म के साथ बहने लगता हैं। उस सामग्री के अपने स्वभाव के साथ। यही कारण है कि आदिवासी-ग्रामीण लोग चाहे जिस सामग्री में काम करें- चाहे वह मिट्टी हो, बाँस हो या कुछ और - सामग्री के अपने गुण निखर कर सुन्दर हो उठते हैं। यहाँ सामग्री पर कलाकार या शिल्पी के अहंकार का वैसा आरोपण नहीं होता जैसा आधुनिक परिवेश में होता है। आधुनिक शिक्षा में यह निहित है। मसलन जब आप मिट्टी पर काम करने की शिक्षा लेते हैं, आपको काम करने की कुछ पद्धतियाँ और नियम सिखाये जाते हैं और जब आप मिट्टी पर काम करने जाते हैं, आप वे सीखी हुई

पद्धतियाँ और नियम मिट्टी पर लागू करने लगते हैं। आप मिट्टी या किसी सामग्री से जुड़ते नहीं हैं, न उससे सीखते हैं।

उदयन- आपने यह बड़ी खूबसूरत बात कही है। सामग्री का बोलना, उसका कलाकार को सुझाव देना। यह कह सकते हैं कि कलाकार को अपने भीतर सामग्री को सुनने की कोशिश करना चाहिए। शायद आधुनिक व्यक्ति के अकेलेपन का कारण भी यही है कि उसके भीतर प्रकृति नहीं बोलती। उसके भीतर उसका अकेलापन बोलता है।

जिनन- मैं आदिवासी-ग्रामीण अंचलों में इस बात को ध्यान से देखने लगा कि वहाँ सुन्दरता क्यों हैं। तब बहुत सी घटनाएँ साथ लाने लगीं। एक दिन मैंने देखा कि ज़मीन पर बैठे दो लोग आपस में बातें कर रहे हैं। कुछ देर बाद एक और व्यक्ति वहाँ आ गया। पहले से बैठै दो लोगों ने अपना स्थान ज़रा बदलकर उस तीसरे आदमी के जगह बना दी। मुझे तुरन्त लगा कि वहाँ एक तरह पुनर्संयोजन हो रहा है। तभी मुझे लगा कि प्रकृति भी इसी तरह संयोजन, पुनर्संयोजन के रास्ते अपने को व्यवस्थित करती रहती है। उसके बाद से मैं उस हर गतिविधि को ध्यान से देखने लगा जो वहाँ लोग कर रहे थे। मैंने पाया कि हर गतिविधि लयात्मक थी चाहे वहाँ एक व्यक्ति हो, दो हों, तीन या अधिक। हर जगह अद्‌भुत समंवय और लयात्मकता थी। और इसके लिए कोई उन्हें कुछ कह नहीं रहा था। मैंने इनमें से कई के विडियो भी बनाये हैं। आपने ख़ानाबदोश लुहारों को देखा होगा कि वे कैसे लोहे की अनेक चीज़ें बनाते हैं। इसमें अधिकतर स्त्रियाँ हथौड़ा चलाती हैं और पुरुष सामग्री (यानि लोहे) को चिमटी से पकड़कर नियन्त्रित करते हैं। कई बार दो लोग हथौड़ा चला रहे होते हैं। उन्हें यह करते देखना कैसा अद्‌भुत अनुभव होता है। विशेषकर इसलिए भी कि उन्हें कोई भी अनुशासित नहीं कर रहा होता है। मैंने एक बार दो मछलीमार नाविकों को अरब सागर में देखा था। वे काटामरान (एक विशेष तरह की नाव) चला रहे थे। यह देखना अद्‌भुत था कि वे कैसे एक लय में काटामरान चला रहे थे। मैंने ऐसी सारी जगहों पर कमाल की लयात्मकता देखी। तब मुझे महसूस हुआ कि जीवन ने अपने को इसी तरह व्यवस्थित किया है। हम जब भी कुछ सुन्दर देखते हैं, हमें संज्ञानात्मक सरलता महसूस होती है, कोग्निटिव ईज़। मुझे लगा सब कुछ का सम्बन्ध संज्ञान से है लेकिन केवल तब जब आप उसके बारे में सोच नहीं रहे हों। प्रकृति अपने को इस तरह व्यवस्थित करती हैं कि न्यूनतम ऊर्जा में महत्तम कार्य सम्भव हो पाये। इसी स्थान पर मेरे समझ से, सौन्दर्य की भूमिका है। सौन्दर्य वह है जो हमें नैसर्गिक रूप से संचालित उचित कार्य कराता है।

उदयन- आप जिस लय की चर्चा कर रहे है, उस पर सोचने से ऐसा महसूस होता है कि प्रकृति की लयात्मकता बहुत समावेशी होती है। मसलन दो लोग आपस में एक लय में बातचीत कर रहे हैं और तभी वहाँ एक तीसरा व्यक्ति आ जाता है तो यह तीसरा बड़े आराम से उनमें शामिल हो जाता है और लय भी नहीं टूटती। इसका यह आशय हुआ कि वह लय पहले से ही बहुत समावेशी थी। इसलिए जब भी कोई नया

तत्त्व (यहाँ तीसरा व्यक्ति) दो व्यक्तियों में शामिल होता है, उसे पहले की लय को अपने पर आरोपित नहीं करना पड़ता। दरअसल वह अपनी लय से आता है और उसके दो बात करते लोगों में शामिल होते ही उन तीनों के बीच एक नयी ही लय उत्पन्न हो जाती है। और इसी में एक और व्यक्ति शामिल होने पर एक और लय के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

जिनन- दरअसल समावेशी या अपवर्जक होने की समस्या पूरी तरह आधुनिक है। यह शुरू होती है इन्द्रियों के नकार से। लोग ज्ञान के जनतन्त्रीकरण के बारे बात करते हैं। मेरे दृष्टि में यह व्यर्थ विचार है। असली जनतन्त्र को मारने के बाद ही इस तरह के जनतन्त्र की चर्चा की जा रही है क्योंकि आपको समझ में नहीं आया है कि 'सीखना' है क्या। आप सोचते हो कि हर व्यक्ति को पढ़ना चाहिए और फिर ज्ञान हासिल करना चाहिए। जब हम अपनी इन्द्रियों का उपयोग करते हैं, हमें किसी के सहारे की आवश्यकता ही नहीं होती। वह बिना किसी चयन के होता रहता है। समावेशी होना पश्चात विचार नहीं है, प्रकृति ऐसी ही है।

उदयन- प्रकृति के कार्य करने का यही ढंग है। आपने प्रकृति के अनुरूप क्रियाशील होने की बात कही थी। यहाँ एक सवाल उठता है कि मैं एक तरह से प्रकृति के अनुरूप चलूँगा या एक तरह से प्रकृति से कदम मिलाकर चलूँगा, आप दूसरी तरह से, कोई और तीसरी तरह से। इससे अलग-अलग रूपाकार बनेंगे और अगर हम दोनों मिलकर कार्य करते हैं तो एक तीसरा रूपाकार बन जायेगा। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति इस बात की अनुमति देती है कि आप अनेक तरह से उसके साथ चल सकें, उसकी अनुरूपता में सक्रिय हो सकें।

जिनन- यह ठीक है। आप देखिए कि कैसे विभिन्न समुदाय अपना घर बनाने मिट्टी का उपयोग करते हैं। यहाँ किसी एक परिवेश में उनका ढंग या प्रतिक्रिया काफ़ी एक-से होंगे। मसलन वे जो बस्तर में करते हैं या कच्छ में या आन्ध्र प्रदेश में, आपस में कुछ भिन्न हो सकते हैं लेकिन किसी एक क्षेत्र के भीतर उनके कामों में समानता होगी। दरअसल उपयोग में आने वाली सामग्री भी बताती है कि आप उस पर कैसे काम करेंगे। उन क्षेत्रों में सामग्री ही काम की प्रकृति को निर्देशित करती है।

उदयन- मैं सिर्फ़ मिट्टी को ही सामग्री नहीं मान रहा बल्कि उस पर काम करने वाला व्यक्ति भी विशेष सामग्री है। उसकी अँगुलियाँ कैसी है, उसकी आँखें कैसी हैं, आँखों का कोण क्या है आदि। यह मानव सामग्री मिट्टी के सम्पर्क में आयेगी और रचना करेगी। मैं यह कह रहा हूँ कि मसलन बस्तर के मिट्टी के कामों के बीच व्यापक समानता होगी लेकिन उनके बीच बहुत सूक्ष्म अन्तर भी होंगे।

जिनन- मैं आपको एक बहुत दिलचस्प चीज़ बताता हूँ। मैं अहमदाबाद एन.आई.डी. में तीसरे वर्ष की कक्षा में था। बात तब की जब पहले वर्ष के छात्रों ने मॉडल के रेखांकन किये थे। किसी व्यक्ति को

बुलाकर लाया गया था, वह वहाँ बैठा था और छात्र अलग-अलग कोणों से उसका रेखांकन कर रहे थे। वे रेखांकन नोटिस बोर्ड पर लगाये गये। हमारे शिक्षक ने मुझ से कहा कि वहाँ चलकर वे रेखांकन देखते हैं। मेरा तब तक उन छात्रों से परिचय नहीं हुआ था। मैं उन्हें मोटे तौर पर जानता था। रेखांकनों को देख हम बता सकते थे कि कौन-सा रेखांकन किसने किया है, हर रेखांकन में छात्र के अंचल की छाप थी। मैंने यह दिलचस्पी बाद में भी बनाये रखी। बाद के वर्षों में जब मैं भारत के अनेक अंचलों में घूम रहा था।, मुझे एक बेहद दिलचस्प बात पता चली। आप देश की अलग-अलग जगहों पर गाँधी जी, इन्दिरा गाँधी, सुभाष चन्द्र बोस आदि बहुत व्यक्तियों के शिल्प देखें। आप पाएँगे कि जब आप बंगाल में है तो आपको मूर्तियों में बंगाली गाँधी दिखेंगे, तमिलनाडु में तमिल गाँधी दिखेंगे। आप शायद यही कह रहे थे। हममें कुछ ऐसा है जिसे हम बिना जाने ही उस सब में रख देते हैं जो हम करते हैं।

उदयन- यह अहंकारपूर्ण कर्म नहीं है।

जिनन- बिल्कुल। इसे जानबूझकर नहीं किया जाता। हम चाहें न चाहें, हमारी छाप हमारे काम पर आकर रहेगी।

उदयन- क्या आप पारम्परिक समाजों के अपनी भाषा से सम्बन्ध के बारे में कुछ कह सकते हैं। वे भी गाने गाते हैं, उनकी भी लोक कथाएँ होती हैं, उनके तरह-तरह के संगीत भी होते हैं। इसका अर्थ है कि वे निरन्तर भाषा से सम्बन्ध बना रहे हैं। हमारा भी भाषा से सम्बन्ध है। भले ही हमारे मामले में यह होता है कि शुरूआत में भाषा हम पर आरोपित की जाती है और उसके बाद हम भाषा सीखने पर मजबूर हो जाते हैं। इसके बरअक्स शायद पारम्परिक समाजों के सदस्य भाषा सहज ही सीखते हैं और फिर आवश्यक होने पर उसका उपयोग करते हैं।

जिनन- हमारे भाषा से बर्ताव में पारम्परिक समाजों से दो बड़े अन्तर हैं। आदिवासी-ग्रामीण क्षेत्रों में भाषा की जटिलता को बच्चों के लिए कम नहीं किया जाता। बच्चा भाषा से उसी तरह जूझता है जैसा कि वह अनुभव के क्षेत्र से है। आधुनिक सन्दर्भों में हम भाषा की जटिलता को बच्चों के लिए बहुत कम कर देते हैं। हम बच्चों को मूर्ख मानकर उन्हें ककहरा या अल्फ़ाबेट्स पढ़ाते हैं। इन दोनों की संज्ञान-संस्कृतियों में यह मूल फ़र्क है। आदिवासी-ग्रामीण क्षेत्रों में भाषा के कथ्य की जटिलता कभी भी बदलती नहीं है और बच्चा उसे किस ढंग से बरतेगा, यह बच्चे की सामर्थ्य पर निर्भर करता है। जब हम भाषा की जटिलता को कम देते हैं, बच्चे को वास्तविक संसार के तीसरे दर्जे के संस्करण से सामना करना पड़ता है। इस तरह देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों तरह की भाषा के बनावों में बहुत फ़र्क है। एक सन्दर्भ में भाषा जीवन ही है और इसीलिए आदिवासी-ग्रामीण समाज में शब्द और संसार की अन्तर्निष्ठा बनी रहती है। कभी-कभी मैं यह भी कहता हूँ कि अनुभव 'क्रियापद' हैं और भाषा 'संज्ञा' है। इन इलाकों में बच्चों को दूसरों की बराबरी पर रखा जाता है। उनके लिए भाषा का सरलीकरण नहीं किया जाता। बच्चा दूसरों के ही

स्पेस में रहता हुआ बड़ा होता है। यही सच्चा समावेशी परिवेश है। पश्चिम में बच्चों के लिए भाषा का सरलीकरण होता है और वे बच्चों की इस तरह की मदद करने का उत्सव मनाते है। वे यह नहीं समझते कि जिस क्षण आप 'मदद करने' की बात करते हैं, आप 'ऊँच-नीच' बना लेते हैं।

उदयन- मुझे लगता रहा है कि कहानी या कविता सबसे पहले आयी होगी, फिर वाक्य, फिर शब्द और अन्त में अक्षर आये। इसलिए जब हम बच्चों को ग़लत छोर से सिखाने लगते हैं, हम भाषा की उत्पत्ति का नैसर्गिक दिशा की अवहेलना करते हैं।

जिनन- बिलकुल यही है। ग्रामीण-आदिवासी बच्चे पहले सम्पूर्णता का अनुभव करते हैं और फिर उसके हिस्सों को बूझते हैं। वे भले ही हिस्सों का अन्वेषण करते हों पर वे पहले सम्पूर्णता का अनुभव करते हैं। मैं पहले आपसे घर के अन्वेषण की बात कर रहा था। वहाँ भी यही है। बच्चे पहले घर को उसकी सम्पूर्णता में अनुभव करते हैं और फिर वे उसके विभिन्न पहलुओं में जाते हैं।

उदयन- पारम्परिक स्थापत्य कला में सम्भवतः ऐसा ही होता था। मैंने रणकपुर मन्दिर के बारे में ऐसा पढ़ा है। वहाँ भी पहले मन्दिर को उसकी सम्पूर्णता में कल्पित किया गया था फिर उस सम्पूर्णता के योग्य ईटों के आकार को तय किया गया था। मैं यह इसलिए कह रहा हूँ कि भाषा का सम्पूर्णता में अनुभव महत्वपूर्ण है क्योंकि भाषा इसी तरह विकसित हुई है। यही उसकी जन्मकथा है। यह विचार कि भाषा हिस्सों में उत्पन्न हुई और फिर मानव मस्तिष्क ने उसे सम्पूर्णता में बदला, ग़लत है और इसलिए बच्चों को इस तरह भाषा सीखना कृत्रिम और शायद घातक है।

आप ग्रामीण-आदिवासी क्षेत्रों के नृत्यों के बारे में क्या सोचते हैं? वह भी व्यापक अर्थ में भाषा ही है। हालाँकि उसे सिर्फ़ भाषा कहना उसे सीमित करना ही हो।

जिनन- उन क्षेत्रों में शरीर हमेशा ही लय में रहता है। वे जो भी करते हैं, लयात्मक होता है। इसी रोज़मर्रा की लय का ही अल्प विस्तार ही नृत्य है। वरना वे एक विशेष अर्थ में हमेशा ही नृत्यरत रहते हैं। कल मैंने इस गाँव में जहाँ मैं रहता हूँ, यह देखा कि जो लड़का यहाँ की एक दुकान में कुछ सामग्री काट कर गोल लपेटकर ग्राहकों को दे रहा था, शायद क्योंकि वह शिक्षित नहीं था, उसमें भी लयात्मकता बनी हुई थी। मैंने यह बात उन शहरी मज़दूरों में भी देखी है जो गाँवों से गये हैं। मेरे पास एक विडियो है जिसमें एक व्यक्ति किसी धातु का तार सीधा कर रहा है। वह वो काम जिस तरह कर रहा है, उसमें विशिष्ट लय है।

मैं भाषा के विषय में वह विशेष बात आपको बताना चाहता हूँ जो मैं अनुभव करता रहा हूँ कि लिखित भाषा ने दरअसल किया क्या है? उसने भाषा को आँखों का विषय बना दिया है।

उदयन- सुनने के विषय के स्थान पर देखने का विषय।

जिनन- हाँ। इसमें भाषा से हमारे सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन आया है। इसने भाषा से हमारे सम्बन्धों को सिरे से बदल दिया है। दूसरी बात यह है (जिसका ज़िक्र इवान इलिच ने किया है) कि पहले लोग ज़ोर से पढ़ते थे। बोलने का अर्थ ही था ज़ोर से बोलना क्योंकि सामुदायिकता का बोध हमारी 'जीन्स' में था। इलिच एक धर्म संकट की बात करते हैं। वे कहते हैं कि पुराने किसी समय में किसी मठ में ईसाई सन्त एम्ब्रोज़ रहते थे। वे जागे हुए थे, बाकी सब सो रहे थे। वे सो नहीं पा रहे थे। उन्होंने मोमबत्ती जलाई और बाईबल खोल ली। वे इस धर्मसंकट में थे कि वे पढ़े या न पढ़े। वे कभी क़िताब को देखते, कभी सोते लोगों को। अचानक उन्होंने पाया कि वे मन में भी पढ़ सकते हैं। आज भी अगर पास के गाँवों की चाय की दुकानों आदि में जायें, आप पाएँगे कि वहाँ लोग ज़ोर-ज़ोर से पढ़कर सुना रहे हैं। वे मन में नहीं पढ़ रहे। मन में पढ़ने की शुरूआत 'दूसरे' के नकार का एक चरण है। इसलिए मन में पढ़ना सामाजिक अलगाव का शुरूआती चरण है कि आपको 'दूसरे' की आवश्यकता ही नहीं है। मोबाईल टेलिफोन इस अलगाव को और भी बड़े स्तर पर कर रहा है। आज किसी को भी किसी और की ज़रूरत नहीं है।

उदयन- मुझे याद है कि मेरी माँ ज़ोर से पढ़ती थीं। वे पढ़कर अपनी दोस्त को सुनाती थीं।

जिनन- समुदाय की विचार हमेशा ही हमारा आत्मीय हिस्सा रहा है। मन में पढ़ने से एक और वर्जना अस्तित्व में आयी।

उदयन- आपके ग्रामीण-आदिवासी जीवन के पर्यवेक्षणों से यह निकल रहा है, जो आप कहते भी हैं कि सीखना अपने आप होता है। जैसे ही सीखने का संस्थानीकरण होता है और शिक्षित करने का प्रयास किया जाता है, सीखने की नैसर्गिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप होने लगता है।

जिनन- आप पारम्परिक आयुर्वेद सीखने को लें। यहाँ-वहाँ कई श्रेष्ठ वैद्य रहा करते थे। वहाँ सीखने का परिवेश हुआ करता था। सीखने के लिए सीखने का परिवेश होना ज़रूरी है, वहाँ ऐसे दूसरे लोग भी होने चाहिए जो खुद भी सीख रहे हों। जुलाहा अपना बुनने का काम करता है और वहाँ उपस्थित बच्चे को सीखने का परिवेश मिल जाता है और वह बुनना सीखता है। इसी तरह जब आयुर्वेद का वैद्य अपनी विद्या का प्रयोग करता है, वह यहाँ वहाँ धूम कर मरीज़ देखता है, उसके घर भी मरीज़ आते हैं। बच्चा यह सब देखता रहता है और अपने आप समझता रहता है। वैद्यकि सीखने वाला शिष्य ऐसे व्यक्ति से जुड़ा रहता है जो खुद निरन्तर सीखने की प्रक्रिया में रहता है। लगभग हर वैद्य परिवार की हर पीढ़ी में एकाध उस्ताद तो होता ही था। उनसे बच्चा इस तरह सीखता रहता था। कपड़ा बुनाई में भी हम कई नाम सुनते हैं, बनारसी कपड़ा, भागलपुर, कांजीवरम आदि। आधुनिक परिवेश में लगभग बेहतर चीज़ें केवल किन्हीं बहुत थोड़ी-सी जगहों, महानगरों में होती हैं पर पारम्परिक परिवेश में लगभग हर गाँव में कोई न कोई विशिष्ट कारीगरी या अन्य काम होता ही था। इस हर गाँव में सीखने का अद्‌भुत परिवेश हुआ करता था। उन लोगों में अपने कौशलों के प्रति कहीं अधिक निष्ठा थी। इसीलिए वहाँ सीखना का परिवेश था।

उदयन- और तब प्रतिभा की पहचान और सम्मान भी उन दिनों पर्याप्त था।

जिनन- बिल्कुल था। अगर आप श्रेष्ठ शास्त्रीय संगीतकारों को देखें। वे प्रदर्शन के फेर में नहीं रहते थे। वे कला की प्रक्रिया में रहते थे। उस्ताद गायक अपनी रचना को अन्तिम उत्पाद की तरह प्रस्तुत नहीं करते थे। इसलिए उनकी पहचान का स्वरूप भी अलग होता था। केरल राज्य सरकार ने छटवें दशक में एक महान संगीतकार को एक राजकीय पुरस्कार देना तय किया। शासन के कुछ लोगों ने जाकर उन्हें बताया कि उन्हें राज्य का सम्मान मिला है। उन्होंने पूछा, 'किस कारण से?' उन्हें अपने काम के लिए सम्मान की धारणा समझ में ही नहीं आयी। अन्ततः उन लोग उन्हें भरोसा दिला दिया कि उन्हें त्रिवेन्द्रम आकर सम्मान ग्रहण करना है। वे गये लेकिन इस सम्मान के बदले कुछ पुरस्कार सरकार के लिए भी लेते गये। एक तरह का रिटर्न अवार्ड!

उदयन- इसी तरह एक बार केरल के ही महान कुडियट्टम नर्तक चच्चू चाक्यार को राज्य सम्मान दिया गया था। वे कावालम नारायण पणिक्कर (जो स्वयं श्रेष्ठ रंगनिर्देशक और लेखक थे और उन दिनों केरल संगीत नाटक अकादमी के सचिव थे) के साथ सम्मान समारोह में गये। उन्होंने कहा, 'पणिक्कर, यह सब पाँच बजे से पहले ख़त्म कर लो क्योंकि मुझे सन्ध्या पूजन के समय से पहले वापस घर पहुँचना है। मैं उस समय तक नहीं रुक पाऊँगा।' चच्चू को राज्य सम्मान से ज़्यादा रुचि सन्ध्या पूजन में थी। वे बोले, 'पणिक्कर मन्त्री बाद में बोलते रहेंगे, मुझे सम्मान दिलवाओ और मैं जाऊँ।' ये वे लोग थे जो अपनी विद्याओं या कलाओं की सम्भावनाओं को टटोलने की प्रक्रिया में निरन्तर रहते थे।

जिनन- उनके नृत्य या संगीत का प्रयोग प्रदर्शन नहीं होता था। वह बहुत गहरी स्तर पर आन्तरिक प्रक्रिया होती थी। उन्हें देखने वाले उन गहन प्रक्रियाओं में भाग ले रहे होते थे। आधुनिकता के हमारे चेतना पर हावी होते ही यह सारी प्रवृत्ति बदल गयी है।

उदयन- यह ख़राब सवाल है, मैं जानता हूँ पर फिर भी पूछता हूँ : अब क्या सम्भावना है? लेकिन यह ऐसा सवाल है जिसका आप जैसे व्यक्ति को सामना करना ही पड़ेगा। मैं समाधान सुझाने की बात नहीं कर रहा पर उस ओर बढ़ने की दिशा की बात पूछ रहा हूँ।

जिनन- मैं चौबीस घण्टे का एक्टिविस्ट हूँ। मैं संसार बदलना चाहता हूँ लेकिन मैं यह कहता रहता हूँ कि इस बदलाव में शायद हज़ार साल लगेंगे। हमें उसका बीज आज डालना होगा। उसके बाद भी यह पक्का नहीं कि बदलाव होगा भी। अगर आप ग़लत शोध को मिलते सहयोग को देखें तो आपको आश्चर्य होगा कि करोड़ों डालर फ़िज़ूल के शोधों पर खर्च हो रहे हें। मैं इतने समय से थोड़े से सहयोग की कोशिश कर रहा हूँ, वह होता नहीं। मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, उसे साबित करने के विडियो दस्तावेज़ मेरे पास हैं, आपको मेरा लिखा पढ़ने की आवश्यकता तक नहीं, वे विडियो पर्याप्त है, पर उन्हें संयोजित करने और शोधकर्मियों

का समूह बनाने की कोशिश कर रहा हूँ, वह होता ही नहीं। अब यह आवश्यक है कि लोग साथ आयें, आपस में सहयोग करें और जिस क्षेत्र में उनकी रुचि हो, काम करें और 'क्या करना चाहिए' पर पुनर्विचार करें।

उदयन- आप इस दिशा में क्या कर रहे हैं?

जिनन- मैं कई कार्यशालाएँ कर रहा हूँ। मैं कई डिज़ाइन संस्थानों में जा रहा हूँ। दो चीज़ें बुनियादी हैं : पहली यह कि आप स्कूलीकरण को कैसे रोकें? दूसरी यह कि पहले से स्कूलीकृत बच्चों का विस्कूलीकरण कैसे करें? मैं इन चीज़ों को लेकर प्रयोग कर रहा हूँ। मुझे खुद भी विस्कूलीकृत होना है। जब मैं डिज़ाइन या स्थापत्य के स्कूलों में जाता हूँ, मैं उनका विस्कूलीकरण करने का प्रयास करता हूँ। स्कूलीकृत लोगों के साथ के सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे सोचते हैं कि वे शिक्षित हैं। उन्हें उस तथाकथित शिक्षा से बाहर लाना मुश्किल काम है। शिक्षा व्यवस्था ने सबसे बड़ा नुकसान शिक्षितों को अहंकारी बनाकर किया है। उन्हें अपने पर अनर्गल भरोसा हो जाता है। ये सब सच्चे सीखने वाले के लिए घातक हैं। अपने पर ऐसा भरोसा सीखने के विरोध में है। सीखने के लिए आप में एक तरह लचीलापन होना चाहिए। साहस होना चाहिए कि आप कह सकें कि यह मुझे नहीं आता। आपमें किसी भी चीज़ के विषय में अनिश्चय होना चाहिए। सारी स्कूल व्यवस्था निश्चयात्मकता का व्यवहार कर रही है। मैंने आपसे कहा ही है कि तर्कणा (रीज़निंग) समझ को शार्टसर्किट करती है। मैं यह भी कहता हूँ कि तर्कणा संज्ञान का नहीं, व्यवस्थापन का औज़ार है। अगर कोई आपको सूचनाएँ दे रहा है तो आप उसे इस तरह व्यवस्थित करते हैं कि आप उसे तुरन्त याद कर सकें। वरना आपको उस सूचना के अलग-अलग हिस्से याद करने में कठिनाई होगी। यहाँ तर्कणा (रीज़निंग) की भूमिका होती है। वह दरअसल भण्डारण का औज़ार है। तर्कणा शक्ति का फिजूल में बढ़ा-चढ़ा मूल्य है। मैं आपको एक अजीब बात बताता हूँ कि जब साक्षर आदमी की आँखें जब कुछ देखती है, वे सोच रहे होते हैं इसलिए आँखें कुछ नहीं देखतीं। आप शारीरिक रूप से उपस्थित और मानसिक रूप से ग़ायब रहते हैं। आधुनिक आदमी की परिधि की दृष्टि (पेरिफ़ेरल विज़न) पूरी तरह जा चुकी है। वे क़िताब या स्क्रीन के चौखटे में देखने का ही अभ्यासी हो जाता है। उसकी आँखें पूरे समय एक तयशुदा फ़ोकल लेंक्थ पर होती हैं और उसकी परिधि भी तयशुदा होती है। साधारण देखना 'अनफ़ोकस्ड' होता है। जब ग़ैर-साक्षर व्यक्ति देखता है उसकी दृष्टि बहुत लचीली-ढीली होती है। जब भी कहीं कुछ होता है, उनका ध्यान वहाँ बँध जाता है और फिर वह वहाँ से छूट जाता है। पहले 'फ़ोकस' होता है फिर 'डिफ़ोकस' हो जाता है। मनुष्य की सामान्य स्थिति 'डिफ़ोकस्ड' ध्यान की है। और हमारी सभी इन्द्रियाँ ध्यान की स्थिति में आने को तैयार रहती हैं। जैसे ही कुछ घटता है, ध्यान बँधता है और फिर हट जाता है। यह नैसर्गिक व्यवस्था है लेकिन यह हमारी स्कूलों में कभी क्रियाशील नहीं हो पाता। मैं ऐसे कई प्रयोग तैयार किये हैं जिससे आपकी आँखें देखना शुरू कर सकें। मैं अपने छात्रों से कहता हूँ कि वे परिधि पर ध्यान लगाये फिर

कभी कहीं और ध्यान लगवाता हूँ। मैं वे प्रयोग करने की कोशिश कर रहा हूँ जिससे इन्द्रियाँ जाग सकें, जिससे उनमें सौन्दर्यबोध जाग सके। वे समझ कैसे उत्पन्न करें, ज्ञान कैसे जन्म ले। दो स्तरों पर समझना आवश्यक है : बच्चे की प्रकृति की सच्ची समझ पैदा करना और उसके योग्य परिवेश उसे देना। दूसरा यह समझना कि स्कूलीकरण ने उसे कितना नुक़्सान पहुँचाया है, उसकी संज्ञान-आदतों को व्यवहारिक आदतों को और शारीरिक आदतों को। इन सभी आदतों को समझकर उन पर काम करने की आवश्यकता है। मैं विस्कूलीकरण की अकादमी खोलना चाहता हूँ जिसमें तीस-चालीस छात्र हों। मैं सिर्फ़ प्रक्रिया शुरू करना चाहता हूँ। वहाँ कोई शिक्षा न हो। मैं लोगों को भ्रमित करता हूँ कि वे स्वयं अन्वेषण करने में लगे।

आप अगर मोण्टेसरी शिक्षा को देखें, वहाँ के कोई भी शिक्षक अपनी इन्द्रियों का उपयोग नहीं करते हैं। वे सिर्फ़ इतना जानते हैं कि मोण्टेसरी ने बच्चों को इन्द्रियों का उपयोग करना सिखाने को कहा था। यह सुखद है। मैं इन्द्रियों पर काम किये एक प्रसिद्ध व्यक्ति की क़िताब पढ़ रहा था। मुझे लगा, वह अपने अनुभव की बात करेंगी। इतना भयानक था, यह जानना कि वे यह बता रही थीं कि जेन ऑस्टिन ने अपनी क़िताब में इन्द्रियों के विषय में क्या कहा है आदि। वे इन्द्रियों पर नहीं लेखकों की बातें बता रही थीं। पश्चिम के लोगों की मुश्किल यही है कि केवल दूसरों की क़िताबों को पढ़कर उन पर बात करना जानते हैं। उनसे बात करना इसीलिए मुश्किल है।

उदयन- क्योंकि उन्होंने अपने अनुभवों का तिरस्कार कर रखा है।

जिनन- पश्चिम में शोध की निरर्थकता का एक उदाहरण मैं आपको बताता हूँ। उनकी एक विज्ञान है, न्यूरोएस्थेटिक्स (तन्त्र-सम्बन्धी सौन्दर्यशास्त्र)। वे वहाँ कुछ कलाकार को लेकर उन्हें किसी चित्र को देखने की कहते हैं और पूछते हैं कि वे उस चित्र पर क्या सोचते हैं। इस दौरान वे उनके मस्तिष्क को देखकर मूर्खतापूर्ण कहानियाँ गढ़ते हैं। मैंने इस पर एक लेख लिखा था। उसमें मिसाल थी कि अगर आपको भोजन की जैविकी पता करना है, आप क्या करेंगे? आप पिज़्ज़ा की जैविकी समझेंगे या चपाती की? या आप कहीं अधिक शारीरिक अनुभव के स्तर पर उसे जानने का प्रयास करेंगे। मिसाल के लिए भूख को। वे क्या कर रहे हैं कि वे किसी कलाकार का चित्र एक कलाकार को दिखाते हैं, और उसके दिमाग़ का परीक्षण करते हैं। वे कला नामक उत्पाद को देखकर उसकी जैविकी पता कर रहे हैं।

उदयन- दरअसल वे वैज्ञानिक एक दिये हुए उत्पाद (कला) की प्रतिक्रिया रिकार्ड कर रहे हैं।

जिनन- अगर हमें भोजन के प्रति हमारी प्रतिक्रिया में देखना है तो हमें यह देख पाएँगे कि पिज़्ज़ा सामने रखने पर भूखे व्यक्ति की एक प्रतिक्रिया होगी, पेट-भरे व्यक्ति की दूसरी।

उदयन- साथ ही यह प्रतिक्रिया आपके पिज़्ज़ा के पुराने अनुभव से भी परिवर्तित होगी। और अगर पिज़्ज़ा से कोई और संयोग जुड़ा है तो प्रतिक्रिया और भी अलग होगी। मिसाल के तौर पर अगर आपने

अपना पिछला पिज़्ज़ा अपनी उस बहन के साथ खाया था जो अब दुनिया में नहीं है, तब आपकी उसके प्रति प्रतिक्रिया बिल्कुल अलग होगी।

जिनन- हम आज पश्चिम में हो रहे अनेक फ़िजूल शोधों को खोज कर बाहर ला सकते हैं। और वे इसका उत्सव मना रहे हैं। पहली बात यह है कि अधिकतर लोगों को उसे चुनौती देना आता नहीं है। वे लोग भी जो विउपनिवेशीकरण पर काम करते हैं, उन्हें भी यह नहीं आता।

मैं पश्चिम के कई मूल निवासी शिक्षाशास्त्रियों से सम्पर्क करने की चेष्टा कर रहा हूँ, उनमें से अनेक उपनिवेशीकृत हो चुके हैं। इसलिए वे पारम्परिक शिक्षा की बात इस तरह करते हैं जिससे वह मुख्य धारा की शिक्षा व्यवस्था का हिस्सा बन सके।

उदयन- यह कैसे सम्भव है?

जिनन- सच्ची पारम्परिक शिक्षा सम्पूर्णता लिये होती है। इस सम्पूर्णता लिये शिक्षा दृष्टि का आत्मविभाजित शिक्षा व्यवस्था में कैसे समावेश हो सकता है। ऐसा करने पर वह आत्म-विभाजित आधुनिक शिक्षा का हिस्सा या टुकड़ा बन जायेगी।

उदयन- आप रवीन्द्र शर्मा जैसे चिन्तकों के बारे में क्या सोचते हैं। आप उनके काम के बारे में क्या सोचते हैं?

जिनन- वे अद्‌भुत व्यक्ति थे। रवीन्द्र शर्मा उस ज्ञान परम्परा में रह रहे थे जिसकी बातें मैं कर रहा हूँ। वे हर समय ध्यान से देखते-सुनते रहते थे। वे पढ़कर बातें नहीं करते थे। उनकी संज्ञान-प्रक्रिया में मेरी दिलचस्पी थी, न कि उनके ज्ञान के कथ्य में। कहानी ठीक है पर वे उन कहानियों को कैसे कहते थे, यह अधिक महत्वपूर्ण था। वे वह सब कैसे देख पाते थे, जो दूसरे नहीं देख पाते थे। रवीन्द्र शर्मा का मूल्य उस जगह था। आप उनकी कही कहानियों को अन्यत्र भी पढ़ सकते थे। मैं सोचता हूँ कि रवीन्द्र शर्मा का योगदान इस बात में है कि उन्होंने बताया कि जानने के दूसरे रास्ते भी हैं। उनसे जुड़े किसी भी व्यक्ति ने इसको खोजा नहीं है।

सैयद हैदर रज़ा

एक अप्रतिम कलाकार की यात्रा*

यशोधरा डालमिया

अंग्रेज़ी से अनुवाद - मदन सोनी

१

सन्तृप्ति का दौर

रज़ा को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता भले ही मिलने लगी थी, लेकिन उनकी ज़िन्दगी के सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू की ओर अभी ध्यान नहीं दिया गया था। फ़ातिमा के साथ उनका विवाह निराशाजनक रहा था। पहली बात तो यह थी कि उनसे मिलना मुश्किल था क्योंकि वे विभाजन के बाद पाकिस्तान चली गयी थीं और इतनी लम्बी दूरी का रिश्ता बनाये रखना मुमकिन नहीं था। लेकिन इससे भी बड़ी मुश्किल यह थी कि जब वे उनके साथ हिन्दुस्तान में रह रहे थे तब भी उनके बीच असामंजस्य की वजह से इस रिश्ते में कड़ुआहट पैदा हो चुकी थी। कला के प्रति रज़ा के उत्कट लगाव को फ़ातिमा कभी नहीं समझ सकीं और न इस बात को कि रज़ा अपने चित्रों के साथ घण्टों वक़्त क्यों बिताते थे। शायद उन्हें यह अच्छा लगता कि वे कोई नियमित नौकरी करते और स्थायी वेतन लेकर घर आते। जो भी हो, कला उनकी दिलचस्पी का क्षेत्र नहीं था और वे उनके साथ उस स्तर पर रिश्ता नहीं बना सकती थीं।

रज़ा के मुताबिक़, 'चित्रकार के रूप में मैं अपने काम में पूरी उत्कटता के साथ लगा था और उसके लिए मेरी महत्त्वाकांक्षाओं को समझ पाना मुश्किल था। वह अपने परिवार के साथ बहुत गहरा लगाव रखती थीं जो विभाजन के बाद पाकिस्तान चला गया था और वह उनके पास वहाँ चली गयीं। मेरी जड़ें हिन्दुस्तान में गहरे फैली हुई थीं जहाँ मेरी परवाह करने वाले, मेरी ओर ध्यान देने वाले और मुझे स्नेह करने वाले अध्यापक, दोस्त और सहकर्मी थे।'[१]

* अभी हाल, २०२१ में यशोधरा डालमिया की नयी क़िताब, 'Sayed Haider Raza, The Journey of an Iconic Artist' प्रकाशित हुई है। यहाँ हम उसके दो अध्याय प्रकाशित कर रहे हैं।

इस अवधि में रज़ा के भाई अक्सर रज़ा से अनुरोध करते रहते थे कि वे फ़ातिमा को पेरिस बुला लें। वे अपने ख़तों में उन्हें लिखा करते थे कि फ़ातिमा बुरी स्थिति में हैं और उन्हें उनके प्रति दया दिखानी चाहिए। उनकी मौसी, फ़ातिमा की माँ तक ने उन्हें आगाह करते हुए लिखा था, 'हैदर मियाँ, सलाम। देखो, होशियार रहना। मैं तुम्हारे कुनबे में सबसे बड़ी हूँ और मेरी इज़्ज़त करना ज़रूरी है। तुम्हें मेरी बददुआओं की नहीं, दुआओं की ज़रूरत है। मुझे लगता है कि तुम जो झूठी बातें मुझे लिखते रहे हो वे इसलिए लिखते

रहे हो क्योंकि तुम ग़लत लोगों के बहकावे में आ गये हो...। अब मैं यह तुम्हें इसलिए लिख रही हूँ कि तुम आकर अपनी बीवी को ले जाओ। तुमने उससे कभी न ख़त्म होने वाले प्यार का वादा किया था और उसके साथ शादी की थी और कहा था अगर मैं, तुम्हारी मौसी, तुम्हें उसके साथ शादी नहीं करने दूँगी, तो तुम अपनी जान दे दोगे...। उन दिनों को याद करो जब तुम बगल में क़िताबें दबाकर स्कूल जाते थे। तुम उसके साथ अपने इश्क़ को लेकर ढेरों बातें बनाया करते थे। तुम या तो इश्क़ में दीवाने थे या दीवानगी का दिखावा करते थे...। मैं तुम्हें आगाह कर रही हूँ कि होशियार रहना नहीं तो मैं वहाँ आकर तुम्हें ऐसा सबक़ सिखाऊँगी कि तुम ज़िन्दगी भर याद रखोगे। मैं अब तक ख़ामोश रही हूँ लेकिन अब मेरा पारा चढ़ चुका है...। मेरी बेटी के लिए अच्छे ख़ानदानों से शादी की पेशकशें की गयी हैं। वे उससे मिलते हैं और उसकी खूबसूरती और शराफ़त को पसन्द कर अपने खानदान में उसकी शादी करना चाहते हैं। लेकिन तुम्हारी बीवी राज़ी नहीं होती...'[२]

उनकी मौसी का इशारा था कि रज़ा, बहुत कुछ अपने पिता की ही तरह, ग़लत किस्म के लोगों की संगत में फँसे हुए थे, 'उस शैतान से सतर्क रहना जो यूरोप पहुँचकर तुम्हें मेरी बेटी की ज़िन्दगी तबाह करने के लिए भड़का रहा है...। तुम्हारे पिता ने भी अपने भाई की ग़लत सलाह मानी थी और दुबारा शादी करके, मेरी बहन की ज़िन्दगी में बदअमनी पैदा कर दी थी।'[३] उन्होंने तुरुप का पत्ता चलते हुए अपना ख़त समाप्त किया था, 'अगर तुम मेरे ख़त का तमीज़-से जवाब नहीं देते, तो मैं अपनी बेटी की नुमाइन्दगी करते हुए फ़्रांस आऊँगी और कोई अच्छा वकील करके राष्ट्रपति द गॉल के सामने गुहार लगाऊँगी...।[४]

रज़ा, इन अनिष्टसूचक पत्रों के बावजूद, फ़ातिमा को तलाक़ देने के अपने निश्चय पर अडिग बने रहे क्योंकि उनके इस वैवाहिक रिश्ते से एक अनिवार्य चीज़, हमख़यालगी, सिरे से नदारद थी। समय के गुज़रने के साथ जैसे-जैसे जानीन के साथ उनका रिश्ता मज़बूत होता गया, वैसे-वैसे रज़ा को लगने लगा कि उनका मौजूदा वैवाहिक जीवन उन्हें सुखी नहीं बना पाएगा। उन्होंने अपने छोटे भाई हसन इमाम को लिखा, 'मैं इस शादी को ख़त्म करना चाहता हूँ और मैं इसे करके रहूँगा। हैदराबाद पाकिस्तान, से आने वाला हर ख़त मुझे यकीन दिलाता है कि मैं सही हूँ और इनमें फ़ातिमा का वह ख़त भी शामिल है जिसका जवाब देने की मेरी कोई इच्छा नहीं है...। मैंने कभी यह चाहा था कि मेरी बीवी मेरी ज़िन्दगी में साझा करेगी, काम करने की मेरी एक योजना थी, एक ऐसी कार्य-योजना जो हर आदमी का हक़ है। उसका कर्तव्य था कि वह आती और मेरे साथ उसमें हाथ बँटाती। मैंने उसके आने के ख़र्च के एक हिस्से का इन्तज़ाम भी किया था और उसके साथ अपने मतभेदों के बावजूद मैंने उससे आने को, और मेरे संघर्ष में शामिल होने को कहा था। जवाब में मुझे सिर्फ़ बेवकूफ़ी से भरे ख़त, बकवास, गाली-गलौज और अपमान और धमकियाँ ही मिले। मैंने फैसला कर लिया है। अब मुझे कोई परवाह नहीं है। मैंने इस शादी को ख़त्म करने का निश्चय कर लिया है और अगर ज़रूरी हुआ तो मैं लोगों के सामने और खुदा के सामने अपने इस रवैये का बचाव

करने को भी तैयार हूँ...। मेरी बीवी ने लगातार मेरे काम में बाधा डाली है। अब दुनिया की कोई भी ताक़त उसे मेरे जीवन में वापस नहीं ला सकती...'[५]

लेकिन, जानीन के साथ अपने रिश्ते को जारी रखने और उनके साथ विवाह करने के लिए, उन्हें तलाक़ से निपटना ज़रूरी था जो आसान नहीं था। जैसाकि उन्होंने अपने प्रिय मित्र राजेश रावत को लिखा था,

> मैं जानीन के माता-पिता से मिला था। उन्हें मेरी स्थिति की जानकारी है। उनका रुख़ उम्मीद के विपरीत बहुत सहानुभूतिशील रहा है। उन्हें कोई बुनियादी आपत्ति नहीं है, लेकिन मुझे तलाक़ की कोशिश करनी होगी। उनको इस समस्या के सारे पहलुओं की जानकारी नहीं है न ही उन्हें यह मालूम है कि वह घर आती रही है। वे मुझे आठवीं बार डिनर पर बुला चुके हैं, कई बार अपने घर पर और कई बार वे उन प्रदर्शनियों में आये हैं जिनमें मैं शामिल रहा हूँ। वे खुश लगते हैं। लेकिन मुझे जल्दी करनी होगी। फ़ातिमा और उसके घर के लोग अच्छी तरह से जान चुके हैं कि मेरे नज़रिया बदलने वाले नहीं हैं। मैं तो दो साल के भीतर मेह्र देने तक की पेशकश कर चुका हूँ। बहरहाल, मैं कुछ समय और इन्तज़ार करूँगा। जून में हमें अलग हुए सात साल हो जाएँगे। उन्होंने मेरे आख़िरी ख़त का जवाब अभी तक नहीं दिया है, हालाँकि हुसैन फ़ातिमा की माँ, का सबसे ताज़ा अल्टीमेटम आठ मार्च का था।[६]

विवाह

१९५९ तक रज़ा फ़ातिमा को तलाक़ देने और जानीन से शादी करने की तैयारी कर चुके थे। जैसाकि उन्होंने अपने क़रीबी दोस्त राजेश रावत को लिखा था, 'मैं एक स्टुडियो की बेन्तिहा तलाश में हूँ। जानीन एक फ़रिश्ता और कॉमरेड रही है। मैंने भी उसपर अच्छा प्रभाव डाला है। उसे बू आख़ (फाइन आर्ट्स) से तीन मैडल मिल चुके हैं और दो यात्रा छात्रवृत्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, और सालभर के भीतर वह पन्द्रह प्रतियोगिताएँ पास कर चुकी है। फ़स्ग़ा का डिप्लोमा हासिल करने के लिए उसे अब सिर्फ़ तीन और परीक्षाएँ पास करना बाक़ी है। मैंने फ़ातिमा को तलाक़ के लिए मनाने को बहुत ज़ोर देकर ख़त लिखे हैं। महीना भर हो चुका है लेकिन मुझे कोई जवाब नहीं मिला। यह बड़ी समस्या है, लेकिन जल्दबाज़ी करने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि मैं समझता हूँ कुछ तो क़ीमत चुकानी ही पड़ेगी और इसके लिए मुझे कुछ और समय की ज़रूरत होगी।'[७]

रज़ा और जानीन उत्तरोत्तर क़रीब आते जा रहे थे। उन्होंने राजेश को लिखा था, 'जानीन बहुत अच्छी है। उसने भी बहुत-सा अच्छा काम किया है। मैं उसके परिवार से नियमित रूप से मिलता हूँ। उन्होंने मुझे मंजूर कर लिया है। मेरी कोशिश इस स्थिति को जारी रखने की है और उम्मीद है कि और अधिक ठोस क़दम उठाने में अब ज़्यादा समय नहीं लगेगा।'[८] छात्र के रूप में रज़ा से मिलते ही उनकी जिस चीज़

पर जानीन को प्यार आ गया था, वह उन्हीं के शब्दों में यह थी कि 'जहाँ वे कार्डबोर्ड पर चित्रण कर सकती थीं, वहीं वे विंसर एण्ड न्यूटन के सबसे अच्छे रंगों को चुनकर कैनवस पर काम कर रहे थे- लेकिन उनके मोज़ों में छेद-ही-छेद थे! यह वह आदमी था जिसे अपने पहनावे से ज़्यादा अपने काम की परवाह थी।'[६]

जनवरी १६५६ में रज़ा मई तक ठहरने के इरादे से बम्बई आये। वे यहाँ नेपियन सी रोड पर रुडोल्फ़ वॉन लायडन के साथ उनके अपार्टमेण्ट में ठहरे और उन्होंने विज्ञापन-जगत के प्रमुख तथा नगर के एक प्रभावशाली व्यक्ति अयाज़ पीरभॉय से तलाक़ के सिलसिले में मदद माँगी। अयाज़ राज़ी हो गये, और अकबर पदमसी से अनुरोध किया गया कि वे गवाह के तौर पर यह कहें कि फ़ातिमा इसलिए उपस्थित नहीं हो सकी हैं क्योंकि उनका मासिक धर्म चल रहा है। अकबर के मुताबिक़, वे गवाही देने को तैयार हो गये लेकिन उन्होंने वह बयान देने से इंकार कर दिया, 'उन्होंने (अयाज़) कहा था, 'आप इतना भर कह दीजिए कि उसके पीरियड चल रहे हैं या इसी तरह की कोई मूर्खतापूर्ण बात।' मैंने कहा, 'रज़ा की ख़ातिर भी नहीं।' जब वे चले गये, तो उनकी, पीरभॉय की, पत्नी ने कहा, 'इस बैठक में एक ही भला आदमी था और वह आप थे।'[१०] अन्त में, २८ फ़रवरी को शाम ६ बजे तलाक़ सम्पन्न हुआ जिसमें मौलाना सैयद अब्दुल हमीद और मौलाना नाज़िर हुसैन गवाह के रूप में मौजूद थे। तलाक़ के दस्तावेजों में कहा गया था कि इमामिया इस्ना अशरी सम्प्रदाय के उसूलों के मुताबिक़ सैयद हैदर रज़ा और मुख़्तार फ़ातिमा के बीच तलाक़ सम्पन्न हुआ। ६,००० पाकिस्तानी रुपये मेह्र के रूप में और ४५० रुपये २८ फरवरी से १० जून १६५६ के बीच के समय की इद्दत (मुसलमान औरत द्वारा तलाक़ और पुनर्विवाह के बीच बितायी गयी अवधि के गुज़ारे की राशि) के रूप में न्यूयार्क की वित्तीय संस्थान की मार्फ़त भेज दिये गये। इसी के साथ रज़ा का उनकी पिछली पत्नी के साथ तलाक़ हो गया और इसके बाद फ़ातिमा का क्या हुआ, इसकी कोई ख़ास जानकारी नहीं मिलती।

रज़ा और जानीन का विवाह ३ सितम्बर १६५६ को पेरिस में क़ानूनी ढंग से सम्पन्न हुआ। फ़िल्म-निर्माता और कलाकार जहाँगीर (ज़्याँ) भाउनागेरी अपनी नयी मर्सडीज कार में इस नवविवाहित जोड़े को विवाह-स्थल से ले गये। हालाँकि रज़ा गिरजाघर में ईसाई रीति से विवाह करना चाहते थे, लेकिन चूँकि उनका बपतिस्मा नहीं हुआ था, यह मुमकिन नहीं था। वे हिन्दू और इस्लामी फ़लसफ़ों से तो भलीभाँति परिचित थे ही, उन्होंने पेरिस में रहते हुए ईसाई चिन्तन को भी आत्मसात कर लिया था और उनके ऐसे कई कैथोलिक दोस्त थे जिन्हें इस मज़हब के नियमों और विश्वासों की जानकारी थी। विशेष रूप से ज़्याँ द्युशेन के साथ उनका क़रीबी रिश्ता था, जो कैथोलिक पत्रिका कम्युनियो के सम्पादक थे। रज़ा ने कहा था, 'मैंने ईसाई चिन्तन और मज़हब के बारे में पढ़ा जिसने मुझे गहरे प्रभावित किया। मैंने पुस्तकें पढ़ीं, गिरजाघर गया, मास में शामिल हुआ, और मैंने उस ईसाई आस्था की विशालता का अध्ययन करने की कोशिश की जिसमें उदारता, उपकार, करुणा, क्षमा और ऐसे ही अन्य मूल्यों का सबसे ज़्यादा महत्त्व है।

हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाइयत का अध्ययन करते हुए मैंने पाया कि ये महान मज़हब अपनी उन बुनियादी अवधारणाओं में एक-दूसरे के कितने क़रीब हैं जिन्हें दुर्भाग्य से लोग ग़लत समझे बैठे हैं, और मज़हब, जिसे जोड़ने वाली शक्ति होना चाहिए, विवाद और झगड़े का विषय बन जाता है।'[११]

भारतीय-फ़्रांसीसी युगल

ऐसा माना जाता है कि जानीन के माता-पिता, जो समाज के ऊँचे तबक़े से सम्बन्ध रखते थे, इस बात से बहुत ख़ुश नहीं थे कि उनकी एकमात्र सन्तान ने विवाह के लिए न सिर्फ़ एक कलाकार को बल्कि एक हिन्दुस्तानी को चुना था। लेकिन वे इतने अक़्लमन्द थे कि उन्होंने इस शादी का विरोध न करना ही ठीक समझा। इस कलाकार-युगल के एक क़रीबी दोस्त ज़्याँ द्युशेन के मुताबिक़, 'मैं उस समय वहाँ नहीं था। पीछे मुड़कर देखने पर मैं कह सकता हूँ कि उन्हें निश्चय ही झटका लगा होगा और वे दुखी और निराश हुए होंगे- वहीं, इसी के साथ-साथ, फ़्रांसीसी बूर्ज़्वा होने के नाते उनमें इतनी उदारता तो थी ही कि वे यह समझ सकते कि फ़्रांसीसी शिक्षा ने उन्हें यही सिखाया है- जब आप मोलियर के नाटक पढ़ते हैं, तो आप पाते हैं कि माता-पिता का अपने बच्चों के किसी ग़लत व्यक्ति से विवाह का विरोध व्यर्थ और ख़तरनाक होता है। यह फ़्रांस की प्राचीन परम्परा के उदारतावाद का आधारभूत पक्ष है।'[१२]

रईसा पदमसी के मुताबिक़, उस समय के प्रचलित फ़्रांसीसी नज़रिये से देखें तो, फ़्रांसीसी अभिभावक अपनी बेटी के लिए जिस तरह के दूल्हे की कल्पना करते थे, रज़ा उससे बहुत भिन्न रहे होंगे, 'मैं आपसे अभिभावकों की बात कर रही थी- वे बहुत सहानुभूतिशील थे। क्योंकि उस ज़माने में किसी फ़्रांसीसी पिता को यह स्वीकार करना बहुत मुश्किल था कि उसकी बेटी किसी हिन्दुस्तानी मुसलमान से शादी करती। और मैं समझती हूँ कि रज़ा ने उनके पिता से मिलने और उनका हाथ माँगने का अनुरोध करने से पहले लम्बे समय तक इन्तज़ार किया था।'[१३]

जानीन के पिता रेल-विभाग के एक बड़े अधिकारी थे और रेल की लाइनें तैयार करने की ज़िम्मेदारी सँभालते थे, क्योंकि वे इंजीनियर थे। उन्हें अच्छा वेतन मिलता था और उन्हें यह अच्छा लगा होता कि उनकी बेटी किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह करती जिसका कोई नियमित रोज़गार होता और जो उनके समाज का सदस्य होता। द्युशेन के मुताबिक़, 'उनके पिता का व्यक्तित्व निश्चय ही प्रभावशाली था जिसके सामने जानीन की माँ, फीकी पड़ जाती थीं। वे निश्चय ही ज़्यादा कोमल स्वभाव की थीं ... रज़ा और उनके श्वसुर के बीच विराट खाई थी।'[१४] कला-इतिहासकार और रज़ा-दम्पति के क़रीबी दोस्त मीशेल अम्बेख़ के मुताबिक़, 'जानीन की माँ बहुत सुरुचि-सम्पन्न थीं। पेरिस में रज़ा के मकान का सारा फ़र्नीचर- १७वीं सदी का फ़र्नीचर- जानीन की माँ के यहाँ से आया था।'[१५] मीशेल का यह भी कहना था कि जानीन की माँ ने ही बहुत-सी चीज़ों का भुगतान किया था, 'वे बहुत सम्पन्न महिला थीं। उन्होंने अपार्टमेण्ट का, कार का भुगतान किया था, हर चीज़ जानीन की माँ से मिली थी।'[१६]

जहाँ तक जानीन और रज़ा के रिश्ते का सवाल था, द्युशेन का कहना था कि 'वे एक आदर्श दम्पति थे। मैं समझता हूँ कि इसका तो कोई सवाल ही नहीं था कि दोनों अपने-अपने अलग रास्ते पर जाते। उन्हें साथ रहना ज़रूरी था। जानीन ने रज़ा के लिए हिन्दुस्तानी खाना बनाना सीख लिया था। वे उन्हें संक्षेप में र कहकर पुकारती थीं...। उनके काम अलग-अलग थे। वे उनके काम में दख़ल नहीं देती थीं, वे उनके काम में दख़ल नहीं देते थे। मैं नहीं जानता कि आपने जानीन का ज़्यादा काम देखा है या नहीं- लेकिन उनमें बहुत ज़्यादा बदलाव आ गये थे। उनमें खुद को नया बना लेने की क़ाबिलियत थी क्योंकि सब कुछ उस सामग्री पर निर्भर करता था जिसका वे इस्तेमाल किया करती थीं। जानीन ने भौतिक सामग्री के साथ शुरुआत की थी, जबकि रज़ा ने स्पष्ट तौर पर हिन्दू विश्व-दृष्टि के साथ शुरुआत की थी। इस तरह, मैं कहूँगा कि वे विपरीत दिशाओं में काम कर रहे थे।'[१७]

लेकिन, द्युशेन के मुताबिक़, 'वे एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते थे, बिना किसी शर्त के...। जब जानीन की कोई प्रदर्शनी होती थी, तो रज़ा वहाँ होते थे और उनकी प्रदर्शनी से बहुत खुश होते थे, इसी तरह जब रज़ा की प्रदर्शनी होती थी तो वे वहाँ मौजूद होती थीं। वे उनके साथ अमेरिका आयी थीं- वे साथ-साथ गये थे। वे रोज़मर्रा जीवन में वाकई कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते थे- वे एक-दूसरे से बहुत गहरे जुड़े हुए थे, लेकिन वे एक-दूसरे में विलीन हो जाने वाले युगल नहीं थे।'[१८] रज़ा और जानीन भिन्न थे और पृथक थे, और तब भी उनके बीच सामंजस्य था।

द्युशेन ने लिखा था, 'हाँ, वे दोनों बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। जानीन का व्यक्तित्व भी प्रभावशाली था। एक समय था जब मुझे लगता था कि जानीन का काम किसी हद तक रज़ा के काम से प्रभावित था। जब हम उनसे सत्तर के दशक में मिले थे, तो जानीन के कुछ काम पर र का प्रभाव दीखता था, ख़ासतौर से रंगों के मामले में- ढेर सारा काला और लाल और पीला- यह रज़ा की अपनी विशिष्टता है।'[१९] द्युशेन आगे लिखते हैं, 'वे अपनी प्रदर्शनियाँ करती थीं और कलाकार के रूप में उनका अपना कौशल और उद्यम था। और यही उनके माता-पिता की निराशा थी- उनके माँ-बाप को यह अच्छा लगता कि वे कोई ठीक-ठाक नौकरी करतीं और नियमित वेतन जैसा कुछ कमातीं।'[२०] लेकिन, द्युशेन ने जानीन के पिता को एक मुक्त-हृदय और उदार व्यक्ति के रूप में याद किया था, 'वे रज़ा और जानीन और उनके दोस्तों को एक रेस्तराँ में ले जाकर उनकी ख़ातिरदारी करते थे, और मेरा ख़याल है, उन्होंने एकबार एक कार ख़रीदी थी जिसमें वे उन्हें तमाम उपकरणों, कूँचियों और चित्रों समेत पेरिस से गोर्बियो ले गये थे।'[२१]

अलग-अलग तब भी साथ-साथ

ये युवा कलाकार-युगल आपसी तालमेल बिठाकर एक साथ काम करते थे लेकिन इसी के साथ-साथ उनके काम एक-दूसरे से भिन्न होते थे। दोनों अपने-अपने ढंग से अपने अतीत की गहराइयों में जाते थे और स्मृति की तहों में जाने की उनकी प्रक्रिया उनकी कला में प्रकट होती थी। रज़ा के सन्दर्भ में यह उस

प्रकृति और दर्शन के व्यापक समावेशी दृश्य की स्मृति थी जिसके साथ वे बड़े हुए थे। जानीन के सन्दर्भ में, यह उनका अपना सामाजिक वातावरण था, ख़ासतौर से उनका बूर्ज़्वा और उचित पालन-पोषण, जिससे वे ज़्यादातर प्रतिकृत हुआ करती थीं।

जिस एक वजह से जानीन रज़ा के प्रति आकर्षित हुई थीं वह यह थी कि उनसे जिस तरह के व्यक्ति से विवाह करने की अपेक्षा की जाती थी, रज़ा उसके ठीक विपरीत थे। इस चीज़ को वे अपनी कला में भी विभिन्न ढंगों से व्यक्त करती थीं। उनकी कला प्रतीकात्मक नहीं, बल्कि दुनियावी और भौतिक थी। जैसाकि ह्युशेन ने उल्लेख किया है, 'जानीन के लिए रज़ा का आकर्षण था ही इस बात में कि वे बहुत अलग थे। मेरा ख़याल है, मैं इस बात को समझ सकता हूँ- जिस स्त्री से आप प्यार करते हैं वह आपका स्त्री प्रतिरूप नहीं होती बल्कि पूरी तरह भिन्न होती है। हालाँकि उनमें कुछ समानताएँ भी थीं : यौवन का महत्त्व। कहा जाता है कि जानीन का काम उन विधि-निषेधों से स्पेष्ट रूप से प्रभावित था जिन्हें एक बच्ची के रूप में उन्होंने अनुभव किया था, और उनका काम उन विधि-निषेधों से उबरने की कोशिश कर रहा था। उनका पालन-पोषण ख़ास कैथोलिक ढंग से बल्कि मैं कहूँगा कि उनके वर्ग के रिवायती फ़्रांसीसी ढंग से हुआ था... बच्चियों को ठीक से पेश आना चाहिए, लेस पहनना चाहिए, उनकी हेयर स्टाइल ठीक होनी चाहिए, एक तरह का शिष्टाचार, एक तरह का मध्यवर्गीय शिष्टाचार। ज़ाहिर है, उन्हें इस सबका बदला लेना था। और युवावस्था का यह महत्त्व ही दोनों में समान था। उनके व्यक्तित्व पर यौवन की छाप... लेकिन जानीन इससे छुटकारा पाना चाहती थीं... किसी तरह, वहीं रज़ा, इसके विपरीत साफ़ तौर पर बेहतर ढंग से और पूरी तरह से समावेश और अनुकूलन करना चाहते थे।'[२२]

रज़ा उनके इस पक्ष को समझते थे और इसको लेकर उनमें धैर्य था, '...वे बेहद भले थे- सम्भवतः उनमें पौरुष का वैसा भाव न्यूनतम था जैसा पुरुषों में स्वाभाविक तौर पर पाया जाता है! और इसी के साथ-साथ वे उन्हें अपने ढंग से जीवन जीने की और अपनी युवावस्था का हिसाब चुकता करने की गुंजाइश देते थे। इसलिए वे निश्चय ही उनकी निजी मुक्ति और वयस्क होने की प्रक्रिया का बेहद महत्त्वपूर्ण पहलू थे। यह समस्या हमेशा हुआ करती थी... वे उन तमाम पुरानी चीज़ों और खिलौनों और गुड़ियाओं और ऐसी ही तमाम दूसरी चीज़ों का बार-बार उपयोग करती थीं... एक तरह का सम्मोहन जिसने उन्हें उनकी युवावस्था में अपने वश में कर रखा था और जिससे वे छुटकारा पाना चाहती थीं... सम्मोहन जिसमें उन्हें बाँध लिया गया था- और यह चीज़ उस व्यक्ति के साथ उनके जीवन की संगति में थी जो बहुत ही अलग क़िस्म का था, जिसने उन्हें नये सिरे से क़ैद करने की बजाय आज़ाद किया।'[२३]

इस समय के आसपास का जानीन का काम बचपन के उस सम्मोहन से खुद को मुक्त करने की उनकी तीव्र आकांक्षा को दर्शाता है। संयोजन और रंग पर दक्षतापूर्ण निगाह रखते हुए रचे गये ये अवरुद्ध (बेरीकेडेड) रूपाकार अपनी नाटकीयता और शक्ति से मन्त्रमुग्ध कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, उनके द्वारा लकड़ी पर किये गये एक उत्कीर्णन में मध्य में चक्कर लगाती हुई बच्ची एक बूर्ज्वा महिला के उन सारे

उपकरणों को ध्वस्त करती लग सकती है जिन्हें वह बड़े होने पर हासिल करने जा रही है: पंखा, मनके, तस्वीर का फ़्रेम इत्यादि जो उसके फ़्रेम को घेरे हुए हैं। क्या यह सम्भवतः इसलिए है कि उनके पिता बहुत वर्चस्वशाली थे? लेकिन द्युशेन के अनुसार, 'उनके पिता वर्चस्वशाली नहीं थे। उनमें सिर्फ़ कल्पनाशीलता की कमी थी। लेकिन यह चीज़ उनके लिए मुश्किल थी हालाँकि वे इसे स्वीकार करते थे- यह एक ऐसी चीज़ थी जो उनकी समझ से परे थी। लेकिन वे बुरे नहीं थे और आर्थिक तौर पर, माली तौर पर उनकी मदद करते थे। वे उनके प्रति भले थे लेकिन उनके लिए उनमें - रज़ा में - कुछ कमी थी महज इसलिए नहीं कि वे हिन्दू (मूल पाठ में यही लिखा है) थे बल्कि इसलिए कि वे चित्रकार थे- वे एक ऐसे व्यक्ति थे जो पूरी तरह विजातीय थे- महज इसलिए नहीं कि वे हिन्दुस्तानी थे। एक तरह से देखें तो उनका हिन्दुस्तानी होना, और महज़ पड़ोसी न होना, बेहतर हो सकता था। रज़ा इतनी दूर के रहने वाले थे कि उनका भिन्न होना सामान्य बात थी, जबकि जो व्यक्ति फ़्रांस में जन्मा होता उसके पास कोई बहाना न होता।'[२४]

वे इस युवा दम्पति के लिए बहुत ही सुख-शान्ति से भरे हुए दिन थे। वास्तुविद् और फ़ोटोग्राफ़र ज़्याँ पॉल गुसैल और उनकी पत्नी मिजो के मुताबिक़, '...और फिर जब हम उनसे मिले, जब मैं उनसे पहली बार पेरिस में मिलने गया था, तो उनका एक तरह का स्टुडियो था जो कलाकारों के लिए डिज़ाइन किया गया था और किराये पर दिया जाता था। मुझे नहीं मालूम कि वह संस्कृति विभाग की ओर से उपलब्ध कराया गया था या पेरिस शहर की ओर से। यह बुलवाख़ सेक्रेतान में था- यह शहर के उत्तरपूर्वी हिस्से में स्थित पेरिस का १९वाँ इलाक़ा (डिस्ट्रिक्ट) था। और उनके पास एक ऊँचे कमरे वाला, उत्तर की ओर खुलती बड़ी-सी खिड़की से युक्त एक स्टुडियो और रहने के लिए छोटे कमरे थे और उन्होंने वहाँ कई बार हमारी ख़ातिरदारी की थी।'[२५] ६० के दशक में भी वे एक छोटे-से फ़्लैट में रहा करते थे जिसमें तीन कमरे थे और कोई बाथरूम नहीं था, जहाँ रज़ा अपने हिन्दुस्तानी दोस्तों को रहने के लिए आमन्त्रित किया करते थे।

इस युवा दम्पति के आतिथ्य में कुछ ऐसी गर्मजोशी हुआ करती थी कि उनके दोस्त अक्सर अपनी शामें बिताने वहाँ चले आते थे। बहुतों के लिए वे हिन्दुस्तानी कलाकार दम्पति लगते थे। द्युशेन के अनुसार, 'जो लोग उन्हें जानते नहीं थे वे सोचते थे- जानीन के बाल भी बिल्कुल काले थे, साथ ही उनका वर्ण भी साँवला था - बहुतों को लगता था कि वे भी हिन्दुस्तानी हैं। और जब वे सेक्रेतान या रु दे शराँ में मेहमानों को ख़ातिरदारी के लिए ले जाते थे, तो जानीन हिन्दुस्तानी ढंग से साड़ी पहनकर, सजती-सँवरती थीं। जो लोग उन्हें जानते नहीं थे, वे सोचते थे कि वे रज़ा हिन्दुस्तानी चित्रकार हैं और वे उनकी हिन्दुस्तानी बीवी हैं।'[२६] वे पहली स्त्री थीं जिनके साथ उन्हें सच्चा प्रेम हुआ था, 'जानीन के पहले- आप जानते हैं कि वे फ़्रांस आने के बाद उनसे मिले थे- उस समय वे बहुत कम उम्र थे। आपको अहसास नहीं होता लेकिन कलाकारों के उस समूह के सब बहुत कम उम्र थे! अब तो लोग यात्राओं के अभ्यस्त हैं। लेकिन वे इसके अभ्यस्त नहीं थे। इसलिए वह बड़ा साहसिक उद्यम था। और वे इस फ़ाइन आर्ट्स स्कूल में जाते हैं और लम्बे काले बालों वाली उस खूबसूरत स्त्री को देखते हैं- वे सुन्दर थीं- जानीन। शायद थोड़ी-सी मर्दाना,

लेकिन सुन्दर। और उन्हें उनसे इश्क़ हो गया। इस तरह, जानीन के पहले कोई और स्त्री नहीं थी। बेशक, वे पहले शादी कर चुके थे। इसलिए मेरा ख़याल है, अपनी पहली बीवी के साथ उनका यौन-सम्बन्ध रहा होगा। लेकिन कोई सन्तान नहीं थी...'[२७]

रज़ा की मित्र-मण्डली में अकबर पदमसी, राम कुमार और कृष्ण खन्ना शामिल थे। सूज़ा भी उनसे मिलने आते थे, और शुरुआती दिनों में पदमसी के साथ मिलकर उन दोनों ने पेरिस में प्रदर्शनी भी की थी। पेरिस का प्रवासी समुदाय भी दोस्ती और सहयोग का एक स्रोत था। वहाँ प्राण तलवार, राजेश रावत, बलबीर, जहाँगीर (ज़्याँ) भाउनागेरी, बल्दून ढींगरा, ज़्याँ तथा कृष्णा रिबो, अनिल डि सिल्वा और फ़िलीप वीजिए जैसे हिन्दुस्तानी अध्येता, और प्रख्यात फ़ोटोग्राफ़र काऱ्ती-ब्रेसाँ भी थे जिन्हें वे कश्मीर यात्रा के समय से जानते थे। कई अवसरों पर ये लोग ज़्याँ और फ्रेनी भाउनागेरी के बेसमेण्ट फ़्लैट में 'आलू और साधारण रेड वाइन' का आनन्द लेते हुए ज़ोरदार चर्चाएँ किया करते थे।[२८] और, '...फ़्रांसीसी कला पर, मातीस और सेज़ाँ और फेह्याँ लेजे पर' ये ज़ोरदार बहसें हुआ करती थीं 'जो ऐसे मुद्दों पर होती थीं जिन्हें भाउनागेरी आज 'अल्प वयस्क तत्त्व मीमांसा' ('जूवनाइल मेटाफ़िज़िक्स') की संज्ञा देते हैं। वे दुनिया का पुनराविष्कार करने की प्रक्रिया में थे, अपने लिए एक नयी दिशा तैयार करने की प्रक्रिया में!'[२९]

याद करने का वक़्त

इस मुकाम पर ये ज़्याँ भाउनागेरी थे जो रज़ा के न सिर्फ़ सबसे ज़्यादा क़रीब थे बल्कि जो उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव भी लाये थे। यह बात बहुत स्पष्ट नहीं है कि दोनों की मुलाक़ात कैसे हुई थी। सम्भवतः यह मुलाक़ात सूज़ा के माध्यम से हुई थी जो लन्दन से लिखे गये एक ख़त में उल्लेख करते हैं कि 'ज़्याँ भाउनागेरी १० जनवरी से बम्बई में होंगे, जैसाकि उन्होंने मुझे बताया था। लेकिन उनका कहना था कि वे ज़्यादातर वक़्त पूना में अपनी पत्नी के घर पर बिताएँगे। मैंने उन्हें तुम्हारे पेरिस आने के बारे में बताया था। वे पिछले कई वर्षों से पेरिस में रहते रहे हैं और अभी भी वहीं रहते हैं। वे तुम्हें पेरिस के बारे में कुछ ताज़ा जानकारी देंगे। वे महीने भर की छुट्टियाँ बिताने के बाद हिन्दुस्तान से पेरिस की उड़ान भरेंगे। प्रसंगवश, जब मैं इस बसन्त में पेरिस जाऊँगा, तो उन्हीं के यहाँ ठहरूँगा। मैंने मार्च तक पेरिस जाने की व्यवस्था कर ली है। वे तुमसे मिलने को बहुत उत्सुक हैं और मुझे उम्मीद है कि वे तुम्हारे लिए मददगार रहेंगे।'[३०]

ज़्याँ सिर्फ़ एक आकर्षक व्यक्ति ही नहीं थे बल्कि उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे पॉटर, लिथोग्राफ़र, चित्रकार और सिरेमिस्ट तो थे ही, लेकिन मुख्यतः वे एक प्रतिभाशाली डॉक्यूमेण्ट्री फ़िल्मकार थे। उन्होंने पेरिस में तीन दशकों से भी ज़्यादा समय तक यूनेस्को के साथ काम किया था और इस संगठन के लिए उन्होंने जिन फ़िल्मों का निर्देशन या निर्माण किया था उन्हें प्रतिष्ठित फ़िल्म-समारोहों में पुरस्कृत किया गया था। इसी दौरान उन्होंने १९५४-५७ के दरम्यान और फिर इन्दिरा गाँधी के आग्रह पर १९६५-६७ में

बम्बई में फ़िल्म्स डिवीज़न के लिए भी काम किया था, जब डॉक्यूमेण्ट्री फ़िल्म ने हिन्दुस्तान में अपनी जगह बनायी थी। उस समय के उनके शिष्यों में प्रसिद्ध डॉक्यूमेण्ट्री फ़िल्मकार एस. सुखदेव और प्रमोद पति शामिल थे। पारसी पिता और फ़्रांसीसी माँ से जन्में ज़्याँ ने इसके पहले १९३९ में भी बम्बई में रहकर हिन्दुस्तान में काम किया था जब द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत में रायटर ने उन्हें संवाददाता के रूप में नौकरी पर रखा था। उन्होंने तुर्की के वाणिज्य दूतावास की स्थापना भी की थी और कुछ समय के लिए टाटा सन्स में भी रहे थे, डॉक्यूमेण्ट्री फ़िल्मों के लिए पटकथाएँ लिखी थीं और कार्टून स्ट्रिप्स तैयार की थीं और आदी मर्ज़ाबान के साथ मिलकर गुजराती कॉमेडियाँ लिखी थीं। उसी दौरान उनमें जादुई युक्तियों के प्रति जुनून विकसित हुआ था। टॉक-एच कॅन्सर्ट पार्टी के सदस्य के रूप में वे सैनिकों, अस्पताल के वार्डों और पीओडब्ल्यू के लिए मनोरंजन पेश किया करते थे; जादूगरी की अत्यन्त प्रभावशाली संस्थाओं ने उनकी प्रतिभा का सम्मान करते हुए उन्हें अपनी मण्डली में शामिल किया था।

पेरिस में ज़्याँ और फ्रेनी की प्रसिद्ध शामों का समापन जादूगरी के करतबों से होता था। जब ११ अप्रैल २००४ को ज़्याँ की मृत्यु हुई थी, तो पत्रकार दिलीप पडगाँवकर ने उनके मृत्यु लेख में लिखा था, 'जितने भी दिन मैं पेरिस में रहा, उस दौरान भाउनागेरी के घर जाने के निमन्त्रणों में जादू का वादा हमेशा शामिल होता था। फ्रेनी धनसाक पकाने की ज़िम्मेदारी सँभालती थीं और ज़्याँ सुनिश्चित करते थे कि हम यह व्यंजन वह वाइन पीते हुए खाएँ जो वे सीधे वाइनयार्ड के बैरल से लेकर आते थे। लेकिन यह खाना और पीना उनके आतिथ्य का छोटा-सा हिस्सा था। असल में तो जिस तरह के लोग उनके यहाँ जमा होते थे और जिस तरह ज़्याँ उनका मनोरंजन करते थे, वह हमारी शामों को आनन्द से भर देने वाला होता था। उनके मेहमानों में कवि, अकादेमिक, लेखक और फ़िल्मकार शामिल होते थे। जीवन और साहित्य के बारे में अंग्रेज़ी में उनके हँसी-मज़ाक देर रात तक जारी रहते थे...। और फिर जब पार्टी अपने शिखर पर पहुँचती थी, वे अपने जादुई करतब दिखाते थे जिन्हें देखकर मेहमान आश्चर्य से अवाक् रह जाते थे।'[३१]

उनके इसी छोटे-से बेसमेण्ट फ़्लैट में, उनकी बेटी जानीन, भरूचा, रज़ा, अकबर और कभी-कभार सूज़ा की मौजूदगी को याद करती हैं। दरअसल, जब जानीन के बचपन में उनके माता-पिता घर पर नहीं होते थे, तो ये तीनों अक्सर उनकी देखभाल किया करते थे। इस क़दर, कि वे याद करती हैं, कि वे उन तीनों के नामों को एकसाथ मिलाकर पदमसी-रज़ा-सूज़ा के रूप में गाया करती थीं क्योंकि वे नाम उन्हें अविभाज्य लगते थे। जानीन की बचपन की जीवन्त स्मृतियाँ इन तीनों की उपस्थिति से जुड़ी हुई हैं। 'पापा और मामा दो छोटे-छोटे कमरों में - दो छोटे-छोटे बेडरूम में नहीं - रहा करते थे। वह अण्डरग्राउण्ड फ़्लैट था। पापा कड़की में थे, साथ ही वे यूनेस्को में काम की शुरुआत कर रहे थे। और मैं उनके पैर देखती थी, उनके जूते - जब वे चलते थे - एक छोटी-सी खिड़की थी - आप बेसमेण्ट की उस खिड़की से देख सकते थे। और मैं सचमुच बहुत खुश रहती थी क्योंकि वे सारे समय हमारे साथ होते थे...। जहाँ तक मुझे याद है, मैं पाँच साल की थी और कभी-कभी जब पापा और मामा बाहर चले जाते थे, ये तीनों या उनमें से

कोई एक मेरी देखभाल करते थे और मैं उन्हें सीढ़ियाँ उतरते हुए देखकर गाती थी... पदमसी-रज़ा-सूज़ा...। उस समय की हमारी ज़िन्दगी में उनकी, उन तीनों की बहुत बड़ी उपस्थिति थी।'[३२]

उन्होंने साथ मिलकर कुछ बहुत अच्छा समय बिताया था। 'वे थ्री मस्केटियर्स की तरह थे - अविभाज्य। सचमुच ही बहुत प्यारे। हम नमक के साथ आलू खाते थे, कोई मक्खन नहीं। हर कोई कड़की में था! और सचमुच - वाइन और आलू। और मेरी वजह से ही उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में पहली बार पीनट बटर की खोज की थी। मैं छोटी-सी चम्मच में पीनट बटर लेकर लॉलीपॉप बनाती थी। उसपर थोड़ी-सी चीनी भुरककर उन सबको पीनट बटर लॉलीपॉप खिलाती थी! मुझे बहुत गर्व था - पदमसी-रज़ा-सूज़ा के लिए यह मेरा योगदान था।'[३३]

रज़ा की मौजूदगी उनके लिए विशेष अहमियत रखती थी और वे उनके पिता द्वारा ख़रीदी गयी एक अविस्मरणीय कृति को याद करती हैं जो उस हर मकान की बैठक में टँगी रहती थी जहाँ वे रहे थे। दरअसल, लगता है कि ज़्याँ रज़ा के काम के सबसे शुरुआती ख़रीदार थे और उन्होंने उनसे 'ओ दे केन्य' (१९५१) जैसी अविस्मरणीय कृति ख़रीदी थी। जानीन दुखी मन से याद करती हैं कि बाद में रज़ा ने ज़्याँ से यह चित्र कम क़ीमत पर वापस ख़रीद लिया था और उसे बाज़ार-दर से लगभग तीन गुनी क़ीमत पर बेचा था।[३४]

उनका अपार्टमेण्ट उनके पिता के बनाये रेखांकनों, जलरंग-चित्रों, पॉटरी से अँटा हुआ है, लेकिन उसमें सूज़ा, रज़ा और पदमसी के काम भी मौजूद हैं - जो मूलतः ज़्याँ के संग्रह से हैं। जानीन की, और उनकी बहन आशा की, कलात्मक प्रवृत्तियाँ, निश्चय ही, उस समय से ही पोषित होती रही थीं जब उनके घर में रविशंकर जैसे कलाकारों का नियमित आना-जाना हुआ करता था। रज़ा भी रविशंकर से पहली बार सम्भवतः ज़्याँ के घर पर ही मिले थे, 'हाँ - वह (मुलाक़ात) पहली बार हमारे ही घर में हुई थी। इसके बाद रज़ा ने भी वही करना शुरू कर दिया।'[३५] और इस तरह रज़ा भी रविशंकर तथा दूसरे कलाकारों को अपने घर आमन्त्रित कर शाम की पार्टियाँ आयोजित करने लगे।

कुछ दृष्टियों से जानीन के अनुभव ज़्याँ द्युशेन द्वारा बयान किये गये अनुभवों से मिलते-जुलते हैं। उन्होंने और उनकी पत्नी ने ७० के दशक के रज़ा के कुछ चित्र हासिल किये थे, जो रज़ा का सर्वश्रेष्ठ समय रहा था, और उन्होंने वे सारे चित्र बचाकर रखे थे, सिवा उस बड़े चित्र के जिसे रज़ा ने उनसे उस संग्राहक के लिए कम क़ीमत पर बेचने का आग्रह किया था जिसने उनसे कहा था कि वह हिन्दुस्तान में एक संग्रहालय स्थापित करने जा रहा था। उन्होंने उस संग्राहक को तो वह चित्र बेचने से मना कर दिया लेकिन रज़ा के लिए बेचने से वे मना नहीं कर सके और, इसलिए उन्होंने बेमन से वह चित्र रज़ा को बेच दिया था। बाद में ज़्याँ को इण्टरनेट से जानकारी मिली कि उस चित्र को लन्दन की एक नीलामी में ऊँचे दामों पर बेच दिया गया था![३६]

कलाकार-द्वय

उन दिनों की एक महत्त्वपूर्ण उपस्थिति ज़्याँ और कृष्णा रिबो की हुआ करती थी। जानीन याद करती हैं, 'वह एक बहुत ही सुखमय परिवार था और मुझे उनके घर जाने की याद है। सत्यजित रे पापा के अच्छे दोस्त थे...। वे कृष्णा और ज़्याँ रिबो के घर की एक बैठक में आये थे और वे काफ़ी थके और उदास लग रहे थे। सचमुच जैसे सारी दुनिया का बोझ उनके कन्धों पर हो। और जैसे ही उन्होंने पापा को देखा, तो उनकी आँखें चमक उठीं और वे प्रफुल्लित हो उठे। यह देखकर मैं चकित रह गयी थी।'

कृष्णा और ज़्याँ रिबो रज़ा और जानीन के क़रीबी दोस्त थे और अक्सर उनके घर पाये जाते थे। एक पत्र में रज़ा ने उनको लिखा था, 'हमें मिले हुए वाक़ई बहुत अरसा हो गया है। हमने कई बार तुमसे सम्पर्क करने की कोशिश की ताकि हम तुम्हें अपने नये घर में बुला सकते और अपना नया काम तुम्हें दिखा सकते। शुइली इपेग्ने में सेल दे फ़ेत के लिए तैयार किया गया बड़े आकार का दूसरा 'कोलाज' अगले हफ़्ते स्टुडियो से रवाना होने वाला है। हम चाहते हैं कि तुम देखते और हमें बहुत खुशी होगी अगर तुम मंगलवार, २१ अक्टूबर को डिनर पर आ सको...'[३८]

कृष्णा रिबो (जो विवाह के पहले रॉय थीं) कला-संग्राहक थीं और ज़्याँ बहुत ही सफल उद्योगपति थे। दोनों की मुलाक़ात कलकत्ता की एक पार्टी में हुई थी और इस मुलाक़ात में ही दोनों एक-दूसरे पर मोहित हो गये थे। बाद में ज़्याँ और कृष्णा का अभिसार जारी रहा और फिर दोनों ने विवाह कर लिया। कृष्णा १९४७ के बसन्त में आयोजित उस पार्टी में शामिल हुई थीं जो हार्पर्स बाज़ार के सम्पादक ने फ़्रांसीसी फ़ोटोग्राफ़र ऑरी काग़्ती-ब्रेसाँ के सम्मान में आयोजित की थी। वहाँ उनकी मुलाक़ात श्लम्बर्गर के चेयरमेन ज़्याँ रिबो से हुई थी। ज़्याँ रिबो ने बाद में कृष्णा का वर्णन करते हुए उन्हें 'वेलेस्ले कॉलेज से आयी तीन अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर युवतियों में से एक' कहा था। ये नौजवान युगल उत्सुक कला-संग्राहक भर नहीं थे बल्कि उन बहुत-सी सान्ध्य पार्टियों के मेज़बान भी हुआ करते थे जो उनके कला-समृद्ध अन्तरंग कक्षों में आयोजित हुआ करती थीं।[३९] कृष्णा सिर्फ़ इतिहासकार और हिन्दुस्तान और चीन की प्राचीन कलात्मक वस्तुओं और वस्त्रों की संग्राहक और कला-संरक्षक ही नहीं, उनका और उनके पति का राष्ट्रपति फ़्रांसुआ मितेराँ और प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी से, साथ ही बर्मा के जनरल ने विन से भी अच्छा परिचय था। उनकी सांस्कृतिक मर्मज्ञता के पीछे वह विपुल सम्पत्ति थी जो के श्लम्बर्गर के मुखिया होने और एक विशाल वैश्विक कार्पोरेशन द्वारा तेल-भण्डारों की खोज के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले उपकरणों के उत्पादन में लगभग एकत्र अधिकार रखने वाली कम्पनी के उनके द्वारा किये गये रूपान्तरण के नाते एकत्र हुई थी।

पत्रकार सुनील सेठी उल्लेख करते हैं कि 'कृष्णा ने अपने बचपन में अपने क्रान्तिकारी और जोशीले कम्यूनिस्ट चाचा सोमेन्द्र नाथ ठाकुर को कलकत्ता के रेलवे स्टेशन पर अंग्रेज पुलिस द्वारा हथकड़ी बाँधकर ले जाए जाते देखा था और उनके बचपन की यह स्मृति ज़्याँ रिबो के उस वीरतापूर्ण कीर्तिमान से मेल खाती

थी जिसके तहत वे फ़्रांसीसी प्रतिरोध आन्दोलन में शामिल हुए थे और कम्यूनिस्टों की मदद से बुशेनवाल्ड से भागे थे। उनके इन अनुभवों की वजह से उन्हें सहज ही वामपन्थियों से सहानुभूति थी। लेकिन उनके राजनैतिक सम्पर्कों के बावजूद कला में उनकी गहरी रुचि ने उन्हें जबरदस्त रिश्ते में बाँध रखा था। उनकी अँगुलियाँ तीन महाद्वीपों - अमेरिका, यूरोप और एशिया - की नब्ज़ पर अविचल रूप से टिकी होती थीं।'[४०]

उनके विपुल संग्रह में मैक्स अर्न्स्ट, जोआन मीरो, ऑरी काग़्ती-ब्रेसाँ और इस्माउ नोगुची जैसे कलाकारों के काम ही नहीं थे, बल्कि एम.एफ. हुसैन और जे. स्वामीनाथन जैसे हिन्दुस्तानी उस्तादों के काम भी थे। उनके विशाल संग्रह के कुछ हिस्से को बाद में कृष्णा रिबो ने म्यूजी गीमे (गिमेट म्यूज़ियम) को दान कर दिया था, जहाँ ज़्याँ एण्ड कृष्णा रिबो कलेक्शन नामक एक स्वतन्त्र दीर्घा संचालित है।[४१]

रिबो की मृत्यु १९८६ में पेरिस में हुई थी और उनके इकलौते बेटे क्रिस्तॉफ़ ने १९९० में स्विट्ज़रलैण्ड में एक त्रासद कार-दुर्घटना में अपनी जान गँवा दी थी। ज़्याँ की मृत्यु के बाद कृष्णा ने कला और वस्त्रों के संग्रह के लिए अपनी यात्राएँ जारी रखीं जिसके लिए उन्होंने अपना समय फ़्रांस और हिन्दुस्तान के बीच बाँट रखा था। सेठी के मुताबिक, उस गम्भीर क्षति के बावजूद कृष्णा ने अपना जीवन जारी रखा क्योंकि 'वह निजी त्रासदी उन्हें न तो उनकी खोजों से डिगा सकी, न जीवन के प्रति उनके उत्साह को कम कर सकी। पति और पुत्र की मृत्यु के बाद भी वे संकल्पपूर्वक आगे बढ़ती रहीं और हर साल हिन्दुस्तान, चीन और जापान की तथा साल में कई बार अमेरिका की यात्राएँ करती रहीं। एक चौथाई सदी तक उनकी उपस्थिति को दुनिया के संग्रहालयों और विक्रय-स्थलों पर गम्भीरता से लिया जाता रहा। आमतौर से काले रंग की और अक्सर उनके दोस्त इसी मियाकी द्वारा तैयार की गयी पोशाक धारण किये मादाम रिबो जब अपनी छोटी-सी अँगुली उठाती थीं, तो अध्येता ठहर जाते थे और नीलामी करने वालों के हथौड़े हवा में थम जाते थे। केवल उनके दोस्तों को ही इजाज़त थी कि वे वेस्टबोर्न ग्रोव के अन्दरूनी इलाक़े में स्थित प्रामाणिक पारसी रेस्तराँ में शामें बिताने, उनकी खुशामद करने की सम्भावना के साथ उन्हें तंग कर सकते थे, और उन शामों को आनन्द से भर सकते थे।'[४२] सेठी इस मार्मिक टिप्पणी के साथ अपनी बात समाप्त करते हैं - 'निर्मम ढंग से विकसित होते कैन्सर के बावजूद उन्होंने दो साल पहले किसी तरह पाण्डुआ और गौर के दर्शनीय स्थलों की यात्रा की थी। अपनी मृत्यु के कुछ महीने पहले ही वे अन्ततः अपने अपार्टमेण्ट की शरण में लौटी थीं - उस प्रशान्त दुनिया में जहाँ से नेपोलियन के मक़बरे की छाया में उनका निजी उद्यान दिखायी देता था।'[४३] कृष्णा रिबो की मृत्यु पेरिस के उनके घर में २७ जून २००० को हुई थी।

एक अन्तरंग मित्र

सम्भवतः रज़ा के सबसे प्रिय दोस्त राजेश रावत थे। उनके बीच निरन्तर सम्पर्क इस बात का प्रमाण है। रज़ा से उनकी मुलाक़ात सम्भवतः उनके विद्यार्थी जीवन के दिनों में हुई थी और उनके बीच साझा करने के लिए इतना अधिक था कि उनका रिश्ता लगातार प्रगाढ़ होता चला गया। राजेश रज़ा की कलात्मक

संवेदना से मेल रखने वाले कवि थे, वे हिन्दुस्तान में दिलचस्पी और दख़ल रखते थे, और उन्होंने भी कलात्मक अभिरुचि की फ़्रांसीसी महिला, जेनेविएव से विवाह किया था। शाम के समय ये चारों लोग बाहर जाया करते थे और इस दौरान उनके बीच बहुत ओजस्वी और दिलचस्प चर्चाएँ हुआ करती थीं। रज़ा के सबसे ज़्यादा अन्तरंग राजेश थे, जिनके साथ वे अपने अन्तरतम विचारों में साझा करते थे और मुश्किलों से भरे अपने शुरुआती दिनों के तनावों को हल्का करते थे। जैसाकि उन्होंने एकबार राजेश को लिखा था, 'मैं सिटी के दिनों को याद करता हूँ। उनमें पछतावे जैसी शायद कोई बात नहीं है। लेकिन पूरा-का-पूरा झुण्ड। कैफ़े़टेरिया कैण्टीन - वही घिसी-पिटी बातचीत। मैं उसके साथ अपना तालमेल बिठा नहीं पाता था। दूसरे लोग शायद बिल्कुल सामान्य बने रहते हों, लेकिन सिर्फ़ मैं ही था जो बात को गम्भीरता से लेता था। लेकिन फिर मुझे यक़ीन हो चला था कि इसमें बहुत सारी ऊर्जा बरबाद हो जाती थी जिसे बचाकर रखना और उसका अपने हित में इस्तेमाल करना ज़रूरी था।'[४४] उन शुरुआती दिनों को रज़ा कई रूपों में याद करते थे, 'ये वे दिन थे जब हम रिल्के को बहुत चाव से पढ़ा करते थे। अब मैं उन्हें कम पढ़ता हूँ, लेकिन मुझे उनके कुछ विचारों का महत्त्व पहले से ज़्यादा समझ में आ रहा है। मुझे वे जीने और काम करने के क्षणों में ज़्यादा समझ में आते हैं।'[४५] उन्होंने रिल्के को अपने अन्दर रचा-बसा लिया था, ठीक उसी तरह जैसे निरन्तर हिन्दुस्तानी बने रहते हुए भी उन्होंने फ़्रांसीसी जीवन-शैली को रचा-बसा लिया था।

रज़ा के कई हिन्दुस्तानी-फ़्रांसीसी दोस्त थे जिनसे वे और जानीन प्रायः मुलाक़ातें किया करते थे। लेकिन इनमें सबसे ज़्यादा जानीन के साथ उनका रिश्ता पूरी तरह सन्तोषप्रद था। वे केवल पत्नी की भूमिका में ही सहायक नहीं थीं, बल्कि कलाकार के रूप में भी उनकी जीवन्त और सृजनात्मक साथी थीं। रज़ा के काम के साथ-साथ उनकी सृजनात्मक यात्रा जारी थी, जिसमें उनकी जड़ें और व्यापक दृष्टि निरन्तर जगह पा रही थीं। जहाँ उन्होंने कैनवस पर चित्रण जारी रखा, जानीन ने नयी-नयी सामग्री के साथ विभिन्न माध्यमों में प्रयोग किये। वे कई अर्थों में रज़ा की भंगुर ऊँचाइयों की विषमता में थीं : ज़मीनी, समकालीनता और भौतिकता से प्रतिबद्ध और व्यावहारिक तथा दैनन्दिन जीवन के प्रति पूरी तरह चौकन्नी। दोनों ने मिलकर एक अर्थवान और सामंजस्यपूर्ण सम्मोहक दुनिया रची थी, जो उनकी आजीवन लम्बी यात्रा के दौरान क़ायम रही। आख़िरकार वह समय आया जब रज़ा का जीवन सन्तोषप्रद बन सका। मुश्किलों के उथल-पुथल से भरे दौर के बाद, अब वे जीवन की ख़ूबसूरती का जश्न मना सकते थे।

२

जादुई फूल गुनगुना रहे थे

रज़ा ने जानीन मोंजिला को जो बहुत-से ख़त लिखे थे, उनमें १९५३-५४ के दौरान लिखे गये ख़त बहुत ख़ास थे क्योंकि इन ख़तों में उनके रिश्तों की प्रगाढ़ता और कलाकार के रूप में रज़ा का संघर्ष ज़ाहिर

होता है। अब तक जानीन के साथ इस युवा कलाकार का उत्कट समर्पण से भरा वह रोमांस शुरू हो चुका था जिसकी पूर्णाहुति कुछ वर्ष बाद उनके अत्यन्त सन्तोषप्रद वैवाहिक जीवन के रूप में होने जा रही थी।

रज़ा इस समय बीच की अवस्था में भी थे - एक ओर वे फ़्रांस के गाँवों की नैसर्गिक समृद्धि को प्रतिबिम्बित करते अपने क्षिप्र तूलिकाघातों के साथ एक कलाकार के रूप में अपनी स्वाधीनता अर्जित करने के दौर से गुज़र रहे थे और दूसरी ओर, दो वर्ष बाद उन्हें प्रसिद्ध प्री दे ला क्रिटीक (क्रिटिक्स अवार्ड) के रूप में मान्यता मिलने जा रही थी, जिसके साथ उनकी अन्तर्राष्ट्रीय यात्रा शुरू हुई थी।

जानीन को लिखे गये उनके ख़त इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें कवियों, दार्शनिक विचारों और स्वाभाविक ही रोमांस का संकेत मौजूद हैं। वह विभिन्न कला-माध्यमों और उनके निजी संघर्ष के बीच आवाजाही करता है और प्रेम की कीमियागिरी से परवान चढ़ता है। जानीन स्वयं ही प्रतिभाशाली कलाकार थीं और अपनी प्रयोगशीलता के बल पर वे रज़ा के दृष्टिकोण में निहित आदर्शवाद को सन्तुलित करती थीं। यह दो कलाकारों के बीच का वह पत्र व्यवहार भी था जो एक उत्प्रेरक और निरन्तर संवाद की शक्ल ले रहा था। ये ख़त उस सुख और विक्षोभ की ओर संकेत करते हैं जिनसे यह कलाकार पेरिस आने के कुछ वर्षों बाद तक गुज़रता रहा था। हमें उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्तियों में जानीन के साथ उनकी संगति और एक कलाकार के रूप में उनके जीवन की असुरक्षाओं का अहसास भी होता है। अब तक अज्ञात रही इन पत्रों की विषय-वस्तु में एक सिलसिला है और नीचे अंकित ख़तों में वह विषय-वस्तु अपनी समूची प्रशान्त ऋजुता में प्रकट होती है :

६ अप्रैल १९५३

जानीन,

मैं पिछले दो हफ़्तों की एक-एक चीज़ के बारे में सोच रहा हूँ। मैं पेरिस के अपने सुखद दिनों के बारे में भी सोच रहा हूँ और हिन्दुस्तान के अपने अतीत के बारे में भी। दिमाग़ के लिए सारे विचारों का, जीवन के सारे किये-अनकिये कृत्यों का परीक्षण करना ज़रूरी है...

मैं उस सबके बारे में सोचता हूँ जो हो रहा है। फ़्रांस आने के बाद ही मैंने आज़ादी महसूस की है। हिन्दुस्तान में बहुत सारी चीज़ें थीं, बहुत सारी ज़िम्मेदारियाँ थीं, रिश्ते थे, लगाव थे। उस समय स्पष्ट ढंग से सोच पाना मुमकिन नहीं होता था, जीवन को उस ढंग से जी पाना मुमकिन नहीं था जैसे उसे जिया जाना चाहिए...

व्यक्ति के भीतर ज्ञात और अज्ञात, दोनों तरह की चीज़ें होती हैं, इसलिए निरन्तर संवाद और अनपेक्षित वार्तालाप से ही कुछ परिणाम सामने आते हैं। हम आधे निश्चय और आधे अनिश्चय की स्थिति

में होते हैं। हम अज्ञात तक पहुँचने के लिए इस ज्ञान का, इस निश्चयात्मकता का सहारा लेते हैं। जो नहीं है उससे ज़्यादा सुन्दर कुछ भी नहीं होता...

समय के साथ मेरे विचार बदले हैं। १९५१ का पेरिस वही नहीं है जो १९५३ का पेरिस है। पहले जो चीज़ मुझे आनन्दित करती थी, अब नहीं करती। जो पेरिस आज मेरा है, वह बहुत छोटा-सा है, तब भी यही वह पेरिस है जिससे मैं प्रेम करता हूँ। पहले से कहीं ज़्यादा।

और यह १९५१ का पुराना पेरिस असहनीय हो गया है। लेकिन मैं दूसरों जैसा ही हूँ, असहज, लेकिन हमेशा उपस्थित, मानो कोई बदलाव सम्भव न हो, मानो इससे अलहदा कुछ मुमकिन ही न हो...

हर कहीं कला के व्यापारियों की दीर्घाएँ हैं। यहाँ मातीस का एक रेखांकन है, मैगी लोगोंसाँ के दो चित्र हैं, और युवा कलाकार हैं जो प्रसिद्ध नहीं हैं लेकिन जिनमें भरपूर प्रतिभा है और शायद निकट भविष्य में वे बड़े नाम साबित होंगे। अकेली इन दो सड़कों पर भी हर महीने छत्तीस प्रदर्शनियाँ होती हैं। जो छत्तीस कलाकार (अपना काम) प्रदर्शित करते हैं, वे उम्मीद पर टिके होते हैं। जहाँ तक कला के व्यापारी का सवाल है, उसे अपनी भूमिका की जानकारी है, और अगर वहाँ देखने या ख़रीदने के लिए कोई नहीं भी आता, तब भी वह अपना कारोबार करना जानता है...

यह बाज़ार है, बल्कि उससे भी बदतर एक मेला है, जहाँ तमाम तरह के गन्दे खेलों, छद्मों, दिखावों, ढोंगों, ग़ैरज़िम्मेदाराना बकवासों, पाखण्डों, घिनौनी वेश्यावृत्तियों से ज़्यादा और कुछ नहीं होता। यह बहुत दुखदायी है। हम एक ऐसे समय पहुँचते हैं जब यह चीज़ हमारी सहन-शक्ति से बाहर हो चुकी होती है, ख़ासतौर से इसलिए कि हम जानते हैं कि दूसरे लोगों की ही तरह हम भी इस त्रासद स्थिति का हिस्सा हैं और आविष्कारों और प्रगति के बावजूद, संस्कृति, धर्म और ज्ञान के बावजूद, हम अभी भी सतही स्तर पर जी रहे हैं, हमारे भीतर जीवन के स्पन्दन नहीं हैं, हमने कुछ भी समझा नहीं है। और ऐसे में यह ख़याल धीरे-धीरे सुन्दर और सार्थक लगने लगता है कि आप सिर्फ़ यही कर सकते हैं कि वहाँ से भागकर ५वीं मंज़िल के इस ३१४ नम्बर के कमरे में आ जाएँ, और दरवाज़ा बन्द कर घुटनों के बल बैठ यह पढ़ें :

'सब कुछ और ख़ुद से असन्तुष्ट अब मैं इतना चाहता हूँ कि ख़ुद को रात की ख़ामोशी और एकान्त में आज़ाद कर लूँ। जिन्हें मैंने प्रेम किया, जिनके गीत गाये, उनकी आत्माएँ मुझे बल प्रदान करती हैं, सम्बल देती हैं, संसार के झूठ और दूषणकारी अवसाद से बाहर लाती हैं और मेरे प्रभु, मेरे ईश्वर! यह तेरी कृपा है कि मैं कुछ ऐसी सुन्दर कविताएँ लिख पाता हूँ जो मुझे विश्वास दिलाती हैं कि मैं अवशिष्ट मनुष्य नहीं हूँ, कि मैं उनसे कमतर नहीं हूँ जिनसे मैं नफ़रत करता हूँ...'

पूरी तरह तहस-नहस हो जाने के बाद मैंने नये सिरे से शुरुआत की थी। और तब भी मैं सोचता हूँ कि आख़िर मैं दुखी महसूस क्यों करता हूँ।

१० अप्रैल १९५३

मैंने अभी-अभी वह पढ़ा जो मैंने लिखा था। मैं देखता हूँ कि मैं सिर्फ़ अपने बारे में ही बात करता हूँ। मैं 'प्रिय रज़ा' सम्बोधन के साथ भी यह ख़त लिख सकता था, लेकिन अपने अर्थ में शायद यह वही सम्बोधन लिये हुए है। मैं जानता हूँ कि यह तुम्हें ही सम्बोधित है। इसे तुम्हें भेजते हुए मैं अपनी अन्तरतम गहराई में झाँककर देख रहा हूँ। तुम मुझे ठीक-से नहीं जानती - (मेरे बारे में) अपनी समझ के बावजूद। अगर इन बातों से तुम्हें ऊब होती हो, तो मुझसे कह देना। इन काग़ज़ों को कचरादान में फेंक देना आसान होगा, लेकिन ध्यान रहे कि तुम्हें इनके बहुत छोटे-छोटे टुकड़े करने होंगे, क्योंकि ये सिर्फ़ तुम्हें पढ़ने के लिए है, और इन्हें किन्हीं दूसरों के हाथों में नहीं पड़ना चाहिए...

आज मैं पूरे दिन भागता रहा। मुझे बहुत खुशी है कि मुझे सोफ़ोक्लीज़ के साथ-साथ वे कुछ दूसरी पुस्तकें भी मिल गयीं जिनकी मुझे तलाश थी, फिर टिकिट, परमिट्स और चेक्स भी मिल गये। यह कोई मज़ाक नहीं था और मैं तुमसे यह इसलिए कहना चाहता हूँ क्योंकि मेरे मौजूदा सरोकारों के सन्दर्भ में वास्तविकता के साथ यह सम्पर्क चौंकाने वाला था। इस दुनिया की वास्तविकता जिसमें रहने का हमें गौरव प्राप्त है...

'क्षत-विक्षत दिया है उन्होंने मेरा रास्ता और मुझे अपनी मनोव्यथा को बढ़ाने के लिए किसी की मदद की ज़रूरत नहीं।

'अब मेरी आत्मा मुझमें पिघल रही है...

'भय हवा की तरह उसका पीछा करते हैं, रात के समय बादल को पार करने के जोख़िम से मिला छुटकारा भेदता है मेरी हड्डियों को और चैन नहीं लेतीं मेरी शिराएँ

'मेरी पीड़ा की तीव्रता से बदल लिया है अपना रंग मेरे वस्त्र ने, मेरी देह से चिपक जाता है वह और जकड़ लेता है मुझे मेरी पोशाक की चेन की तरह...

'विस्मित कर दिया है मुझे पीड़ा से भरे दिनों ने, धूल और राख जैसा दिखता हूँ मैं...

'एक विलाप है मेरी वीणा और एक सिसकी है मेरी बाँसुरी का स्वर

लेकिन सच्चे हृदय से कुछ कह देना भर काफ़ी नहीं होता। यह मैं तब भी जानता था जब बच्चा था और इसपर आज भी विश्वास करता हूँ कि विचारों को उनकी अन्तिम परिणति में चरितार्थ करने और पाने का संकल्प ज़रूरी होता है...

हर दिन मुझे एक नयी खोज की ओर ले जाता है। मैं डर जाता हूँ, और यह डर साधारण नहीं है। यह किसी बच्चे या बड़े व्यक्ति का भय नहीं है। यह सन्तुलन और मेरे दुर्बल हिस्से के प्रति मेरे उस हिस्से का गढ़ा हुआ भय है जो शक्तिशाली है।

यह सही है कि तुम किसी व्यक्ति का आकलन तभी कर सकते हो जब वह परिस्थितियों पर खरा उतरता हो।

मैंने आज़ादी को ग़लत समझा है...

(एक पेज ग़ायब है)

जो शुभकामनाएँ फलित नहीं होतीं उनकी अपनी महत्ता होती है। तुम्हारे पास ज़रूरत की हर चीज़ है। निराश होने की कोई ज़रूरत नहीं है। तुम्हारा जीवन तुम्हारे हाथों में है। तुम इसे अपने विचारों के अनुरूप, अपने विकल्पों के अनुरूप मन-माफ़िक शक्ल दे सकती हो...

मैंने पॉल वैलरी को पढ़ा। उसका यह अंश मुझे पसन्द आया,

मैं बीस साल का था, और मुझे विचारों की शक्ति में विश्वास था। मैंने विचित्र ढंग से, होने और न होने की पीड़ा भोगी। कभी-कभी मुझे अपने भीतर अकूत शक्तियों का अहसास होता था। उन्होंने इन मुश्किलों के सामने घुटने टेक दिये और मेरी विधेयात्मक शक्तियों की कमज़ोरी मुझे छलने लगी। मैं खुशमिज़ाज था, दिखने में सहज, अन्तिम क्षणों में मज़बूत साबित होने वाला, अवमानना के मामले में अतिवादी, सराहना के मामले में पूरी तरह खुला, आसानी से प्रभावित हो जाने वाला, यकीन के मामले में असम्भव। मुझे उन कुछ विचारों में आस्था थी जो मुझ तक पहुँचे थे। मेरे अस्तित्व के साथ उनकी अनुकूलता को मैं स्वीकार करता हूँ जिसने उन्हें उनके सार्वभौम मूल्यों के एक ख़ास लक्षण की वजह से धारण किया था जो मेरे दिमाग में अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रगट हुआ था, उसे अपराजेय लगा था; आकांक्षा जिस चीज़ को उत्पन्न करती है वह हमेशा सर्वथा स्पष्ट होती है।

विचारों की इन परछाइयों को मैंने अपने गोपनीय रहस्यों की तरह छिपाकर रखा। मैं इनके अजीबो-ग़रीब होने को लेकर शर्मिन्दा था मुझे लगता था, वे बेतुके हैं मैं जानता था कि वे वैसे हैं भी और नहीं भी हैं। वे अपने में निर्रथक थे, लेकिन अपनी अद्वितीय सामर्थ्य में उस विश्वास की शक्ति रखते थे जो मेरी रक्षा करता था। कमज़ोरी के इस रहस्य को लेकर उपजी ईर्ष्या मुझे एक तरह की ऊर्जा से भर देते थे। तुम शायद कहोगी, 'वह बहुत कम-उम्र था'।

८ जून १९५३

मैंने यह ख़त तुम्हें कल लिखा था, और मैं नहीं जानता कि मैं यह तुम्हें भेजूँगा या नहीं। चाहता तो यही था कि मैं इसे अपने पास ही रखता, जैसे कई दूसरे रख छोड़े हैं। किन्हीं ख़ास क्षणों में विचारों को समझ लेने की क़ाबिलियत मेरे शोध में मददगार होती रही है।

आज सुबह तुम्हारा ख़त आया। मैं तुम्हें अभी लिखने वाला हूँ, लेकिन यह काग़ज़ मेरे समक्ष बहुत चमक रहा है और दूसरा बहुत ही बुरी हालत में।

अस्तु, मैं तुम्हें इतवार के अपने विचार भेजता हूँ।

(पॉल) क्ले मुझे हमेशा सम्मोहित करते रहे हैं। मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ, और हर सम्भव कोशिश कर उनका काम बार-बार देखता हूँ। इस बार (उनके काम में) कुछ नयी चीज़ों की ओर मेरा ध्यान गया। कला, कला पर आधारित होती है। मुझे यक़ीन है। प्रकृति बहुत अहम् भूमिका निभाती है, लेकिन (उसके द्वारा) रच दिये गये रूपाकारों के चलते वह भिन्न रूप ले लेती है। मैं समझता हूँ कि हर कलाकार को अपने प्रशिक्षण के लिए अपने उस्तादों का चुनाव करना चाहिए। मुमकिन है कि वे बहुत ज़्यादा प्रभावित हो जाएँ, लेकिन अगर उनमें चुनी गयी परम्परा की चेतना होती है, तो वे उसे निश्चय ही समझते हैं।

मैं अपने रास्ते पर चलता जाता हूँ, उस सूरत में भी चलता जाता हूँ जब मेरे गुरु मुझे कुछ देर के लिए मेरे स्वत्व के अहसास से वंचित कर देते हैं। इटली में मैंने उन्हें बहुत क़रीब से देखा था और वे मुझसे कहा करते थे : 'जाओ, अपना सत्य खोजो।'

जीद को पढ़ते हुए अन्ततः मुझे उनको सच्चे रूप में पेश करती एक पुस्तक हाथ लगी, जो बहुत अच्छी है :

नथेनियल, अब तुम मेरी पुस्तक फेंक दो। जो कुछ भी तुमने पाया है, उससे मुक्त हो जाओ! मुझे छोड़ दो; तुम मुझे सता रहे हो; तुमने मुझे जकड़ रखा है, तुम्हारे प्रति मेरे अतिरंजित प्रेम ने मुझे घेर रखा है। मैं यह ढोंग करते हुए तंग आ चुका हूँ कि मैं किसी को सिखा सकता हूँ। मैंने तुमसे कब कहा था कि मैं तुम्हें अपने जैसा बनाना चाहता हूँ? मैं तुमसे प्रेम करता ही इसलिए हूँ कि तुम मुझसे भिन्न हो; मैं तुम्हारी उसी चीज़ से प्रेम करता हूँ जो मुझसे भिन्न है। सिखाऊँ! फिर मुझे कौन सिखाएगा? नथेनियल, क्या मैं बताऊँ? मैंने अन्तहीन रूप से खुद को शिक्षित किया है। करता रहता हूँ। मैं जो कुछ भी कर सकता हूँ, उसको लेकर मुझे कभी उलझन नहीं होती।

नथेनियल, मेरी पुस्तक फेंक दो; उससे सन्तुष्ट मत हो जाओ। यह मानकर मत चलो कि तुम अपना सत्य कहीं और पा सकते हो; यह सबसे ज़्यादा शर्मनाक है। अगर मैं तुम्हारा भोजन जुटाऊँगा, तो तुम्हारी उसे खाने की चाह नहीं रह जाएगी; अगर मैं तुम्हारा बिस्तर बिछाऊँगा, तो तुम (महज़) सोने के लिए उसपर नहीं सो पाओगे।

मेरी पुस्तक फेंक दो; खुद से कहो कि यह जीवन की एक हज़ार सम्भावित मुद्राओं में से महज़ एक मुद्रा है। उस कर्म को जानो जो किसी दूसरे (व्यक्ति) ने भी किया होता (और) वह मत करो। जो तुम्हारी ही तरह किसी दूसरे ने कहा होता, वह मत कहो - मत लिखो वह जो तुम्हारी ही तरह किसी और ने लिखा होता। अपने प्रति आसक्त मत बनो, सिवा उस स्थिति के जब तुम्हें लगे कि इस आसक्ति का अवलम्ब

तुम्हारे सिवा अन्यत्र नहीं है, और तुमने प्रतिक्रिया की है, अधैर्य के साथ या धैर्य के साथ, आह! (वही) मनुष्यों में सबसे अद्वितीय मनुष्य है।

मेरी दुनिया झुँझला देने वाली है। मैं इसे छोड़ देना चाहता हूँ। मुझे बताया गया है कि साँ ज़्मा दे प्रेस में काफ़ी चहल-पहल है। मैं जाकर देखना चाहता हूँ कि क्या वहाँ कुछ दिलचस्प है।

तुम जानती हो कि मैं तुमसे मिलकर हमेशा खुश होता हूँ। मैं कहूँगा कि यह एक ज़रूरत है। नहीं जानता कि मेरे विचारों से तुम्हें ऊब होती है या नहीं। लेकिन हम तब भी ऊबे हुए हैं।

तुम्हारा,

रज़ा

पेरिस, ५ जुलाई १९५३

प्रिय जानीन,

तुमने मुझे एक ऐसी अनुभूति से परिचित कराया था जो अजनबी लगती थी, जो उन दूसरों से सम्बन्ध रखती थी जिनसे मैं नफ़रत करता था, आनन्द की वह मधुर अनुभूति, जो (अब) सिर्फ़ मेरी हो सकती है।

तुमने मेरे भीतर एक ऐसी अनुभूति जगायी है, उसकी सम्पूर्णता में, जिसे कैसे बयान किया जाए, मैं नहीं जानता, और तब भी वह मेरे सारे ख़तों में ज़ाहिर होती है, जबकि मैं उसके बारे में बात नहीं करता। तुमने मुझे क्षणों की उस विलक्षण मोहकता को समझने के लिए भी प्रेरित किया है जिसे मैं अक्सर नज़रअन्दाज करने या बरबाद करने की भूल किया करता था। मैं कैसे बताऊँ कि इसका मेरे लिए क्या मानी हो गया है, जो सुख या दुख से भरे दिन और रातों को निगलती रहती थी, इस शून्य के अस्तित्व से बेख़बर।

मैं अपने सपनों में डूबा हुआ हूँ। अनवरत स्वप्न, अगर उनके बारे में सोचता हूँ, तो उदासी से भरे, अगर विशुद्ध अनुभूतियों की उत्कटता के समक्ष समर्पण कर देता हूँ, तो आनन्द से भरे। अब मैं और नहीं खोज रहा हूँ। क्या कोई नयी राह होगी? मैं नहीं जानता। नतीजे - मैं अब उनके बारे में नहीं सोचता।

जानीन, मैं मुस्कराहटों की मीठी फसल का और दुखदायी दिनों के समाप्त होने का इन्तज़ार कर रहा हूँ।

तुम्हारा अपना

रज़ा

२८ मार्च १९५४

प्रिय जानीन,

मुझे अपने विचार तुम तक पहुँचाने के लिए कल पूरे दिन लिखते रहना पड़ा। पोख़्ते दॉग्लियाँ के कैफ़े में जाने की बहुत इच्छा थी लेकिन मैं उसे दबाये रहा। तुम्हें देखते हुए भी तुमसे बात न कर पाना ज़्यादा तकलीफदेह होता।

और अब मैं यहाँ हूँ, और ११.३५ हो रहा है। मुमकिन है तुम अभी भी कैफ़े में हो। कभी-कभी तुम दरवाज़े की तरफ देखती होगी। शायद मैं, यहाँ अकेला हूँ, मेरे सामने तुम्हारी आँखें हैं, कल वाली आँखें।

वे चमकती हैं और मुझे चौंधिया देती हैं।

मैं उन्हें इतना प्यार करता हूँ कि उन्हें इस तरह देखने के लिए दुख भोगता हूँ।

ढेर सारे चुम्बन,

र

जल्दी ही मिलूँगा।

मुझे खुश और जीवन्त रहना ज़रूरी है। और मेरी खुशी, तुम अच्छी तरह जानती हो, इस पर निर्भर करती है कि तुम क्या कहती हो।

उसे पाकर मैं बचाये रखने का निश्चय कर रहा हूँ।

पेरिस, १ जुलाई १९५४

प्रिय जानीन,

सूज़ा की दीर्घा खुल रही है। मैं रावत और इज़ाबेले के साथ गया था, जेनेविएव ने डॉक्टर से मिलने का समय ले रखा था। वे लगभग सोलह चित्र और बीस रेखांकन प्रदर्शित कर रहे हैं। विषादपूर्ण अभिव्यक्ति का भव्य प्रदर्शन - उन तमाम चीज़ों की ही तरह जिससे तुम्हारी अपनी जान ले लेने की इच्छा होती है। सूज़ा वहाँ सीढ़ियों के पास चुपचाप खड़े हुए थे। मैंने उनसे हैलो कहकर हाथ मिलाया। इसके अलावा एक भी शब्द नहीं। मैंने चित्रों और रेखांकनों को देखा। मुझे बेहतर और बड़ी प्रदर्शनी की उम्मीद थी...। अगर आज शाम तुम यहाँ होतीं, तो मुझे अच्छा लगता। मुझे हर कदम पर तुम्हारी याद आती है। सौभाग्य की बात यह है कि मैं तुम्हें लिख सकता हूँ और तुम्हारे ख़त प्राप्त कर सकता हूँ...। उनके सारे कैनवस अकथनीय उदासी से भरे हुए हैं। उन्होंने निश्चय ही दुख भोगा होगा। गुणवत्ता की दृष्टि से उनके सिर्फ़

पाँच-छह चित्र ही मुझे पसन्द आये। रेखांकन कमाल के हैं...। मैं बीस मिनिट रुका और गुडबाई कहे बिना ही वहाँ से चला आया।

मैं दीवाने की तरह काम करना चाहता हूँ। जानीन, मुझे हर दिन ख़त लिखो, जैसे तुम लिखा करती थीं। मैं तुम्हें अपने क़रीब महसूस करना चाहता हूँ - अपने क़रीब। मैं इस वक़्त तुम्हारे सारे ख़तों के साथ हूँ। मेरे सामने तुम्हारा गुलाबी तौलिया है, मैंने उसे अभी-अभी धोया है; आज मैं बेहद थक गया हूँ। आओ, मुझे ढाढस बँधाओ। शुभ रात्रि।

शुक्रवार, १२.१०

आज सुबह मैं माइयू के यहाँ था और श्रीमती कैले के साथ डेढ़ घण्टे की हिन्दी कभी बहुत सुखद नहीं होती, सिवा उस समय के जब मैं ६०० फ्रैंक लेकर उनके घर से निकलता हूँ। लौटकर मैंने रावत की मदद की, जो शनिवार को शहर छोड़ रहे हैं। सम्भवतः यह सिलसिला दोपहर के बाद जारी रहेगा। लेकिन मैंने सब कुछ के बावजूद काम करने का पक्के तौर पर फ़ैसला कर लिया है।

तुम्हारा ख़त एकमात्र सान्त्वना है। मेरी जानीन, तुम्हारी वजह से ही मुझमें जीवन है।

तुम्हारा रज़ा

आज शाम को मिलेंगे,

तिथि अंकित नहीं

...उसने (स्पष्ट नहीं कि किसने) मुझे अपने स्कूल के बारे में, नृत्यों के बारे में, अपने प्रेम-सम्बन्धों के बारे में और साँ जेग़्माँ के जीवन के बारे में क़िस्से सुनाये। और फिर तुम्हारे बारे में, बहुत ही सौम्य ढंग से बात की, और फ़िलहाल उसकी गहरी इच्छा तुम्हारे साथ नाचने की है। उसका कहना है कि तुम बहुत खूबसूरत हो। लेकिन बहुत चतुर भी। वह जानने को उत्सुक है कि मैं क्यों नहीं नाचना सीखता। 'यह अच्छा होता है। यह बहुत मुश्किल नहीं है। मैं अब बहुत अच्छा नाचता हूँ। नहीं, यहाँ ठीक नहीं है, इस शहर में। जानीन से कहो। उससे मिलो, वह तुम्हें सिखा देगी ...वग़ैरह, वग़ैरह।'

मैंने उसे हम लोगों के बारे में (क़तई) कोई संकेत नहीं दिया। इसके विपरीत, मैंने उससे कुछ हाल-चाल पूछे। उस बेवकूफ़ को पता ही नहीं है कि मेरा क़िस्सा काफ़ी पुराना हो चुका है, और जो रिश्ता मैंने बनाया है, वह अनन्त काल तक बना रहने वाला है। एक दिन उसे पता चल जाएगा, जैसे हर किसी को।

बारिश होने लगी। बर्फ़ के छोटे-छोटे फ़ाहे गिरने लगे, जिन्हें फ़्रांसीसी में क्या कहा जाए, यह मैं कभी नहीं जान पाऊँगा।

मुझे यह अच्छा लग रहा है कि मैंने हिन्दुस्तान के बारे में बात की। या सिर्फ़ अपने बारे में बात की जोकि मैंने अन्त में की।

तुम्हारे एक लिफ़ाफ़े पर मैंने नीस की तस्वीरें देखीं। क्या तुम आगा खान से मिली हो? इस लिफ़ाफ़े पर मैं लिखावट बदल दूँगा, लिफ़ाफ़ा तक बदल दूँगा ताकि इसकी ओर दुष्ट लोगों का ध्यान न जाए।

माइ डियर, मैं पोस्ट ऑफ़िस में हूँ। आख़िरी निकासी के लिए सिर्फ़ पाँच मिनिट बचे हैं। दो दिन पहले मुझे तुम्हारा मनी ऑर्डर मिला था। समझ में नहीं आता कि इसके बारे में कैसे लिखूँ। जानीन, मुझे अल्मारी में भी ढेर सारी चीज़ें मिली हैं।

मुझे ख़त लिखो - तुम्हारे ख़त मुझे असाधारण आनन्द देते हैं, और काम करने की शक्ति भी।

तुम्हारे लिए, रज़ा

पुनश्चः बहुत ज़्यादा औपचारिक मुलाक़ातों से बचो।

प्यार,

रज़ा

पेरिस, २१ जुलाई १९५४

प्रिय जानीन,

मैं तुम्हें एक पत्र भेज रहा हूँ जो मैं हुसैन को भेजना चाहता हूँ और मैं चाहता हूँ कि तुम इसे मॉतों भेज दो। मैंने इसे बन्द नहीं किया है। तुम इसे पढ़ सकती हो। तुम देखोगी कि इसमें एक फॉर्म है जिसे मैंने अपनी ही लिखावट में पहले ही भर दिया है। इसलिए इसे ठीक से बन्द कर रजिस्टर्ड पत्र के रूप में भेजना। इसमें अतिरिक्त टिकिट लगाने होंगे। मैंने सिर्फ़ सौ फ़्रेंक का ही टिकिट लगाया है।

मैं कल तुम्हें फ़्रांसीसी अनुवाद भेजूँगा। मेरा ख़याल है पत्र उसके लायक़ ही है, और अगर मैं वह करना चाहता हूँ जो करने की मेरी इच्छा है, तो यह उससे भिन्न नहीं हो सकता। जैसाकि (पुनश्च) के अन्तर्गत मैंने लिखा है, मैं कुछ हफ़्तों के लिए पेरिस छोड़कर दक्षिण फ़्रांस जा रहा हूँ। यह इसलिए है क्योंकि मैं बिल्कुल भी नहीं चाहता कि इस महीने मुझे परेशान किया जाए, ताकि मैं काम कर सकूँ।

मैं यह पत्र पोस्ट ऑफ़िस पहुँचाने की जल्दी में हूँ। मैंने तुम्हें एक पत्र सुबह भेजा था और शाम को लिखना, जारी रखूँगा।

मेरे मन में तुम्हारे प्रति जो स्नेह है, काश मैं उसे इन काग़ज़ों में उँडेल सकता।

ढेर सारे चुम्बन। जल्दी मिलूँगा।

रज़ा

अभी भी २ जुलाई है।

अभी यह घटनाओं से भरे दिन की सिर्फ़ शाम हुई है।

और यह 'मैं' हूँ जो अकेला हूँ और शान्त।

मुझे गर्व है एक देश पर, समृद्ध और वैभवपूर्ण, पूरी तरह से मेरा।

मैं वहाँ जाऊँगा, रहने और प्रेम करने।

पूरी तरह।

रात १०.३०...एक रेखांकन बुरी तरह बिगड़ता ही चला जा रहा है।

तिथि अंकित नहीं

मैं साहित्य की परवाह नहीं करता, लिखते समय, विचार अस्तित्व से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो उठता है। और परमेश्वर ही जानता है कि आज अस्तित्व ही सबसे ज़्यादा मानी रखता है। अपने ख़तों के सहारे मैं हर पल खुद को तुम्हारे साथ बाँधता जाता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं नाचता हूँ, मैं हँसता हूँ, मैं रोता हूँ, बेक़ाबू।

उन्हें मेरे आँसुओं और मुस्कराहटों की तरह लो। इसमें प्रेम मेरी उपलब्धि होगी। मैं इसमें सफल होऊँगा। बुरी बात यह है कि ज़रूरत से ज़्यादा सोचने की मेरी बहुत बुरी आदत है (हो सकता है, यही किसी दिन मेरी शक्ति बन जाए)। मुझे अब तक की सारी घटनाओं को संक्षेप में रखना मेरी मज़बूरी है। मेरा ख़याल है कि सब कुछ अच्छा और सही है। और इससे भिन्न नहीं हो सकता था। मेरी सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी तुम हो।

इसके अलावा, एक ही चीज़ है जो मुझे सही या ग़लत साबित कर सकती है : चित्र। देखेंगे।

ढेर सारे चुम्बन, शुभ रात्रि। कल मिलेंगे।

रज़ा

पेरिस, ६ जुलाई १९५४, सुबह ९.३०

क्या तुम जाग चुकी हो? क्या मेरी ने तुम्हारा 'लज़ीज़' नाश्ता तैयार कर दिया है? एक बार फिर, मैं हैलो कह रहा हूँ और यह मैं इस सुबह ख़ास तौर से कहना चाहता हूँ। क्योंकि जीवन अन्ततः बहुत सुन्दर

चीज़ है। मैं तुम्हारा पत्र और दो पोस्टकार्ड पाकर खुश हूँ। गोर्बियो से आया ख़त मुझे बहुत पसन्द आया और मुझे उम्मीद है, मैं उस पर आज बाद में काम करूँगा। हाँ, मेरी जानीन, मुझे इस समय गोर्बियो में होना चाहिए था - मॉतों से मात्र सात किलोमीटर दूर! एक दिन मैं निश्चय ही प्रोवाँस में बस जाऊँगा।

मेरी प्रिया, आज की सुबह कल की सुबह से ज़्यादा असाधारण है। कई दिनों से यहाँ का मौसम ख़राब था - मैंने तो ओवरकोट लगभग निकाल ही लिया था। मैं सोच रहा था कि क्या सूरज तुम्हारे प्रति (जहाँ तुम हो, वहाँ) ज़्यादा उदार नहीं है। सौभाग्य से बाहर ज़बरदस्त चमक है, जो दिमाग आत्मा को दीप्त कर रही है। तुम्हारा ख़त ८.१५ पर आया। मैंने एक कैफेटेरिया में, एक तनहा मेज पर, पढ़ते-पढ़ते सोचते हुए अच्छा ख़ासा आधा घण्टा बिताया। और उसके बाद मैंने गुनगुने और ठण्डे पानी से नहाया। जानता हूँ कि दक्षिण का समुद्र कुछ अलग ही चीज़ है, लेकिन यहाँ, इस छात्रावास में यह सबसे बड़ा आनन्द है।

मैं तुम्हें पूरी तरह बदला हुआ महसूस करता हूँ। जानीन, मेरी जानीन। मैं तुम्हें अन्तहीन कोमलता से प्यार करता हूँ। तुम्हारे ख़तों में मुझे बहुत गहरी समझ दिखायी देती है, जिसकी मैं तहे-दिल से आकांक्षा करता हूँ। इसलिए, मुझे पूरी उम्मीद है, लेकिन मुझे लगता है कि जो तय है उसे स्वाभाविक और स्वाधीन ढंग से विकसित होना चाहिए। वह समय लेगा।

जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरा प्रेम तो अपनी अनन्यता से ही सिद्ध है। यह प्रेम का एकमात्र सबूत होता है। मुझपर जुनून सवार है और मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि अब दुनिया की कोई ताकत मुझे तुमसे अलग नहीं कर सकती।

मैं ठीक-से काम करता हूँ। और यह वह काम है जहाँ तुम सही समय पर मददगार होती हो और जिसको लेकर तुम्हें भी उतना ही गर्व होगा जितना मुझे है। सच कहूँ, तो मुझे बहुत-सी यात्रा करनी है। होक्यमबोह्य कल्पना को उत्प्रेरित करने वाला गाँव है। सारे तत्त्व प्रकृति में निहित हैं। रोमन छतें किसी अमूर्त चित्र से मिलती-जुलती हैं। मेरी जानीन, इस तरह के कार्ड मेरे लिए बहुत अधिक अपरिमित रूप से मददगार होंगे। सौभाग्य से तुम्हें उनको चुनना आता है। बिना संकोच किये और भी ख़रीदना।

प्यार।

रज़ा

२.१५

मैंने काम किया, खाना खाया और दोपहर की थोड़ी-सी नींद के बाद इस ख़त को डाक के डिब्बे में छोड़ने से पहले इसमें कुछ शब्द और जोड़े। सूरज डूब गया है। तुम मेरी सलाह की बहुत परवाह नहीं करतीं लेकिन मेरा कहना है कि तुम समुद्र में बहुत दूर तक मत जाया करो। ये खेल पहले मज़ेदार हुआ करते थे।

अब तुमपर अपने रज़ा की ज़िम्मेदारी है। और मेरा यह भी आग्रह है कि अगर पानी बहुत ठण्डा हो, तो उसमें ज़्यादा देर मत रहा करो। मैं सचमुच चाहता हूँ कि मौसम, सुन्दर हो और तुम्हें एकदम सही वातावरण मिले। मैं तुम्हारी त्वचा को देखने का इन्तज़ार नहीं कर सकता।

मैं वादा करता हूँ कि वाइन के मामले में मैं सावधानी बरतूँगा, ठीक से खाऊँगा और अपनी सेहत का ख़याल रखूँगा।

११ जुलाई १९५४

जानीन,

मेरे ख़तों को सँभालकर रखना।

तरह-तरह के अहसासों के बीच जो कुछ कहा गया होता है, उसमें सोच-विचार बहुत कम होता है। तात्कालिक तौर पर कही गयी बातें हवा में उड़ जाती हैं। कृत्य, तथ्य, सारे क़िस्से हज़ारों व्याख्याताओं में (खो जाते हैं) स्मृतियाँ धुँधले अतीत में बिला जाती हैं। ये ख़त अपरिवर्तनीय वास्तविकता हैं जो टिकी रहेगी। इन्हें सँभालकर रखो।

इनमें मैं हूँ। मैं अपने ख़तों के माध्यम से खुद को समर्पित करता हूँ। और तुमसे कहता हूँ। क्योंकि मुझे पूरी तरह से तुम्हारे भरोसे की ज़रूरत है। मुझे तुम्हारे लिए यक़ीन दिलाना ज़रूरी है कि इस दुनिया में ऐसे लोग हैं जो प्रेम कर सकते हैं और प्रेम को पाने की पात्रता रखते हैं।

मुझे तुम्हारे लिए यह विश्वास दिलाना ज़रूरी है कि सच्चा प्रेम अनन्य होता है और मैंने सिर्फ़ एक व्यक्ति को पुकारा है और वह व्यक्ति तुम हो। परमात्मा मुझे शक्ति दे कि कि 'मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ' इस तरह कह सकूँ जिस तरह कभी नहीं कहा गया।

कुछ ही घण्टों के भीतर मैं मॉतों में, तुम्हारे पास होऊँगा। तुम्हें शायद मेरे स्वागत की तैयारी करनी पड़े। मैंने ऐसी उत्कण्ठा कभी महसूस नहीं की। तुम मेरी परिस्थितियों की बेहूदगी से वाक़िफ़ हो, और अगर मैं आ रहा हूँ, तो इसलिए कि मेरा समूचा वजूद तुम पर केन्द्रित है। इस अवस्था तक पहुँचने में मेरी साँसें थमने लगती हैं। मैं जीना चाहता हूँ।

मुझे आने में दो दिन लगेंगे, लेकिन मैं अभी, इस ख़त के माध्यम से, अपना जीवन तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ और तुम्हारा हाथ माँग रहा हूँ।

मैं तुम्हें दो साल से जानता हूँ। मैं अपनी सामर्थ्य भर चाहता था कि तुम मुझसे दूर चली जाओ, उतनी दूर जितनी तुम चली गयी थीं। मेरा अतीत डरावना रहा है। मैं अकेला था, कड़ुवाहट से भरा हुआ,

अपनी परिस्थितियों के प्रति चौकन्ना। मैं नहीं चाहता था कि मेरी छाया तुम्हारी राह में आती। इस तरह, महीनों बिताये जा सकते हैं।

याद करता हूँ : मैंने तुम्हें एक आराध्य में बदलते देखा। मुझे लगा कि तुम मेरे हृदय के गड्ढे को पूर रही हो। और अब मैं तुम्हें एक-एक रेशे और एक-एक पल में फैला हुआ पाता हूँ।

मैं मॉतों में दस दिन की छुट्टियाँ बिताने नहीं आ रहा हूँ। मैं एक आजीवन रिश्ता जोड़ने आ रहा हूँ, तुम्हारे लिए अपनी अपरिहार्यता साबित करने। हमारा संघर्ष बहुत बड़ा होगा। तुम सब कुछ जानती हो। लेकिन तुम्हारे साथ होने पर मैं हर बाधा को दूर करना सीख जाऊँगा। मेरे संघर्ष को तुम्हारे संघर्ष में बदलना होगा, मेरा जीवन उसे थामेगा, हमारा होगा वह। ज़रूरी होगा कि मेरी ही तरह तुम भी इस सामंजस्य की कामना करो, और हम दोनों मिलकर जिस शक्ति को रचेंगे, वह हर मुश्किल पर विजय पा लेगी।

मैं तुम्हें अपनी बाँहों में लेने आ रहा हूँ। मैं तुमसे कुछ इस तरह यह कहने आ रहा हूँ कि 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ', जैसे कभी नहीं कहा गया। मैं अपने होंठों को तुम्हारे होंठों में डुबा देने आ रहा हूँ। मैं साँस लेने आ रहा हूँ। मुझे अभी से महसूस होने लगा है कि धरती काँप रही है, आकाश प्रतीक्षा कर रहा है।

रज़ा

पेरिस, १२ जुलाई १९५४

प्रिय जानीन,

मैंने तुम्हारे ख़त और रेत से अपना चेहरा मला, और फिर उसे चूमा, उसपर हर कहीं हस्ताक्षर कर दिये।

कल, इस समय तक पूरा समुद्र-तट मेरा होगा। मैं पानी और धूप में नहाऊँगा। धरती मुझे ऊष्मा देगी और हवा शीतलता, रोशनी मुझे चूमेगी और मैं लगातार तुम्हारी आँखों को चूमूँगा।

स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर ज़ाहिर है मैं सावधानी बरतूँगा। मैं सिर्फ़ तुमसे हाथ मिलाऊँगा। वही एक सौभाग्य होगा। लेकिन उसे जल्दी ही स्टेशन और बुरे लोगों से छुट्टी मिल जाएगी।

जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझे किसी का डर नहीं है, न लोगों का, न नेताओं का, न देवताओं का। तुम 'होने' और 'न होने' के बीच का चुनाव हो, और मैं होना चुनता हूँ और होऊँगा।

मैं शायद तुम्हारे इयरिंग ले आऊँगा। वे मैं तुम्हें पहना दूँगा। मैंने तुमसे कह ही दिया था कि पिछली रात मैंने वे अपने सामान के साथ बैग में रख लिये थे। लगभग सारी तैयारी हो चुकी है। मैं १६,००० फ़्रैंक, वापसी का टिकिट और अनन्त अनुराग लेकर आ रहा हूँ।

इस विलम्ब को लेकर परेशान मत होना। मैं अपने बारे में निश्चित हूँ। सब कुछ ठीक से निपट जाएगा। विश्वास करो कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ और कल पहुँच रहा हूँ। मैं एक केक और त्ज़िानो लाऊँगा। तुम जानती हो कि वह क्या चीज़ है जिसकी प्रतीक्षा करना मुझे सबसे ज़्यादा मुश्किल है - तुम्हारी त्वचा का रंग।

प्रिय, मुझे दुख है कि तुम्हें कमरे की तलाश में इतना ज़्यादा भटकना पड़ा। तुम अपने घर के क़रीब ही कोई कमरा ले सकती थीं, भले ही एक-एक दिन के लिए एक हज़ार फ़्रैंक क्यों न देना पड़ते। फिर हम देखते। मुझे तुम्हारे ऊपर इस तरह का काम थोपना अच्छा नहीं लगता। तुम मेरी को मेरी ओर से शुक्रिया ज़रूर कह देना। उसने मेरी हमेशा मदद की है और इसके लिए मैं उसका बेहद शुक्रगुज़ार हूँ... जब तक तुम्हें यह ख़त मिलेगा, तब तक मैं तट पर पहुँच जाऊँगा। हर पल तुम्हारे क़रीब पहुँचता जाऊँगा। पृथ्वी जितनी विस्तृत होकर मुझे ढँक लो, सोख लो।

कामना करता हूँ कि सूर्य चमकता रहे... कल १३:३२ बजे।

२८ जुलाई १९५४

अजीब संयोग है कि तुम अपना यह जन्मदिन ट्रेन में बिताओगी। मैं इस यात्रा को अर्थपूर्ण मानता हूँ। मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं और हवा के कण-कण में हर कहीं तुम्हारा अनुसरण करती रहेंगी।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण दिन है जो तुम्हें मेरे राज्य में ले आया है। पच्चीस वर्ष, रानी बनने को एक पुरुष का चुनाव करने के लिए एक चौथाई सदी।

इस वक़्त ठीक १० बजकर ५० मिनिट हो रहे हैं। मैं मिलने के लिए आतुर हूँ और इस, अनिर्वचनीय आनन्द से मैं तुम्हारी राह में हर कहीं फूल बिखेर रहा हूँ।

रज़ा

तारीख़ अंकित नहीं, अगस्त १९५४

शनिवार, २३:३०

चूँकि तुम काम पर गयी होती हो, मैं तुमसे शाम को मिलता हूँ, थोड़ी थकी, लेकिन प्रसन्न और मुस्कराती हुई, तुम काफ़ी बदल गयी लगती हो। सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह है कि तुम इतनी सुन्दर कभी नहीं लगती थीं, क़सम खाकर कहता हूँ, मॉतों में भी नहीं जहाँ का वातावरण वास्तव में तृप्ति से भर देने वाला था। और इसके अलावा, तुम अब पहले से ज़्यादा सौम्य, ज़्यादा समझदार, उदार, उस स्वभाव के ज़्यादा अनुरूप हो गयी हो जो मेरी समझ से तुम्हारा वास्तविक स्वभाव है। और इसलिए, जब तुम खुद को मेरी बाँहों में सौंप देती हो, मुझे अन्तहीन सुख मिलता है, इस स्थिति में भी, जबकि हम बमुश्किल घण्टे भर के लिए मिल पाते हैं।

आज शाम विदा होते हुए मैं यही और हम दोनों के बारे में हज़ारों बातें सोच रहा था, इस क़दर कि मुझे ख़याल ही नहीं रहा कि हम तीन दिन तक मिल ही नहीं पाएँगे।

यह हास्यास्पद और बहुत दुखद है। मेरे टी.एस.एफ. ट्रांजिस्टर रेडियो ने भावुक संगीत बजाया। मैंने उसे तीन बार बदला, सुना और बन्द कर दिया। एकबार वहाँ रेडियो पर, कोर्सिका के बारे में चर्चा हो रही थी।

हमें वहाँ हर हाल में जाना होगा, हम दोनों को, जहाँ हमारा अपना एक प्लॉट होगा और सारा समय हमारा होगा, जहाँ से हमें 'खदेड़ने' कोई नहीं आएगा।

मेरे पास तुम्हारा आज भेजा गया ख़त है, जिसे मैंने कई बार पढ़ा, जो मुझे अनुराग से ओतप्रोत लगा। जानती हो कि तुम अब, ज़्यादा खुलकर और उत्तरोत्तर बेहतर ढंग से लिखने लगी हो। और क्या तुम जानती हो कि अब तुम मुझे प्रेम करने लगी हो, जो हर दिन बढ़ता ही जाता है।

मैं तुम्हारी आँखें चूमते हुए तुम्हें शुभ रात्रि कहता हूँ।

पेरिस, १० अगस्त १९५४

प्रिय जानीन,

मैंने बेहद जज़्बात और दुख से भर कर आज सुबह ९.१५ पर तुम्हारी पावती को पढ़ा।

मुझे लगता है कि अब तुम्हें कह देना चाहिए था कि मैं ही तुमसे मिलने आया था। तुम सब कुछ बता सकती थीं।

मुझे नतीजों का अहसास है, लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर तुम ठीक इस वक़्त मेरी ज़िन्दगी में साझा करती होती, तो यह कम तकलीफ़देह होता। क्योंकि उनका रवैया वाक़ई असहनीय है, और अगर मैं तुम्हारी ज़िन्दगी में आ जाता हूँ, तो यह रवैया लम्बे समय तक जारी नहीं रह सकेगा।

मुझे खेद है कि बेचारी मेरी इस मामले में ख्वाहमख्वाह उलझ गयी है, जबकि उसका इससे कोई लेना-देना नहीं है।

काश, मैं तुमसे अभी मिल पाता और बात कर पाता।

मैंने पेरिस के उपनगरीय नक़्शे पर शाम्पीनी एस-माग़्न को ढूँढ़ निकाला है और मैं समझता हूँ कि अगर तुमने हल्का-सा भी इशारा किया होता, या अगर कल मुझसे न आने को न कहा होता, तो मैं वहाँ आकर तुमसे मिल सकता था।

मैं पोख़्ते दे शाग़ोतों के लिए पी.सी. और जोएँवील के लिए बस पकड़ता और फिर वहाँ से टैक्सी ले लेता। मैं शाम्पीनी में हर कहीं तुम्हारा स्कूल ढूँढता और वह मुझे मिल जाता क्योंकि इंसान अगर परमात्मा को भी सच्चे हृदय से खोजता है तो वह भी उसे मिल जाता है।

मैंने पूरा ज़ोर लगाकर इस लोभ का संवरण किया क्योंकि मुझे हर हाल में काम करना ज़रूरी था। अगर मैं लिखता हूँ तो इसलिए कि पीड़ा कम हो सके, तुमसे कह सकूँ कि तुम्हारा दर्द मेरा है, और मैं सब कुछ करूँगा ताकि ये दिन जितना जल्दी मुमकिन हो बीत सकें।

मेरा अभी भी विश्वास है कि जिस रफ़्तार से सब कुछ चल रहा है, उसकी वजह से ऐसा ही होगा, यह मुमकिन होगा, इसे मुमकिन होना होगा। मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है। तुम देखोगी। मैं जानता हूँ कि इस वक़्त सब कुछ मुश्किल लग रहा है और हालात कभी-कभी हास्यास्पद हो उठते हैं। हम इस स्थिति से बाहर निकल जाएँगे। हम आज़ाद होंगे, हमारा अपना जीवन होगा, हमारा सुख होगा। तुम्हें अपने चित्त को शान्त रखना होगा। तुम्हें भविष्य की खुशहाली के बारे में सोचना चाहिए, और यह सोचना चाहिए कि तुम्हारी सारी बाधाएँ, मुश्किलें और दुख हमें एक-दूसरे को और भी अधिक प्रिय, और भी अधिक मूल्यवान बना देंगे। हम जीवन को जीने लायक बना देंगे। यह सब होगा और तब तुम मुझसे कहोगी : क्या तुम्हें वह दिन याद है, और वह दिन याद है...

फ़िलहाल तो प्रिय जानीन, सिर्फ़ इतना सोचो कि हम एक-दूसरे को प्रेम करते हैं और इसी वजह से हम एक-दूसरे को पा लेंगे।

सब कुछ तुम्हारे लिए और हमेशा के लिए।

रज़ा

पेरिस, बुधवार, २२ सितम्बर

प्रिय जानीन,

लगता है मैं तुम्हारे बिना कुछ भी नहीं कर सकता। मुझे हर पल तुम्हारी ज़रूरत महसूस होती है और इन दिनों जब कमरे की समस्या मुझे किसी प्रेत की तरह सता रही है, मैं कामना करता हूँ कि तुम यहाँ होतीं। जानती हो, डार्लिंग, इस महीने के समाप्त होने के पहले मुझे कुछ करना बेहद ज़रूरी है - अक्टूबर में यह असम्भव हो जाएगा। गुइ में छात्रों की संख्या हर दिन बढ़ती जा रही है और इस मोर्चे पर मैंने सारी उम्मीदें खो दी हैं।

मुझे जल्दी ही अपने दोस्तों के पास जाकर कमरे के लिए बात करनी होगी।

इसका मुझपर भयानक दबाव है, और लगता है कहीं ऐसा न हो कि १५ अक्टूबर के बाद मुझे किसी होटल में शरण लेनी पड़े।

आज शाम मैं घर की तरफ चल पड़ा मैंने श्लेसिंगर के साथ थका देने वाला दिन बिताया था; और घर पर लगभग छह बजे मुझे तुम्हारा ख़त पड़ा मिला जिसने मुझे आनन्द से भर दिया। मेरी छोटी-सी चुहिया, मेरा ख़याल है, मेरे साथ है और मेरे लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। मैंने आज दोपहर में ही तुम्हें ख़त भेजा है और यह मेरा दूसरा और साँ गफ़ैल में भेजा गया सम्भवतः आख़िरी ख़त है। विश्वास करो, ऐसा सिर्फ़ इसलिए है क्योंकि मुझे यह भी नहीं पता है कि तुम्हारे पास इतना समय भी है कि तुम पोस्ट ऑफ़िस जाकर इसके बारे में पता लगा सको। पोस्ट ऑफ़िस को डाक रोककर रखने के लिए लिखना दुखद है, जबकि आज मैं कैनवासों पर चीख सकता हूँ कि मैं उसे प्यार करता हूँ, मैं उसे प्यार करता हूँ, अपनी छोटी-सी रेटोनी को मैं प्यार करता हूँ। तब भी, यह सुविधाजनक है कि कुछ समय यही सिलसिला जारी रहे। मैं सचमुच ही तुम्हें लिखना चाहता हूँ, जो कुछ भी यहाँ करता हूँ उसके बारे में बताना चाहता हूँ, तुमसे हज़ारों सवाल करना चाहता हूँ। उम्मीद है यह ख़त तुम्हारे पास शनिवार तक बल्कि शायद शुक्रवार तक पहुँच जाएगा, और इस बीच तुम मुझे लिखोगी कि तुम वापस कब लौटीं और सोमवार को पोस्ट ऑफ़िस जाने का समय निकाल पायीं या नहीं।

हालाँकि, प्रिय रेटोनी, तुम्हारे जाने के बाद से मैंने बहुत थोड़ा-सा ही काम किया है : मात्र दो पोर्ट्रेट। मुझे श्लेसिंगर के साथ अक्सर बाहर जाना पड़ा, और कल के लिए मैं माफ़ी चाहता हूँ क्योंकि मुझे कुछ काम करना और कमरे के लिए लोगों से सम्पर्क करना ज़रूरी था। मेरे पास नन्हीं बताई को देने के लिए मेले की रसीद भी है। खन्ना अभी भी यहीं हैं, और मैं उनसे अक्सर मिलता हूँ। बंगाली एक हफ़्ते के लिए चला गया है और यह अच्छा ही है। लेकिन तब भी अपने लिए मेरे पास बहुत कम समय बच पाया, और मुझे लगता है कि मैं तुम्हारे साथ बहुत आसानी से साँ ग़फैल आ सकता था। काश कि ट्रेन थोड़ी और आगे तक गयी होती। हाँ, ग़्वाशों को लेकर चिन्ता मत करो। मुझे उसकी ज़रूरत नहीं है। मैं सिर्फ़ इतनी आशा करता हूँ कि रेखांकन और पुस्तक से तुम्हें कोई परेशानी न हो।

मैं तुम्हारे पिता को चित्र बनाते देख सकता हूँ। और तुम्हें, उनको सलाह देते। और तुम्हारी माँ को, जो तुम दोनों को सराहना के भाव से देख रही हैं। अगर वे इस कला को संजीदगी से लें, तो तुम उन्हें एक

चित्रकार का पता दे सकती हो, जो एक अच्छा शिक्षक साबित होगा, ख़ासतौर से अगर मामला लैण्ड स्केप का हो।

रेटोनी

माई डियर, आइ लव यू, गुड नाइट। कल मिलेंगे।

तिथि अंकित नहीं

प्रिय जानीन,

आज के दिन की शुरुआत मैंने तुम्हारे ख़त के साथ की। तुम्हारा तहे दिल से शुक्रिया अदा करता हूँ। तुम जानती हो कि यह मुझे वह शक्ति देता है जिसकी मुझे बेहद ज़रूरत है। लेकिन उसके साथ मुझे घर से आया एक ख़त भी मिला, और मिस्टर रावत का ख़त भी जो आ चुके हैं। इस तरह, भरपूर सामग्री। इस समय शाम के ५ बज रहे हैं। मेरे सामने तुम्हारा ख़त है, और आज सुबह से मैं सिर्फ़ यही सोच रहा हूँ कि कल तुम्हें मेरा ख़त नहीं मिला, और मैं डाक की इस निराशाजनक हालत से अच्छीं तरह वाक़िफ़ हूँ। लेकिन प्रिय, मैंने तुमसे कहा था कि मैं तुम्हारे जाने के पाँच दिन बाद लिखूँगा, बहुत सीधा-सादा लिखूँगा ताकि पत्रों के खोने से बचा जा सके।

फ़ातिमा ने घुटने टेक दिये हैं। वह अपने ख़त में अपने नजरिये के बारे में कैफ़ियत दे रही है, और तमाम ग़लतफ़हमियों को लेकर पछता रही है। मैं जानता हूँ कि यह पैंतरा है। वे देखना चाहते हैं कि मुझ पर इसका क्या असर होता है। मैं उन्हें (महज़) दो शब्द लिखकर कह दूँगा कि अब बहुत देर हो चुकी है, और अब दुनिया की कोई भी ताक़त मेरे फैसले को नहीं बदल सकती। इसके अलावा मैं जल्दी ही पदमसी को लिखकर उनसे शादी और तलाक़ के बारे में जानकारी माँगूँगा। लगता है कि हिन्दुस्तान की संसद में कोई क़ानून पारित हुआ है जो अब लागू हो गया होगा।

अब्दुल्ला मेरे लिए कृपापूर्वक पिछले शनिवार की वर्ल्ड पत्रिका की प्रति लेकर आ रहे हैं जिसमें इसके ब्यौरे हैं। मैं और भी पूछताछ करने जा रहा हूँ और मुझे पक्का विश्वास है कि सारा समाधान निकल आएगा। मेरी रेटोनी, नये क़ानूनों पर भरोसा करो।[३] मैं नहीं समझता कि इन सवालों को लेकर जो बदलाव लाये गये हैं, वे अस्थाई हैं।

हाँ, मैं सोलांज से कहने वाला हूँ कि वे मेरे लिए कोई सही वकील मुहैया कराएँ। मैं यह भी पता करूँगा कि यहाँ किस तरह नोटिस जारी कर तलाक़ की माँग कर सकता हूँ, और क्या चार सालों तक अलग रहना पर्याप्त, जायज़ वजह नहीं है।

मेरी प्रिया, विश्वास करो कि मैं अपने समूचे अस्तित्व से तुमसे प्रेम करता हूँ, और मैं वह सब कुछ करूँगा जिससे समस्याओं का ठीक से समाधान निकल सके। लेकिन यह भी समझ लो कि अगर कुछ भी नहीं हुआ, तो हम शादी करने हिन्दुस्तान जाएँगे।

अपने दिन धूप में रेत पर बिताओ, अपनी सेहत का ख़याल रखो, ठीक-से खाओ, ठीक-से आराम करो, और जितना जल्दी-जल्दी मुमकिन हो, मुझे लिखो। उम्मीद है, तुम्हारे माँ-बाप तुमसे ठीक-से पेश आते होंगे, लेकिन अगर वे तुमसे कुछ बुरा कहते हों, तो यही सोचो कि तुमने इस दुनिया के सबसे भले इंसान का दिल जीता है, वह तुमसे प्यार करता है, और वह तुम्हें सुखी रखने के लिए कुछ भी करने को तैयार होगा। ये दिन गुज़र जाएँगे। मेरे संकल्प पर भरोसा रखो, और विश्वास करो कि मैं पूरी तरह तुम्हारा हूँ। तुम्हारी आँखों का चुम्बन।

रेटोन

मैं अब्दुल्ला से फिर-से मिला था। उन्होंने मुझसे एकबार फिर पूछा कि क्या मैंने तुम्हें लिखा था। मैंने कहा हाँ, लेकिन मैंने मेरी का क़िस्सा नहीं लिखा था। हाँ, उन्होंने कहा, और वे चाहते हैं कि जब तुम आओ तो मेरी तुमसे बात करे। इसलिए इस मामले से तुम्हारा कोई लेना-देना नहीं है। इन ख़तों को सुरक्षित रखना।

तिथि अंकित नहीं

१२.३०

मेरा टी.एस.एफ. (ट्रांजिस्टर रेडियो) मधुर और तीव्र धुनें बजा रहा है। मैं बिस्तर पर लेटा रहा, विक्षुब्ध, सोने में असमर्थ। मेरी खिड़की से तारों भरा आकाश दिखता है जहाँ एक बड़ा और शान्त चन्द्रमा जगमगा रहा है। मेरी टाँगों के बीच आग धधक रही है।

मैं आज रात तुम्हारे उन काँपते होंठों के बारे में सोच रहा था, जो भीगे हुए थे। इस पल मैंने उन्हें अपने होंठों से छुआ होता और फिर अपना सिर उनके बीच रख दिया होता। मैंने तुम्हें झकझोरा होता, नोचा होता, समेटा होता और चूमा होता। मैंने तुम्हें सुला दिया होता और मैं भी सो गया होता।

मैं दिन भर के काम से थके तुम्हारे उदास चेहरे के बारे में सोच रहा हूँ। अब मैं उसे अपनी मुड़ी हुई बाँह का सहारा दिया करूँगा ताकि तुम वहाँ आराम सको। मैं तुम्हें चन्द्रमा से लोरी सुनवाऊँगा, हल्के-हल्के झुलाऊँगा, सहलाऊँगा और सुला दूँगा, और मैं भी सो जाऊँगा।

मेरी जानीन, मुझे उस हर चीज़ से नफ़रत है जो हमें अलग रखती है। मैं अब तुमसे मिलने के लिए और इन्तज़ार नहीं कर सकता।

मेरे चारों ओर चार दीवारें हैं और कई और भी फ़र्श हैं और सीढ़ियाँ हैं और सड़कें हैं। मुहल्ले हैं और ज़मीन के नीचे से गुज़रती एक पूरी-की-पूरी सड़क है, और पीटी. ऑफ वेन्से -

क्या वह दोस्ताना होगा? कल का सूरज। आह, किस क़दर नीरस और दर्दनाक रात रही।

रेटोन

८.१५

बारिश हो रही है। मैं आऊँगा, इस मौसम के बावजूद, चाहे सैलाब ही क्यों न आ जाए। मैं 'उसका' पीछा करूँगा जो जो तुम्हारा पीछा कर रहा है। रात ११.४५ पर जैसाकि तय हुआ था।

तुम्हारा,

र

सुबह १० बजे

तुम्हारी टाइयर समय पर आ गयी है। बारिश और तेज़ हो गयी है। मैं आता हूँ।

तिथि अंकित नहीं

इस सोमवार की दोपहर तुम मुझसे मिलने आयी होतीं। रिम्बाँ की इन पंक्तियों को एकबार फिर से पढ़ो, वही पंक्तियाँ जिनसे तुम परिचित हो।

जादुई फूल गनगुना रहे थे। घास से आच्छादित ढलान उसे हल्के से थामे हुए थे।

अद्‌भुत रूप से आकर्षक जन्तु घूम रहे थे।

जमा हो रहे थे तूफ़ानी बादल अनन्त गर्म आँसुओं से बने उफ़नते समुद्र पर।

जंगल में एक परिन्दा है, उसका गीत तुम्हें रोक लेता है और तुम्हें लजा देता है।

एक दीवार-घड़ी है जो बजती नहीं।

एक गड्ढा है सफ़ेद जन्तुओं का घोंसला है जिसमें।

एक कैथेड्रल है जो डूबता है और एक झील है जो ऊपर उठती है।

झाड़ियों में लावारिस छोड़ दी गयी एक छोटी-सी घोड़ा-गाड़ी है, या वह जो तेज़ी-से भागती है सड़क पर, फीतों से सजी हुई।

जंगल के किनारे से गुज़रती सड़क पर वर्दीधारी बाल-अभिनेताओं का एक दस्ता दिखायी देता है।

जब तुम भूखे और प्यासे होते हो, अन्ततः कोई होता है जो तुम्हें खदेड़ देता है।[४]

सन्दर्भ-सूची

१: सन्तृप्ति का दौर

१. सैयद हैदर रज़ा अशोक वाजपेयी, पैशन : लाइफ़ एण्ड आर्ट ऑफ़ रज़ा, राजकमल बुक्स, २००५, पृ.४०
२. रज़ा के नाम फ़ातिमा की माँ का ख़त, हैदराबाद, तिथि अंकित नहीं
३. वही
४. वही
५. हसन इमाम के नाम रज़ा का ख़त, पेरिस, तिथि अंकित नहीं
६. राजेश रावत के नाम रज़ा का ख़त, पेरिस, २ मई १९५७
७. राजेश रावत और जेनेविएव के नाम रज़ा का ख़त, पेरिस, १ जुलाई १९५६
८. राजेश रावत के नाम रज़ा का ख़त, पेरिस, ८ अप्रैल १९५८
९. गीति सेन, बिन्दु : स्पेस एण्ड टाइम इन रज़ाज़ विजन, मीडिया ट्रांसेसिया इण्डिया लिमिटेड, १९९७, पृ. ७४
१०. अकबर पदमसी, लेखक के साथ एक साक्षात्कार में, बम्बई, फ़रवरी २०१७
११. पैशन, पूर्वोद्धृत, पृ.५६
१२. ज़्याँ द्युशेन, लेखक के साथ एक साक्षात्कार में, पेरिस, अक्टूबर २०१६
१३. रईसा पदमसी, लेखक के साथ एक साक्षात्कार में, पेरिस, सितम्बर २०१७
१४. ज़्याँ द्युशेन, लेखक के साथ एक साक्षात्कार में, पेरिस, अक्टूबर २०१६
१५. मिशेल अम्बाख़, लेखक के साथ एक साक्षात्कार में, गोर्बियो, सितम्बर २०१६
१६. वही
१७. द्युशेन साक्षात्कार, पूर्वोद्धृत

१८. वही

१९. वही

२०. वही

२१. वही

२२. वही

२३. वही

२४. वही

२५. गुसेल साक्षात्कार, पेरिस, अक्टूबर २०१६

२६. द्युशेन साक्षात्कार, पूर्वोद्धृत

२७. रईसा पदमसी, पूर्वोद्धृत

२८. बिन्दु, पूर्वोद्धृत, पृ. ६१

२९. वही

३०. रज़ा के नाम सूज़ा का ख़त, लन्दन, २९ दिसम्बर १९४९

३१. दिलीप पाडगाँवकर, 'ज़्याँ मैजिकल स्पेल', टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, २ मई २००४

३२. जानीन भरूचा, लेखक के साथ साक्षात्कार, पेरिस, सितम्बर २०१७

३३. वही

३४. वही

३५. वही

३६. द्युशेन साक्षात्कार, पूर्वोद्धृत

३७. भरूचा साक्षात्कार, पूर्वोद्धृत

३८. ज़्याँ और कृष्णा के नाम रज़ा का ख़त, पेरिस, १३ अक्टूबर १९६९

३९. www.wikipedia.com

४०. सुनील सेठी, 'इन मेमोरियॅम, कृष्णा रिबॉ १९२७–२०००, www.india&seminar.com २०००

४१. www.wikipedia.com

४२. सुनील सेठी, पूर्वोद्धृत

४३. वही

४४. राजेश रावत के नाम रज़ा का ख़त, पेरिस, २ मई १९५७

४५. वही

२: जादुई फूल गुनगुना रहे थे

१. अनुवादक की टिप्पणी : पदमसी जल्दी ही उनके स्टुडियो 'एतेलिए १७' में शामिल हो गये। पेरिस में उनकी पहली प्रदर्शनी १९५२ में आयोजित हुई। कलाकारों ने अज्ञात रूप से चित्र प्रदर्शित किये थे, लिहाजा उन्होंने फ़्रांसीसी पत्रिका जुग्नेल द'आख़त द्वारा दिया गये पुरस्कार में चित्रकार ज़्याँ कैग्जू के साथ साझा किया था।

२. उनकी पहली पत्नी जिनके साथ अभी तलाक़ होना है।

३. अनुवादक की टिप्पणी : इस पत्र का सम्बन्ध रज़ा की पहली पत्नी से है जो अविभाजित हिन्दुस्तान में रहती थीं, और बाद में पाकिस्तान में रहने लगी थीं। इस वजह से रज़ा और मोंजिला को क़ानूनी मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। इस पत्र में वे अपने विवाह की योजना बना रहे हैं और रज़ा के पिछले वैवाहिक सम्बन्ध को तोड़ने का तरीक़ा खोज रहे हैं।

४. आर्थर रिम्बाँ, इल्युमिनेशन्स , पी.एन. रिव्यू १९९, खण्ड ३७, अंक ५, अनु. जॉन एशबरी, मई-जून २०११

ऐसे कटता है दिन और अन्य कविताएँ

ध्रुव शुक्ल

बिदाः २०२०

इतनी दुर्गत
अन्याय सतत
आगत विगत अनागत
मत-सम्मत
सब आहत
जग क्षत-विक्षत

डूबता रहा देश
ऊबता रहा काल
घेरता रहा जीवन को
कपट कुशल
विश्वतरंगजाल

क्या भल-अनभल
जीवन को दल
दुर्भाग्य प्रबल
केवल छल, केवल छल

भर पायेगा अपकर्ष
नये वर्ष में हर्ष?

दो हज़ार ईसवी सन बीसा
दारुण दुख दे बीत रहा

हे! ईसा

राम दुहाई! ये कैसी चौपाई!

बड़े भाग मानुस तन पावा।
हम को घेरे बाज़ार छलावा।।
बाढ़े खूब कुटिल अभिमानी।
होती राज धरम की हानी।।
बाढ़े खल बल चोर जुआरी।
कीसें कहें बिपति अति भारी।।
झूठइ लेना ----झूठइ देना।
झूठइ भाषन झूठ चबेना।।
सब दल कल्पित करहिं अचारा।
बरनि न जाय अनीति अपारा।।
जागो जन सब विविध शरीरा।
सब मिल हरो देश की पीरा।।

विकल सभी जन देश के। सूझ परहिं नहिं पन्थ।।
पाखण्डवाद के सामने। गुमसुम सब सदग्रन्थ ।।

ऐसे कटता है दिन

नींद खुलते ही
प्रार्थनाओं में बीनता हूँ शान्ति
जो भंग होती है अख़बार से
भरी रहती हैं जिसमें आवाज़ें
पाखण्ड, छल और लोभ की

आँख मूँदकर
कर लेता हूँ भरोसा
धर्म के पाखण्ड पर
राजनीतिक छल पर
बाज़ार के लोभ पर
समय नहीं पछताने का
अपने आप पर

टेलीविज़न पर
आलाप लेते शोर में
बीनता रहता हूँ शब्द
हिन्दू और मुसलमान

सड़कों पर भूसे की तरह
उड़ती चली आती भीड़ में
किसको पास बुलाऊँ
किससे दूर चला जाऊँ

आवाज़ों के कचरे में
दिन भर कचरा बीनता रहता हूँ
खाली हाथ लौटता हूँ घर

शाम ढलते ही आती है याद
वह लड़की
जो कचरे से कचरा बीनकर
पीठ पर बोरी लादे
जा रही होगी कबाड़खाने की ओर

यौं है तो क्यों है

बता न पाये कोई
जीवन यौं है
बता न पाये कोई
ऐसा है तो क्यों है

कैसा होकर यौं है
ऐसा होकर क्यों है
जैसा होकर यौं है
वैसा होकर क्यों है

सबकी अपनी यौं यौं
सबका अपना क्यों क्यों
हा हा ही ही हों हों
धा धा धी धी धों धों
ऐसा क्यों है
वैसा क्यों है

क्या जीना ज्यों का त्यों है
क्या मरना ज्यों का त्यों है
यौं है तो क्यों है

महाकाव्य की राख

चिता जल रही महाकाव्य की
रचा-बसा था जिसमें जीवन
बहुरंगी पुरुषार्थ कथाएँ

बहुअर्थी परमार्थ व्यथाएँ
कौन ले गया
इसके शव को श्मशान तक

महाकाव्य का अग्निदाह
जल रहे शब्द
बसे हुए अर्थों में जलते
नव रस से उठती विकल भाप
जलते महाकाव्य की देह-गन्ध
छा रही शेष जीवन पर
धुएँ में डूब रहे सब छन्द
चिंगारी बन होते विलीन
भाषा की लय में बसे भाव
आग में चटक रहे वाक्यों से
बिखर रहे सब अलंकार
खाक हो रही सब उपमाएँ

महाकाव्य की राख
कौन जाने कब होगी ठण्डी
फिर होगा इसी राख से
जन्म किसी कवि का
फिर होंगे शब्द प्रकाशित
दर्शन होगा जीवन छवि का

बेख़बर बनाती ख़बरें

हिंसा की ख़बरें
प्रचार हैं हिंसा का

जो प्रेरित करती हैं --
आप भी करके देखें हिंसा

राजनीति की ख़बरें
प्रचार हैं भ्रष्ट राज्य-व्यवस्था का
जो प्रेरित करती हैं --
आप भी मज़े मारें भ्रष्ट होकर

बाज़ार की ख़बरें
प्रचार हैं मनमानी लूट का
जो प्रेरित करती हैं --
आप भी लूट सकें तो लूटें

धर्म की ख़बरें
प्रचार हैं उस जड़ता का
जो प्रेरित करती हैं --
आप अपने आपको भूलकर जीते रहें

अख़बार के किसी कोने में
जगह पा गयी भलाई की ख़बर
सन्देह से भरती है --
अरे, यह अभी बची रह गयी है!

कोई ख़बर अब ख़बरदार नहीं करती
बेख़बर बनाती है

ओ मेरे भारत के जन

रवीन्द्रनाथ टैगोर की स्मृति में

भटक गये हैं देश के बादल
सूख रहा है देश का जल
बाँझ हो रही देश की धरती
पशु-पंछी सब यहाँ विकल
बदल गये हैं बीज देश के
बिलख रहे हैं यहाँ किसान
हुनरमन्द असहाय देश के
दो रोटी में अटकी जान
बिखर गया है देश का आँगन
और मर रहे देश के गाँव
भूल गये अपनी पगडण्डी
ठिठक गये हैं देश के पाँव
बिगड़ गयी है देश की बानी
डूब रहा है देश का मन
जहरीली है हवा देश की
टूट रहे हैं देश के तन
अकड़ रहे हैं देश के नेता
पकड़े परदेसी का हाथ
देश बँट गया जात-पाँत में
कोई नहीं है सबके साथ
बेच रहे जो देश के साधन
लूट रहे जो देश का धन
उनको कब तक क्षमा करोगे
ओ मेरे भारत के जन

दबे पाँव बढ़ते हैं कद्दू

इतने मोटे-तगड़े कद्दू
लगें देखने में ये फद्दू
कुछ भोंदू-से
कुछ तोंदू-से
बड़े-बड़े-से ढोल
इनकी चितकबरी है खोल

बीज छिपा है इनके भीतर
जिससे ये अपनी बेल बढ़ाकर
घर के छप्पर पर चढ़ते हैं
हरे-हरे पत्तों में छिपकर
दबे पाँव बढ़ते हैं

चुपके-चुपके वजन बढ़ाकर
घर के खपरे फोड़ें
जो ढोता है इनको सिर पर
उसकी कम्मर तोड़ें

कद्दू के आगे छोटी दिखतीं
खरबूज़ों की फाँकें
खट्टे-मीठे आम सभी
कद्दू का मुँह ताकें
कद्दू देखें लाल-लाल जब
तरबूज़ों की आँखें
पीले और केसरिया कद्दू
आपस में मुँह ताकें

दुख जाते-जाते रह जाता है

कुछ छिपते-छिपते दिप जाता है
कुछ दिपते-दिपते छिप जाता है
कुछ ढहते-ढहते रह जाता है
कुछ रहते-रहते ढह जाता है

चुप रह जाता कोई कहते-कहते
कोई चुप रह कर कह जाता है
रह जाता है सुख आते-आते
दुख जाते-जाते रह जाता है

आँसू बह-बह कर रह जाता है
रह-रह कर आँसू बह जाता है

कहाँ मिलेंगे
जन-गण मंगलदायक भरे बाज़ार में!

बने-बनाये घर मिलते बाज़ार में
बने-बनाये डर मिलते बाज़ार में
बने-बनाये पर मिलते बाज़ार में
नहीं मिलती है
अपने मन की उड़ान भरे बाज़ार में!

बने-बनाये प्रेम मिलें बाज़ार में
बने-बनाये फ्रेम मिलें बाज़ार में
बने-बनाये गेम मिलें बाज़ार में
नहीं मिलता है

अपने मन का खेल भरे बाज़ार में!

बने-बनाये मुख मिलते बाज़ार में
बने-बनाये रुख मिलते बाज़ार में
बनी-बनायी तुक मिलती बाज़ार में
नहीं मिलती है
अपने मन की बात भरे बाज़ार में!

बने-बनाये नेता मिलें बाज़ार में
बने-बनाये अभिनेता मिलें बाज़ार में
बने-बनाये विक्रेता मिलें बाज़ार में
कहाँ मिलते हैं
जन-गण मंगलदायक भरे बाज़ार में!

बने-बनाये स्वाद मिलें बाज़ार में
बने-बनाये वाद मिलें बाज़ार में
बने-बनाये विवाद मिलें बाज़ार में
नहीं मिलता है
जीवन का संवाद भरे बाज़ार में!

होता रहता प्रकट, रटा-रटाया दुख
बने-बनाये सुख, पटे पड़े बाज़ार में
कहाँ जरूरत कुछ रचने की
सब मिलता है बना-बनाया भरे बाज़ार में!

प्रेम तुम से जैसे पृथ्वी से

प्रेम करता हूँ तुम से

जैसे पृथ्वी से

सुनायी देती है तुम्हारी देह में
जलों की आहट
लिपटी रहती है मुझ से
तुम्हारे स्पर्श की गन्ध
समायी हो मेरी देह के आकाश में
सूरज-जोत-सी

मैं अँकुराये बीज-सा
जड़ जमाता तुम्हारी देह में
रचती हो तुम मुझे
वृक्ष की तरह

तुम्हारी देह पर
फैलती मेरी शाखाएँ
अंक में भरने को आतुर
पूरी पृथ्वी को

तुम ही
ज़रा-सी ओट देकर सूर्य को
मुझे छिपा लेती हो
अपनी देह की उजास में
अपने जल के बहाव में
अपनी गन्ध की गलियों में

प्रेम तुम से जैसे पृथ्वी से

क़िस्सागो रो रहा है

मनोज कुमार झा की नौ कविताएँ

क्या ऐसे ही मृत्यु

पीली चादर में लिपटा, मैं लेटा हुआ ओसारे पर
घर में शोर बच्चों का
स्त्रियों की गपशप
बड़े-बूढ़े पचास साल पहले घटी घटनाओं के ब्यौरे तलाश रहे
मुझे हल्की हल्की नींद थपक रही

क्या ऐसे ही आएगी मृत्यु
लोगों चीजों के कोलाहल मध्य गिरेगा एक पत्ता पियरा कर?

तथा

जब भी मुझे मौत की याद आती
मसान की याद आती
कच्ची लकड़ी की
मुखाग्नि की

तीन दिन पहले प्यारे दोस्त इफ़्तिख़ार की छोटी बच्ची मरी
तब लगा कि मौत से याद आनी चाहिए कभी कभी क़ब्रिस्तान भी और वह जिन्न भी जो रोती मांओं को कन्धा देता है।

याद दिलाना

किसी रोज़ कहीं भटकता मिलूँ
या बैठा दिखूँ भिखियारों की पाँत में
और तुम पहचान लो
तो मुझे अपनी याद दिलाना
मुझे खुशी होगी, लज्जा नहीं
समय ही ऐसा है
--पितामह ने कहा था मरने से कुछ रोज़ पहले।

प्रति

जो कुछ प्रकृति में है उसकी एक छायाप्रति कहीं किसी कम्प्यूटर में क़ैद है या फिर हज़ारों कम्प्यूटर में।
जो कुछ मौजूद है उसका पॉर्न बन चुका है।
शाम का मतलब प्रेम ही नहीं बासी हो चुका अख़बार भी होता है जो धकेल देता ताबड़तोड़ अपडेट्स में।
मन का खाँचा मशीनों के पास है, मशीनों का खाँचा आकाओं के पास
हर दीवार का पलस्तर उखड़ रहा है, हर शरीर की त्वचा अब शरीर से दूर जा रही मायाबाज़ार में।
ऐसा कहना पड़ रहा कि निरन्तर बजता लाउडस्पीकर कोयल की आवाज़ पर हमला है।
या क्या ऐसे कहूँ
कि बल्ब का फ़्यूज होना
तारे टूटने का विलोम है?

लम्बी है कथा

पहली बार किसी को मन से सौंपी थी देह
पिघलते मेह, तड़ित ही तड़ित!
फिर सबकुछ बह गये
लम्बी है कथा, कम है समय।

चला झंझा, उखड़ीं जड़ें
अब तो देह सौंपती अन्न के लिए
देह को सौंपती देह का अन्न।

जब देह पर ढारती जल का पहला खेप
तो मन भागता है पाकुड़ की ओर
जहाँ एक चिड़ई ताकती बच्चों की राह।

फिर ढ़ारती हूँ, ढ़ारती जाती हूँ
भीगता जाता है एक जीर्ण पत्र
ताक में हवाओं की नोक।

मुझसे छूट गयी मेरी देह
कोई छीन लेना चाहता मेरा स्नान
दिन में नहीं दिन, रात में नहीं रात
लम्बी है कथा, कम है समय।

आ जाओ

तूने मुझे तैरना सिखाया था
हम तैरते थे साथ-साथ

और बीच में चमकता था चाँद
तेरे आँगन में पानी है
मेरे आँगन में भी

आ जाओ, मैं तैरना भूल गया हूँ
आओ एक बार फिर सिखा दो

हम दोनों ने इस बीच बीसवीं सदी पार कर लिया है
आ जाओ, कम से कम एक बार तो मिले
बदला हुआ मैं, बदली हुई तू।

घर छोड़कर जा रहा हूँ

एक घर जहाँ रात को
पंखे के घड़ घड़ में सो सकता था कुत्ते की तरह निर्वस्त्र।

जहाँ विछावन पर खा सकता था
चादर पर गिड़ाते रोटी के टुकड़े।
जहाँ बारिश में बैठ सकता था
दरवाजे पर सिगरेट पीते हुए।

जहाँ रात के तीन बजे पढ सकता था काफ़्का की डायरी
काफ़्का यानी वह बुजुर्ग नौजवान जिसकी रगों में दुख का काला शहद बहता था।

एक घर जो मेरे बेढंगेपन को छुपाता था।

मैं एक सूखा पत्ता किसी जिद की तरह तरह चिपका था पेड़ से इस पतझर में।

एक घर जहाँ मूर्खता मूर्खता नहीं थी
वह जीने का एक ढब था ।

मैं ज़िन्दा रहना चाहता था जीने की कुछ कम तरकीब जानकर भी।
लेकिन मैं जा रहा हूँ
जैसे एक बदनसीब नौजवान को घर छोड़कर जाना ही पड़ता है।

उजाड़ का गवैया

बिला गये वे सारे कन्द-मूल
जिन्हें मुसहर ब्राम्हणों से बेहतर जानते थे।
लुप्त हो गई कथाएँ
जो स्त्रियाँ पुरुषों को सुनाती थीं।

सोने के वाद्य वाले महन्तों ने छीन लीं जोगियों की सारंगियाँ
धनिकों ने फोड़ डाले मंगतों के भिक्षापात्र।

शीतल पेय संयन्त्रों ने खींच लिया मटके का जल
उपद्रवियों ने छीनी चिता की आग।

बाढ़ में बह गये सारे आँसू
अकाल में भस्म हुआ लोकगीतों का सारा सोना।

'मैं' बिकता है और मैं बिकता हूँ
ओह! कौन रचता है मेरा 'मैं'!

एक अन्धा गवैया गाता है इस सदी का सारा दुख लिये
नाचता है एक रस्सी पर जिसका नहीं ओर-छोर।

क़िस्सागो रो रहा है

क़िस्सागो रो रहा है
और लोग घेरे हुए कि
अब रुलाई रुकेगी
कि अब क़िस्सा शुरू।

क्यों रो रहा क़िस्सागो?

पाँव में चुभा काँटा
या किरदार फाँसी के फन्दे के पास!
या मृत्यु पास आ रही
और बहुत किस्से शेष?

या जैसा कि एक ने
कहा दो इसे सत्तू
या जो पंछी साथ साथ नहीं करते कलरव
उन्ही के आँसू बह रहे आँख से?

वह कहीं जाना चाह रहा
और साथ नहीं दे रहे पाँव?
या यही रहना चाह रहा मुसलसल
और घिर रहा अकाल!

कहाँ से निकसते आँसू
किसका है यह रोता हृदय
इक्कीसवीं सदी की तमाम खोजों के बावजूद
जानना मुश्किल कि किस्सागो क्यों रो रहा है।

चम्पू एवं अन्य कविताएँ

संगीता गुन्देचा

पडिक्कमा*

(इस चम्पू कविता में प्राकृत भाषा के जिन शब्दों का प्रयोग है, वे हैं -

- पडिक्कमा = परिक्रमा ।

- मिच्छामि दुक्कडम = (आप मेरे) दोषों को मिथ्या करें ।

- काउसग्ग = काया का उत्सर्ग।

- इसके अतिरिक्त हं सं आदि ध्वनियाँ मन्त्रों से हैं)

बारिश बारिश बारिश बारिश
बारिश बारिश बारिश बारिश
बारिश बारिश बारिश बारिश
बादल बादल बादल
बारिश बारिश बारिश

वह चल पड़ी है

बादल बादल बादल बादल
उन्हें निमोनिया हो गया है

---

* पडिक्कमा में जिन दो तिथियों की परिक्रमा है, वे हैं - २ सितम्बर २०१६ छमछरी यानि संवत्सर और ८ नवम्बर २०१६ देव उठनी ग्यारस। छमछरी के दिन मेरे पिता, जिन्हें हम बाउजी कहते हैं और देव उठनी ग्यारस के दिन मेरे बड़े भाई, जिन्हें हम विमल दा के नाम से पुकारते थे, का निधन हुआ।

बारिश बारिश बारिश
वे गिर पड़े हैं

बादल बारिश
बारिश बादल
बारिश निमोनिया
बारिश कैथेटर
बारिश कलाकन्द
बारिश घर
बारिश वार्ड ७२३
बारिश गंगापुर
बारिश घाटी नीचे
बारिश मादरचोद

बादल बादल बादल बादल
बारिश बारिश बारिश बारिश
वह बस पहुँचने को है

बादल बादल बादल
पाताल वासी क्षमा करें
जल थल मय्यल वासी क्षमा करें
पेड़-पौधे जीव-जन्तु क्षमा करें
घट घट क्षमा करे

बारिश बारिश बारिश
माँ की आँखों में उतरता है शून्य

बादल बादल बादल
वह बस पहुँचने को है

और तुम कहीं नहीं हो

बारिश बारिश बारिश
घोड़े पर सवार धूली बई
रथ पर सवार भेरु बा
बादल बादल बादल बादल
बारिश बारिश बारिश बारिश

क्षिप्रा मिच्छामि दुक्कडम**
शत्रुंजय मिच्छामि दुक्कडम
राम नाम मिच्छामि दुक्कडम
सत्य है मिच्छामि दुक्कडम
राख मिच्छामि दुक्कडम
फूल मिच्छामि दुक्कडम
नीरू मिच्छामि दुक्कडम

बादल बादल बादल
बारिश बारिश बारिश
बादल मिच्छामि दुक्कडम
बारिश मिच्छामि दुक्कडम
शब्द मिच्छामि दुक्कडम
अर्थ मिच्छामि दुक्कडम

वह अपने गन्तव्य पर पहुँच गयी है
मिच्छामि दुक्कडम
मिच्छामि दुक्कडम
मिच्छामि दुक्कडम

** 'मिच्छामि दुक्कडम' का शाब्दिक अर्थ है, 'मिथ्यामि दुष्कृतम्', मेरे दोषों को मिथ्या करें। मेरे बारे में आपके जो पूर्वग्रह हैं, आप उनसे मुक्त हों।

अब वे हर जगह हैं

श्रां श्रीं श्रूं श्रः बादल बादल बादल बादल
द्रां द्रीं द्रौं द्रः बादल बादल बादल बादल
हं सं थः थः बादल बादल बादल बादल
ठः ठः जः जः बादल बादल बादल बादल

बारिश बारिश बारिश बारिश
बादल बादल बादल बादल
बारिश बारिश बारिश बारिश
बादल बादल बादल बादल
बाउजी बाउजी बाउजी बाउजी
विमल विमल विमल विमल
बाउजी बाउजी बाउजी बाउजी
विमल...

काउसग्ग***

वियोग

बिछिया सौंपी
कंगन सौंपे
करधनी सौंपी
बाजूबन्द सौंपे
फूल चढ़ाये तुम्हारी देह पर

*** काउसग्ग - काया का उत्सर्ग।

तट छूटा
वट छूटा
घट छूटा

रह गयी अकेली जोहती बाट
चले गये निठुर तुम किस घाट!

परछाईं

सखि! गयी थी मैं तो घाट पर
छप-छप की कुछ देर
पानी में
कमलों पर
परछाईं दिखी उसकी
गयी थी मैं तो घाट पर

कमल-पँखुरियों को छुआ
भीतर तक महसूस किया
गुलाबी रंग और स्पर्श उसका
गयी थी मैं तो घाट पर

बूँद-बूँद शरीर को
बूँद-बूँद हर अंग को नहलाया
जल से
किया आचमन
गयी थी मैं तो घाट पर
छप-छप की कुछ देर
देखा नहीं
उस ओर

पारिजात के फूल

भरी धूप में एक पत्ता टूटकर गिरता है
सरोवर के जल में
कँपकँपा जाती है देह उसकी
वाक्य से बहकर दूर चला जाता है; तुम्हारे नाम का पहला अक्षर

मैं हमेशा षोडशी रहूँगी
क्योंकि तुम ज्ञानवान् हो
मैंने पूछा :
क्या तुम मेरी गोद डहरिया के लाल फूलों से भर दोगे ?

वह सोचता रहा, सोचता रहा,
बोला : तुम वृक्ष की टहनियाँ हो जाओ
मैं एक-एक कर सारे बनफूल सजा देता हूँ

काल के वृक्ष से
पारिजात के फूलों-सी झरती हैं :
कथाएँ
कभी-कभी उनकी गन्ध से
सुवासित हो उठते हैं :
शब्द

जतन

मैं उतर पड़ी थी सरोवर में
जेठ मास की पूर्णिमा के दिन

वस्त्र उतारकर नीले कमलों के बीच
मेघों ने देखा :
बिदेस गये पथिक घर लौट आये

मैंने ग्राम देवता के सम्मुख
ले जाकर रख दिये थे; खिचड़ी और अनाज
उजाले की प्रथमा को
उनका प्रसन्नमुख देखते ही बनता था

मन्त्रों से फूँकी हुई हल्दी की गाँठे
वस्त्र में लपेटकर
मेरी सखि ने गाड़ी थीं
उस अदृश्य पेड़ के नीचे

मैंने नहीं किया कोई जतन
ये तो बरस थे सोलह
जो असाढ़ मास के पहले ही दिन समाप्त हो गये
मैंने नहीं किया कोई जतन
हे पथिक !
नहीं किया कोई जतन
तुम्हे बुलाने का

संयोग

प्रेम के कई अर्थ होते हैं,
एक अर्थ होता है-
विरह

विरह के कई अर्थ होते हैं
एक अर्थ होता है-
मृत्यु

मृत्यु के कई अर्थ होते हैं
एक अर्थ होता है-
पुनर्जन्म

पुनर्जन्म के कई अर्थ होते हैं
एक अर्थ होता है-
संयोग

संयोग के कई अर्थ होते हैं
एक अर्थ है-
अभी-अभी रामायण से उड़-
कमरे की खिड़की पर झुकी
अमलतास की डाल पर
आ बैठा है
केलि करता
क्रौंच पक्षी का
यह जोड़ा

अर्थ

मैं कहती हूँ घर
अर्थ कुछ और होता है

मैं कहती हूँ प्रेम

अर्थ कुछ और होता है

मैं कहती हूँ आग
अर्थ कुछ और होता है

मैं कहती हूँ शब्द
अर्थ कुछ और होता है

सारे नाम तुम्हारे नाम में कल्पित हैं
मैं कहती हूँ तुम
अर्थ कुछ और होता है

शब्द

मेरी अँगुलियों के पोर-पोर में रक्खा है;
स्पर्श -
एक शब्द

मेरी जिह्वा पर फैला है;
स्वाद -
एक शब्द

आकाश - शब्द
वायु - शब्द
अग्नि - शब्द
जल - शब्द
पृथिवी - शब्द

शब्द शब्द शब्द

हे जगन्नाथ स्वामी! नयनपथ गामी
सामर्थ्य कहाँ भर सकूँ इनमें कोई
– अर्थ

अबूझ

गंगटोक के अतिथिगृह में
साढ़े पाँच बजे सुबह
फ़ोन की घड़ी का
वॉक इन द फॉरेस्ट धुन में
अचानक बजता है अलार्म

रूम्टेक बौद्ध मठ में
भूटान से अध्ययन करने आया
गहरे कत्थई वस्त्रों में लिपटा
युवा भिक्षु झुककर
करता है नमस्कार

संगीत की श्रुतियों-सी महीन
झुर्रियों से भरे चेहरेवाली स्त्री
अपनी बरौनियों और भँवों को तिरछा कर पूछती है,
'पनीर के साथ पीने के लिए लगेगा कुछ और'
इस सवाल का जवाब देने से पहले
मय पूछती है बेख़ुदी से,
'क्या तुम ज़िन्दा हो ?'

जो मरता है वह मरने से पहले
छलांग लगाकर छू आता है
कंचनजंघा की हज़ारों फीट ऊँची चोटी को

जो मरता है वह मरने से पहले
करता है प्रणाम
महात्मा बुद्ध की भूमिस्पर्श मुद्रा को

जो मरता है वह मरने से पहले
खोजता है तीस्ता के हरे जल में
डूबे गोल पत्थरों को

कंचनजंघा

ओ बादलों से एकाकार हुए
कंचनजंघा के श्वेत पहाड़
गंगटोक की छोटी-सी खिड़की से
तुम्हारी केवल कल्पना की जा सकती है

अपनी छोटी-छोटी अँगुलियों से
तुम्हारी ओर इंगित करता है लखपा
रोशनी से चौंधिया गयी आँखें
तुम्हें बादलों से अलगा नहीं पातीं

क्या तुमने पहना है
बादलों का शिरस्त्राण ?
काँधे पर कोहरे का दुःशाल ?
तुम्हारे शरीर में फैली झीलों से
खिल आते हों पद्म

सम्भव है

ओ कंचनजंघा के श्वेत पहाड़ !
मैं तुम्हारी शरण में हूँ

अन्धायुग

(अप्रतिम रंगनिर्देशक श्री रतन थियाम के लिए)

विदुर अन्धे हो गये हैं न्याय से
अश्वत्थामा देव की मार से
अपनी प्रतिज्ञा से भीष्म
दुर्योधन अभिमान से
भरी सभा में हुए तिरस्कार से द्रौपदी
अपने द्वन्द्वों से कर्ण और
युधिष्ठिर धर्म से

गान्धारी ओ गान्धारी!
केवल तुम्हारी आँखों पर पट्टी नहीं बँधी है
केवल मैं अन्धा नहीं हूँ

लेकिन कृष्ण ?
किस चीज़ ने अन्धा किया कृष्ण को ?
तुम्हारे श्राप के भाजन बने वे ?

गान्धारी ओ गान्धारी!
केवल तुम्हारी आँखों पर पट्टी नहीं बँधी है
केवल मैं अन्धा नहीं हूँ
ये सब अन्धे हो गये हैं
अपने-अपने औज़ार से

दो गद्य

१.

यदि कविता प्रार्थना की तरह लगातार हो रही है, हम उसमें शामिल भर हो सकते हैं। इस शामिल होने में अक्सर हम पाते हैं कि शब्द और अर्थ एक-दूसरे के इतने पास हैं, इतने पास कि हमारे लिए वहाँ कोई अवकाश नहीं है। पर कभी-कभी शब्द और अर्थ के बीच कोई दरार दिखायी दे जाती है, जहाँ से थोड़ा सा प्रकाश (या अन्धकार) रिसता या फूटता दिखायी देता है, वह थोड़ी देर हमारे साथ खेलता है, फिर विलीन हो जाता है।

इसे ही हम कविता लिखने या पढ़ने के अनुभव के नाम से पुकार सकते हैं।

२.

मोहन जोदाड़ो और हड़प्पा संस्कृति में किस तरह की भाषा-लिपि का इस्तेमाल किया जाता था, यह अज्ञात है। सुविख्यात फ़िल्मकार और चिंतक कुमार शहानी कहते हैं कि मोहन जोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई में मिले बर्तनों, मटकों और शिल्पों आदि पर चित्रित नृत्य मुद्राओं के संकेतों को यदि बूझा जा सके, हमें वहाँ की अज्ञात भाषा-लिपि के कुछ संकेत अवश्य मिल जाएँगे।

हम सबके भीतर भी मोहन जोदाड़ो और हड़प्पा की तरह अज्ञात भाषा-लिपि का वास है। इस अज्ञात-भाषा लिपि से, आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में कहें तो, ध्वनित होते संकेतों को बूझने के प्रयास में ही कविता या संगीत का जन्म होता है। इस अज्ञात भाषा-लिपि से ध्वनित होते संकेतों के रूपान्तरण के प्रयास में ही मिट्टी की कला, चित्रकला या तमाम तरह की कलाएँ जन्म लेती हैं।

कृष्णमोहन झा की कविताएँ

वर्षा

सबसे पहले
क्षितिज के उस नारंगी चौके को
अपने जामुनी रंग से लीपती दिखी वह
फिर उसका इरादा
नशे की तरह आसमान पर छाने लगा

तब गड़गड़ाने लगा आकाश का विशाल मृदंग
और बिजली का अनोखा हँसिया
गोधूलि की घास उड़ाने लगा

उसके बाद
तूफान की तरह हहाती
दूर से ही आती हुई सुनाई पड़ी वह
लगा कि आज समुद्र को अपने साथ लेकर आयी है

और तब फ़ौरन
बाँस के झुरमुट में वह धड़धड़ाती हुई घुस पड़ी--
जहाँ झूमते आपस में रगड़ खाते बाँसों के साथ
वासना में तपते पेंग ले रहे थे साँप
और झरझराने लगी

फिर मैंने देखा
कि टीन के छप्पर पर उसकी बून्दें

कटहल के कोए की तरह धप-धप गिर रही हैं

उसके बाद
बरामदे पर मेरे पास आकर वह
मूँग की पकी हुई छीमियों की तरह चनककर उड़ने लगी
उसकी छींटों से मेरे कुर्ते पर छोटे-छोटे फूल उग आये
मेरे चश्मे पर उसकी बून्दें डबडबाकर अटक गयीं
और अपनी शीतल उँगलियों से वह मेरे पैरों को गुदगुदाने लगी
उसके आदिम स्पर्श से मैं सिहर उठा
देखते-देखते उस स्पर्श से टघरकर
स्मृतियों की एक हरी-भरी लकीर मेरे बचपन में चली गयी
जहाँ खेत-पथार, गाछ-पात, चिरई-चुनमुन, चन्दा-तारे और आसमान
सब घूम-घूमकर मेरे पास ऐसे लौट रहे थे
जैसे उन्हें मेरी ही प्रतीक्षा थी

मैं सीधे वहाँ गया
जहाँ पर दादी मिट्टी के मेरे स्वर्णिम खिलौनों को
अपनी पुरानी धोती के टुकड़े में सहेजकर रखती थी
और समय-समय पर
गुड़ की तरह निकालकर देती थी मुझे
लेकिन वहाँ कुछ न था अब
केवल निर्जनता थी जो निरन्तर बरस रही थी

बेकल होकर मैं
धान के उस खेत की ओर भागा
जो तमाम पेड़ों-झाड़ियों-झुरमुटों को पार करने के बाद
पीपल के गाछ के पड़ोस में
शीतलपाटी-सा बिछा रहता था
और जिसकी मेड़ों पर बगुले योगाभ्यास में तल्लीन दिखते थे

लेकिन वह रास्ता थोड़ा चलकर कहीं विलीन हो गया
और वे हरे-पीले-नीले दृश्य
पिघलकर मेरी आँखों में वापिस लौट आये

तब मैंने इमली के पेड़ के नीचे जाकर अपने दोस्तों को पुकारा
लेकिन कहीं से कोई जवाब नहीं आया
या तो जाती हुई मेरी आवाज़ किसी जाले में अटकी रह गयी
या वे लोग कहीं और चले गये

अपने आंगन में मेरे हताश लौटते ही
बिजली चमक उठी
और वर्षा के साथ ओले झरने लगे
हर्षातिरेक से मैंने छोटी बहन को पुकारा--
कामिनी, कहाँ हो तुम! बाहर आओ और देखो क्या है यह!
वह अपनी देह और चेहरे से किसी तरह राख झाड़ती हुई दौड़ती आयी
उसके एक हाथ में देकची और दूसरे में छिपली थी
देकची को हेलमेट की तरह पहन लिया मैंने
और उसने अपने माथे को छिपली से किसी तरह ढँक लिया
फिर हम भाई-बहन
बीछ-बीछकर ओले कुड़कुड़ाने लगे

इसी बीच
सुदूर गंगा से निकल कर आ गये बड़े भैया
और हम दोनों को समेटकर ओसारे पर ले गये
दादी कटहल के गाछ से धीरे-धीरे उतरकर नीचे आयी
और अपने मटमैले आँचल से मुझे पोंछने लगी
पिता दूर से ही हमें निर्विकार देखते रहे
उनके देखने में ही निहित था इस जीवन का अर्थ
उसके बाद भैया ने अपनी अटैची से निकालकर हमें बिस्कुट दिए

और उस दुनिया की कहानी सुनाई
जहाँ दिन-रात बारिश होती रहती है

फिर अचानक
बहिन लौट गई अपनी सुरंग में
भैया अपना स्टेथोस्कोप लेकर अशेष दुःख के पास चले गये
और दादी जनेऊ वाली अपनी डलिया, कपास की लोई और तकली के साथ
अपने पसन्दीदा फल के वृक्ष में समा गयी

और तब कोने में पड़े माहुर की एक पुरानी शीशी में बन्द
अपनी ओर टुकुर-टुकुर ताकती एक बेचैन स्त्री दिखी मुझे
जिसकी शकल हमसे बहुत मिलती-जुलती थी
और जो पचास बरस पहले
भादों की एक लबालब सुबह में लथपथ भींगी हुई
हमसे बहुत दूर चली गयी थी
जिसके बाद
मैं उसकी जघन्य निर्ममता के किस्से सुन-सुनकर ही हुआ था बड़ा
लेकिन आज इस एकान्त में
भादों की उस गनगनाती रात में मैं
अग्निबाण की तरह प्रवेश करना चाहता था
और उस स्त्री के असाध्य जीवन की उस वेदना तक पहुँचना चाहता था
जिससे मुक्त होने के लिए उसने
अपनी देह के कई टुकड़ों तक की परवा नहीं की

मेरे प्राण में यह ऐसी कील थी ठुकी हुई
जिस पर पचास बरसों से
लगातार चोट करती हथौड़ी के निशान थे
जिससे पचास बरसों की एक अनाथ अकुलाहट लटक रही थी
जिसे निकाल कर मैं आज़ाद हो जाना चाहता था फ़ौरन

इसलिए लपककर मैंने वह शीशी उठायी
पर आश्चर्य
उसमें कोई स्त्री नजर नहीं आयी
पता नहीं वह कहाँ गयी
फिर मैंने देखा कि वह शीशी
रंग बदलती हुई मेरी देह बन गयी है
और देखते-देखते मैं पपीते के एक गाछ में बदल गया हूँ

बरामदे पर अकेले भींगते हुए
पपीते का यह गाछ यों ही टपकता रहता चुपचाप
अन्दर से उसे यदि पुकार नहीं लिया जाता
घर के भीतर मेरे प्रवेश करते ही पत्नी ने चौंककर देखा--
अरे, इस बारिश में कहाँ चले गये थे तुम?
जीतपुर से आ रहा हूँ--मैंने कहा
तौलिये से मेरा सर पोंछते हुए उसने परेशान होकर पूछा--
तुम रो रहे हो!
नहीं-नहीं, मैंने कहा, ये तो वर्षा की बून्दें हैं

रचना-सामग्री

इतने ब्रह्माण्ड
इतने सूर्य
इतने चन्दा-तारे
इतनी आकाशगंगाएँ
इतने ग्रह-उपग्रह
उनकी कक्षाएँ इतनी
ऐसा अनादि अनन्त आकाश
उल्का पिण्ड इतने-इतने

इतनी नदियाँ
इतने समुद्र
पर्वत इतने
इतने रेगिस्तान
इतनी अग्नि
इतनी बर्फ़
इतने झंझावात
और इतने प्रपात

वृक्ष इतने
वनस्पतियाँ इतनी
इतनी लताएँ
इतने गुल्म
पुष्प इतने
इतनी गन्ध-सुगन्ध

इतने जीव
मनुष्य इतने
इतने पशु-पाखी
इतने सरीसृप
उभयचर इतने
इतने कीट-पतंग

इतनी पीड़ा
इतने सुख
ग्रन्थियाँ इतनी
इतने दुःख
इतने प्रेम

अकेलापन इतना
इतने योग-वियोग...
कविता का है मुझे भी रोग
इसलिए जानता हूँ
कि ये सब रचना-सामग्री हैं तुम्हारी

परन्तु मित्र
सर्जना के लिए
चाहिए कितना बड़ा काल-पत्र तुम्हें
और कितने मन्वन्तर के बाद पूरी होगी तुम्हारी यह रचना

४४० वोल्ट

ज़मीन से कुछ फ़ीट ऊपर और सूरज-चाँद-सितारों के कुछ नज़दीक उसका बसेरा है। उसके घर में सचाई के खूँटे लगे हैं जिसपर कल्पनाओं की मज़बूत शहतीरें डाली गयी हैं ताकि मौन के भारी-भरकम छप्पर का वज़न वे ठीक से वहन कर सकें। उसके आकाश में स्मृति और आकांक्षा के ज्वार उठते हैं जिसके कारण तारों की धूल उसकी बरौनियों पर झरती रहती है। यह अब किसी से छिपा नहीं है कि दिन में भी उसकी जिह्वा पर ओस की फुहार पड़ती है। नीले आकाश की वह ऐसी कमीज़ पहनता है जिसकी सिलाई किरणों के धागे से की जाती है और जिसमें सीपियों के बटन लगे होते हैं। उसके असली नाम का पत्थर हिन्द महासागर में किसी भी पूर्णिमा की रात को तैरते देखा जा सकता है। तत्काल अभी अगर पुकारना हो उसे तो बिजली के खम्भों पर तना और झूलता हुआ तार कह सकते हैं। उसके कम्पन में तुम अपने अबूझ जीवन के सिहरते आलोक को चख सकते हो, मगर ध्यान रहे, उसके सामीप्य की चाह एक ख़तरे को दावत देने से कम नहीं। यह भूलने की बात रही नहीं अब कि उसका घरेलू नाम है ४४० वोल्ट।

सत्य

सत्य को पसन्द नहीं
सच्चाई से बाहर की कोई ताक़त
इसलिए वह

सताये हुओं के साथ रहता है

जीवनानन्द द्वितीय

मेरे सिवा और कौन जानता है
कि तुम्हारे हिस्से
न कार्तिक की भोर में ओस से निमज्जित
बैजन्ती फूल की तरह दुर्लभ प्रेमी आया कभी
और न अखण्ड लालित्य को काव्य-भाषा बनाता आया प्रेम

तुम्हारे अलावा और कौन जानता है
कि मेरे हिस्से
न विद्युल्लता-सी खिलखिलाती रात आयी कभी
न इस मिट्टी के बर्तन को मिला
शहद जैसा गाढ़ा और हरशृंगार के फूल-सा आश्रय

जानता हूँ मैं
कि न तो नाटोर की रहनेवाली तुम ठहरी
और न ही मैं जन्मा बोरिसाल में

बीच सड़क पर
ट्राम को घरघराते देखना
या उसके निकट जाना तो बहुत दूर की बात हुई
रूपसि बाँग्ला की सजल भूमि को अभी तक छू नहीं पाया हूँ मैं

लेकिन यह जो रोज़ शाम को
मेरे सीने को कुचलता हुआ चला जाता है कुछ
वह ट्राम नहीं तो और क्या है!

यात्राएँ

कुछ है जिसे खोजने किसी न किसी बहाने तुम बार-बार वहाँ लौटते हो। दिन में तुम उसके पदचिन्हों की खोज में बेसब्र भटकते हो और रात में उसकी गन्ध की सुराग पाने के लिए बेचैन रहते हो। तुम उसे छाया और प्रकाश की ताना-भरनी में टटोलते हो। तुम उसे अपने इर्द-गिर्द आवाज़ों की बहती हुई उर्मियों में टोहते हो और वंचना की चोट खाकर हताश होते हो। तुम वहाँ जाते हो और खीझते हो और आहत होते हो। तुम वहाँ जाते हो और तिलमिलाकर लौट आते हो और तय करते हो कि अब वहाँ कभी नहीं लौटोगे। सब कुछ तो बदल चुका है।

बेशक, सिवाय तुम्हारे नाम के तुम भी बदल चुके हो। घाव का निशान जो कभी तुम्हारी छाती पर था छपा हुआ वह सरककर काँख के नीचे चला आया है और तुम्हारी नींद के काँच का बर्तन भी चिहक गया है। अगर नहीं बदला है तो सिर्फ़ आँसू का नमक, और बेशक वे सम्भव-असम्भव यात्राएँ भी नहीं बदलीं हैं जिनके स्वप्न तुम्हारे पैर सोते-जागते देखते रहे हैं।

लेकिन यात्राओं की जब भी बात होती है तो उसके दौरान पैदा हुई दुश्वारियों और रोमांच का ही बखान मिलता है और यात्री के चेहरे पीछे छूट जाते हैं, जबकि सचाई यह है कि सिर्फ़ चेहरे बताते हैं कि यात्राएँ कैसी थीं। जो चेहरे अपनी यात्राओं को छुपाने के फ़िराक में रहते हैं, दरअसल वे अपने पैरों के साथ विश्वासघात करते हैं और उस उत्कट कामना की अवमानना भी जिसकी लहर पर सवार होकर वे बार-बार एक ही जगह लौटकर जाते हैं।

ने कहा

मैंने कहा यह वृक्ष है
उसने कहा यह बीज है
मैंने कहा यह समुद्र है
उसने कहा ये आँसू हैं
मैंने कहा यह मृत्यु है
उसने कहा यह प्रेम है

दिल्ली में मृतक

जो भी नाम हो उसका
जो भी उम्र हो उसकी
जो भी हो उसका धर्म
वह अपनी देह से अब निकल चुका है बाहर
और चुपचाप खड़ा होकर देख रहा वहीं पर--
ईंट-पत्थरों के बीच अपनी देह को सड़क पर गिरे हुए

जो भी नाम हो उसका
जो भी उम्र हो उसकी
जो भी हो उसका धर्म
वह तीर की तरह सनसनाता हुआ आता है
और औंधे गिरे हुए शव को दनादन छुरा घोंपने लगता है

देह के बाहर जो जीवित खड़ा है वहाँ
वेदना से वह देखता
देह के भीतर आदमी को मरते हुए

सब शान्त हैं अब

सब शान्त हैं अब
जो होना था सो हो चुका
भगदड़ कबकी थम चुकी है
जलते हुए घर आखिर बुझ चुके हैं
कटे हुए जिस्म अन्तिम बार धड़क कर सो गये हैं

आप ठीक कहते हैं झा साहब
कोई उत्तेजना बहुत देर तक टिक नहीं सकती

अपनी दिल्ली को ही देखिए
कितने शान्तिपूर्ण तरीके से दोनों तरफ के लोग
शवगृह के बाहर कर रहे शवों के आने की प्रतीक्षा!

बनारस

सारे रास्ते यहाँ
घाट की ओर जाते हैं
तय आपको करना है
आखिर किस घाट आपको लगना है

उसका रोना

वह बाहर जाती है तब भी रोती है
वह भीतर रहती है तब भी रोती है

वह प्रेम में हो तब भी रोती है
वह प्रतिशोध में हो तब भी रोती है

वह धोखा देती है तब भी रोती है
वह धोखा खाती है तब भी रोती है

वह सुख में हो तब भी रोती है
वह दुख में हो तब भी रोती है

उसका रोना तिल-तिलकर जीना है
उसका जीना तिल-तिलकर रोना है

उसका रोना धर्म
उसका रोना राजनीति
उसका रोना संस्कृति

तुम कहाँ हो

नींद, तुम कहाँ हो? तुम्हारा यह वियोग कितना मारक है। तुम तो रोटी के साथ सिंकती हो, नमक के साथ खून में प्रवेश करती हो और अपनी आदिम मदिरा से मेरी सख़्त रातों को रुई में बदलती हो। इस लोक की सबसे मादक कथाएँ तो तुम्हारी पिटारी में बन्द रहती हैं। लेकिन आजकल दुनिया के किस बियाबान में तुम फँस गयी हो किस रेगिस्तान में अटक गयी हो? क्या लॉक डाउन में तुम्हें भी निकलने की इजाज़त नहीं है? लेकिन तुम तो आवाज़ से भी हल्की और पंख से भी चंचल हो। तुम पर तो सोशल डिस्टेंसिंग का बन्धन भी लागू नहीं होता। फिर कहाँ हो तुम? देखो, कमरे की रोशनी को मैंने तुम्हारी पसन्द में बदल दिया है और तुम्हारे प्रिय गीत की मद्धिम आवाज़ यहाँ आहिस्ता-आहिस्ता सुलग रही है। मैं असहाय तकिये पर तुम्हारी प्रतीक्षा में बिद्ध हूँ और दीवार पर टँगे इस कमरे के हृदय की तरह सिर्फ़ धड़क रहा हूँ। उधर चाँद कब का डूब चुका है और यह रात भी ढल गयी है। मेरी प्यारी नींद, मृतकों के चेहरे को लेकर इस तरह दरबदर भटकने से अब क्या हासिल है!

तारों की धूल

जो लोग प्रेम करते हैं
वे सबसे निकट रहते हैं अपने पुरखों के
एक-दूसरे की आँखों में उन्हें
अक्सर दिखती है उनकी झिलमिलाहट

तारे मरते हैं

तो मनुष्य जन्म लेते हैं
मनुष्य मरकर बन जाते हैं तारे

होली की शुभकामनाएँ

शुक्रिया
धन्यवाद
आभारी हूँ आपका
आपको भी होली की बहुत शुभकामनाएँ

सुबह से बैठा हूँ चुपचाप
और मोबाइल पर धड़ाधड़ गिरते मैसेज के जवाब में
दिये जा रहा हूँ जवाबी शुभकामनाएँ

कब्र की मिट्टी जब कच्ची हो अभी
जब श्मशान से हड्डियों के तड़कने की आवाज़ आ रही हो
तब क्या उड़ाये जा सकते हैं गुलाल
तब क्या होरी सुनते हुए बिरज लौटना मुमकिन है

पर कहता कुछ नहीं
और चुपचाप लिखता जाता हूँ--
शुभकामनाएँ ! मंगलकामनाएँ!
आपको भी रंगोत्सव की हार्दिक शुभकामनाएँ

कैसा कवि हूँ मैं
और कैसा आदमी बन गया हूँ
कि रक्त से लथपथ एक सच को छुपाने के लिए
नये-नये शब्द और नये विशेषण जोड़ता जाता हूँ

भाषा

यह सच है कि वह तुम्हारे रक्त, अस्थियों और हृदय की मांद से निकलकर बाहर आती है, मगर उसपर ज़्यादा भरोसा करना एक बेहद ख़तरनाक इलाक़े में प्रवेश करना है। वह जितनी तुम्हारी अपनी है उतनी ही परायी भी। वह जितना तुम्हारे इरादे में रहती है उतना ही दूसरों के अभिप्राय में निवास करती है। तुम जितना कहते हो वह उतना ही नहीं सुनती। अपनी यात्राओं में हासिल तमाम अनुभवों की वर्णनातीत झिलमिलाहटों को वह अपनी आत्मा में बचाए रखती है, और जब तुम उसके निकट जाते हो, उसे छूते हो, अपने हिलकोर को उसे समर्पित करते हो, वह संकलित स्मृतियों की गूँज और छायाओं को तुम्हारे जल में उड़ेल देती है। अपनी गहराई एवं प्राचीनता के धूसर आलोक को बरकरार रखने और अपने बरतने-वालों के हृदय के अनुरणन को उनके पुरखों से मिलाने का यह उसका अपना खास तरीका है। तुम जो कहते हो पर कुछ और सुन लिए जाते हो, तुम जो कुछ लिखते हो पर कुछ और समझ लिए जाते हो, वह भाषा का ऐसा अपरिहार्य कर है जिसे तुम्हारे साथ-साथ उन सबको चुकाना है जिन्हें भाषा का अलौकिक वरदान मिला है।

मौलिक वह तस्वीर

अमृता भारती

चली तो गयी थी-
सुना था
बाहर
सपनों को साकार किया जाता है।

चलती रही
चलते या
बार-बार रुकते हुए।

मेरी एक तस्वीर है
चाहती थी
उसका रूपांकन
चित्रांकन
चाहती थी
केवल एक प्रतिकृति।

चलते
या रुकते हुए
कितना समय बीत गया
क्या खोया
क्या पाया

बस इतना ही याद है
कुछ भी
अंकित न हो सका
जग की
पाषाणी मुंडेर पर।

रेत के दूहों पर
सब ढह जाता था
परिकल्पित न होता था
कोई चित्र।

शायद यही सम्भव था।
बीता है समय
बीतना ही होता है उसे।

निराश नहीं
जैसे गयी थी
वैसे ही लौट आयी हूँ।

अन्त में
अच्छा लगता है
जाना-पहचानापन-

वही घर है
बाहर द्वार बन्द है
अन्दर से सीढ़ियाँ गयी हैं
ऊपर की खिड़कियाँ खुली हैं।
अटारी से
नीचे के कक्ष में
मेरी
मौलिक वह तस्वीर है
उसकी न कोई प्रतिकृति है,
न प्रतिछवि
कहीं किसी दर्पण में वह
प्रतिबिम्बित न हो सकी-
अछूती और
अनपहचानी ही बनी रही

अभिव्यंजना के लिए हुए
मेरे इस निष्क्रमण में।

घर के बाहर
कोई पैड़ी नहीं है
आश्वस्त बैठी हूँ
अपनी भूमि के
उसी घास भरे टुकड़े पर।

दूर वे
गड्ढा खोद रहे हैं
उन्हें मेरी
एकमात्र इच्छा अनुकूल लगी-
मैंने मिट्टी चाही थी
आग नहीं।

वे
एक बहिष्कृत भू-भाग में
गाड़ने के लिए मुझे
गड्ढा खोद रहे हैं।

कितना निर्दोष होगा वह भू-खण्ड
न संचरण
न आवागमन
मानों मेरा अन्तःकरण-
खोद रहे हैं गड्ढा वे
दफ़न के लिए
उस अपवारित ज़मीन पर

वे
सदा के
बेगाने जन।

अप्पदीप

जो
बार-बार
खोकर मिल जाता
यह गृह
ग्राम
नदी-तट
सदा ही बंधी रहती
यह नाव।

यह मेरा धन है।
कभी ये हट जाते
नाम-रूप बदलकर
घट-बढ़कर
फिर मिल जाते
कुछ देर में
आश्वस्त हो मैं सोचती
सुरक्षित यह
मेरा धन है।

किन्तु इस बार
मैं चली गयी थी
परले गाँव
वहाँ एक दीया देख
जो अकेला ही
पूरे गाँव को
उजियारा रखता है।

कुछ ही क्षणों का दौर था
लौटी जब
देखा यहाँ कुछ नहीं
न गृह
न ग्राम
न नदी-तट
न नाव ही

कहाँ गया सब
किससे पूछूँ
कोई बसीकत नहीं

सब सुनसान है
सिर्फ़ सन्नाटा है।

सोचा
परले गाँव ही चली जाऊँ
याद आया
वह चमत्कारी दीया।

किन्तु
यह तो आकस्मिक था
आकस्मिकता के पैर नहीं होते
स्वच्छन्द ही होते हैं
उसके क्षण।
दूर तक दृष्टि डाली
सब अदृश्यता के अन्दर है
परले गाँव का कहीं कोई चिन्ह नहीं।

मुझे लगा
सब भ्रम है-
वह परला गाँव भी

जो कुछ क्षणों का दर्शन था
और वह दीया भी
सिर्फ़ एक
पत्थर का फूल है
'लाकूकेन'
या यह भी नहीं।

मन
एक और बड़ा सुनसान था-

क्या करूँ?
बार-बार पूछने पर लगा
यह प्रश्न भी
शायद एक छोटा-सा दीया है
इसमें चिन्ता है, विचार है

विचार में जिज्ञासा है
जो सदा
खोज के लिए प्रेरित करती है
और घुमा-फिराकर हमें
खड़ा कर देती है
हमारे पास ही।

आत्मान्वेषण ही उपाय है-
उसने
दूर जाकर कहा-
जो खो गया
चला गया
लौटा नहीं इस बार
वह धन नहीं था।

तो धन क्या है?

आत्मधन।
वह चिरन्तन है
और प्राप्रव्य है।

चिरन्तन को पाना क्या?
'अनुभवगम्यता'
इसका नित्य बना रहता आनन्द ही
'प्राप्ति' है।
अब प्रश्न में प्रकाश था।

परला गाँव
कहीं 'अन्तर-साम्राज्य' तो नहीं,
जिसके क्षण भर के दौर ने
बाहर सब सुनसान कर दिया?

और वह दीया
'अप्पदीप' तो नहीं?

प्रश्न में
उत्तर की दीप्ति थी
विमर्श ने विचार निर्मल कर दिया था।
खुल गये थे
मन के सोपान
सरल हो गये थे
आत्म-यात्री के चरण।

स्वप्नारोपण

ऊपर स्वप्न था
और नीचे थी

यह ज़मीन।

नभोनील यह स्वप्न-
कपिल धरा का आकांक्षी था
इसका मन।

कठिन तप के बाद
आकाशों को पार कर आया
अजात शिशु था यह
मेरे मनोराग का,
जन्मोत्सुक
एक विकल्प
मेरी कामना का।

किन्तु क्यों यह
बीच में ही
मेरे मस्तक के मेघों में
मोरपंख-सा
अढक गया,
माथे के क्षितिज पर
तारक की अटलता से
टंक गया !

क्या इसे अभिप्रेत नहीं है-
नित्य आवागमन से
मेरे पैरों के नीचे की
उधड़ी हुई यह ज़मीन...

मेरा ही अंश यह
चाहता था
जीवन की नाटिका से दूर
एक ऐसा

अज्ञात कच्चा कोमल
भूमि-खण्ड
जहाँ मैं इसकी पूर्णता का
रोपण कर सकूँ।

यह स्वप्न
अपनी सुन्दरता का
स्वयं द्रष्टा था
साक्षी था
अपनी एकलता का भी।

यह चाहता था
वह भू-तल
जैसे सुदूरता में रहता है
मेरा अन्तस्तल।

यह स्वप्न का स्वप्न था-
मैं चल रही थी
मानों अपनी ही खोज में।
जीवन में होकर भी
जीवन से अलग यह यात्रा थी।

नीचे की धरती पर
पगतलियों को मिलता अविराम
कठोरता का स्पर्श

पार्श्व की पटरियाँ भी
कंकरीली पथरीली थीं
चलना तो था ही
अन्वेषण की प्रेरणा अथक थी।

पथ दीर्घ था

काल ने आहट की
तो मैं रुक गयी-
समीप ही था
मृत्यु-तट।

हृदय ने अनुभव किया
सुखदायी संवरण।

किन्तु सामने था
एक छोटा-सा अन्तराल
अटक गये दिग्-काल।

यह था
एक दिव्य 'कृषक' का
खलिहान

वह
स्वप्नों की फ़सल बोता था
धरा और आकाश के
स्वप्नों की
समवेत फ़सल।
वह स्वयं भी सपनों का चितेरा था।

मेरा स्वप्न
सहज ही नीचे उतर आया
हाथों में
मैंने उसकी
पंखिलता को दुलराया

और रोप दिया
दिव्य 'कृषक' की
नीचे बिछी

दृष्टि की
नम मृदुल परतों में।

काली पहाड़ी पर

छत की
क्षितिज-सी बंकिम
मुंडेर पर
बैठी हूँ
परछाईयाँ आलोकित हैं।

सामने
काली पहाड़ी है-
सारा जग सोया है।
पीछे दृष्टि डालती हूँ :

सुबह तो
अपनी तरह ही हुई थी
चिड़िया चहकी थीं
कलियाँ महकी थीं
घास पर चमक रहे थे
ओस-कण
जैसे अभी चलकर गयी हो
कोई परी किरण।

किन्तु पूरा दिन
धूप भरा कोलाहल था।

न कहीं
नदी-तट की शान्ति थी

न कदम्बों से आता
कोई सुरीला स्वर-
सब जगह
भीड़भरी अस्फुट आवाज़ें थीं।
रुदन या हास

समय का परिहास
कहीं न थी सार्थकता
नहीं था सत्य का आभास।

खाई में चल रही थीं
छायाएँ
कर्म जैसे अविद्या था
ज्ञान की कोई परत नहीं।

इन्द्रियों पर
इन्द्रियों का आक्रमण
भयावह था जागरण
जन-जीवन।

इस परकीय
अपहृत रोशनी की चमक में
टूट रहा था दिन
उसकी संकीर्णता जलसा थी।

यहाँ भी कहीं
एक गोपन
निश्चल नीरवता थी
शान्त कोई सोया था
योगी
या अन्तर्मन।

छत की
क्षितिज-सी बंकिम
मुंडेर पर
बैठी हूँ-
आकाश में
न इस ओर दिन है
न उस ओर रात।

सामने
काली पहाड़ी पर
महानिशा का राज्य है
सारा जग सोया है।

केवल आलोकित है
एक गुहा
योगी की
या अन्तर्मन की-
दीपक की लौ में
नित्य जागरण है।

मेरी वास्तविक सामान्यता

प्रतिपल की परीक्षा
अब जीवन थी-

मैं भागना चाहती थी
पलायन करना चाहती थी
परीक्षक की
सदा बनी रहनेवाली

भेदक दृष्टि से-

इस खोजबत्ती से
जो मृगयाकुक्कुर की तरह
मेरा पीछा करती थी-

या मेरे कपड़े उतारना चाहती थी
कि मैं निरावरण
उसके सम्मुख हो सकूँ।

यह तीक्ष्ण प्रकाश,
इसका संकेन्द्रण
मेरे अन्दर सुरंग बनाता था,
गर्भगृहों में जाता था,
ऊपर के उन तलों को झकझोरता था
जो सोये हुए थे-

मैं
प्रतिपल के इस दबाव से
भागना चाहती थी
कि सामान्य रह सकूँ
और अपने जीवन की साँसों की
आवा जाही में जी सकूँ-

मैंने चाहा था
अपने प्रिय
पुरातन मित्र
अँधेरे की पीठ की टेक ले
सो जाना-

हर क्षण रोशन रहना
जाग्रत रहना

यह तो तपी सलाख़ है।

कुछ समय बाद
उस दृष्टि के नीचे ही
उस प्रकाश में
मैं सो गयी
और जाग गयी
खोजबत्ती
मेरी अन्तर-दीवट का ही
दीया थी-
जागने पर अनुभव की
इसकी
मृदुल स्निग्ध भास्वरता-
मैं
सामान्य जीवन चाहती थी-
यही थी मेरी
वास्तविक सामान्यता।

चलो मन उस डाल पर

पटरियाँ तो
खुली ही मिलीं सदा
रेलगाड़ी की तरह
दौड़ता रहा
मन
जाता रहा
इस डिब्बे से उस डिब्बे में
निर्लक्ष्य होकर भी

मानो वह एक यात्री हो।

आगे नहीं
पीछे ही कुछ डिब्बे हैं
बीच में रास्ता है।

जाना
कभी वहीं रह जाना
या लौट आना–
बहुत समय से यही क्रम है।

किन्तु यह कथा एक दिन की है:

वह गया
उस डिब्बे में दो-तीन जन थे
पहचान कर भी
अनजान-से बैठे हुए
असबाब कुछ नहीं
केवल एक पोटली–

मन के सरोकार को देख
वह खुल गयी
आगे भी ऐसा ही हुआ
सब जगह होती
एक छोटी-सी दुःखद कथा
मन उसे विस्तार देकर
उसकी त्रासदी को
और अधिक त्रासद कर देता–
पुरातन दुःख को
नया कर देता।

ऐसे ही एक डिब्बे में

उसे मिले
बहुत पहले खोये हुए
अपने जन
कष्टकर था अन्त।

आगे जाकर वह देखता है
दो तरुण दम्पती
सुन्दर और शालीन
दो अलग बेंच पर बैठे हुए।
वे सहृदय हैं
वात्सल्यमय
अलग रखना चाहते हैं
मन को
दुःख से-
उसके पूर्वज हैं।

किन्तु
पोटली में संवाद है
यों भी मन जानता है
उनकी कथा
महामारी का आतंक
असमय मृत्यु
ऐसे ही चले गये थे
दो बच्चों को अनाथ कर
वे अदेखे
अपने जन।

अगले डिब्बे में थे
कुछ समय पहले गये
एक वयोवृद्ध पुरुष-

सम्बन्धी नहीं
पर आत्मीय थे

वे जानते थे,
मन की संलग्न प्रकृति को
जो सदा आहत रखती है
और तोड़ती हुई चलती है।
उनकी पोटली में
दुःख नहीं, संवाद नहीं,
संवेदन था
संवेदनशीलता और आशीष।

मन द्रवित
कुछ क्षण रुका रहा-

अब आख़िरी डिब्बा था।

उसने देखा
कोने में एक लड़की बैठी है
वेशभूषा अभिजात है
हाथ में छोटी-सी थैली है-

किन्तु उसके चेहरे पर
उदासी है
निराशा की छाया है
जैसे कोई
काली बदरी ठहर गयी है।

मन प्रश्न नहीं करता
अनमना-सा लौट आता है
अपने डिब्बे में-
खिड़की पर बैठ देखता है

दौड़ते हुए
दृश्यों को-
सब पीछे की ओर भाग रहे हैं
अतीत की ओर

किन्तु वह लड़की!
वह तो अतीत नहीं
'वर्तमान' है
कितने समय से उससे
संवाद नहीं रहा।

मन
मानो स्वयं
एक खोयी हुई चीज़ है।

मन थक गया है
रुक जाना चाहता है
किसी असमय में।

गाड़ी की गति धीमी होने लगी है
पहियों की आवाज़ भी सरक रही है
लगता है कोई प्लेटफ़ार्म आया है
शायद आख़िरी स्टेशन है,
'टर्मिनस'।

उसने पास ही महसूस किया
उस लड़की को
उसके स्पर्श को
युगों बाद सुनी उसने
उसकी आवाज़

धीरे से बोली वह

उतरो, चलो मन

चलो मन, उस डाल पर
जहाँ रहता है
तुम्हारा वह दूसरा
अन्तर्द्रष्टा साक्षी
प्रकाशित मन-
तुम्हारे सदृश है वह
सखा तुम्हारा है!

उससे वार्तालाप करो
वह जानता है
अन्तर-पथ।

वह ले जायेगा तुम्हें
जहाँ
नील-वन के
चन्द्र-सरोवर में
रहता है
स्वर्ण पंख
तुम्हारी आत्मा का राजहंस-

चलो मन, उस डाल पर।

प्रतिभासित अन्तर्बिम्ब

मन
बहता हुआ आकाश है

वह व्याप्त है
फिर भी मैं उसे

स्पर्श नहीं कर सकती
उसकी अनुभवगम्यता को।

न वहाँ मेघ हैं
न सूर्य-चन्द्र
न तारक ही
न वायु की
चंचल कोई तरंग।

नक्षत्र गंगा का
उद्भासित पथ भी वहाँ नहीं है

न कोई उच्छलता
न उद्वेग
न तटवर्ती जलावर्तन

पूर्ण अस्त को प्राप्त थी
हर घटना
हर आवागमन

कुछ क्षणों को
बहते आकाश के इस दर्पण में
प्रतिभासित हुआ था
मेरा अन्तर्बिम्ब।

प्रकृति और नियति का यह विरोध क्यों?

अफ़ानासी फ़्येत की कविताएँ

रूसी से अनुवाद : वरयाम सिंह

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के महत्वपूर्ण कवि। १८२० में रूस के ओर्लोव इलाके में कुलीन परिवार में जन्म। पिता रूसी और माँ जर्मन। आरम्भिक शिक्षा घर और ऐस्तोनिया के शहर के जर्मनभाषी स्कूल में। उच्च शिक्षा मास्को राज्य विश्वविद्यालय में। १८४५ में सेना में भर्ती। १८५७ में सैन्य सेवा से मुक्त होने के बाद ओर्लोव क्षेत्र में २०० हेक्टेयर ज़मीन ख़रीद कर खेती और पशुपालन। मास्को और पीटर्सबर्ग के साहित्यिक और राजनीतिक हलचल से दूर। १८९२ में मृत्यु।

पहला कविता संग्रह बीस वर्ष की उम्र में १८४० में गोगोल की प्रशंसा से उत्साहित होकर प्रकाशित। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं पर चर्चाओं के केन्द्र में। तुर्गेनेव और टॉल्स्तोय से मित्रता। १८५६ में कविताओं का बृहद संकलन। जर्मन कवियों एवं दार्शनिकों की रचनाओं के अनुवाद। १८८५ से 'सांझ के दीप' नाम से १८९२ तक चार संकलन।

जन्म के दो सौवें वर्ष के अवसर पर प्रकाशित ये हिन्दी में सम्भवतः फ़्येत के ये पहले अनुवाद हैं।

जब हिंस्र हो उठती है भीड़

जब हिंस्र हो उठती है अय्याश भीड़
डूबी होती है अपराधों के नशे में
खुश होती हैं दुष्ट प्रतिभाएँ
महापुरुषों के नामों को कीचड़ में लाने में।

मुड़ जाते हैं मेरे घुटने
झुक जाता है सिर
पुकारता हूँ बलशाली छायाओं को
उनकी चिट्ठियाँ सुनाता हूँ पढ़कर।

रहस्यों से भरे मन्दिर की छाया में

धूप और अगरबत्तियों के धुएँ के घेरे में
सीखता हूँ ध्यान लगाना गुरूओं के शब्दों पर।

और भूल जाता हूँ लोगों का सारा शोर,
सौंपता हूँ अपने को कुलीन विचारों के हाथ,
अपने भीतर लेता हूँ उन्हें गहरे श्वास के साथ।

(१८६६)

फड़फड़ाने लगी...

फड़फड़ाने लगी अन्धड़ से चीड़ की रोयेंदार टहनियाँ,
बर्फ़ीले आँसू बहाने लगी पतझड़ की रात,
धरती पर कहीं कोई अलाव नहीं, न आकाश में तारे
सबकुछ तोड़ना चाहती है हवा
वहाँ ले जाना चाहती है सबकुछ झरनों की तरह बारिश।

कोई नहीं। कुछ भी नहीं। ठण्डे बिस्तर पर नींद तक नहीं,
सिर्फ़ पेंडुलम है वक़्त को मापता हुआ हास्यास्पद ढंग से।
अलग हो जाओ खुले मन से
अलग हो जाओ इस मद्धिम बत्ती से,
नहीं तो भारी बोझ खींच लेना तुम्हें नियति प्रेरित धरती की ओर।

प्रवेश करो इस अंधकार में, मुस्कुरा दो, ओ सहृदय परी,
पूरी ज़िन्दगी पर इस पल मैं छिड़क रहा हूँ नमक,
इस एक पल से माप रहा हूँ अपनी पूरी ज़िन्दगी,
मधुर ध्वनियों से, सुरीली वाणी से सहला रहा हूँ कान,
घड़ी के वक़्त को मैं मानता नहीं, रात के आर्तनाद पर विश्वास नहीं।

(६० के दशक का अन्त?)

कलाओं की देवी से

तुम आयीं और बैठ गयीं। प्रसन्न और उद्वेलित
मैं दुहराता हूँ तुम्हारी स्नेहिल कविता,
यदि नगण्य हो मेरी प्रतिभा तुम्हारे सामने
तो ईर्ष्या में कम नहीं हूँ मैं किसी से।

पूरी लगन से रक्षा कर रहा हूँ तुम्हारी स्वतन्त्रता की,
जिनमें समर्पणभाव नहीं बुलाया नहीं उन्हें तुम्हारे पास,
गुलामों के जैसे उनके हंगामें को सहन नहीं किया
अपवित्र नहीं होने दिया तुम्हारी वाणी को।

तुम वही हो पूर्ववत पवित्रता की मूर्ति
पृथ्वी के लिए अदृश्य बादलों के ऊपर,
तारों का मुकुट धारण किये, अनश्वर देवी,
मुख पर सोच में डूबी मुस्कान लिये।

(१८८२)

कविता

हमने जन्म लिया है अन्तःप्रेरणा के लिए
मधुर ध्वनियों और प्रार्थनाओं के लिए। **पुश्किन**

रोते, बिलखते तुम चाहते हो देना अभिशाप,
कोड़ों के बल खड़ा करना चाहते हो क़ानून के सम्मुख,
रुको, ओ कवि, मुझे नहीं बल्कि बुलाओ
अथाह में से प्रतिशोध की देवी टिज़ीफ़ॉनी को।

जागते हुए मैंने संजो रखे हैं सम्मोहक सपने,
अपनी दैवी शक्ति से
ऊँचे आनन्द और मानव-कल्याण का

मैं आरम्भ करता हूँ आह्वान आज से।
और तरह-तरह के अपमानों से लज्जित
जब हृदय से रोने की इच्छा की उठती आवाज़ सुनायी दे
तुम्हारी विपदाओं की ख़ातिर मैं तब भी
धोखा नहीं दूँगा स्वतन्त्रता की इस शाश्वत पुकार को।

झेलनी होंगी विपदाएँ! सभी झेलते आये हैं-
आशाओं और चेतना से वंचित बनैला पशु भी,
चमकती हैं खुशियाँ यातना-यन्त्रणाओं की जहाँ
उसके लिए सब बन्द हैं द्वार उस जगह के।

अपरिचित रहेंगे इन खुशियों से
आत्महीन, हृदयहीन सब मनुष्य।
यदि वीणा बन न सकी हो नरसंहार का बिगुल
क्यों पीटने पर तुले हो आज उसे?
प्रकृति और नियति का यह विरोध क्यों?
ये ध्वनियाँ तो पृथ्वी पर
लाती हैं यन्त्रणाओं से बचने के उपाय
न कि उत्तेजित तूफ़ान या आह्वान संघर्ष के।

(१८८७)

मेरी अनिद्रा के क्षणों में...

मेरी अनिद्रा के क्षणों में, आधी रात की ख़ामोशी में
कड़े तेवर लिये खड़े होते हैं सामने
बीते दिनों के देवता, बीते दिनों के आदर्श
अपनी ललकारती भर्त्सनाओं के साथ।

मैं फिर से प्रेम करता हूँ, प्रेम करते हैं मुझे भी,
अपने प्रिय सपनों के क़दमों पर चलता रहा हूँ मैं,

पापी हृदय सताता रहा है मुझे
अपने असहनीय अन्यायों से।

कभी जो मित्र रही देवियाँ
खड़ी हैं सामने कभी मोहक, कभी सख़्त मुद्रा में,
लेकिन व्यर्थ है देवियों की तलाश उनके सामने
वे देवियाँ हैं अपने असली रूप में।

उनके सामने फिर से घिरा है मेरा हृदय चिन्ताओं और आग से,
लेकिन उनकी लपटें नहीं है पहले के जैसी,
वे मानो मर्त्यों की तरह पाखण्ड करते
उतर आयी हैं दैवी तलहटी से।

केवल दम्भी और सजीव सपनों की दुश्मन
पता नहीं जिन्हें क्या होती है दया, क्या होता है युद्ध,
महारानियों की तरह पहले की ऊँचाइयों पर खड़ी हैं वे
घृणित प्रार्थनाओं की फुसफुसाहट सुनती हुई।

उनकी आँखें थकी पलकों के नीचे ढूँढ रही हैं कुछ,
व्यर्थ की प्रार्थनाएँ सम्बोधित हैं उन्हें,
निष्फल आशाओं की अगरबत्तियों का धुआँ
उठ रहा है आज भी उनके पाँवों के पास से।

(३ जनवरी १८८८)

बुढ़ऊ का बियाहु

चन्द्रभूषण

टीका : कामायनी मिश्रा

क़रीब अस्सी वर्ष पहले की बात है एक चार बरस की बच्ची अपने विद्वान पिता के साथ रेलगाड़ी में सफ़र कर रही थी। उन दिनों रेलगाड़ियों में बोलियों के कई कवि अपनी कविताएँ प्रकाशित कर खुद बेचा करते थे। कई बार बोलियों की ये पुस्तकें कुछ दूसरे लोग भी बेचते थे। यह ठीक से पता नहीं है कि उस चार साल की बच्ची ने बैंसवाड़ी में लिखी कवि चन्द्रभूषण की कविता पुस्तक पिता से कहकर स्वयं कवि से ख़रीदी थी या किसी अन्य से। यह पुस्तक उसके पास रखी रही आयी। उन दिनों ये कविताएँ बैंसवाड़ी बोलने वाले इलाक़ों में सम्भवतः काफ़ी प्रचलित थी। उस बच्ची को भी ये कविताएँ याद हो गयी और अब अस्सी साल बीत जाने के बाद भी उसे ये कविताएँ कण्ठस्थ हैं। यह बच्ची कामायनी अपने पिता सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पहले अध्यक्ष आनन्द मोहन वाजपेयी की बेटी हैं। 'समास' का सौभाग्य है कि उन्होंने वर्षों से संजो कर रखी कवि चन्द्रभूषण की कृति 'बौछार की कविताएँ' की एक कविता और उसकी खड़ी बोली में टीका हमें उपलब्ध करायी है।

बात ना हमते जाति कहो।।
जब पचपन के घरघाट भयेन,
तब देखुआ आये बड़े-बड़े।
हम सादी ते इनकार कीन,
सबका लउटारा खड़े-खड़े।।
संपति सरगौ माँ राह करै,
कुछु देखुबा घूमि-घूमि आये।
अपनी लड़किन के ब्याहे का,
दस पाँच जने हैं मुहुँ बाये।।
पर सबते ज्यादा लल्लबाइ,
मे शिवसहाँय अचरजपुर के।
उइ साथ सिपारिसि लइ आये,
दुइ-चारि जने सीपतपुर के।।
सुखदीन दुबे चिथरू चउबे,
तिरबेदी आये धुन्नर जी।

कुंजी पण्डित निरघिन पाँड़े,
बड़कये अवस्थी खुन्नर जी।।
संकर उपरहितौ बोलि परे,
तुम्हरे तौ तनिकौ ज्ञान नहिन।
यह संपति को बैपरी भला,
तुम्हरे याकौ सन्तान नहिन।।
स्वाछन का जर ते छोलि छोलि,
देहीं के रवावाँ झारि दीन।
भउँहन की क्वारै साफ भई,
मूड़े मा पालिस कारि कीन।।
देहीं माँ उपटनु लगवावा,
फिरि कीन पलस्तर साबुन का।
अब चमक दमक माँ मातु कीन,
हम छैल चिकनियाँ बाबुन का।।
दीदन माँ काजरु वँगबाबा,
माथे माँ टिकुवा कार कार।
देही माँ जामा डाटि लीन,
मूड़े माँ पगिया कै बहार।।
फिरि गरे म कण्ठा हिलगावा,
जंजीर लटकि आई छाती।
मानौ अरहरि की टटिया माँ,
लटका है ताला गुजराती।।
सब कीन्हों रसम सही।
बात ना हमते जात कही।।
जब सँझलउखे पहुँची बरात,
कुछु जन आये हमरे नेरे।
तब अकिल न ठीक रही।
बात ना हमते जात कही।।

बइसाखी मुसकी छाँड़ि-छाँड़ि,
बतलाय लागि अस बहुतेरे।।
दुलहा की दुलहा का बाबा,
जेहिं मूड़े मौरु धरावा है।
यहु करै बियाहु हियाँ कइसे,
मरघट का पाहुनु आबा है।।
ओंठे पर याकौ म्वाछ नहिंन,
यहिं सफाचट्टु करवावा है।
बसि जाना दुसरी दुलहिन कै,
यहु तेरहीं कइकै आवा है।।
पीनस चढ़ि अइसे सोहि रहे,
मानो मिलिगा कैदी हेरान।
कैधों बिरवा के थलकुर ते,
यहु झाँकत है खूसटु पुरान।।
बसि यही तना अपमान भरी,
कानन माँ परीं बहुत बोली।
जो हमरे जी माँ च्वाट किहिन;
जइसे बन्दूकन की गोली।।
अब जियरा मा जिरजिरी बढ़ी,
वहि संकर पण्डित के ऊपर।
जो बहु बिधि ते समुझाय बुझै,
लइ आवा अइसि बिपति हम पर।।
की जइसि न जात सही।
बात ना हमते जात कही।।
जब पहरु छा घरी राति बीति,
तब भँवरिन कै बारी आई।
सब कामु रतउँधिन नासि दीन,
दीदन आगे धुँधुरी छाई।।

पण्डितवैं बात बनाय कहा,
हमरी कइती तदतूरु यहै।
भँवरिन माँ बर के साथ साथ,
नेगी दुइ एकु जरूर रहै।।
उपरहितैं अँगदर कामु कीन,
वहिं दुइ नेगिन का ठढ़ियावा।
जिन हमका पकरि डखउरा ते,
फिरि सातौ भँवरी घुमवावा।।
सतई भँवरी माँ पावँ म्वार,
परिगा बेदी के गड़वा माँ।
जरि गयेन जोर ते उचकि परेन,
अधपवा अइस भा तरवा माँ।।
हम बका झिका कहि दीन अरे,
ई नेगी हैं बिन आँखिन के।
बसि यतना कहतै हमरे मुहुँ-
कुछु घुसिगे पखना पाँखिन के।।
हम हरबराय कै थूकि दीन,
उइ अखना पखना रहैं जौन।
सब गिरिगे नेगिन के ऊपर,
ई करें उतउँधी चहै जौन।।
नेगी बोले यह बात कइसि,
तुम हमरे ऊपर थूकि दिहेव।
हम कहा कि बदला लीन अबै,
तरवा हमार तुम फूँकि दिहेव।।
ई बिधि ते लाज रही।
बात ना हमते जात कही।
जब परा कल्यावा सँभलउखे,
तब फिरि विपदा भारी आई।

छत्तीसा लइगा चउकै मुलु,
पायँन ते पाटा छिछुवाई।।
भगवान कीन पाटा मिलिगा,
मुलु खम्भा माँ भा मुड्डु, भट्ट।
बटिया सोहराय अड़उखे माँ,
पाटा माँ बइठेन भट्ट पट्ट।।
पर मुँहु देवाल तन कइ बइठेन,
बिन दीदन सोना माटी है।
तब परसनहारी बोलि परी,
बच्चा पाछे तन टाठी है।।
हम कहाकि हमरेव आँखी हैं।
चहुँ अलँग निगाहै फेरि रहेन।
है बड़ी सफेदि पोताई यह,
सो हम देवाल तन हेरि रहेन।।
बसि ई बिधि कइकै बतबनाव,
टाठी कोधी समुहाय गयेन।
बिन दाँतन चाबी कौरु ककस,
सब पानी घूँटि नँघाय रहेन।।
जब दूधु बिलारीं अधियावा,
तब परसन हारी हाँकि कहिसि।
मरि गइली नठिया गाड़ी यह,
ऊपर कै साढ़ी चाँटि लिहिसि।।
हम कहा बकौना, जानि बूझि,
ना हम यहिका दुरियावा है।
घरहू माँ सदा बिलारिन का,
नित साथै दूधु पियावा है।।
ऊपर ते ऊपर चुपरु कीन,
भीतर ते जियरा जिरजिरान।

जब जाना साढ़ी नहीं रही,

तब तौ सूखे आधे परान।।

पर परसनहारीं टाठी माँ,

जब हाथे ते पूरी डारा।

हम जाना आई फिरि बिलारि,

मूड़े माँ पाटा दइ मारा।।

सीमेंट उखरिगै मूड़े कै,

तब रसोइँदारिनि रोई है।

सब भेदु रतउँधिन का खुलिगा,

चालाकी सारी खोई है।।

ना कच्ची हँड़िया बार बार,

कोहू ते चढ़ै चढ़ायेते।

अध भूखे भागेन समझि गयेन,

ना बनिहै बात बनायेते।।

अब बिगरी रही सही।

बात ना हमते जात कही।।

बुढ़ऊ का ब्याह

बात कुछ ऐसी है कि हमसे कही नहीं जाती।

जब हम पचपन की उम्र को पार कर चुके, हमारी शादी को बड़े-बड़े रिश्ते आये। हमने शादी से इनकार कर दिया और सबको खड़े-खड़े लौटा दिया। लेकिन सम्पत्ति स्वर्ग में भी राह बना देती है कुछ रिश्ते बार-बार पलट-पलट कर आये। अपनी-अपनी लड़कियों के ब्याह के लिए पाँच-दस लोग तो बिलकुल मुँह बाये खड़े हैं। पर सबसे ज्यादा इच्छुक अचरजपुर के शिवसहाय थे। वे अपने साथ सीपतपुर के दो-चार लोगों को सिफ़ारिश के लिए साथ में लाये थे। सुखदीन दुबे, चिथरू चौबे, त्रिवेदी जी, धुन्नर, कुंजी, पण्डित निरधिन पाण्डे, बड़े अवस्थी जी, खुन्नर जी सभी ने सिफारिश की। शंकर पुरोहित भी बोले 'तुम्हें तो ज़रा भी ज्ञान नहीं है। तुम्हारे कोई सन्तान नहीं है तो इस सम्पत्ति का उपभोग कौन करेगा।

मूँछों को जड़ से छील-छील कर पूरे शरीर के रोंए साफ़ कर लिये। माहौल को ठीक कराया, सिर के बालों को काला किया। शरीर में उपटन लगवाया फिर साबुन लगाया। अब चमक दमक में हमने छैल छबीले

नव जवानों को भी मात किया। आँखों में काजल लगवाया। माथे पर काला टीका शादी के लिए जो जामा पहना जाना है उसे पहना, सिर पर पगड़ी सजा ली। फिर गले में हार लटका लिया, जंजीर ऐसी लटक आयी छाती में जैसे अरहर के सूखे खड़े पेड़ों पर सुन्दर गुजराती ताला लटका हो। इस प्रकार सब रस्मे पूरी कीं। जब शाम के समय बारात पहुँची, कुछ लोग हमारे पास आये तब हमारी अकल कुछ गड़बड़ा गयी। क्या कहें कुछ बताते नहीं बनता।

बैसाखी मुस्कान के साथ कुछ लोग आपस में बातें करने लगे, यह दूल्हा है कि दूल्हे का बाप है जो सिर पर मौर (सेहरा) बाँधकर आ गया है।

ये यहाँ ब्याह करने कैसे आ गया यह तो मरघट का मेहमान लग रहा है। ओठों पर एक भी मूँछ नहीं है। इसने मूँछें साफ करायी है। लगता हैं जैसे अपनी दूसरी पत्नी की तेरहवीं करके आया है। पालकी में चढ़कर ऐसे शोभायमान हो रहा है जैसे गुमा हुआ कैदी मिल गया हो। या फिर किसी पेड़ की ओट से यह पुराना खूसट झाँक रहा है। बस इसी तरह की अपमानजनक बातें कानों में पड़ी जिनने हमारे मन पर बन्दूक की गोलियों जैसी चोट की। अब मन में उस शंकर पण्डित पर बड़ी गुस्सा आया जिसने बहुत प्रकार से समझा-बुझा कर ऐसी विपत्ति मुझ पर डाल दी जैसी कि हमसे कही नहीं जाती। अब छह घड़ी रात बीती तब भाँवर पड़ने की बारी आयी।

रतौंधी के कारण रात में आँखों के आगे अँधेरा छा गया। सारा काम रतौंधी ने बिगाड़ दिया। तब पुरोहित ने बात बनाते हुए कहा कि हमारे यहाँ भाँवर पड़ते समय वर के साथ एक दो नेगी भी रहते हैं। पुरोहित ने यह बहुत बड़ा काम किया। उसने दो नेगी खड़े करवा दिये। उन्होंने मेरे हाथ पकड़ कर सातों भाँवर पड़वा दीं। सातवीं भाँवर में मेरा पाँव अग्नि वेदी में पड़ गया। हम जल गये और ज़ोर से उचक पड़े। पैर के तलवे में छाला पड़ गया। हमने बक झक कह दिया, ये नेगी बिना आँखों के है। इतना कहने के लिए मुँह खोला तो मुँह में कुछ पंखियाँ धुस गयीं। हमने हड़बड़ा कर थूक दिया तो वे सब पंखियाँ-वंखियाँ उन नेगियों के ऊपर गिर पड़ीं, ये रतौंधी जो न कराये सो थोड़ा। नेगी बोले, 'ये क्या किया तुमने हम पर थूक दिया। हमने कहा, 'तुमने हमारा तलवा जला दिया, हमने उसका बदला ले लिया।' इस प्रकार हमारी जान बची। शाम के समय कुँअर कलेवा का समय आया तो फिर विपदा आयी। नाऊ मुझे चौके में ले गया तो पैरों टटोल टटोल कर पाटा तो भगवान की कृपा से मिल गया पर खम्भे में सिर भट्ट से टकरा गया। सिर का गूम सहलाते हुए आड़ लेकर पाटे पर बैठ गये झट-पट। पर मुँह दीवाल की तरफ कर बैठे। बिना आँखों के तो सोना भी माटी है। तब भोजन परोसने वाली बोली, 'बेटा थाली तुम्हारे पीछे की ओर है। हमने कहा, हाँ हमारे भी आँखें हैं। हम चारों तरफ निगाहें फेर कर देख रहे हैं, कितनी सफ़ेद पुताई है। ऐसे बात बना कर हमने थाली की ओर मुँह कर लिया। बिना दाँत के कौर चबाते कैसे, तो पानी के सहारे गुटक गुटक खा रहे हैं। जब बिल्ली आधा दूध पी लिया तब परसने वाली ने बिल्ली को भगाया और कहा इस मरी बिल्ली ने

ऊपर की सारी मलाई चाट ली। हमने कहा, नहीं बिल्ली को कुछ मत कहो, हमने जानबूझकर इसे नहीं भगाया। अपने घर में हम बिल्लियों को हमेशा साथ में दूध पिलाते हैं। ऊपर से हमने लीपा-पोती की पर भीतर से बड़ा गुस्सा आया। यह जानकर कि दूध की मलाई नहीं रही आधे प्राण सूख गये। पर परसने वाली थाली में पूड़ी डालने लगी तब हमें लगा कि फिर से बिलली आ गयी और पाटी सिर पर दे मारा। बेचारी परसने वाली की खोपड़ी पर भारी चोट लगी तो वह रोई। अब रतौंधी का सारा भेद खुल गया। सारी चालाकी धरी रह गयी।

कच्ची हंडिया बार बार कोई नहीं चढ़ा सकता।

आधा पेट खाये भूखे भागे, समझ गये कि बनाने से बात नहीं बनेगी।

फ़ानी बाक़ी

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी

यह कहानी फ़ारूक़ी साहब की आख़िरी कहानी है। हमारी ख़ुशकिस्मती है कि उन्होंने इस कहानी को उर्दू (अरबी) लिपि में हमें पढ़ने दी थी और हमारे आग्रह पर उन्होंने इसका देवनागरी में लिप्यन्तरण करवाना स्वीकार कर लिया था। इसका लिप्यन्तरण और कहीं-कहीं अनुवाद श्री शुभम मिश्र ने जब किया था, फ़ारूक़ी साहब जीवित थे। फिर वे २५ दिसम्बर २०२० को इन्तक़ाल फ़रमा गये। हमने कभी नहीं सोचा था कि 'फ़ानी बाक़ी' उनकी आख़िरी कहानी साबित होगी। स.

मिरी जफ़ा-तलबी को दुआएँ देता है
वो दश्त सादा वो तेरा चेहरा जहान बेबुनियाद

ग्यारह साल की उम्र, यानी युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते मुझे सब कुछ सिखा और समझा दिया गया था। जैसे यह कि हमारी इंसानी कायनात के दो नाम हैं: जज़ीरए-आलूचा-ए-स्याह[१] और जम्बू-द्वीप। और वह कायनाती धूरी, जिसके सहारे कायनात की हर चीज़ टिकी हुई है, उसका नाम मेरु पर्वत है। उसे सुमेरु भी कहते हैं। सुमेरु या मेरु की पाँच दिशाएँ हैं: पहली पूर्वी दिशा जो नीलम से निर्मित है। दूसरी दक्षिणी दिशा लाल याक़ूत[२] की है और तीसरी पश्चिमी दिशा, यह पीले पुखराज की है। चौथी है उत्तरी दिशा जो सफ़ेद बुर्राक़ बिल्लौर[३] की है। और सबसे अन्तिम दिशा सुमेरु के केन्द्र में है। यह गहरे हरे ज़ुमुर्रुद[४] की है।

इस सृष्टि के उत्तरी क्षेत्र में अगम्य पर्वत हैं और जंगल और वीराने हैं और यह क्षेत्र इतना अधिक विशाल और घना है कि अगर ऊपर जाकर बहुत दूर से इसका निरीक्षण किया जाये तो लगता है कि सारा जम्बू-द्वीप और कुछ नहीं है, सिर्फ़ पहाड़ और जंगल है। लेकिन पर्वतों, जंगलों और वीरानों का यह सिलसिला ख़त्म भी हो जाता है और जहाँ यह ख़त्म हो जाता है वहाँ विशाल मैदान हैं। इतने बड़े और फैले हुए कि जहाँ तक नज़र जाये, लगता है सिर्फ़ मैदान ही मैदान है। लेकिन ध्यान से देखें तो इस मैदान में बस्तियाँ भी आबाद हैं। वहाँ के रहने वालों को उत्तर कौरव कहते हैं। उनकी आयु

---

(१) काली जामुनों वाला टापू यानी जम्बू-द्वीप

(२) लाल रंग का एक बहुमूल्य रत्न

(३) स्फटिक मणि

(४) पन्ना

हज़ार बरस या उससे ज़्यादा होती है। वे अपनी जिन देवियों को पूजते हैं, उनसे विवाह भी करते हैं लेकिन किसी भी परिणय का जीवन-काल सात से आठवें दिन तक नहीं पहुँचता। आठवें दिन क्या होता है? यह

किसी को नहीं मालूम। देवी से विवाह करने वाला शायद अपनी जान से हाथ धो बैठता है। और यही वजह है कि असाधारण लम्बी उम्रों के बावजूद इस क्षेत्र में आबादी का दबाव इतना नहीं होता कि लोग एक-दूसरे से टकराएँ हों और इस तरह इन विशाल क्षेत्रों में युद्ध और मार-काट कर के जल-थल को शवों से भर दें। इसकी नौबत ही नहीं आती और आबादी का सन्तुलन बना रहता है।

देवियों से विवाह करने वालों के अलावा और लोग भी हैं जो इस क्षेत्र में जीने-मरने का चक्र पूरा करते हैं। अनगिनत वृक्ष, झाड़ियाँ, ऊँचे-नीचे पहाड़ हैं और अनगिनत नदियाँ हैं। ये सब अपनी-अपनी ज़िन्दगियाँ जीते हैं और उन्हें कुछ ख़बर नहीं कि यहीं पास में कहीं उत्तर कौरव लोग (या जिन्न? या असुर?) भी रहते हैं। सच पूछो तो उनकी भाषाओं में (क्योंकि अलग-अलग क्षेत्रों के लोग अलग भाषा बोलते हैं) में जिन्न, परी, देव, आदि शब्द हैं ही नहीं। कुछ इलाके ऐसे हैं, जहाँ सख़्त गर्मी पड़ती है। उनके यहाँ ठण्डी चीज़ की कल्पना नहीं। वे ठण्डे और गर्म में फ़र्क़ नहीं कर सकते और उनकी भाषा में बर्फ़ के लिए कोई शब्द ही नहीं है। उन्हें गर्म पानी पिलाएँ या बर्फ़ जैसा ठण्डा पानी, उन्हें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

एक कथन यह भी मुझे पढ़ाया गया कि जम्बू-द्वीप खुद कोई कायनात नहीं है, वह असल में सभी सृष्टियों का केन्द्र है और इसे सात समुद्र ने घेरा हुआ है। इन समुद्रों में अन्तर इस तरह है कि हरेक समुद्र के बाद एक ज़मीन का टुकड़ा है। कुछ लोगों का विचार है कि इन सातों समुद्रों में अलग-अलग चीज़ें भरी हुई हैं। पहले में कड़वा और नमकीन पानी, दूसरे में गुड़ का शरबत, तीसरे में शराब या सोमरस, चौथे में मक्खन, पाँचवे में दही, और छँटवे में दूध। अन्तिम समुद्र के बाद कोई टुकड़ा नहीं, हर तरफ़ पानी ही पानी है।

एक बड़ी मायूसी की बात यह थी कि किसी को नहीं मालूम था कि इन सभी कायनातों का आख़िरी सिरा कहाँ है। कहा गया कि इस सिरे के बारे में हम जान भी लें कि वह किस तरफ़ और कितनी दूर है तो भी हम वहाँ तक पहुँच नहीं सकते। लेकिन दुखम्, जो मनुष्य की वास्तविक नियति है, उससे मुक्ति तब ही मिल सकती है जब हम सभी ब्रह्माण्डों के अन्तिम किनारे को छू लेंगे। मालूम हुआ कि दुखम्, यानी दुःख, दर्द, ग़म, व्याकुलता से किसी को छुटकारा नहीं।

मेरे उस्ताद की आदत थी कि बोलते-बोलते सो जाया करते थे। हमारी या किसी की मजाल नहीं थी कि उनको जगाएँ, या पाठ छोड़कर चले जाएँ। एक दिन की घटना है कि मेरे उस्ताद सुबह-सुबह ही सो गये और सूर्यास्त के समय ही जागे। उनके चेहरे पर, और चेहरे ही पर क्यों, उनके सारे व्यक्तित्व पर, उनके पोर-पोर पर, आभा बरसती हुई मालूम होती थी। बिना देर किये, और उस तरह, जैसे वे सोये ही नहीं थे उन्होंने कहना शुरु कर दियाः

'हाँ, यह जम्बू-द्वीप भी किसी का बनाया हुआ है। यह अनन्त नहीं है। बस इतनी बात ठीक है कि मेरु पर्वत सारी सृष्टि, बल्कि सभी सृष्टियों का केन्द्र है। इस पहाड़ की अलग-अलग ऊँचाइयों और घाटियों की कल्पना तुम एक नीलोफ़र[५] के फूल की तरह कर सकते हो।

और जब कल्पना कर सकोगे तो उसे अस्तित्व में भी ला सकोगे। इस तरह कि नीलोफ़र-रूपी मेरु पर्वत की चार पंखुड़ियाँ हैं। और हर पंखुड़ी एक महाद्वीप है। और दक्षिणी पंखुड़ी का नाम भारत है और यह देश जिस पर तुम आबाद हो, इसी भारत या हिन्द या सिन्ध का एक हिस्सा है।'

मेरी तालीम के आख़िरी साल कई गुप्त शक्तियों को अपने अन्दर उत्पन्न करने और फिर उनसे बाहरी माहौल पर प्रभाव डालने, बल्कि कभी उसे नष्ट करके नया वातावरण पैदा करने के अभ्यास में व्यतीत हुए। मैं कुछ समझता, कुछ नहीं समझता, लेकिन सवाल करने या समस्याओं का विस्तार से हल मालूम करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं थी। किसी में भी नहीं था। मेरे माता-पिता में भी नहीं। उसकी वजह शायद यह थी कि उनका विश्वास था कि यथार्थ असल में तुम्हारे मस्तिष्क का सबसे आन्तरिक हिस्सा है। तो क्या यथार्थ अलग से, अपने आप में कुछ नहीं? एक बार मैंने हिम्मत कर पूछ ही दिया। माँ तो दुपट्टे में मुँह छुपाकर मेरी बेवकूफ़ी या मासूमियत पर मुस्कुराने लगीं। लेकिन मेरे पिता चुप रहे। मैं खुश हो रहा था कि बड़े मियाँ को अच्छा चित किया है। अब कल जाकर अपने उस्ताद जी की भी उस्तादी निकालूँगा। लेकिन कुछ पलों के मौन के बाद मेरे पिता ने बोलना शुरु किया।

'मारूज़[६] क्या है? सिर्फ़ अन्दाज़े बयाँ है। तुम इस घड़े को देख रहे हो और इसमें भरे हुए पानी को भी देख रहे हो। क्या यह सम्भव नहीं कि जब तुम इसके पास जाने का इरादा करो तो पास तक नहीं पहुँच सको? अगर तुम एक चींटी में परिवर्तित हो जाओ, तो तुम घड़े का मुँह भी नहीं देख पाओगे। घड़े की सतह चींटी को इतनी ही विशाल और असीम नज़र आयेगी जैसे इंसानों की ज़मीन की सतह तुम्हें महसूस होती है कि समतल है, चपटी है और अनन्त है। और अगर तुम किसी ऊँची जगह खड़े कर दिये जाओगे तो तुम्हें घड़ा नज़र भी नहीं आयेगा। और अभी तो हम तीन लोग इस घड़े को देख रहे हैं। हम कहीं भी जाकर गवाही दे सकते हैं कि हमारी कोठरी में पानी का घड़ा है और वह पानी से भरा हुआ भी है। इस वक़्त तो तुम अपनी आँखों, और अपनी देखने-समझने की शक्तियों के बल पर गवाही दे सकते हो और वह बिल्कुल सच्ची गवाही होगी। लेकिन अगर हम लोग यहाँ नहीं हों? कोई भी नहीं हो? तो फिर कौन गवाही देगा कि पानी का घड़ा यहाँ है? फिर तुम्हारी समझने की शक्ति किस काम की जब वह उपस्थित और अनुपस्थित में भेद करने का गुण नहीं रखती हो?'

---

(५) कमल

(६) कही गयी बात

मुझे यह फ़िज़ूल सी बाल की खाल लगी। लेकिन अचानक मेरे पिता ने सिर उठाकर मुझे देखा तो मैंने देखा कि हमारी कोठरी की छत से एक चाँद लटक रहा है। फिर मैंने महसूस किया (या देखा) कि वही चाँद छत से उतरकर मेरे दिल में रौशन हो गया है। घबराकर मैंने अपना सिर झिंझोड़ा, हाथ-पाँव फेंके जैसे मुझे मिरगी का दौरा पड़ गया हो। लेकिन अब जो होश वापिस आया तो चाँद कहीं न था। छत पहले की तरह सुनसान थी।

यह भी उन लोगों का कोई जादू होगा, मैंने दिल में सोचा। क्या ऐसा भी सम्भव है कि आग न जलाये या पानी तर न करे?

अगले दिन सबक़ शुरु होने के पहले उस्ताद ने मुझसे पूछा, 'क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी रीढ़ की आख़िरी हड्डी से लेकर सिर की आखिरी हड्डी तक बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ हैं'? मैंने कहा, 'जी नहीं'। उस्ताद की बात मुझे निपट मूर्खतापूर्ण लगी थी, लेकिन ज़बान पर सवाल लाने या बात को अस्वीकार करने की हिम्मत कहाँ थी? उस्ताद ने फ़रमाया, 'ये बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ तुम्हारे शरीर के सभी हिस्सों को प्राणवायु पहुँचाती हैं, कुछ बहुत तेज़ी से, कुछ धीमे-धीमे और कुछ बिल्कुल ही आहिस्ता। अगर ये नाड़ियाँ न हों तो प्राणवायु के बगैर तुम अपाहिज हो जाओ, ख़ासकर तुम्हारा दिमाग़ कुछ नहीं रहेगा, पिलपिली झिल्लियों का विकृत संग्रह होकर रह जायेगा।'

मैं चुप सुनता रहा।

'और तुम्हारे शरीर में सात चक्र हैं। हर चक्र को जागृत करने से उसकी शक्तियाँ जाग जाती हैं और जीवन को अर्थपूर्ण बनाती हैं। और सातवें चक्र के नीचे, तुम्हारी रीढ़ की आखिरी हड्डी के आखिरी जोड़े के नीचे कुण्डलिनी का ठिकाना है। वह एक नाग है, जो हर वक़्त सोया हुआ रहता है। वह जो हक़ का सच्चा तलाशी है, वह अपने अस्तित्व को समझने के संघर्ष में व्यस्त कुण्डलिनी को जगाने की कोशिश करता है। अगर तुम ऐसा कर सको तो क्या हर तरह के दुःख-दर्द से आज़ाद हो सकोगे। नहीं, हर तरह का दुःख तो नहीं, लेकिन जीने-मरने के दुःख को सहने का गुण तुममें पैदा हो जायेगा। वह मारूज़ी[७] हो या मौजूई[८], लेकिन तुम सांसारिक जीवन के दुःख से हर तरह आज़ाद होगे। तुम जानते हो, इंसानी वजूद की सबसे बड़ी आज़्माइश दुखम् है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह तुम्हारे साथ रहता है, अलग-अलग दर्जों में, विभिन्न शक्लों में। जब तुम दूध पीते बच्चे थे, और तुम्हें भूख लगती थी और तुम्हारे रोने, गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने के बावजूद तुम्हें दूध नहीं मिलता तो तुम उस वक़्त अपनी नन्ही-मुन्ही हस्ती के सबसे बड़े दुःख में जकड़े हुए थे।'

---

(७) स्तुगत

(८) व्यक्तिपरक

'और अब, जब तुम अपने आपको इस ब्रह्माण्ड में अकेले नज़र आते हो, तन्हाई से बढ़कर कोई दुःख नहीं। हाँ, मृत्यु की कल्पना एक दुःख ज़रूर है, जो मृत्यु के समय सबसे बढ़कर होता है। कुण्डलिनी कोई प्रतीक नहीं, कोई रूपक नहीं, तुम खुद हो। उसे जगाओगे तो खुद तुम्हे ब्रह्माण्ड की सबसे बड़ी जागृति प्राप्त हो जायेगी। कोई ज़रूरी नहीं कि तुम्हे कुण्डलिनी को जगाने के लिए खुद को किसी पहाड़ की गुफा में बन्द कर लेना पड़े। तुमने सुना होगा, एक ज़माने में लोग अपने ख़ज़ाने पर एक साँप नियुक्त कर देते थे। साँप को हटाओ तो ख़ज़ाने का रास्ता दिखायी दे। क्या वह कोई तिलिस्मी साँप था, या प्रतीकात्मक साँप, या वाक़ई अपने दाँतों के पीछे कोई ज़हरीली थैलियों वाला, नोकदार दाँतो वाला, दो शाख़-ए-ज़बान वाला? क्या मालूम?

मेरी समझ में कुछ भी तो नहीं आया। भला इंसानी जिस्म में कोई साँप भी सोया हुआ हो सकता है? सचमुच का साँप, और वह भी नाग-देवता ! होगा।

'और यह भी कोई ज़रूरी नहीं कि तुम कुण्डलिनी को जगा लो तो तुम दुःख से वाक़ई आज़ाद हो जाओ। हाँ, दुःख तुम्हारी निगाहों में तुच्छ या गौण लगने लगता है। दुःख तो सृष्टि का केन्द्र है, उससे छुटकारा कहाँ? पैदा होने से लेकर निजात हासिल करने के बीच जितनी मंज़िलें हैं वे दुःख से बनी हैं। और यह नहीं भूलो कि सबसे बड़ा पड़ाव मुक्ति पा लेने का है। उसके बाद तुम्हारे जीवन में कोई उद्देश्य नहीं रहेगा। तो तुम वहाँ पहुँच कर क्या करोगे?'

एक सबक़ ने तो मेरी अक़्ल ही बरबाद कर दी।

'वैचारिक और भौतिक सृष्टियाँ आपस में समन्वित हो सकती हैं। तुम अपने लिए चाँद उत्पन्न कर सकते हो और उसे आसमान पर लटका भी सकते हो। क्या तुमने ग़ौर किया कि बाहरी दृश्य जैसे समुद्र, पर्वत, आकाश आदि अगर नज़र आते हैं तो ये तुम्हारे वैचारिक परिदृश्य के प्रतिबिम्ब भी हो सकते हैं, जिन्हें तुम्हारा विवेक बोध के पर्दे पर उतार सकता है? यानी वैचारिक दृश्य ही वास्तविक दृश्य है?'

यह सब मुझे पढ़ाया गया। पढ़ाया ही नहीं, सिखाया गया। सिखाया ही नहीं, मेरी हस्ती और अस्तित्व का हिस्सा बन गया। मुझे यक़ीन हो गया कि दृश्य अगर आन्तरिक हैं तो मैं उन्हें ऊपरी सतह पर भी देख सकता हूँ। और अगर देख सकता हूँ तो वे उपस्थित हैं। और अगर वे उपस्थित हैं तो मेरे ही उत्पन्न किये हुए हैं।

तो फिर यह शेर-ओ-शायरी, यह इश्क़ और मुहब्बत, यह खोज और ईजाद, ये सब क्या हैं? 'ये सब तुम हो, तुम्हारे बाहर कुछ नहीं'। हर बार मुझे परोक्ष से यही जवाब आता। मुझे अपने आप से, हर चीज़ से डर लगने लगा। यह दुनिया, यह अस्तित्व, ये रंग, ये भाग-दौड़, ये दोस्तियाँ, मुल्क जीतना, विजय

प्राप्त करना, ये सब मैं ही हूँ? 'हाँ, अगर ये सब तुम नहीं हो तो तुम कुछ भी नहीं हो। तुम ही ने उन्हें उत्पन्न किया है और तुम ही उनको ध्वस्त करोगे, कर सकते हो, अब भी यही कर रहे हो'।

मैं यह सब सुन, पढ़ और सीखकर जीवन से उकता गया था। मैं अपने घर, अपनी पाठशाला, अपने गाँव, सबको निरर्थक और व्यर्थ जानने लगा था। यह कौन-सी तालीम है और कौन सी अक़्ल जो मुझे सिखाती थी कि मैं ही अपना बनाने वाला और फिर अपना ही पतन हूँ और फिर जीवन-पटल से खुद को मिटाने वाला भी हूँ। आख़िर और भी लोग हैं। खाते, पीते, मानवीय गतिविधियों और विकारों से जो परे नहीं। वे जीते, लड़ते-भिड़ते, बदला लेते, जुर्म और सज़ा के पड़ावों से भी गुज़रते हैं। लेकिन वे मेरी ही तरह के लोग नहीं तो फिर क्या हैं? क्या उन्होंने अपने आप को खुद ही बनाया है। तो क्या उनको मुक्ति की चिन्ता नहीं। लेकिन मुक्ति भी दुखम का अन्त तो नहीं? तो उनके दुःख कैसे हैं? वैसे, जैसे किसी जानवर के होते हैं? जिसे कोई परवाह नहीं कि फ़िक्र करे कि वह कहाँ से आया था और मरना किसे कहते हैं? बस मरने से डर, जीवन को बनाये रखने के संघर्ष, उसे वे समझते हैं।

उनको शायद मृत्यु की सच्चाई का ज्ञान नहीं। हाँ, दुःख वे ज़रूर जानते हैं, या शायद जानते हैं लेकिन उस नाम से नहीं? क्या वे नाम का विचार भी रखते हैं, या ये हम ही हैं जो वस्तुओं को नाम देकर समझते हैं कि हमने इस चीज़ को अपने ज्ञान के घेरे में क़ैद कर लिया? लेकिन मृत्यु के बाद क्या है? शायद कुछ नहीं, वरना हर निम्न से निम्न प्राणी ज़िन्दगी को बरक़रार रखने के लिए इतनी भाग-दौड़ क्यों करता है, इतने दुःख क्यों भोगता है? मरने के बाद क्या होगा, उन्हें नहीं मालूम, ज़िन्दगी को जो जानते हैं इसीलिए ज़िन्दगी को अज़ीज़ रखते हैं।

(२)

मैंने एक रात घर छोड़ दिया। मेरे पिता हमारी झोंपड़ी के दरवाज़े पर खुरदुरे फ़र्श पर सो रहे थे। मेरी माँ कहीं अन्दर रसोई की चौखट को तकिया बनाकर मासूमों की नींद सो रही थीं।

मेरे पिता? मेरी माँ? क्या मैं भी अपने पिता की कल्पशक्ति का एक प्रदर्शन था? क्या उन्होंने अपना वीर्य मेरी माँ की कोख में डाला था और मैंने हस्ती के सबसे नाज़ुक कण से लेकर पूरे होश-ओ-हवास वाले अस्तित्व की मंज़िलें इस आरामगाह में सुरक्षित गुज़ारी थीं? शायद वही कुछ पल थे जब मैं दुःख से बेख़बर था। या फिर मेरी माँ... क्या मेरी माँ भी उस चाँद की तरह थीं, जिसे मेरे पिता ने आनन-फ़ानन हमारी झोंपड़ी की छत से लटकाकर फिर उसे मेरे दिल में उतार दिया था? तो फिर न कोई मेरा पिता था, न कोई मेरी माँ। मैं इस पूरे ब्रह्माण्ड में अकेला था।

फिर भी मैं चल पड़ा। हमारे भारत के दक्षिणी क्षेत्र में एक देश है, जिसे एक ज़माने में केरलपुत्र कहा जाता था। केरल यानी ताड़ का पेड़ और पुत्र यानी बेटा। उसके नाम बदलते गये, यहाँ तक कि उसके कई

क्षेत्र निर्धारित हुए और उनके नाम भी अलग-अलग रखे गये और बदलते गये। बहरहाल, मुझे तो केरलपुत्र ही नाम अच्छा लगता है। मैंने अब तक जितनी विद्याएँ हासिल की थीं उनमें संगीत और नृत्य को विशेष महत्व प्राप्त था। लेकिन केरलपुत्र में ऐसे कई नृत्य थे, जिन्हें वहाँ जाकर ही समझा और सम्भव हो तो सीखा जा सकता था।

रास्ते में मुझे कई बार यह ख़याल आया कि यह सब सीखने से क्या फ़ायदा? मुझे तो अपने बारे ही में अब तक कुछ नहीं पता था, दुनिया भर की ग़ैर-ज़रूरी चीज़ें जान लेने के बाद मैं खुद को समझ लूँगा? कुण्डलिनी को जगाना बेशक मेरी पहुँच में था। लेकिन क्या दुःख का कोई इलाज वहाँ था भी कि नहीं? मगर, ख़ैर चलो आगे बढ़ो। नाग-कुण्डलिनी तो मेरे बस में था ही, आगे चलते हैं, देखें क्या दिखायी देता है।

> एक क़स्र-ए-नादिरे रोज़गार[९] मिस्ल-ए-आसमान[१०] बुलन्द है... एक दरीचए-तिलाए अहमर[११] का इस क़स्र में नुमायाँ है। सुबह को जब आफ़्ताब[१२] निकलता है... एक हवा आती है, वो पर्दे को उड़ाती है। पर्दा उड़कर मेख़हा-ए-तिला[१३] पर नसब[१४] हो जाता है। चालीस दरवाज़े इस दरीचे के दाहिने और बायें बने हैं। वो भी वा[१५] हो जाते हैं। हर दरवाज़े में एक-एक औरत हसीन, मन्क़ल-ए आतशीं लिये, मुश्क-ओ-अम्बर सुलगता हुआ, आकर खड़ी होती हैं। बाद उसके एक नाज़नीन महजबीन, महर तमकीन[१६], नमूना-ए-बर्क़-ए-तूर[१७], अज़ सिर ता पा दरिया-ए-जवाहिर में ग़र्क़[१८], इस दरीचए-तिलाई में कुर्सी-ए-जवाहिरनिगार[१९] पर आकर बैठती है, करिश्मा-व-अदा में ताक़[२०], हुस्न-ओ-जमाल में शोहरा-ए-आफ़ाक़[२१]...गले में हेकल अलमास[२२] के नगीनों की पड़ी है... जो उस नाज़नीन को देखता है, दिलदादा,

---

(९) अपने ज़माने का अनूठा महल

(१०) आसमान की तरह

(११) ख़ालिस सोने की बनी खिड़की

(१२) सूर्य

(१३) सुनहरी कीलें

(१४) स्थापित

(१५) खुल

(१६) रोबदार

(१७) तूर पर्वत (सीरिया का एक पहाड़ जहाँ हज़रत मूसा ने ईश्वर का जल्वा देखा था) पर चमकती हुई बिजली की तरह

(१८) सिर से पैर तक हीरे-जवाहिरात में लदी हुई

(१९) हीरे-जवाहिरात से जड़ी कुर्सी

(२०) निपुण

(२१) पूरे ब्रह्माण्ड में जिसकी प्रसिद्धि हो

(२२) हीरों का हार

शेफ़्ता-ओ-फ़रेफ़्ता[२३] होता है... वो नाज़नीन (तुरंज[२४] को) मज्मा-ए-उश्शाक़[२५] में फेंकती है। जो शख़्स उस तुरंज को उठाकर सूँघता है, गिरेबान चाक करता है अपने को हलाक करता है। एक सम्त[२६] एक बुर्ज नज़र आता है। इस बुर्ज पर एक कबूतरबाज़ लिबास-ए-जर्रीं[२७] पहने, छीपी[२८] तिलाई हाथ में, कबूतर उड़ाता है। एक ज़ंजीर-ए-तिलाई इस बुर्ज से लटकी रहती है। हर शख़्स (जो) इस तुरंज को सूँघकर दीवाना हो जाता है, जोश-ए-जुनूँ, में बढ़ता है, ज़ंजीर-ए-तिलाई को पकड़ कर चढ़ता है। जब क़रीब बुर्ज के पहुँचता है कि ऊपर चढ़ जाये अपने को उस नाज़नीन तक पहुँचाये, उस बुर्ज में एक सुराख़ पैदा (होता) है। उस सुराख़ से एक हाथ निकलता है, उस शख़्स को अन्दर सुराख़ के खींच लेता है। बाद एक साअत[२९] के उस शख़्स का सिर कटा हुआ, सुराख़ से वही हाथ बाहर फेंक देता है। फिर वो नाज़नीन नज़र नहीं आती, खिड़की बन्द हो जाती है।

(ईरजनामा, जिल्द अव्वल, दास्तानगो, शेख़ तसद्दुक़ हुसैन)

मालूम नहीं मैं होश में हूँ या मुझमें किसी क़िस्म का जादू असर कर गया है। या शायद मैं सपना देख रहा हूँ? मैं हड़बड़ाकर जागा। मैं किसी नदी के किनारे पहाड़ी की छाँव में सो गया था। वहाँ खुदा जाने मुझ पर क्या हंगामा गुज़रा। क्या मेरे पिता अपनी शक्तियाँ इस्तेमाल करके मुझे वापिस बुला रहे थे? या उन्होंने यह तिलिस्म सिर्फ़ मुझे चक्कर में डालने के लिए पैदा किये हैं? मैं फिर सो गया। अब...

एक सहरा-ए-पुरख़ार[३०], दश्त-ए-पुरआज़ार[३१] से गुज़र हुआ जहाँ की ज़मीन भी ताबिश-ए-आफ़्ताब से स्याह थी, तीराबख़्ती[३२] मुसाफ़िरान-ए-सहरा की गवाह थी...पानी नाम को नहीं, चश्मा-ए-चश्म[३३] भी अश्कों से ख़ाली, ज़बान-ए-मिशगाँ[३४] से सूखी सुनाते... कहीं-कहीं

---

(२३) आसक्त

(२४) कशीदाकारी किया हुआ रूमाल

(२५) प्रेमियों की महफ़िल

(२६) ओर

(२७) चमकीला लिबास

(२८) कबूतरों को उड़ाने के लिए इस्तेमाल होने वाला एक छोटा झण्डा

(२९) समय

(३०) काँटों से भरा जंगल

(३१) तक्लीफों से भरा जंगल

(३२) बदक़िस्मती

(३३) आँखों के सोते

(३४) पलकें

जानवर जो नज़र आता लख़लख़ाता, पानी की तलाश में फड़फड़ाता ज़बान बाहर निकाले तड़पता... दो-तीन चीलें पोटे टीके आँखें बन्द किये बैठी थीं और हाँफ़ रही थीं, सोज़-ए-जिगर की सर्दमेहरी[३५] से काँप रही थीं।

तालाब और झीलें ब रंग-ए-आईना-ए-मुसफ़्फ़ा[३६] हैं। बगुले एक पाँव से बग़लों में चोंच दाबे खड़े हैं... मेंढक झील चश्मे में अर्राता है। झींगुर की चीं-चीं है, टिटहरी टर्राती है... हवा सर्द चलने लगी। दरख़्तों की खड़-खड़ाहट से हिरण की डारें दामन-ए-कोह और बीहड़ से निकलीं... किसी तरफ़ से पाढ़े, किसी जानिब से नीलगायें ज़ाहिर हुईं। कछार[३७] में शेर डकारा, हाथी चिंघाड़ा, दरख़्तों में मुर्ग़ झुण्ड के झुण्ड बोलने लगे। ढेड़ चहकारे, झीलों पर बगुलों ने फुरेरी ली, मछलियाँ दम मारने लगीं।

जवानान-ए-बोस्ताँ मिस्ल-ए-सालेह पाक रविश-ओ-नेक रौ, पंजए-मरजान ब रंग-ए-दस्त-ए-दुआ-ए-आबिद खुशखू, सद बर्ग में सबहा-ए-सद दाना का शुमार, जाफ़री मुतीअ, जाफ़र-ए-तैयार। नसीम-ए-सहर में मुतबर्रिक नफ़्स-ए-ज़ाहिदाँ का असर, दफ़्तर-ए- क़ुदरत-ए-खुदा का वर्क़, हर बर्ग-ए-सोसन ज़बान शुक्र क़ुनिंद गाने दावर, मेहन्दी ब रंग-ए-रौशन ज़मीरान-ए-साफ़ बातिन, बू-ए-गुल मशाम अहले राज़ की साकिन, गुंचए-मिस्ल-ए-दहान-ए-हक़ीक़त आगाहान-ए-ख़ामोश, क़ुम्रियों की ज़बान पर हक़-ए-सिर्रहू का जोश, कलियाँ-ए-सौमाआ ज़ादान-ए-खुशबू, सुम्बुल याद कद यौर-ए-क़ुदरत में आशुफ़्ता मू...[३८]

हर सम्त शाहिदान-ए-तन्नाज़[३९] पाएँचें कलाइयों पर डाले दुपट्टे कांधों पर ढलकाये हुए हज़ारों

---

(३५) कठोरता

(३६) आईने की तरह साफ-सुथरी

(३७) नदी का किनारा

(३८) वे गुलिस्ताँ में खिलने वाली एक कली की तरह जवान हैं। सूरत और सीरत में पवित्र और चरित्र में नेक हैं। (इस) सदाचारी तपस्वी की प्रार्थना, मूंगे के पेड़ के समान निर्मल है। सैकड़ों इंसानों में जपमाला के दानों की तरह विशिष्ट हैं। इमाम जाफ़री के अनुयायी हैं और सुबह की शीतल हवा की तरह आपकी हस्ती पुनीत और प्रभावशाली है। (वे) ईश्वर की महिमा का एक छोटा सा हिस्सा हैं। उनके अस्तित्व की हर कुमुदिनी-रूपी पँखुड़ी ईश्वर की कृतज्ञ है। (वे) पवित्र मानस और प्रबुद्ध अन्तश्चेतना के रंग में पूरी तरह रंगे हुए हैं। ईश्वर के रहस्य की तरह फूल की सुगन्ध को महसूस कर लेने वाले (वे) गुणीजन हैं, सच्चाई का ज्ञान रखने वालों की तरह मौन कलियाँ हैं। श्वेत पक्षियों की ज़बान पर सच्चाई की सदा का जोश आप ही की देन है। एकान्त में रहने वाले तपस्वियों की तरह (वे) कलियों की सुगन्ध हैं। क़ुदरत के राग के याद-ए-सुम्बुली में परेशाँ हाल बल्कि इन ही रागों में महव और बेखुद हैं।

(३६) नाज़-नख़रे वाले

नाज-ओ-अन्दाज़ से फिरते, दम-ए-खिराम[४०] महशर बपा करते। रात का वक़्त शमा-ओ-चिराग़ाँ रौशन, सिहन[४१] में चौका लगा, पलंगों पर जोबन। कोई नींद में ग़ाफ़िल, कोई लह्व-ओ-लअब[४२] का शाग़िल। कहीं चौसर, कहीं गंजफ़ा। कहीं सितार बजता, बायें का ठेका। कहीं कहानी हो रही है कहीं शेर ख़्वानी हो रही है। कहीं पर्दे पड़े हुए चाहने वाले दर पर्दा मज़े उड़ाते, शाम ही से पहुँचे हुए। कहीं वुई[४३] की सदा, किसी जा[४४] क़हक़हे उड़ते, फ़ब्तियाँ कहने की आवाज़ बरपा। क़िलमाक़नियाँ[४५] दाग़स्तानियाँ कांधे पर रखे पहरे पर टहलतीं। बारीदारनियाँ[४६] ओटों[४७] के क़रीब जाग रहीं।

(तिलिस्मे होशरुबा, जिल्दे अव्वल, दास्तानगो, सैयद मुहम्मद हुसैन जाह)

मेरे ख़ुदा, ये कौन से देश हैं, जिनके दृश्य मैंने देखे? क्या वाकई ऐसी जगहें जिस्मानी और भौतिक अस्तित्व रखती हैं? या वे केवल काल्पनिक हैं? अच्छा मान लिया कि काल्पनिक वजूद ही सही, लेकिन कहीं तो कोई चीज़ें ऐसी होंगी जिनके आधार पर मैं इनकी कल्पना कर सका, ख़्वाब ही में सही। या क्या वाक़ई मैंने ख़्वाब देखे थे या उन जगहों पर मैं कभी न कभी आया-गया था? कहा जाता है, हम ऐसी चीज़ों की कल्पना नहीं कर सकते जो मौजूद नहीं हों। यह हमारे फ़ल्सफ़े का बुनियादी उसूल है। तो फिर, वह जो कुछ मैंने देखा, क्या था? देखा भी कि नहीं? लेकिन यहाँ तो देखने और कल्पना करने में कोई फ़र्क़ नहीं? अब मैं क्या करूँ? चलो मान लिया कि वे सब जगहें, वे सब दृश्य, वे सब वातावरण, वे सब हवाएँ, वे आवाज़ें, वह संगीत, वे सब हैं नहीं, लेकिन हो सकते हैं।

मैंने माना हम लोग विचित्रताओं और पर्दों से घिरे हुए हैं। और जब हम ही लोग बेवजूद हैं तो फिर उन विभिन्न, रंगा-रंग दुनियाओं का क्या डर? मुझे वापिस बुलायें या मैं खुद घबराकर वापिस चला जाऊँ, या यहीं या कहीं और अपनी हत्या कर लूँ, किसी का क्या बिगड़ता है। मैं जानता हूँ कि मुझे हिमालय पर्वत भी जाना है। माना कि वह जगह यहाँ से बहुत दूर है। और अभी चंद लम्हों के जो ख़्वाब देखकर मैं जागा हूँ, उनकी उन मंज़िलों के आगे कोई हक़ीक़त नहीं जो हिमालय की राह में मेरे समक्ष उपस्थित हों। मुझे मालूम है वहाँ मेरे ख़्वाबों की तरह देवलोक भी है और असुरलोक

---

(४०) चलते-चलते

(४१) आँगन

(४२) खेल-कूद

(४३) चुहल

(४४) जगह

(४५) किसी राजकुमारी की सशस्त्र महिला सेवक

(४६) अपनी बारी का इंतिजार करती हुईं सेविकाएँ

भी। अजगर और मगरमच्छ भी हैं और नाचते-चमकते दृश्य भी। वहाँ की भूल-भुलैयाँ ऐसी है कि पूरी-पूरी क़ौमें उनमें दाख़िल होकर गुम हो जातीं और फिर लुप्त हो जाती हैं। बड़े-बड़े महलों के मुहाफ़िज़ हैं जिनके सर आसमान को छूते हैं और जिनके एक हाथ में कुल आलम की मौत है और एक हाथ में कुल आलम की ज़िन्दगी। जो कोई उनके सवालों के जवाब नहीं दे सके, उनके एक इशारे में फ़ना हो जायेगा।

(३)

यहाँ, यानी जिस जगह कि अब मैं हूँ, यहाँ कई तरह के नाच-गाने, और संगीत की शैलियाँ हैं। यही जगह केरलपुत्र है और मैं यहाँ मुद्दतों से बना हुआ हूँ। यहाँ मैं इनके संगीत और नृत्य की सारी कलाओं, सारे जादुओं पर पूरी-पूरी महारत हासिल कर चुका हूँ। सिर्फ़ एक खेल, या स्वाँग बाक़ी है। इसे यहाँ के लोग कुट्टीयट्टम् स्वाँग या रहस्य कहते हैं। इस रहस्य को जानने और बरतने वाले सिर्फ़ एक ऋषि हैं, जो बारह साल में एक बार दुनिया के परिदृश्य पर आते हैं और अपना रहस्य दिखाकर ग़ायब हो जाते हैं। लेकिन इसमें कई कथन और भी हैं। मैं उन्हें वक़्त पर बयान करूँगा। मैं नहीं जानता कि ज़माने के उन नायाब दृश्यों को जिन्हें मैं राह में ख़्वाब में देख चुका हूँ (उसको मुद्दतें गुज़रीं), उनसे भी बढ़कर कोई अजूबा हो सकता है। लेकिन देखेंगे। इन बुजुर्ग के प्रकट होने में अब सिर्फ़ कुछ सप्ताह बाक़ी हैं।

इन बुजुर्ग का नाम कोई नहीं जानता। इनकी उम्र कितनी है, यह भी किसी को नहीं मालूम। बस यह है कि लोग उन्हें रहस्य सम्राट कहते हैं। कुछ लोग उन्हें नटराज भी कहते हैं। वे बारह साल में एक बार प्रकट होते हैं। कावेरी नदी की तह में कहीं एक गुफा में उनका रहने का स्थान है। उनका नाच तीन दिन या पाँच दिन या सात दिन चलता है। मैंने बहुत पूछा लेकिन कोई उससे ज़्यादा बताने पर राज़ी नहीं हुआ। सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि रौशनी बहुत मामूली होती है और कोई मंच या तमाशागाह का चबूतरा या तख़्त नहीं होता। नाट्यशाला की ज़मीन को चौबीस घण्टे की मेहनत में तैयार किया जाता है। यानी उसे चिकना करते हैं लेकिन इतना नहीं कि नटराज तमाशे के दौरान लड़खड़ा जायें या फिसल जायें। ज़मीन बिल्कुल बराबर कर दी जाती है, कंकर-पत्थर निकाल दिये जाते हैं, ताकि ज़मीन बिल्कुल अपनी असल सूरत में नज़र आये। रहस्य सम्राट के पीछे चार संगीतकार होते हैं। वे साज़िन्दों का भी काम करते हैं। जिस भाषा में वे गीत गाते हैं, वह वेदों की संस्कृत से मिलती-जुलती है, लेकिन सरासर वैदिक संस्कृत नहीं होती। इसमें केरलपुत्र की प्राचीनभाषा की भी मिलावट होती है। इस ज़बान की शुरुआत और इसके असल के बारे में अलग-अलग रिवायतें हैं। लेकिन इतना सब मानते हैं कि यह भाषा देवताओं की बनायी हुई है लेकिन उन क़ौमों की ज़बान है, जो भारत में आर्यों के आने के पहले से आबाद थी। शुरू-शुरू में यह सारे देश में जगह-जगह बोली जाती थी, यानी उस भारत में जिसमें तुम आबाद हो, और जो एक बृहत भारत या हिन्द या सिन्ध का एक हिस्सा है। वैदिक संस्कृत की तरह यह ज़बान बाहर से नहीं आयी थी।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि कल्पना की हद से परे ज़मानों में एक व्यक्ति रहता था जिसका मस्तिष्क बिल्कुल विकृत था। उसे कोई काम नहीं आता था, उसकी परवरिश के लिए उसे एक मन्दिर में रखवाला नियुक्त कर दिया गया था। लेकिन मुश्किल यह थी कि वह जिससे भी मिलता, कुछ देर बाद उसका नाम भूल जाता था। भाषा उसको आती नहीं थी, इसलिए इशारों से, और उससे ज़्यादा गूँ-गाँ करके बताता था कि कौन आया, कौन गया। उन बातों के आधार पर लोग उसे भाण्ड भी समझते थे।

मन्दिर में जिस पवित्र क़िताब के कथनों का पाठ होता था, वह इतनी अधिक प्राचीन थी कि उसके कई पन्नों पर से अक्षर उड़ चुके थे। पुरोहित अपनी-अपनी अटकलों से शब्द निकालते, लेकिन उनके अर्थ फिर भी समझ में नहीं आते थे। एक ज़माना गुज़र गया, क़िताब और भी पुरानी और जर्जर होती गयी, यहाँ तक कि उसे पढ़ना स्थगित कर दिया गया। श्रद्धालु आते, उसे दूर से प्रणाम करते, या अगर बहुत हुआ तो उसे आहिस्ता से स्पर्श करते और चले जाते। इन एहतियातों के बावजूद, समय बीतने के कारण क़िताब के अक्षर लगभग सबके सब उड़ गये। अब उसे मन्दिर के एक अन्धेरे कोने में रख दिया गया कि हवा भी न लगे। बहुत ही कभी-कभी ऐसा भी होता कि कोई दूर-दराज़ का मुसाफ़िर इस क़िताब के किसी श्लोक या वाक्य का अर्थ पूछने आ जाता तो उसे मुख्य पुरोहित के समक्ष उपस्थित किया जाता। पुरोहित अपनी समझ से जो अर्थ निकाल देता, उन्हीं को अन्तिम और निश्चित बता दिया जाता। सवाल पूछने या स्पष्टीकरण की न किसी को हिम्मत थी न ही ज़रूरत।

हमारे पागल भाण्ड को शराब का भी बहुत चस्का था। एक रात वह सारी रात पीता रहा और बेसुध होकर उस ताक़ के नीचे पड़ा रहा जिस पर वह पवित्र क़िताब रखी जाती थी। सुबह हुई तो दुनिया जाग गयी, लेकिन न जागा तो वह पियक्कड़, आधा पागल रखवाला। जब बहुत देर हो गयी और श्रद्धालुओं को पवित्र क़िताब के दूर से भी दर्शन में मुश्किल होने लगी तो उस आधे पागल भाण्ड को घसीट कर मन्दिर के बाहर कर दिया गया। वह तीन दिन तक सोता रहा। चौथे दिन जब वह जागा, तो उसकी ज़बान पर कुछ अजीबो-ग़रीब, अपरिचित और ज़रा कठोर शब्द रवाँ थे। कठोरता के बावजूद उस ज़बान में एक रहस्यमय संगीत भी था मानो कहीं दूर कुछ देवता आपस में बातचीत करते हों। वह दिन भर ऐसे ही ऊल-जलूल बकता रहा। शाम होते-होते एक पुरोहित ने, जो बहुत बड़े ज्ञानी भी थे, महसूस किया कि ये शब्द तो कुछ परिचित और सुने हुए से हैं। अचानक उन पर यह बात रौशन हुई कि ये शब्द तो पवित्र पुस्तक के शब्दों से बहुत मिलते-जुलते हैं। वे भागे-भागे गये और क़िताब को अपने दामन में छुपा कर बाहर लाये। क़िताब की झलक पाते ही भाण्ड ने उसकी तमाम इबारतें फर-फर पढ़ना शुरु कर दीं। बहुत ग़ौर और असमंजस के बाद यह नतीजा निकाला गया कि जो भाषा वह पागल रखवाला बोल रहा था, वही तो पवित्र पुस्तक की असल ज़बान थी, जिसे लोग बहुत अधिक समय बीत जाने के कारण भूल चुके थे।

फिर वही भाषा मुल्क केरलपुत्र की बन गयी। दिन गुज़रते गये, उसमें संस्कृत भी बहुत सारी दाख़िल हो गयी। संस्कृत वह भाषा थी, जिसे यहाँ के विद्यार्थियों और क़ाज़ियों ने सुमेरु पर्वत की लम्बी यात्राओं के बाद आहिस्ता-आहिस्ता हासिल किया था। फिर बाद में अरबी के शब्द भी उसमें शामिल हो गये। जो लोग अरबी से प्रभावित इस भाषा के ज्ञानी थे, उन्हें मुंशी और मापला कहा जाता था। फिर यह अरबी समाज में इतनी अधिक रच-बस गयी कि दो भाषाएँ अस्तित्व में आ गयीं, एक तो वह जिसे स्थानीय भाषा में, लेकिन अरबी लिपि में लिखा जाता, और दूसरी वह ज़बान जिसे हम आप सब बोलते थे। इस ज़बान में भी अरबी शब्दों की मात्रा प्रचुर थी लेकिन स्थानीय देवताई ज़बान के उपयोग की वजह से वे शब्द बदलते गये और अब तो मुश्किल से ही उन्हें अरबी शब्द कहा जा सकता है।

ज़बानें सीखने का बेहद शौक़ और बहुत जल्द किसी भी नयी भाषा में निपुण हो जाने का अथाह गुण मुझे बुज़ुर्गों से मिला था। मैं सोचता था कि शायद सोचने, देखने, संगीत के उतार-चढ़ाव समझने की योग्यता, जो मुझे माँ के गर्भ में ही मिल गयी थी, इसी तरह यह भी कोई दैवीय कृपा है और शायद एक दिन वह भी आये जब मैं दुनिया की किसी भी भाषा को सिर्फ़ एक बार सुनकर समझ सकूँगा। यानी कोई शब्द बोला गया और मैंने उसे फ़ौरन समझ लिया, चाहे जुबान का नाम मुझे मालूम न हो और न ही उस क्षेत्र का नाम जहाँ वह बोली जाती होगी।

आख़िर वह वक़्त आ गया जब रहस्य सम्राट प्रकट हुए। लोग इकट्ठा होने लगे। संगीतकारों ने अपनी जगह सम्भाली। तमाशागाह, जैसा कि मैंने बताया, समतल थी, कोई ऊँची जगह नहीं थी। लोग मगर फिर भी जमा होने लगे। धीरे-धीरे पास के घरों की छतों और छज्जों पर भी लोग आ-आकर बैठने लगे। फिर नारियल और ताड़ के पेड़ों की बारी आयी। लोग बख़ूबी जानते थे कि नाच का दौर कई दिन भी चल सकता था। लेकिन तमाशाइयों को देखने की उत्कंठा हर ज़रूरत, हर पाबन्दी पर हावी हो गयी थी।

दिन फूटने के पहले संगीत की आवाज़ बुलन्द हुई और एक दरवाज़े से, जो देखने में तो अब तक कुछ खुफ़िया-सा था, सम्राट ज़ाहिर हुए। बिल्कुल काले कपड़े पहने हुए, कोई सजावट नहीं, हाथ, गला, पाँव, कमर सब ज़ेवरों से मुक्त। पाँव में घुँघरू भी नहीं। उनका कद कुछ ठीक समझ में नहीं आता था। एक पल लगता कि वे छोटे क़द के हैं, एक क्षण लगता कि वे औसत से ज़्यादा ऊँचे क़द के हैं और कभी तो वे बहुत मोटे-तगड़े, तन्दुरुस्त और ऊँचे क़द के दिखायी देते थे। लिबास की तरह उनका पूरा शरीर भी बिल्कुल स्याह था। या शायद उन्होंने किसी तरकीब से, कोई लेप लगा कर, या किसी तेल की मालिश करके खुद को काले रंग का कर लिया था। उन्होंने दर्शकों को झुक कर दण्डवत की। एक नारा बुलन्द हुआ। संगीत की लय धीमी होती गयी, यहाँ तक कि दूर वालों को मुश्किल से सुनायी देती होगी। (लेकिन यह भी मेरा वहम था। बाद में लोगों ने बताया कि वे बारीक और तीव्र से तीव्रतर सुर, आवाज़ के हर उतार-चढ़ाव, बहुत साफ़ सुन सकते थे।)

रहस्य सम्राट ने सृष्टि की रचना शुरू की। उनकी आँख के हर इशारे, भृकुटिओं की हरकत, उनकी उँगलियों के हर गुप्त संकेत, उनके पाँव का हर अधूरा या पूरा क़दम, उनकी कमर या गर्दन की हर हलचल, कायनात के अनदेखे और अजेय, मृत्यु और जीवन के सामने उनका सरू के वृक्ष के समान ऊँचा और सुडौल होना, पूरी तरह झुक जाना - उन सबसे भय और निराशा, और उम्मीद और इल्तिजा से भरी हुई दुनियाएँ बनती चली गयीं। जम्बू-द्वीप, कायनाती कोहिस्तान मेरु-ए-निलोफ़री की हर पंखुड़ी और हर पंखुड़ी पर आबाद दुनियाएँ। सृष्टि में अनगिनत कोस की दूरी पर झिलमिलाते हुए सितारे, बर्फ़िस्तान, रेगिस्तान, पानी, पानी ही पानी। यह सब, और बहुत कुछ उनके हल्के से हल्के इशारे या शारीरिक हरकत के संकेत की बदौलत सामने आता गया। या यह कोई तिलिस्म था, कोई ग़ैर-इंसानी वजूद था, जिसकी कुंजी रहस्य सम्राट के इशारों और हरकतों में थी। उनके पाँव, पाँव ही नहीं लगते थे, हाथ ही नहीं लगते थे। उनकी आँखें बन्द थीं और खुली हुई भी थीं।

एक पल वह भी आया जब हमने सृष्टि-निर्माता यानी ब्रह्मा को अपने सामने देखा। क्या वह किसी पर्दे के पीछे से अचानक प्रकट हो गया था, या वह खुद वही सब कुछ था, जिसे हमने अपनी जागती आँखों से देखा था? रहस्य सम्राट अब कहीं नज़र नहीं आते थे, हाँ चीटियों की एक क़तार थी, जो मंज़रगाह के इस सिरे पर थी, जहाँ से नृत्य शुरु हुआ था। फिर हर तरफ़ कुछ सफ़ेद और नीले रंग का धुआँ-सा फैलने लगा।

बाद में मुझे बताया गया कि सात दिन और सात रातों में सृजन का यह कायनाती सफ़र पूरा हुआ। इस अवधि में कौन आया, कौन चला गया, मुझे कुछ नहीं मालूम। मुझे तो सिर्फ़ यह मालूम है कि जब मैंने आँख खोली तो भीड़ वैसी ही थी जैसी कि बिल्कुल शुरुआत में थी। लोग बेशक चले गये हों, नये तमाशबीन आ गये होंगे, लेकिन मैंने निरन्तर ही देखा। मंज़रगाह पर दुनियाओं का वैसा ही हुजूम था।

अचानक मुझे नटराज दिखायी पड़े। उनके हाथ में तीन बत्तियों का एक दिया था। उन्होंने एक फूँक में तीनों बत्तियाँ रौशन कर दीं और अचानक हर तरफ़ आग ही आग थी, अगर आग का कोई वजूद है तो वही हर तरफ़ था। सब दुनियाएँ, सब सितारे, ग्रह-नक्षत्र, आकाशगंगाएँ, मेरे सामने चुपचाप जलती गयीं। और फिर...फिर नटराज भी उसी ब्रह्माण्डी अग्निशाला में ख़ाक हो गये। हर तरफ़ राख ही राख थी।

मज्मे में विलाप का शोर तो उसी वक़्त बुलन्द होने लगा था जब दिये की बत्तियाँ रौशन हुई थीं। मैंने ज़िन्दगी में ऐसा दर्दनाक, ऐसा दुःख-भरा दृश्य नहीं देखा था, न अपने पढ़ने-लिखने के दिनों में, न वनवास के दिनों में मुझे इसके किसी मामूली से कण की कल्पना ही सम्भव हुई थी, या हो सकती थी। अपने आप ही, न चाहते हुए मेरी आँखें भर आयीं और फिर मेरे चेहरे पर आँसुओं की चादर फैल गयी। मैं क्यों रो रहा था? किसके लिए रो रहा था? मेरा तो कुछ भी नहीं खोया था, हाँ ज्ञान का विश्वास, जिसने मेरी

ज़िन्दगी की रहनुमाई अब तक की थी। वह घमण्ड, वह आत्मविश्वास, वह आत्म-सन्तुष्टि जो मेरे माता-पिता की देन थी। अब मैं दुनिया में बिल्कुल तन्हा था।

मैंने आँखें बन्द कर लीं कि उन क़ातिल रौशनियों में मेरी दृष्टि नहीं जल जाये। शायद मेरे आँसू थम सकें कि जब कुछ नहीं देखूँगा तो रोऊँगा कैसे? लेकिन मैं तो खुद रो रहा था, खुद को रो रहा था। भीड़ में मातम मनाने का और सिर पर धूल उड़ाने और अपनी रानों को ज़ोर-ज़ोर से पीटने का शोर था जैसे उन रानों और कमर पर कोई कीड़ा चल रहा हो, कोई चींटी सुरसुरा रही हो। सहसा मज्मे से एक आवाज़ बुलन्द हुई। 'देखो, देखो, वह राख तो चलने लगी है'! भय से पराजित होकर मैं घुटनों के बल बैठ गया, या यूँ कहिये कि गिर पड़ा। कहीं दूर से सनसनाहट की सी, सन्नाटे की सदा बुलन्द होने लगी। जैसे समन्दर का पानी पीछे हट रहा हो, फिर आगे आ रहा हो। लेकिन ...नहीं। यह तो जैसे कई मृदंग एक साथ बजने लगे हों और उनकी ताल धीरे-धीरे द्रुत फिर अतिद्रुत हो रही हो। आहिस्ता-आहिस्ता राख में कुछ बेचैनी, कुछ व्याकुलता का सा भाव पैदा हुआ। मेरी आँखें बन्द थीं। मैं शोर को सुन सकता था, और दुनिया, दुनिया में जो कुछ भी था, सबसे बेख़बर था कि अचानक मुझे ठण्डक और नर्म, सुन्दर आर्द्रता की अनुभूति हुई, जैसे कोई अपने भीगे आँचल से पसीने से तर-बतर मेरा माथा पोंछ रहा हो। मैंने आँखें बन्द रखीं। भीनी-भीनी फुआर अब मेरे चारों तरफ़ थी। तबीअत में ठहराव और सन्तुष्टि सी फैलने लगी थी। फिर इक्का-दुक्का हल्की-हल्की बूँदें मुझ पर, बल्कि मेरे चारों तरफ़ भी टपकने लगीं। मगर शायद यह कोई फुसफुसाहट हो, जैसे मैं ख़्वाब में हूँ और ये बूँदें नहीं हैं बल्कि किसी सूक्ष्म, आसमानी बाँसुरी से फूटते हुए स्वर हैं। कुछ शब्द भी हैं, और ये शब्द अब मुझे साफ़ सुनायी दे रहे हैं :

It droppeth as the gentle rain from heaven

Upon the place beneath. It is twice blessed:

It blesseth him that gives him and him that takes;

'Tis mightiest in the mightiest

सब शब्द मैं साफ़-साफ़ सुन रहा हूँ। इनमें अजीब सा संगीत है, जैसे दूर से झरने के गिरने की आवाज़ आ रही हो, या किसी कलाई में काँच की रंगीन चूड़ियाँ आपस में बज रही हों। अजब रहस्य है, यह भी ठीक है और वह भी ठीक है। मगर यह भाषा कौन सी है? कोई फिरंगी ज़बान हो तो हो। या शायद यह ज़बान ही नहीं, सिर्फ़ आवाज़ों का संग्रह जो बिल्कुल संयोगवश किसी ध्वनि में एक साथ खनक रहा हो।

लेकिन अब मुझे शब्दों के अर्थ भी समझ में आने लगे हैं। इस तरह नहीं कि मैं उनके व्याकरण-सम्बन्धी सूरतों को समझ सकूँ। उनमें वर्तमान काल बताने वाला शब्द कौन सा है और भूतकाल या भविष्य की पहचान कराने वाला कौन-सा वाक्य है? लेकिन मैं सब कुछ समझ गया हूँ, जैसे माँ के गर्भ में

शिशु अपने आप समझ लेता है कि कुछ कहा जा रहा है, और यह भी समझने लगता है कि क्या कहा जा रहा है। कोई आसमानी शुभ-सन्देश है, जो बहुत दूर से गीत की सूरत में मुझ पर उतर रहा है। 'जा, उठ जा। अपनी तक़्दीर और अपना अंजाम तलाश कर। यह नेमत है जो तुझे प्रदान की जायेगी, अगर तू खुद को उसके योग्य साबित कर सकेगा। मगर यह भाग-दौड़ से, क़िताबों में सिर खपाने से, ध्यान और समाधि में नहीं मिलती। तूने ब्रह्माण्ड को बनते और नष्ट होते देख लिया है। अब तुझे शान्ति उसी समय प्राप्त होगी, जब तू अपने आपको इस आसमानी गान में परिवर्तित कर सकेगा, जो तुझ पर अभी उतर रहा है'।

शब्द और संदेश तो मैंने समझ लिये, लेकिन क्या ये शब्द कुछ और भाव भी रखते हैं?

मैंने आँख खोली। शाम का धुआँ भरा धुँधलका हर तरफ़ था। तमाशाई सब जा चुके थे। दुनिया अपने मामूल कारोबार में तल्लीन थी, जैसे यहाँ अभी यहाँ कुछ भी तो नहीं हुआ था। मैंने मंज़रगाह में प्रवेश कर, चारों तरफ़ इधर-उधर देखा। एक बुज़ुर्ग नज़र आये जो दरियाँ-क़ालीन वग़ैरह समेटने की कोशिश में व्यस्त थे। मैंने उनसे पूछा कि रहस्य सम्राट कहाँ चले गये तो उन्होंने मुझे घूर कर देखा, जैसे उन्हें यक़ीन नहीं आ रहा हो कि यह भी कोई पूछने की बात हो। लेकिन उन्होंने मेरे गिड़गिड़ाहट भरे चेहरे को देखा तो समझ लिया कि मैं वाक़ई खोजी हूँ, बेकार बातें बनाने वाला नहीं हूँ। उन्होंने कहाः

> 'जहाँ रहते हैं वहीं चले गये होंगे। वैसे असलीयत किसी को मालूम नहीं। ज़रा आगे अपनी कावेरी नदी घूमती है, इतनी ज़्यादा कि लगता है दूसरी होकर अपने में समा जायेगी। ठीक उस मोड़ पर एक घना पेड़ है और उसी जगह नदी का पानी बहुत गहरा है। सुनते हैं सतह के बहुत नीचे एक कुण्ड है जिसमें मगर और घड़ियाल और बड़े-बड़े कछुए बसेरा लेते हैं। नटराज उसी कुण्ड में डूब जाते हैं। फिर पता नहीं चलता। कहते हैं कि उसी कुण्ड के सबसे गहरे हिस्से में उनकी झोंपड़ी भी है।'

वे बुज़ुर्ग अपने काम में व्यस्त हो गये। गहरे कुण्ड के सबसे गहरे कोने में झोंपड़ी?

मैंने सोचा कि यह भी कुछ इसी तरह की बात होगी कि नटराज बात करते-करते पूरी सृष्टि का निर्माण करते हैं और फिर उसे विनष्ट कर सकते हैं। मगर उस राख के बिखर जाने के बाद वहाँ क्या हुआ था? क्या दिखायी दिया था? मैंने बड़े मियाँ से पूछा, हालाँकि मेरी आवाज़ डर और शर्मिंदगी से कँपकँपा रही थी।

'देखोगे'?

उन्होंने अचानक आँखें निकाल कर पूछा। उफ़, वे क्या आँखें थीं, जैसे आस-पास का सारा रहस्य, सारा आसमान, सारी ज़मीन भड़क रही हो, कुपित और शान-ओ-शौकत के रोब से लबालब। बवण्डर हैं कि

शोले हैं कि पूरी सृष्टि एक अलाव है। मुझे लगा अगर मैं आँखें खोले रहूँगा तो भस्म हो जाऊँगा या उसी अलाव में कूद पड़ूँगा।

मैंने आँखें बन्द कर लीं, या शायद अपने आप मेरी आँखें बन्द हो गयीं। मैंने देखा कि राख के उस ढेर से एक परिन्दे का सिर आहिस्ता-आहिस्ता निकल रहा है। गर्दन के ऊपर बिल्कुल सुनहरा, बल्कि खुद ही सोने की डली, जिसे नर्म करके गर्दन और सिर और चोंच बना दिया हो। लेकिन बाक़ी जिस्म बिल्कुल हमारे मोनाल तीतर की तरह था। लाल, पीला, नीले रंगों में दमकता हुआ। लेकिन उसकी चोंच मोनाल से बहुत ज़्यादा लम्बी थी, बिल्कुल जैसे कोई ख़ंजर हम सबके सीनों में उतर जाना चाहता हो। और, और, उसकी चोंच में अनगिनत छेद थे जिनमें से हल्के-हल्के शोले झाँक रहे थे। मौसीक़ार? मैंने सोचा। लेकिन मौसीक़ार तो बहुत बड़ा होता है, कुछ शुतुरमुर्ग़ या सीमुर्ग़[४८] जैसा, और बिल्कुल लाल। लेकिन सुना है मौसीक़ार हज़ार साल में एक बार प्रकट होता है। उसकी चोंच से असंख्य गीत और राग सूरत नुमा होते रहते हैं, सूरत नुमा मैंने इसलिए कहा कि हर राग, हर गीत, हर लहरे, हर तान को, हर व्यक्ति अलग-अलग सुन और देख सकता है। मौसीक़ार शाम तक गाता रहता रहता है, दूर-दूर से लोग उसे सुनने और देखने आते हैं। लेकिन इसके पहले कोई उसके क़रीब आ सके वह आसमान की तरफ़ देखकर दिल दुःखाने वाली आवाज़ में चीखता है। फिर अन्धेरा छा जाता है। जब रौशनी होती है तो वहाँ राख का एक ढेर नज़र आता है, मौसीक़ार का दूर-दूर तक पता नहीं होता। कहते हैं, जो भी मौसीक़ार के गीत सुन ले वह अपने वक़्त का सबसे बड़ा नायक, सबसे बड़ा कलावन्त बन जाता है।

मगर यहाँ तो वह मोनाल या मौसीक़ार बिल्कुल ख़ामोश था। उसके चारों तरफ़ बस एक गूँज-सी थी, जो उसे घेरे में लिये हुए थी। जब गूँज इतनी प्रचण्ड हो गयी कि खुद वह परिन्द भी उसमें गुम होता महसूस हुआ तो अचानक एक बिजली-सी गिरी और उस परिन्द को उड़ा ले गयी। मैं सारी संवेदना, सारी देखने और समझने की शक्ति खो बैठा। मेरी आँखें बन्द थीं और मैं कहीं दूर बहुत दूर पाताल की तरफ़ खिंचा जा रहा था।

मालूम नहीं मैं कितनी देर तक सोया, और मुझे यह भी ख़बर नहीं थी कि जाग रहा भी हूँ कि नहीं। हवाएँ मेरे सिर में पेचाँ थीं। वे कुछ यह कहती हुई लग रही थीं कि उठ, तुझे अभी और

---

(४८) अंक़ा/फ़ीनिक्स

भी दूर जाना है। मगर मैं कहाँ जाऊँ, क्यों जाऊँ? मैं रहस्य सम्राट तो हूँ नहीं कि तमाम दुनियाओं को एक दम में बना डालूँ और फिर एक दम में मटियामेट कर डालूँ। क्या मेरे सारे गुण, सारे उपार्जन, इसी तरह व्यर्थ हो जाएँगे जिस तरह रहस्य सम्राट ने दुनियाएँ बनायीं और बर्बाद कर दीं?

(४)

सामने ठण्डे पानी की झील, चारों तरफ़ हरियाली, सर्द हवा, ज़हन में अस्त-व्यस्तता। कितना ठण्डा पानी है? मैं कूद कर देखूँ? अचानक मुझे किसी ने पानी की तरफ़ उछाल ही तो दिया। मैंने हज़ार चाहा कि इस अदृश्य पंजे की गिरफ़्त से आज़ाद हूँ लेकिन प्रतिद्वंद्वी ज़बर्दस्त था, तड़पने की भी मजाल नहीं देता था। मैंने आँखें बन्द कर लीं। ठण्डे पानी की चोट ने मेरे मन की शक्ति छीन ली। या शायद कई पलों के लिए बेकार कर दी। मैं तह तक उतरता चला गया। फिर जो आँख खुली तो मेरे सामने दृश्य जल्द-जल्द बदल रहा था, जैसे पर्दे पर तस्वीरें दौड़ रही हों। एक मंज़र को दूसरे से कुछ वास्ता नहीं था।

चाँदनी खिली हुई थी, दश्त-ओ-दर चाँदनी का पतर[४६]। शाहिदे बहार[५०] को मशातए शब[५१] आइन्दा माह[५२] दिखाती... रात का सन्नाटा, तमाम मैदान सफ़ेद हो रहा, जानवर अपने-अपने मस्कन[५३] में बैठे हुए। कभी जो हवा के झोंके से कोई दरख़्त खड़कता, एकाध हिरण, ख़रगोश जस्त करके[५४] झाड़ी से बाहर निकल आता, इधर-उधर देखकर चौकड़ी मार जाता। झाड़ियों से हिरण, पाढ़े, चीतल, नीलगाय सिर निकालते। झीलों का यह आलम कि जैसे ख़ाना-ए-ज़मीन में आइने जड़े हुए। किनारे-किनारे बगुले, काज़ें, सुरख़ाब परों में मुँह डाले एक पाँव से खड़े हुए। दामन-ए-कोह में कोड़याला खिला हुआ, नरगिस्तान-ए-कवाकिब को शरमाता[५५]...

नीचे पाल के, चौका तख़्तों का बिछा था। उस पर चाँदनी का फ़र्श-ओ-क़ालीन आरास्ता था। मुकाबा[५६] और सन्दूक़चा[५७] धरा था, सन्दूक़चे से लगा हुआ आईना-ए-हलबी[५८] रखा, साक़िनें

(४६) परत

(५०) बहार का माशूक़

(५१) रात को सँवारने वाली

(५२) आने वाला चाँद

(५३) स्थान

(५४) कूद कर

(५५) पहाड़ के दामन में खिले सफ़ेद चित्तियों वाले काले फूल (कोड़याला) की चमक के सामने तारों की आभा भी फीकी पड़ रही है

(५६) श्रृँगारदान

(५७) छोटा सन्दूक़

(५८) हलब यानी सीरिया का शहर अलेप्पो जहाँ का दर्पण बहुत प्रसिद्ध है

हज़ार बनाओ किये, दुलाई सफ़ेद ऊदी गोट की ओढ़े, आगे से तौक[५९] सोने का दिखलाने को गला खोले, पाएँचे पाएजामे के पीछे तख़्त पर पड़े, माथे पर अफ़्शाँ[६०] लगाये, पटे छोड़े बाल बनाये, लब-ए-तख़्त बा हज़ाराँ नाज़-ओ-अन्दाज़ बैठी थीं[६१]। कान का ज़ेवर झूमकर झोंके लेता था,

रुख़-ए-ताबिन्दा बहर-ए-हुस्न[६२] था, इसमें इस ज़ेवर का अक्स पड़ता था। यह ज़ाहिर था जैसे कँवल दरिया में तैरते हैं या मछलियाँ और जानवराँ आबी पैरते[६३] हैं। हाथों में कड़े पड़े, दस्त-ए-हिनाई[६४] में पोर-पोर छल्ले थे।

...एक सम्त लगन[६५] और पतीलों में नैचे[६६] भीगते थे, सामने कुछ हुक़्क़े तैयार ताज़ा किये रखे थे। तिपाइयाँ सुराख़दार बिछी थीं। चिलमें उनमें घर सी थीं। कोई गंडा-गंडा लड़ाता था, कोई दूनी की पीता था... साक़िन भी मुस्कुराती थी, ये कैफ़ियत दूना नशा जमाती थी। एक तरफ़ सामने खरीदार दुआएँ देते थे, कश्मीर और सालजहाँ[६७] माँगते थे। यारक़िन्द पैसे वाली चिलम के भरवाने वाले उड़ाते थे। कोई कहता था, साकिन के दम की ख़ैर, आज तो पेड़ो पर की हमको भी पिलवाइये। साकिन कहती थी, बेटा अँगिया के अन्दर पेविया बहुत उम्दा है। दम-बदम चिलम जमा कर देती थी। ख़रीदारों में यह बहस थी कि एक कहता था, तुम सर करो। दूसरा कहता था, क्या हमको पस्त पीने वाला मुक़र्रर किया है?

....हल्वाई की दुकान पर थाल-ए-बरंजी[६८] बराबर चुने[६९] थे। आगे दुकान के ज़ंजीर-ए-बरंजी लटकती थी, घण्टी उसमें बँधी थी। अन्दर दुकान के नौकरों ने गोलों पर कढ़ाओ चढ़ाये थे, मिठाई बनाते थे। अल्मारियाँ मिठाई से भरी रखी थीं, मिठाइयों को जालदार और मिहराबदार चुना था कि फूल और गुलदस्ते बने मालूम होते थे। मिठाई पर वर्क़-ए-तिलाई[७०] और नुक़ई[७१]

---

(५९) स्त्रियों के गले में पहनने की सोने-चाँदी की गोल हँसली

(६०) स्त्रियों के बालों अथवा गालों पर छिड़कने का सुनहरा या रूपहरा चूर्ण

(६१) तख़्त से पीठ लगाये हज़ारों नाज़-नखरों के साथ बैठी थीं

(६२) चमकता हुआ चेहरा हुस्न का समुन्दर था

(६३) पानी की सतह पर तैरना

(६४) मेहँदी लगे हुए हाथ

(६५) टब

(६६) हुक़्क़े की नै

(६७) कश्मीर और सालजहाँ का इस्तेमाल यहाँ कश्मीर में उगाई जाने वाली चरस से है

(६८) काँसे के थाल

(६९) सज

(७०) सोने का वर्क़

(७१) चाँदी के बने हुए

लगे थे, अजब जोबन देते थे[७२] ...नानबाई बसद खुशअदाई जुरूफ़-ए-मिस्सी साफ़-शफ़्फ़ाफ़ में तालिम लज़ीज़ चुने हुए[७३]। पुलाओ, ज़र्दा, कोरमा, मुर्ग़ का शोरबा, कबाब-ओ-बाक़र ख़ानी, आबी नान, हवाई कुल्चे वग़ैरह, हर किस्म का खाना मुहैया रखते थे। तनूर[७४] गर्म था पतीला चढ़ा था। एक तरफ़ माही दमे[७५] में कबाब गर्मा-गर्म थे। कुछ लोग दुकान में खाना खाते थे, कुछ ख़रीदार प्याले लिये खड़े थे...

(तिलिस्मे होशरुबा, जिल्दे अव्वलः दास्तानगो, मुहम्मद हुसैन जाह)

मैं इस झील की तह में कितनी दूर निकल आया हूँ? कोई शक्ति मुझे झील से बाहर ले आयी है, या अभी इस झील ही में हूँ? मुझे कहाँ ले जाया जा रहा है? मैं जानता हूँ यह दुनिया बहुत बड़ी है और पूरा ब्रह्माण्ड (अगर वह पूरा है भी) असीम है और मैं सबसे छोटे कण से भी तुच्छ हूँ। या शायद हूँ ही नहीं, और यह सब मेरी कल्पना की दुनिया में आबाद है? मुझे फिर नींद आ गयी।

I will arise and go now, go to Innisfree

...and live in the bee-loud glade

And I shall have some peace there, for peace comes dropping slow,

Dropping from the veils of the morning...

There's midnight all a glimmer and noon a purple glow

And evening full of linnet's wings

...I hear the lake water lapping with low sounds...

भाषा तो वही है जो मैंने पहले सुनी थी, अपने उस पुराने गाँव में, जब नटराज ने सभी सृष्टियों को नष्ट कर दिया था। लेकिन आवाज़ अलग, लहजा अलग। जैसे कोई नींद या नशे में हो और कुछ भर्राई हुई सी आवाज़ में बोल रहा हो लेकिन यही दशा तो मेरी भी है। मैं शायद नशे ही में हूँ। तरह-तरह की विचित्रताओं के फैलाव और रंगा-रंगी ने मुझे अपने आप से किसी तरह काट दिया है। मैं आसपास की दुनिया को देख तो रहा हूँ (अगर वह दुनिया ही है) लेकिन समझ नहीं पा रहा हूँ।

मैंने दोबारा झील में छलाँग लगा दी। अब जो पाँव ज़मीन को लगे तो मैंने देखा कि उसी मंज़रगाह का किनारा है, पीछे कोई नदी बह रही है, शाम हर तरफ़ फैल रही है, नदी का किनारा

---

(७२) अजब हुस्न था

(७३) नानबाई बहुत नाज़-नखरों के साथ ताम्बे के चमचमाते हुए बर्तनों में स्वादिष्ट पकवान सजाये हुए

(७४) तन्दूर

(७५) एक तरह का बर्तन

शाम के रंग का है, मैं हूँ। मैंने खुद को सम्भाला, लाठी कन्धे पर रखी और उत्तर की ओर रवाना हो गया। वहाँ, जहाँ हिमालय पर्वत का मुश्किल से पार किया जा सकने वाला सिलसिला है, पानी है, बर्फ़ है, हवा है। मेरे पिता ने एक बार मुझे कहा था कि दुनिया के निरर्थक कामों में वक़्त गुज़ारने से बहुत बेहतर है कि तुम कुण्डलिनी को जागृत कर लो और फिर सम्पूर्ण आत्मज्ञान की खोज में हिमालय पर्वत में कहीं गहराई में अपना घर बना लो और कुण्डलिनी से वार्तालाप स्थापित करो। सृष्टि जो कुछ है और सृष्टि में जो कुछ है वह तुम्हारे ही मस्तिष्क का जीता-जागता प्रतिबिम्ब है। ये ऊपरी दृश्य तुम्हारे मस्तिष्क के आन्तरिक परिदृश्य का हिस्सा हैं। हिमालय के कोने-कोने में ज़िन्दगी के रूप भरे हुए हैं। वहाँ पहाड़ों और चोटियों पर चिराग़-ए-लाल से रौशनी होती है, वहाँ तुम्हें खुद से बाहर निकलने का मौक़ा मिल सकता है। अभी तो तुम सोये हुए हो, कि तुम्हें इस नश्वर जीवन से बहुत लगाव है, जैसा कि एक शायर ने, जो अभी पैदा नहीं हुआ, इस तरह लिखा है जब उसने हक़ीक़त और ख़्वाब पर ग़ौर किया।

ता ज़ुम्बिशे तारे नफ़स अफ़्साना तराज़ अस्त
बेदिल बकमन्द-ए-रगे ख़्वाब अस्त दिले मा[७६]

क्या मतलब, वह अभी पैदा भी नहीं हुआ और उसके शेर आप पर उतर चुके हैं, या उतर रहे हैं? यह कौन सी दुनिया और कौन सा ज्ञान है? लेकिन पिता के सामने कुछ कहने की हिम्मत किसे थी? तुम निश्चितताओं से बाहर आ सकोगे तब तुम्हें यह बात भी मालूम हो जायेगी।

अचानक मेरे सामने आसमान में एक खिड़की रौशन हो गयी। खिड़की, दरार, या सिर्फ़ मेरा वहम, मुझे आँखों के सामने दुनिया कुछ अन्धकारमयी सी लगने लगी। लेकिन अब इस खिड़की में एक सुनहरी शाख़ नज़र आयी जिस पर एक नीला-पीला पक्षी कुछ कहता हुआ नज़र आया। उसके पीछे एक काला पर्दा सा, जिस पर वही शब्द लिखे हुए थे, जो वह पक्षी (या कोई सर्वव्यापी अस्तित्व?) अपनी ज़बान से अदा कर रहा था। मैं उन शब्दों को पढ़ नहीं सकता था लेकिन जो कुछ सुन रहा था उसे खूब समझ सकता था। शुरू के शब्द साफ़ सुनायी नहीं दिये, लेकिन उनके बाद :

Miracle, bird or golden handiwork
More miracle than bird or handiwork

Planted on the starlit golden bough
...
...Of hammered gold and gold enamelling

(७६) चूँकि मेरी साँस के हर तार की गतिविधि कहानियाँ गढ़ती है - बेदिल हमारा दिल ख़्वाब की डोर में कसा हुआ है।

To keep a drowsy Emperor awake

Or set upon a golden bough to sing

To lords and ladies of Byzantium

Of what is past, or passing, or to come.

क्या मतलब, यह बायज़ेंटिअम कोई जगह है? और वहाँ ऐसे परिन्दे हैं, या कम से कम एक परिन्दा ऐसा है जो अतीत और वर्तमान और भविष्य की सभी बातों के इल्म पर हावी है? और क्या मेरे पिता ने कभी वह पक्षी पाला था? लेकिन अब तो वह उनके पास नहीं है। फिर उन्हें यह सब कैसे मालूम है? मगर ज़रा ठहरें, मुझे भी तो दोबारा किसी फिरंगी ज़बान में बहुत कुछ शायरी सुनायी दी थी। और मुझे मालूम नहीं कि जिन लोगों के वे शेर हैं वे किस ज़माने में थे? और सच पूछो तो मुझे खुद भी नहीं मालूम कि मैं किस ज़माने में हूँ? क्या मेरे पीछे कोई अतीत है, और क्या मेरा कोई भविष्य भी है? क्या ऐसा भी होगा कि मेरे बाद जो लोग होंगे वे मेरी इस बकवास को पढ़ सकेंगे? क्या जिस भाषा में इस वक़्त बातचीत कर रहा हूँ वह कोई भाषा है भी या यह सिर्फ़ मेरे दिल में है? और कहीं लिख दूँ तो क्या यह भाषा कल बाक़ी भी रहेगी कि नहीं?

क्या मैं इस झील में दोबारा कूद पड़ूँ जिसमें एक बार कूद कर मैं यहाँ पहुँचा था? बेवकूफ़ आदमी, होश की बात करो, लेकिन शायद तुम होश ही में नहीं हो। क्या तुम इतना भी नहीं समझे कि अब तक जो कुछ हुआ है उसमें तुम्हारे दिल-ओ-दिमाग़ का कुछ दख़ल रहा हो तो रहा हो, लेकिन तुम्हारे इरादे का कोई दख़ल नहीं था। अब दोबारा अपने इरादे से इस झील में गोता लगाओ तो शायद डूब ही हो जाओ, या कहीं और पहुँच जाओ। वस्तुओं का अन्त ऐसे नहीं होता। जो है और जो नहीं है उसमें कुछ ऐसा फ़र्क़ भी नहीं। सिर्फ़ तुम्हारी समझ का फ़र्क़ है। तुम हिमालय पर्वत के लिए निकले थे, बस उस तरफ़ ही जाओ। जब तुम्हें कोई रोकेगा तो देखेंगे क्या होता है। अभी तो रास्ता आसान है। ख़ैर, आसान न सही लेकिन मालूम है।

तो मैं चला गया। मैं आँख बन्द करके एक तरफ़ चल पड़ा।

(५)

उनका नाम वामन वशिष्ठ था। या शायद वामन उनका नाम नहीं था, बल्कि लक़ब था, क्योंकि वे भी वामन अवतार की तरह छोटे क़द के थे, बल्कि कहा जाए कि बौने थे तो ज़्यादा उचित होगा। वामन अवतार की तरह वे भी विष्णु जी के बहुत सच्चे और पक्के भक्त थे, बल्कि कुछ लोग उन्हें विष्णु जी का अवतार ही समझ लेते थे। लेकिन वे उन वामन अवतार की तरह नहीं थे जो लोहे की लाठ की तरह ज़मीन में गड़े हुए हैं और उसका सिरा आसमान को छूता है। लोग कहते थे वे ज़मीन को थामे हुए हैं नहीं तो क्षण-प्रतिक्षण इतने भूकम्प आएँ कि सारी दुनिया में उथल-पुथल हो जाये। उन्हीं वामन अवतार ने एक बार

अपने राजा से कहा कि मुझे रहने-सोने के लिए कुछ ज़मीन दे दो। राजा ने उनके छोटे क़द को देखा तो मुस्कराकर कहा, 'ज़मीन क्या करोगे, तीन क़दम चलो, उतनी ज़मीन तुम्हें मिल जायेगी जितनी तुम तीन क़दमों में तय कर सकोगे। वही तुम्हारे लिए काफ़ी होगी'।

वामन ने राजा को रहम भरी निगाह से देखा और कहा, 'अच्छा तो मैं चला। तुम मेरे क़दम देखते रहना कि तीन से ज़्यादा तो नहीं हो रहे हैं।'

फिर राजा के सामने ज़मीन-आसमान के बीच कहीं एक खिड़की सी खुल गयी। वामन अवतार उसमें से साफ़ दिखायी दे रहे थे। पलक झपकने में जितना समय लगता है उससे भी कम अवधि में वामन ने जानी-पहचानी सृष्टि, सूरज, चाँद, सितारे, समुद्र, पर्वत सब पार कर लिये। फिर देखते ही देखते वे सम्भावनाओं की दुनिया को भी पार कर गये, यानी उस सबको, जो अभी है नहीं लेकिन हो सकता है, या कभी हुआ होगा और अब समय के उस पार बहने वाले धुंधले पानियों में अनगिनत सदियों से डूबा हुआ है। फिर उनका दूसरा क़दम महसूस की जाने वाली सृष्टि से आगे, सम्भावना से परे, उन सृष्टियों को पार कर गया जिनका अस्तित्व नहीं है, लेकिन जो कभी वजूद में आने के लिए आतुर हैं। या असल में अभी वे आतुर भी नहीं हैं लेकिन जब उन्हें सम्भावनाओं का ज्ञान होगा तो उनकी आत्मा में अधूरेपन का एहसास चुभने लगेगा और वे आत्मपूर्ति के लिए अस्तित्व में आ जाने के लिए व्याकुल होने लगेंगी। राजा के हवास गुम होने लगे, लेकिन उसकी आँखें वहीं खिड़की के पार टकटकी लगाये हुए थीं। वामन अवतार का तीसरा क़दम इन्द्रलोक, परलोक के आगे किसी और काल की सृष्टि पर पड़ा ही था कि राजा चीख उठाः

'बस महाराज, बस। मुझसे बड़ी भूल हुई। अब आगे देखने का सामर्थ्य नहीं है। मैं हाथ जोड़ कर क्षमा याचना करता हूँ'।

वामन अवतार मुस्कुराये। राजा ने अपना मुकुट उनके क़दमों में रख दिया और गिड़गिड़ा कर बोला, 'यह राज-पाट सब आपका। मैं इसके योग्य नहीं। यह सब आप सम्भालिये, मुझे वनवास दीजिये'।

वामन अवतार ने राजा को अहंकार और दिखावे से बचने की नसीहत दी, कहा हम ताज छीनने वाले नहीं, ताज देने वाले हैं और अपनी राह ली।

और एक कथन यह भी है कि वे तीन क़दम जो वामन अवतार ने तय किये थे, वे थेः पहला, नींद। दूसरा, नींद और स्वप्न। तीसरा, गहरी नींद। ये तीनों क़दम रूहानी तौर पर शायद वही थे, जो वामन ने राजा की आँखों के सामने अपने हाड़-माँस के शरीर के साथ तय किये थे। सत्य तो ईश्वर ही जानता है। लेकिन जिन वामन वशिष्ठ का हम ज़िक्र कर रहे हैं वे अभी अपने हमनाम अवतार के बहुत पीछे, कई दर्ज़ा नीचे कहीं आत्म-सन्तुष्टि की तलाश में थे। उन्होंने कुण्डलिनी को इस दर्जा अपनी गिरफ़्त में कर लिया था कि वे उसे दुपट्टे के तौर पर अपनी कमर में लपेटे रहते थे। लेकिन अभी वे खुद को, या अपने आंतरिक

अस्तित्व को अधूरा समझते थे। वामन वशिष्ठ के पास सब कुछ था, वे अनंत विधाओं के मालिक थे और अथाह रहस्यों की गहराइयों में उतर चुके थे। लेकिन अभी उन्हें वह नहीं मिला था, जो उन्हें निस्पृहता के अधिकार-क्षेत्र पर स्थापित कर देता।

वे इसी तलाश में मुल्कों-मुल्कों, गाँव और शहरों, जंगलों और वीरानों में भटकते रहे। एक बार वे थक कर और अपनी हस्ती से खिन्न होकर एक टीले के दामन में चादर लपेटे पड़े थे। तो उन्होंने ख़्वाब में किसी को देखा, कुछ रौशनी और कुछ बादल के लिबास में छुपा हुआ। वामन ने चाहा कि उन (आत्मा? जिन? कल्पना?) से पूछें कि मेरी उल्झन क्या है और उसका इलाज क्या है? लेकिन तेज और भय ने ज़बान खोलने की क्षमता छीन ली थी। फिर उन्होंने महसूस किया (देखा? दिल में कहीं उसकी छाया देखी?) कि वह हस्ती दूर किसी बहुत ऊँची जगह उत्तर दिशा की ओर इशारा कर रही है। फिर उनके दिल में ख़याल आया, मुझे उत्तर की तरफ़ चलना चाहिये। उसके पहले कि उनकी आँख खुलती (या वे होश में आते?) उन्होंने सुना, कोई कह रहा है, पर्दा तुम खुद हो, तुम्हारा ज्ञान और अच्छाई इससे बड़ा हिजाब है। उन्हें सकता आ गया। यह सब जो मैंने सदियों की तपस्या और ध्यान और जंगलों और पहाड़ों में मारे-मारे फिर कर हासिल किया है, यही मुझ पर हिजाब बनकर छा गया है? क्या इसी प्रकाश के कारण मैं अन्धा हो गया हूँ और मेरी उल्झन यही है कि मुझे अन्तर्दृष्टि की तलाश है?

आशना[७७] अपनी हक़ीक़त से हो ऐ देहक़ान[७८] ज़रा
दाना तू, खेती भी तू, बाराँ[७९] भी तू, हासिल भी तू
आह, किस की जुस्तजू आवारा रखती है तुझे
राह तू, रहरौ[८०] भी तू, रहबर[८१] भी तू, मंज़िल भी तू
ना खुदा तू, बहर[८२] तू, कश्ती भी तू, साहिल भी तू

फिर मैं कहाँ जाऊँ? कहीं नहीं, अपने छोटे इल्म और अपनी मासूम ग़लतफ़हमियों को भूल जा, दूर वह उत्तर का आसमानी ठिकाना तेरा अपेक्षी है। तूने अभी अपने आप से बाहर निकलना तो सीखा नहीं है, यह कुण्डलिनी जिसे तू अपनी विशिष्टता जानता है, यही तो तेरी राह का बंधन है। तेरे हाथ-पाँव इसी ने बांध रखे हैं। इन क़ैदों से परे हो जा। तो ऐ शर्मिंदा-ए-साहिल उछल कर असीम

(७७) परिचित
(७८) किसान
(७९) बारिश
(८०) पथिक
(८१) मार्गदर्शक

हो जा। ये हिन्द-ओ-ईरान क्या, सीन-ओ-रोम क्या, ये सब क़ैद हैं जो तुझ पर ज्ञान लादे हुए है, वरना कायनात की हर चीज़ एक-दूसरे से जुड़ी हुई है और जुड़ी हुई नहीं तो क़रीब ज़रूर है।

(६)

तो ये हालात और वजूद थे, जिन्होंने एक दिन वामन वशिष्ठ को हिमालय की गोद में पाया। अब तक वे घने जंगलों में रौशनी की तलाश करते थे, विस्तारों का उन्हें अनुभव नहीं था। अपने भीतरी विस्तार की तो वे कल्पना कर सकते थे लेकिन फैलाव की इन्तिहाँ और बुलन्दियों की क्रूर उदासीनता से उन्हें वास्ता नहीं पड़ा था।

बर्फ़ ने बांधी है दस्तारे फ़ज़ियात[८३] तेरे सर, ख़ंदाज़न[८४] है जो कुलाह[८५]-ए-आलमताब[८६] पर

और लुत्फ़ यह था कि इस ऊँचाई और उदासीनता के बावजूद उन्हें उस तिलिस्मी पर्वत में सफ़र बिल्कुल बोझ नहीं लगता था। थकान या उक्ताहट उन्हें दूर से छूती भी नहीं थी।

कई दिन, कई रात के सफ़र ने उन्हें हिमालय पर्वत की गहराइयों में पहुँचा दिया। यहाँ चीड़ के पेड़ तो बहुत पहले ही पीछे छूट गये थे, अब मुद्दत हुई वे ऊँचे, तन्दुरुस्त, घनी पत्तियों वाले देवदार भी ग़ायब थे। पहाड़ों पर कहीं-कहीं कुछ झाड़ियाँ नज़र आती थीं, लेकिन छोटी-छोटी और मुरझायी हुईं। उनकी जगह सभी गहरी या कम गहरी गुफ़ाओं पर बर्फ़ की मोहर थी। हवाएँ बहुत तेज़ थीं लेकिन धूप ज़रा-सी रह गयी थी, जैसे किसी की आँखों में नींद छाने लगे, आँखें ज़रा-ज़रा खुली हुई हों और उनकी पीली-सुनहरी रौशनी फ़िज़ा को गर्म करने की कोशिश करती हो। हवाएँ, त्राहि-त्राहि और दोनों तरफ़ क़तार बाँधे हुए पहाड़ों की दीवारें, उनकी बुलन्दी भी ठीक से नज़र नहीं आती थी। वे सारे पशु-पक्षी जिन से निचली दीवारों में रौनक़ थी, अब कहीं दिखायी नहीं देते थे। सिर्फ़ बर्फ़ानी तेंदुआ कभी कहीं किसी चट्टान के साये में अपनी झलक दिखा देता था। सबसे ऊँची चोटियों पर बसने वाले असुरों के डील-डौल और काले रंग वाले झालरदार लिबास में लिपटे याक किसी दूर की वादी में दिखायी देते, लेकिन सिर्फ़ भ्रम की तरह, कि खुदा जाने कि वे वास्तविक थे या कल्पना शक्ति ने उन्हें बनाया था। इंसान का कहीं पता नहीं था। धुंधलके में यह भी ठीक से मालूम नहीं होता था कि यह चाक-ए-गिरेबान सुबह की लालिमा है या शाम की नश्तर[८७] ने सूरज की नस खोली है और उसका लहू सारे आसमान पर फैल गया है।

---

(८३) बड़ाई की पगड़ी

(८४) आनन्दित

(८५) मुकुट

(८६) सारे संसार को प्रकाशित करने वाला

(८७) चाकू

वशिष्ठ ऋषि ने लड़खड़ाते हुए क़दम आगे बढ़ाये। सामने एक स्याह चट्टान पर कुछ रहस्यमयी-सी, हल्की लेकिन स्थिर रौशनी सी नज़र आयी। पीछे कुछ नहीं था, सिर्फ़ ऊँची-नीची भूरी-स्याह पहाड़ियाँ आसमान तक फैली हुई थीं। मगर सुरीली-सी आवाज़ आहिस्ता-आहिस्ता फ़िज़ा में फैलने लगी थी, जैसे कोई विचित्र वीणा पर गा रहा हो। वे और क़रीब गये तो कोई परी, या शायद कोई युवती,या शायद पहाड़ों में बसने वाली कोई रूह थी। उन्होंने हिम्मत करके दो-चार क़दम आगे बढ़ाये, गाने वाली अब सामने नज़र आ रही थी। ऐसी शक्ल! यह सरापा[८८], या यह क़द-ओ-क़ामत, यह क़यामत जल्वा बदन। वशिष्ठ ऋषि ने या किसी और भी ऋषि-मुनि ने अपने दूरवर्ती और सबसे ज़्यादा बेक़ाबू करने वाले ख़्वाब में भी न तो ऐसी शक्ल देखी होगी और न ऐसी आवाज़ सुनी होगी। हिम्मत करके वे और क़रीब गये कि चेहरे-मोहरे को और साफ़ देख सकें, लेकिन उसके व्यक्तित्व का जादू ऐसा था कि वे बहुत आगे बढ़ नहीं सके। जिस हद तक सम्भव हुआ, उन्होंने आँख उठाकर उस परी को देखा। फिर वशिष्ठ मुनि को महसूस हुआ कि कहीं क़रीब ही महफ़िल सजी हुई है। दास्तानगो किसी का सरापा बयान कर रहा है:

सरापा का क्या बयान लिया जाये कि सफ़हए-फ़साना-ओ-वक़्त, तहरीर-ओ-सफ़-ए-रुख़, रश्कगुज़ार-ए-बिहिश्त[८९] बनता है। क़लम खुद नुक्ताचीनी करता है... माँग जादा-ए-कहकशान-ए-फ़लक[९०] को राह भुला दे, पेशानी-ए-नूरागीं सुबह-ए-सादिक़ को काज़िब[९१] बना दे। ख़ाल-ए-हिन्दु रहज़न-ए-ज़मीर-ए-आशिक़ाँ[९२], भवें वो मिहराब जो सजदागाह-ए-हसीनान-ए-जहाँ... आँखें वो जाम-ए-सरशार महबूबी जो दिल-ए-ख़स्ता को बियाँ करें[९३]...रुख़्सार-ए-ताबाँ गुल-ए-सुर्ख़ को नदामत से आब-आब करे[९४] बल्कि चश्मा-ए-खुर्शीद को बेआब-ओ-ताब करे... लब-ए-याकूत रंग-ए-लाल बदख़्शानी का जिगर खून करे[९५] बल्कि याकूत-ए-रुम्मानी को हीरा खिलाये[९६], मरजान ग़ैरत से मर-मर जाये... सीना गंजीना-ए-नूर छातियों का इस पर ज़हूर[९७], नार-ए-पिस्ताँ को देख कर नार-ए-बस्ताँ का सीना शक़ हो[९८], सेब-बेही का रंग ग़ैरत से फ़क़ हो। शिकम साफ़-ओ-शफ़्फ़ाफ़

---

(८८) पद्य या कविता में सिर से लेकर पैर तक के अंगों या रूप-आकृति का वर्णन

(८९) चेहरे की रूप-रेखाओं से स्वर्ग भी ईर्ष्या करता है

(९०) आकाशगंगाओं का पथ

(९१) माथे की चमक सच्ची सुबह को मिथ्या बना दे

(९२) गाल का तिल प्रेमियों का दिल छीन के ले जाये

(९३) आँखें महबूबियत की शराब के वे प्याले हैं जो नाजुक दिल को जला दें

(९४) चेहरे की चमक गुलाब को शर्म से पानी-पानी करे

(९५) याकूत जैसे लाल होंठ बदख्शाँ के लाल को शर्मिंदा करे

(९६) (याकूत जैसे लाल होंठ) अनार के सुर्ख़ दानों जैसे याकूत से खुदकुशी करवाएँ

(९७) स्तन प्रकट हुए तो ऐसा लगा कि रौशनी के ख़ज़ाने हों

(९८) स्तनों की आग से बुझते हुए अंगारों का सीना भी फट जाये

तख़्त-ए-बिल्लौर[९९], नाफ़ को गिर्दाब-ए-बहर-ए-हुस्न[१००] कहना पुरानी बात है, ये चश्मए-आब-ए-हयात है। मू-ए-कमर आईना-ए-हुस्न में गोया बाल आया है[१०१], या तार-ए-ख़ते-शुआआ-ए-आफ़्ताब-ए-सिपहर-ए-हुस्न बरमला है[१०२]। आगे अजब लज़्ज़त की चीज़ है, वो हंसनी है जो मोती चुगती है, या वो चोरखाना[१०३] है जिसको क़लीद-ए-तमन्ना[१०४] खोलती है। वो मज़्मून-ए-हिजाब है जिस पर मोहर-ए-ख़ते शबाब है[१०५]। वो मोरनी है जो कि मस्ती में राल[१०६] मोर के मुँह से टपके तो वो अपनी मिन्क़ार[१०७] में ले ले। वो दीदाए-पुरनूर[१०८] है जिसमें वस्ल[१०९] की सलाई सुरमा लगायेगी, वो गुंचए-तंग-ए-सरबस्ता[११०] है जिसमें हवा-ए-तमन्ना बड़ी मुश्किल से जायेगी...

(तिलिस्मे होशरुबा, जिल्द अव्वल, दास्तानगो, मुहम्मद हुसैन जाह)

दास्तानगो का बयान अभी जारी था, लेकिन अब गाने वाली की आवाज़ उस पर हावी होने लगी थी। वशिष्ठ ऋषि ने सुनाः

हमा उम्र बा तू क़द्र ह ज़दीम-ओ-ना रफ़्त रंज खुमारे मा
ची क़यामती के नमी रसी ज़े किना रे मा बा किना रे मा
चू गुबार नालए नेस्ताँ ना ज़दीम गामे अज़ इम्तिहाँ
के ज़े खुद गुज़िश्तन मा ना शुद बा, हज़ार कूचा दो-चारे मा
ना बा दामने ज़े ख़यार सद ना बा दस्तगाह दुआ रसद
चू रसद बा निस्बत पार सद कफ़ दस्त आबला वारे मा[१११]

वामन वशिष्ठ को तन-बदन का होश नहीं रहा। उन्होंने दौड़ कर उस हसीना के पाँव लिये और अपने आप उन्होंने कहना शुरु कियाः

---

(९९) शीशे की तरह साफ और सपाट पेट

(१००) नाभि को समुन्दर का भँवर रूपी हुस्न (कहना पुरानी बात है)

(१०१) कमर इतनी पतली है मानो हुस्न के आईने में बाल आ गया हो

(१०२) (या) सम्भव है कि आकाश में जगमगाते हुए सूर्य की एक बारीक किरण

(१०३) गुप्त तहख़ाना

(१०४) अभिलाषा की कुंजी

(१०५) वह छुपी हुई इबारत है जिस पर यौवन की लिखाई की मोहर है

(१०६) लार

(१०७) चोंच

(१०८) प्रकाशमान नेत्र

(१०९) मिलन

(११०) वो फूल जिसकी पँखुड़ियाँ आपस में पूरी तरह से चिपकी हुई हों जिसमें कामना की हवा मुश्किल से पहुँच पाती हो

(१११) सारी उम्र हम साथ पीते रहे, मगर इस रंज का खुमार नहीं जा सका

चो किसी ओ ची नाम ख़्वानिंदत

व र कुदामी मक़ाम दा निंदत[११२]

वह मुस्करा कर बोली, 'और आप? आपका गुज़र इस तरफ़ कैसे हुआ? मैं तो यहीं रहती हूँ, यही मेरा घर है और यही मेरी क़ब्र'।

'मैं खुद को ढूँढ़ता हूँ लेकिन सफलता नहीं मिलती। क्या आप...? यह कौन सी तलाश है, किस की तलाश है? ये कलाम आपको किसने सिखाये'?

'शायद आप भूलते हैं। यहाँ हर वस्तु हर समय उपस्थित है'।

'और आपने यह भाषा कहाँ से सीखी'?

वह हँसी। 'जहाँ से आपने सीखी होगी'।

'मैंने? मैंने तो सीखी नहीं। जब आप गा रही थीं तो ये शब्द अपने आप मेरी समझ में आते जा रहे थे। मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि इस भाषा का नाम क्या है और यह शायर कौन है। वह है भी कि नहीं'?

'चलिये, स्वयं को समझने के कई पड़ाव तो आपने तय कर लिये हैं कि आप अतीत, भविष्य की हर ज़बान समझ सकते हैं। लेकिन इसके आगे की राहें आप पर अभी तक बन्द हैं। खुद को हासिल करने के पहले, बहुत पहले, आपको अपने आप को समझने के अलावा बहुत सी मंज़िलों से गुज़रना है। आत्म-निरीक्षण, आत्म-अवलोकन, आत्म-नियन्त्रण और फिर अपने आप को भुला देना, और अन्त में भूले हुए को भी भुला देना'।

वामन वशिष्ठ ने कहना चाहा, 'मैं समझा नहीं'। लेकिन इसके पहले कि शब्द उनके मुँह से निकलते, उस हसीना ने उनका हाथ पकड़ा और उन्हें अपने क़दमों से उठाते हुए बोली, 'चलिये, मैं आपको अपना घर दिखाऊँ, अपने पति से मिलवाऊँ'।

कैसी अजीब परेशान करने वाली बात हैकि तू पास होते हुए भी दूर रहा और हमारी बाहों में नहीं आया

रेगिस्तान में फ़रियाद की आवाज़ वहीं बैठ जाती है, किसी और तक नहीं पहुँच पाती

हर क़दम पर मेरा इम्तिहान हुआ, हम अपने आपको छोड़कर कहीं नहीं जा सके, हालाँकि हज़ार गली-कूचे हमारे सामने आये

शर्म से हमारा हाथ उसके दामन तक नहीं पहुँचता, ना ही हमारी कोई दुआ क़बूल होती है

हमारे गर्म आँसुओं ने हमारी हथेली पर छाले डाल दिये हैं, ये हाथ बस उसके (माशूक) पैरों तक पहुँचा है और बस

(११२) तुम कौन हो और तुम्हें किस नाम से पुकारते हैं और किस जगह रहती हो

'मगर मुझे कहीं कुछ रास्ता तो नज़र आता नहीं', वशिष्ठ ऋषि ने कुछ परेशान होकर कहा। 'हर तरफ़ तो यहाँ पहाड़ हैं, घाटियाँ हैं, बन्द राहें हैं। रास्ते का क्या ज़िक्र'?

'यही तो मैंने कहा कि अभी आपने आत्म-निरीक्षण के आगे क़दम रखा नहीं। आपने वस्तुओं की वास्तविकता का पहला अध्याय भी नहीं पढ़ा। मेरे साथ चलिये, मेरे साथ-साथ चलिये'।

वशिष्ठ ऋषि ने अब जो देखा तो वो हक्का-बक्का रह गये पहाड़, बियाबान, घाटी, ऐसा कुछ तो वहाँ नहीं था। सामने हरियाली, पीछे झरना, दोनों तरफ़ फूलों की रविश, बीच में रास्ते पर नर्म क़दमों के निशान साफ़ नज़र आते थे। उनका पहला क़दम बहुत दिक़्क़त से उठा, फिर सब आसान हो गया।

'मेरा नाम कल्पना है'। उस हसीना ने कहा। 'मुझे मेरे पति ने बनाया है। मेरी ज़िन्दगी में सब कुछ है, पर प्यार नहीं है, मेल-मिलाप नहीं, यहाँ तक कि सहचर्य भी नहीं। पति के बावजूद मैं अकेली हूँ, बाँझ हूँ। उस कमल की तरह जिसे पाला मार गया हो'।

'पति ने बनाया...'? वशिष्ठ ऋषि कुछ कहते-कहते चुप हो गये, शायद इस तरह की कुरेद अशिष्टता के समान होती।

कल्पना ने वशिष्ठ की हिचकिचाहट को मानो महसूस ही नहीं किया और कहा, 'मेरे पति बहुत दूर से आये हैं, दक्षिण में कोई केरलपुत्र नामक क्षेत्र है। उन्होंने हर तरह का ज्ञान हासिल किया है और वे हर प्रकार की शक्ति के मालिक हैं। वे, जो नहीं है उसे, अस्तित्व में ला सकते हैं, और जो है उसे विनष्ट कर सकते हैं'।

अब वामन वशिष्ठ को कुछ कहने की सामर्थ्य ही नहीं थी। क्या वह कोई अलौकिक शक्ति है? कोई असुर या देव तो नहीं? मैं न जाने कहाँ फँस गया हूँ। अब देखें निजात भी होती है कि नहीं। यह लड़की खुद कह रही है कि मैं कोई इंसानी वजूद नहीं हूँ, उन ऋषि की इच्छा-शक्ति का निराकार और जिस्मानी रूप हूँ। फिर तो वह कोई प्राणी ही नहीं हुई? मगर वह जो प्राणी नहीं है, वह तो सिर्फ़ परमेश्वर है?

वे इन विचारों में गुम थे कि लड़की ने कहा, 'घबराइए नहीं, अब घर बहुत दूर नहीं। लेकिन यह तो बताइए कि आप तो वामन अवतार के पहले ही क़दम में खो गये हैं। अभी आप ने सम्भावनाओं की दुनिया

को भी ठीक से नहीं तय किया है। और अगर आध्यात्मिक रूप में कहें तो आप अभी नींद की मंज़िल में हैं। फिर आप यहाँ कहाँ'?

वामन वशिष्ठ को यह पूछने की हिम्मत नहीं हुई कि आपको यह कैसे मालूम हुआ? अभी वे जवाब के लिए उचित शब्द ढूँढ़ ही रहे थे कि वह हसीना बोली, 'आपको मेरे पति ने बुलाया तो नहीं है? यह मैं इसलिए पूछती हूँ कि बिना किसी आन्तरिक शक्ति के किसी भी जीवित प्राणी का यहाँ तक पहुँचना मुश्किल था'।

'मुझे नहीं मालूम', वामन वशिष्ठ ने धीमी आवाज़ में जवाब दिया। 'हाँ, मुझे एक संकेत अवश्य मिला था कि उत्तर की ओर चलो। उधर ही तुम्हारा मुद्दा हासिल होगा'।

'जी तो फिर बात वही है। कल्पित ऋषि ने आपको ज़रूर संकेत भेजा होगा'।

'कल्पित'?

'जी हाँ, मेरे पति का नाम कल्पित है। कल्पना और कल्पित की जोड़ी अच्छी है न'? वह अजीब रहस्यमयी-सी हँसी हँसकर बोली, 'देखिए वह हमारा घर है'।

गुफा का मुँह बहुत विशाल नहीं था, लेकिन ज़रा गर्दन झुकाकर कोई भी इंसान आसानी से दाख़िल हो सकता था। और वामन वशिष्ठ तो छोटे क़द के थे, उनके लिए कोई समस्या नहीं थी। गुफा से हल्की-हल्की रौशनी बाहर आ रही थी, इस तरह नहीं जैसे अन्दर कोई चिराग़ रौशन हो बल्कि इस तरह जैसे कहीं दूर अलाव जल रहा हो और उसके शोले दीवार पर अपने बिम्ब से हर तरफ़ फैल गये हों। कल्पना के क़दम देखते हुए वे अन्दर दाख़िल हुए। गुफा की रौशनी कहाँ से आ रही थी, वे इस बात का निश्चय नहीं कर सके लेकिन रौशनी अत्यन्त सूक्ष्म थी। उन्होंने देखा कि गुफा की छत कहीं ऊँची, कहीं नीची है लेकिन उसकी लम्बाई बहुत है, बल्कि ऐसा कहें तो ग़लत नहीं होगा कि गुफा का सिरा नज़र नहीं आता था। कल्पित ऋषि गुफा में एक तरफ़ चिकने फ़र्श पर पाँव मोड़कर बैठे थे, इस तरह मानो कोई सभा हो और वे सभापति हों।

गुफा के मुख से ज़रा दूर, आख़िर तक बीचों-बीच एक छोटी-सी नहर बह रही थी, बहुत साफ़ पानी, तह में रंग-बिरंगे पत्थर। लेकिन नहीं, शायद वे मछलियाँ थीं, अठखेलियाँ करतीं, गोते लगातीं, इधर से उधर उछलतीं, एक तमाशे का समा था। यह नहर कहाँ से आयी है और उसका सिरा किधर है, वामन वशिष्ठ ने सोचा। लेकिन वे अभी कुछ बोल नहीं पाये थे कि कल्पित ऋषि ने कहा, 'बैठो, तुम अच्छे आये। मैंने तुम्हें इधर आने का संकेत दिया था, मिला होगा'।

'जी हाँ,' वशिष्ठ ऋषि ने फँसी-फँसी आवाज़ में जवाब दिया।

बात यह है कि तुम भी मेरे हमसफ़र हो, लेकिन तुम्हें रास्ता ठीक से नहीं मालूम, बल्कि यूँ कहूँ तो ग़लत नहीं होगा कि तुम मंज़िल से भी बेख़बर हो'।

वामन वशिष्ठ कुछ कहने वाले थे कि कल्पना ने अपने होंठों पर उँगली रखकर उन्हें चुप रहने का इशारा किया। कल्पित ऋषि की आँखें बन्द थीं लेकिन वे इस तरह बातचीत कर रहे थे मानो सब कुछ देख रहे हों।

'तुम तो बिल्कुल ही राह से भटक गये हो। जिनके नाम पर तुम्हारा नाम है वे ईश्वर को पहचानने वाले थे, लेकिन पूरी तरह नहीं। बनाना और मिटाना दोनों एक ही कृत्य हैं लेकिन मिटाने में देर लगती है। अन्तराल या अवधि के अर्थ में देर नहीं, उस परिवर्तन के अर्थ में जो मिटाने के बाद आहिस्ता-आहिस्ता दिखायी देता है। रहस्य सम्राट ने मुझे यही बताया था। तुमने मिटने के अमल का पहला अक्षर अभी-अभी देखा, उसे सीखना और ज़बान से अदा करना तो दूर की बात है'।

वामन वशिष्ठ की समझ में कुछ नहीं आया। कल्पना भी ज़रा हैरत भरी निगाहों से अपने पति को देख रही थी।

'यह नहर देख रहे हो? और ये मछलियाँ? उन्होंने सवाल किया। फिर जवाब का इन्तिज़ार किये बगैर उन्होंने कहना शुरु किया, 'यह नहर मेरी बनायी हुई है और मछलियाँ भी। लेकिन यह मेरे हाथ-पाँव की मेहनत से नहीं, मेरी सृजन-शक्ति से बनी हैं। पहले यहाँ कुछ नहीं था। तुम सोच रहे होगे इस पानी का स्रोत कहाँ हो सकता है? स्रोत मैं हूँ'।

कल्पना ने चौंककर अपने पति को देखा। यह बात शायद उसे भी नहीं मालूम थी।

'मैंने यहाँ कितनी उम्रें गुज़ारीं, मुझे इसका अन्दाज़ा तो है, लेकिन पूरा ज्ञान नहीं,' कल्पित ऋषि ने कहा। 'तुम इधर-उधर कहाँ देख रहे हो, बताओ'?

वशिष्ठ ऋषि अब तक असहाय सिर झुकाये खड़े थे। अब उन्होंने निगाह उठायी तो देखा कि देखने में जहाँ मछलियों वाला चश्मा ख़त्म होता था, उसके कुछ आगे, या कुछ ऊपर, पूरा सौरमंडल क़ायम था। सब सितारे अपने-अपने काम में लगे हुए थे। सूरज की गर्दिश से निगाहें चौंधिया रही थीं लेकिन उसकी गर्मी उन तक नहीं पहुँची थी। लेकिन चश्मे के बाद तो देखने में कुछ नहीं था, गुफा वहीं ख़त्म हो चुकी थी, और उस पर वहाँ कोई बाँध बँधा नहीं दिखायी देता था, लेकिन बाँध का पानी वहाँ कहीं जमा नहीं होता था। न जाने उसका पानी और ये मछलियाँ कहाँ चली जाती हैं, उन्होंने सोचा। अब तो इस गुफा की छत भी दिखायी नहीं देती थी। लेकिन कहीं, जहाँ छत होनी चाहिये थी, एक और सृष्टि नज़र आ रही थी जिसमें कोई सितारा, कोई सौरमंडल नहीं था मगर उसके बावजूद एक के बाद एक कई आकाश गंगाएँ सामने से गुज़र रही थीं। उनके बहुत आगे, या उनसे ऊपर, या पीछे, कई रौशन सितारे चकाचौंध कर रहे थे, लेकिन

उनकी रौशनी कभी दूर जाती हुई महसूस होती, कभी अपनी जगह पर क़ायम दिखायी देती और कभी-कभी तो किसी आकाशगंगा की भीड़ में वह सितारा ही नज़र नहीं आता था।

वामन वशिष्ठ ने घबराकर अपने हाथ-पाँव को देखा। सब कुछ वहीं तो था जहाँ होना चाहिये था। वे किसी और दुनिया में नहीं फेंक दिये गये थे, अपनी जगह सुरक्षित थे। सुरक्षित? क्या वाक़ई यहाँ कोई सुरक्षित है? कुछ धुँधली-सी आवाज़ उन्होंने सुनी, उसमें अजीब तरह का ग़ैर-इंसानी ज़ोर था, जैसे कोई किसी ख़तरे से आगाह कर रहा हो। उन्होंने ध्यान देकर सुना। नहीं, कोई ख़तरे वाली बात नहीं थी। कल्पित ऋषि कह रहे थे,

'ये सारे आसमान, और उनके सारे सूरज और सितारे, हवाएँ और बादल, प्रकाश और अन्धकार, सब मेरे बनाये हुए हैं। और ये वही हैं और वही नहीं भी हैं, जिन्हें तुम ऊपर इंसानी आसमान में देखते या जिनकी कल्पना करते हो'।

वामन वशिष्ठ ने हिम्मत कर पूछा, 'म...मगर क्यों'?

कल्पित ऋषि कुछ शर्मिंदा हो मुस्कुराये (शर्मिंदा मुस्कुराहट और उनके होठों पर, वशिष्ठ ने हैरत से सोचा)। 'हाँ, क्योंकि मेरा जी इस दुनियावी ब्रह्माण्ड से उकता गया था। मैं इतना ज्ञान हासिल कर चुका था, फिर वह सब भुला भी चुका था और अपने दिल-ओ-दिमाग़ ही नहीं पूरे अस्तित्व को ज्ञान, जानकारी, गुमान, भ्रम सबसे पवित्र कर चुकने के बाद भी जिन प्रश्नों के उत्तर की मुझे तलाश थी, उनसे अछूता ही रहा। कहते हैं एक बृहत सृष्टि है, जिसमें सब सृष्टियाँ जमा हैं, या मिली हुई हैं। तो फिर उसकी शक्ल क्या है? वह त्रिकोण है कि चौकोर है कि गोल है कि द्वीप है? क्या कोई नियम-क़ानून हैं, जिन के तहत यह सृष्टि जीवित है और अपना काम करती रहती है? और यह जीवित है भी कि कहीं? अपनी मामूली दुनिया में तो मैं समय, स्थान, कारण और उसके परिणाम, सब जानता हूँ, लेकिन ये सब किस तरह काम करते हैं? अच्छा अगर कोई बृहत सृष्टि नहीं है, सिर्फ़ हमारी सृष्टि है तो फिर वह सब कहाँ हैं? वह जम्बू-द्वीप, वह सुमेरु पर्वत, वह अनादि और अनन्त कमल का फूल कहाँ से आया?

'जब मेरा जी इन सवालों से घबरा जाता तो मैं अपना दिल बहलाने के लिए नये-नये आसमान और संसार बनाकर दिल बहलाता या समय बिताता। लेकिन नहीं। मुझे किसी और की तलाश थी। हुस्न की, ज़िन्दा हुस्न की, जिसे मैं देख सकूँ, सुन सकूँ, छू सकूँ, जिसे मैं सिर्फ़ और सिर्फ़ अपना कह सकूँ। और वह हुस्न, इरादे और विचार का भी मालिक हो। वह बातचीत की कला में निपुण हो, उसे हवाओं, झरनों, पंछियों, बादल और बारिश और बिजली कड़कने इन सबके संगीत का भी बोध हो'।

वामन वशिष्ठ ही नहीं, कल्पना भी कल्पित ऋषि का मुँह देख रही थी। दोनों चाहते थे कि कुछ कहें, लेकिन हस्तक्षेप की हिम्मत नहीं पड़ती थी। कल्पित ऋषि के शब्द हवा की तरह पूरी गुफा में बह रहे थे।

'मुझे मालूम था कि सृष्टि का अन्तिम सिरा छू लेने पर ही मेरा दुःख दूर हो सकेगा। और यह दुःख सभी दुःखों का बादशाह था, कायनात का सिरा कहाँ है, मुझे अब तक मालूम नहीं हो सका था। तो मैंने पहली खूबसूरत वस्तु जो बनायी, मोर थी। दुनियावी मोर भी इतना ज़्यादा हसीन, इतना ज़्यादा दिलरुबा क्या होगा? मैं तो एक क्षण के लिए हैरान रह गया। यह मैंने बनाया है? लेकिन उसने अस्तित्व में आते ही पर फड़-फड़ाते हुए गुफ़ा के इस सिरे से उस सिरे तक का चक्कर लगाना शुरु कर दिया। इतनी ज़्यादा वहशत तो शायद हैवानी मोर में भी नहीं होगी। और उसकी आँखें, वे दिलफ़रेब कि तकते रहें, लेकिन उनमें समझ और विचार और इरादे की रौशनी नहीं थी। अफ़सोस कि उसका हुस्न मेरे किसी काम का नहीं था।

'मैंने मोर को बाहर निकल जाने का इशारा दिया। इशारा क्या दिया, उसे गुफा का बाहरी मुख दिखा दिया और वह खुशी-खुशी उड़कर बाहर की चट्टान पर जा बैठा और अपनी होने वाली प्रेमिकाओं को अपनी झंकार भरी आवाज़ में पुकारने लगा। लेकिन वहाँ मोरनियाँ कहाँ थीं? वहाँ की हवा ही और थी, ज़मीन और थी। उसने थोड़ी ही देर में समझ लिया कि यहाँ कुछ हरा-भरा नहीं होगा और कुछ थकी हुई-सी रफ़्तार के साथ नीचे की वादियों की तरफ़ उड़ गया।

'मैं मायूस नहीं हुआ, मैं जानता था कि जिस किसी की मुझे अभिलाषा है, वह बन ही जायेगा और बनाने की इस कोशिश में भी एक आनन्द था। कुछ और समय बीता (अगर समय की कोई कल्पना उस जगह सम्भव थी) और मैंने पानी का यह चश्मा बनाया जो तुम देख रहे हो। यह अच्छा शगुन था, क्योंकि पानी स्रोत और प्रतीक है जीवन और गतिशीलता का। जीती-जागती ज़िन्दगी अब कुछ दूर नहीं होना चाहिए, मैंने सोचा। एक मुद्दत तक मैं लहरों के गुज़रने, लहराने और खुश करने का दृश्य देखता रहा। हर बार नया पानी, हर बार नयी लहर। और हर बार रौशनी के खेल या शरारत की वजह से लहरों के नये रंग। मैंने सोचा क्यों न मैं इस ज़िन्दा, लगभग वाचाल, ज़िन्दगी से भरपूर पानी को अपने पास बुलाऊँ, उसकी बातों से दिल बहलाऊँ, उसके रंगों से आनन्दित होऊँ। लेकिन तौबा, वे लहरें मेरी कब सुनने वाली थीं? उनमें श्रवण-शक्ति शायद थी भी नहीं। फिर मैंने चश्मे के पानी में रंग-बिरंगी छोटी-बड़ी मछलियाँ बनायीं। लेकिन अब एक नयी समस्या सामने थी। मेरी यह गुफ़ा बहुत लम्बी, बहुत गहरी सही, लेकिन पानी इसके आख़िरी सिरे पर जमा होता रहा था। अब या तो वह वापस मेरी तरफ़ वापिस आये या उठना शुरु हो। मुझे ये दोनों सूरतें स्वीकार नहीं थीं। क्योंकि दिशा बदलने या अन्दाज़ और रफ़्तार बदलने के कारण पानी कुछ का कुछ हो सकता था। फिर ये मछलियाँ कहाँ जाएँगी? मेरे रहने और पाँव फैलाने की भी जगह रहेगी की नहीं?

वामन वशिष्ठ ने हिम्मत करके हस्तक्षेप किया, 'लेकिन...लेकिन अब तो ऐसा नहीं है। गुफा के आखिरी सिरे पर कोई और गुफ़ा या हौज़ बना है? कल्पना हैरान खड़ी सुन रही थी। इस गुफा और उस गुफ़ा के बनने के इतिहास से वह वाकिफ नहीं थी। वह समझती थी कि कल्पित ऋषि ने उसे ऐसे ही पाया

होगा और उसमें रिहाइश बना ली होगी। अब उसे लग रहा था कि कुछ भी ऐसा नहीं है, जो असल में वैसा ही हो जैसा कि नज़र आता है। गुफा की ऊँचाइयों पर वह दुनियाओं, जंगल और वीरानों, आकाशगंगाओं, पूरे-पूरे ब्रह्माण्डों को शुरु से ही स्थापित देखती आ रही थी। और बाहर जो आसमान और ज़मीन थे, वे अपनी ही तरह के आसमान और ज़मीन थे। क्या मालूम कितनी दुनियाएँ हैं और कहाँ हैं और किसने बनायी हैं। कल्पित ऋषि ने आँखें खोल कर कल्पना को देखा, कुछ अजब-सी मुस्कुराहट मुस्कुराये और फिर कहने लगे।

'हाँ तो मैंने अपनी गुफा के सिरे पर छोटा-सा हौज़ बनाया। मछलियों को और चश्मे के पानियों को एक और जगह मिल गयी। फिर मैंने उस नये हौज़ के परले सिरे पर एक छोटी-सी नहर निकाली कि हौज़ जब भर जाये तो पानी और मछलियाँ उसके किनारों पर सैलाब का-सा ढंग नहीं अपना लें। अब सब बिल्कुल ठीक था। पानी नहर के स्रोत से निकल कर मेरी गुफ़ा में आता रहता और हौज़ में जमा होकर बाहर नयी गुफाओं और गहराइयों की तरफ़ निकल जाता। लेकिन वे मछलियाँ, हज़ार रंग की थीं और रंग बदलती भी रहती थीं और उनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती। सतह से लेकर तह तक और तह से लेकर सतह तक उनकी अनगिनत आकृतियाँ बनतीं। चश्मा अपनी सुरीली, कुछ प्रसन्न सी आवाज़ में आता और जाता और गाता रहता। लेकिन मैं बात किससे करता? कौन मेरी गुफा के फ़र्श पर नाज़ुक क़दमों से चलता और उसके पदचिह्न फूलों की तरह खिलते जाते? किसके गुनगुनाने या गाने की आवाज़ मेरे ध्यान में बाधा डालती और मुझे नींद आने लगती? किसके शरीर की रूप-रेखाएँ कभी कहीं झलक दिखा जाती कभी कहीं और किसी शमा की लौ की तरह रौशन नज़र आते? मैं किससे पूछता कि तुमने खाना खाया कि नहीं? मछलियों को अपना खाना खुद ही इस नहर में मिल जाता था। और कुछ नहीं तो छोटे-मोटे कीड़े-मकौड़े पानी के साथ बाहर से बहकर आते, वही उनके लिए काफ़ी थे। मछलियों की खूब चैन से गुज़र रही थी। चश्मा भी अपने नग़्मे के बहाव में मगन था। व्याकुल था तो मैं था'।

वामन वशिष्ठ ने घबराकर देखा। कल्पित ऋषि की आँखें कुछ लाल, कुछ नम हो रही थीं। सुर्ख तो ठीक है, लेकिन यह नमी क्यों? वशिष्ठ की समझ में कुछ नहीं आया। उन्होंने सोचा कि किसी तरह उनकी बातचीत फ़िलहाल रोक दी जाये तो कैसा रहे? ऐसा न हो कि उन सभी दिल पिघलाने वाली और दिल दुःखाने वाली बातों को दोबारा अपने शब्दों के माध्यम से जीवित करने में उनके जीवन पर कुछ आँच आये। उन्होंने सवाल भरी आँखों से कल्पना को देखा और उन्हें हैरत हुई कि वह भी रो रही थी। आँसू उसके गालों पर ढलक आये थे लेकिन वह उन्हें पोंछने की भी रहमत नहीं करना चाहती थी। इस बीच कल्पित ऋषि का बयानीया जारी थाः

'...मैं इस व्याकुल अवस्था में नहीं जीना चाहता। जी ही नहीं सकता। ये सब मेरे उपार्जन, या मेरी दूरवर्ती दुनियाओं के रूहानी सफ़र, मेरे कोई काम नहीं आयेंगे? मैंने सारे माहौल से खुद को अलग कर

लिया। बन्द आँखों को खोल दिया। अब वे आँखें मृत और प्रकाशहीन थीं। सारी ज्योति, सारी सृजन-शक्ति मेरे मस्तिष्क में केन्द्रित हो गयी थी। नारी के शरीर, उसकी सुन्दरता, उसके हुस्न के स्वभाव के बारे में जो कुछ मैंने देखा और समझा और जिसकी कल्पना की थी, वह सब मेरे वश में था। बस जान डालने की देर थी। मुझे नहीं मालूम कि मुझे कितनी देर लगी, लेकिन एक दिन या शायद एक रात मेरी आँखों की ज्योति वापस आ गयी और कल्पना मेरे सामने खड़ी थी'।

वामन वशिष्ठ के मुँह से निकला, 'यही कल्पना'? ये तो... ये तो जीवित हैं....? बिल्कुल जीवित। उनके खून की गर्मी, उनकी साँसों की धड़कन, मैं यहाँ से भी सुन सकता हूँ'!

कल्पना अचानक बोल उठी, 'महाराज! और यह पानी का चश्मा, ये मछलियाँ, जो आपके सामने हैं, ये जीवित नहीं हैं क्या? क्या आपकी मति बिल्कुल ही मारी गयी है'? वह थोड़ी-सी हँसी हँसकर बोली, 'शायद अभी कुछ ज़्यादा सफ़र नहीं किया है। संसार को आपने बहुत कम देखा है। अचानक वह बिफर कर बोली, 'हाँ, इसी जीवन ने तो मुझे तबाह कर डाला। आप किस ख़याल में हैं और किस दुनिया के वासी हैं?

कल्पित ऋषि ने यह सब शायद सुना ही नहीं। वे कह रहे थे, 'मैंने इसे वाक्-कला और वैचारिक सतह पर भी निपुण बनाया था। हृदय, मस्तिष्क और बाकी सभी महत्वपूर्ण अंग तो थे ही। लेकिन मुझे यह ख़बर नहीं थी, या शायद थी, लेकिन मैं अपने अति लोभ के कारण इस बात की उपेक्षा कर गया कि अगर दिल है तो जहाँ वह सारे जिस्म में खून दौड़ाता है, वहाँ वह भावनाएँ और दर्द और आवश्यकताएँ भी पैदा करता है। सब कुछ जानते हुए मैं इस दिल में जो माँस का एक टुकड़ा है और उस दिल में अन्तर करना भूल गया था, जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है, जिसे कमी, ज़्यादती, रूह की भूख और जिस्म की प्यास का भी एहसास होता रहता है।

कल्पना कुछ कहना चाहती थी, लेकिन कल्पित ऋषि उस वक़्त उस भाव में थे कि देव और राक्षस भी हस्तक्षेप करने की हिम्मत नहीं करते।

मेरी आँखें देखते ही वह बोली, 'मैं कौन हूँ'?

मुझे उत्तर नहीं सूझा तो उसने दूसरा सवाल कर दिया, 'मेरा नाम क्या है'?

'तुम्हें मैंने बनाया है। तुम्हारा अभी कोई नाम नहीं है'।

उसके माथे पर नाराज़ी की शिकन नज़र आयी तो मैंने बिना सोचे-समझे कह दिया, 'तुम कल्पना हो।'

अच्छा तो फिर आप कौन हैं? हैं भी कि नहीं?

मैं हूँ लेकिन मेरा कोई नाम नहीं है। माँ-बाप ने अगर कोई नाम मुझे दिया था तो मैं उसे भूल चुका हूँ।

अच्छा, अगर मैं कल्पना हूँ तो आप कल्पित हैं। वह झट से बोली। हिसाब बराबर।

कल्पित भी अच्छा नाम है। मैंने कुछ असमंजस के बाद उसकी पसन्द को अपनी पसन्द बना लिया।

मुझे क्या करना होगा? मैं किस लिए बनायी गयी हूँ?

तुम्हारा कोई काम नहीं। तुम इस गुफा को अपनी लहरिया चाल से रौशन करो, अपनी मुस्कुराहट से लालिमा लाओ, अपनी आवाज़ से पशु-पक्षियों को और मुझे भी महसूस करो।

मुझे यह सब कुछ नहीं आता। वह इठला कर बोली। न मुझे खाना पकाना आता है, न मैं आपकी चादर में पैवन्द लगा सकती हूँ, न मैं रात को गीत सुनाकर आपको सुला सकती हूँ। और गाना तो मुझे बिल्कुल ही नहीं आता'।

ठहरो, ज़रा ठहरो। संगीत मैं तुम्हें दिखाऊँगा, तुम्हारी आवाज़ को परिन्दों की चहचहाहट से, ठण्डी हवाओं से हम आहंग होना, मैं तुम्हें सिखलाऊँगा। तुम्हें बस मेरे लिये ज़िन्दगी की रौनक़ बनना होगा।

अब कल्पना से नहीं रहा गया, 'जी हाँ, आपने मुझे सब कुछ सिखाया, सब कुछ बनाया, लेकिन कभी मुहब्बत की निगाह से नहीं देखा...'

मुहब्बत की निगाह? कल्पित ऋषि ने कुछ चकित होकर पूछा।

आप दिमाग़ की, दिल की, हक़ीक़त जानते हैं। अभी आपने खुद ही कहा। फिर इस दिल के तक़ाज़े भी जानते होंगे। कल्पना तेज़ लहजे में बोली। मुझे किसी की भी ज़िन्दगी की रौनक़ नहीं बनना। मेरी भी कोई ज़िन्दगी है? मेरी ज़िन्दगी की रौनक़ कौन बनेगा? कौन बन सकता है? क्या मैं कोई बेजान खिलौना हूँ?

अब कल्पना के आँसू नदी की तरह बह रहे थे। वशिष्ठ तो एक तरफ़ रहे, कल्पित ऋषि को भी लब खोलने की हिम्मत नहीं थी।

आपने इतना कुछ ज्ञान हासिल किया लेकिन यह नहीं जाना कि चाहत के बग़ैर कुछ नहीं? मुझे चाहने वाला तो कोई आपने बनाया नहीं। और क्यों बनाते? आपको अपनी दिलचस्पी के लिए गुड़िया बनानी थी और आपने अधूरा प्राणी पैदा कर दिया और उस पर आपको प्रकृति को जीतने का, सृष्टि को वशीभूत करने का जुनून था? नहीं, क्षमा कीजियेगा, आप तो सृष्टि के सृजन का दावा रखते थे'?

वशिष्ठ ऋषि को लगा, वे अचानक नींद से जाग गये हैं। उन्होंने आँखें मल कर देखा। सब कुछ तो वैसा ही था, वहीं था। लेकिन उन्हें यह वहम क्यों हो रहा था जैसे कुछ बदल गया है, या बदलने वाला है? योग वशिष्ठ (जिसके नाम से उन्होंने अपना नाम रखा था, यानी उनके दोनों नाम उधार लिए हुए थे) में तो

लिखा है कि सब कुछ इंसान के मस्तिष्क में है और वह यथार्थ, या वह अस्तित्व, जो इंसान अपने मस्तिष्क में और फिर अपने मस्तिष्क से जागृत करता है, उसमें पहाड़ की ऐसी चोटियाँ, ऐसे कोहसार भी हैं, जो लचकदार हैं। उन्हें बढ़ाया जाये तो पता लगता है कि एक अथाह, अनन्त सिलसिला है, जिसमें सब कायनातें लिपटी पड़ी हुई हैं। तो क्या ये प्याज के छिलके की तरह हैं, या प्याज के छिलके ही हैं। मगर यह कल्पना तो समझती है कि सब कुछ यथार्थ है। एक में एक बँधा हुआ या मिला हुआ नहीं है। हर इंसान अपनी जगह पर यथार्थ है। मगर मुझे क्या ख़बर, मुझे क्या ज्ञान? अभी तो मैंने वामन अवतार का पहला क़दम भी नहीं पूरा किया है। मैं तो कहीं अधर में लटका हुआ हूँ। यूँ कहें कि मैं अभी नींद ही में हूँ। मैंने तो अभी नींद और स्वप्न के क्षेत्र की तरफ़ क़दम भी नहीं बढ़ाये हैं। कल्पना और कल्पित जिन रहस्यों से वाक़िफ़ हैं, मुझे उनकी भनक भी नहीं मिल सकी है। कल्पना को तो कल्पित ने बनाया है, यह बात वह खूब जानती है। लेकिन मुझे किसने बनाया, इस सवाल के जवाब का साया भी मुझ तक अभी नहीं पहुँचा। मुझे कल्पित ने अपनी शक्ति के बल-बूते पर खींच बुलाया था। लेकिन मुझे लगता है, यह यात्रा भी...

मगर कुछ बदल ज़रूर गया है, मुझे यक़ीन है। या मैं ही कुछ बदल गया हूँ। कुछ नहीं, बहुत कुछ। वामन वशिष्ठ ने इधर-उधर नज़रें दौड़ायीं। क्या कोई नया व्यक्ति उधर आने वाला है? क्या वह कल्पित ऋषि से भी ज़्यादा शक्तियों का मालिक है? मगर क्या कल्पित ऋषि की शक्तियाँ उनके लिए ख़ास हैं, और क्या हरेक में पायी जाती हैं? और शक्ति है क्या? क्या निजात और निर्वाण की राह, जिसे योग वशिष्ठ में मोक्ष पाया (राह-ए-आज़ादी) कहा गया है, सबके लिए है? यानी क्या हम में से कोई भी इस राह पर चल सकता है, अगर उसे राह का सिरा, यानी उसका पहला क़दम मालूम हो? लेकिन यह मोक्ष क्यों अनिवार्य है? हमें किसी ने यहाँ (या कहीं भी) क़ैद किया और फिर निजात की राह ढूँढ़ने के लिए आमन्त्रित किया? क्या कल्पित ऋषि को निर्वाण की राह मिल गयी है? और कल्पना को?

अभी वे इन सवालों में उलझे हुए थे कि उन्होंने देखा, कल्पना के सिर के चारों तरफ़ कुछ आग के-से शोले हैं। क्या ये कल्पना के सिर से उठ रहे हैं? या कोई नयी आग है? पलक झपकते ही उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि चश्मे में पानी की लहरें नहीं हैं, आग की लपटें हैं। और ये लपटें शोले बनकर हर तरफ़ लपक रही हैं। देखते ही देखते वे शोले मानो ज़िन्दा होकर गुफ़ा में हर तरफ़ दौड़ने लगे। गुफ़ा के आखिरी सिरे जो आसमान था, (या जो छत थी?) उस पर जगमगाने वाली, डराने वाली बेचैन कर देने वाली सारी दुनियाएँ, सब जंगल और वीराने, सब सागर और सब आसमान, जलने लगे। सिर्फ़ कल्पित ऋषि और कल्पना अपने-अपने ध्यानों में डूबे हुए थे जैसे कुछ बदला ही नहीं है। या शायद उन्हें आग की गर्मी अभी तक पहुँची नहीं थी।

वामन वशिष्ठ ने लड़खड़ाते हुए, क़दम पीछे हटाये। वह आग शायद उनका पीछा कर रही थी। नहीं, सारे शोले अभी तक उसी गुफ़ा में सीमित थे। अचानक उन्होंने महसूस किया उनके अन्दर से कुछ कम हो

गया है। उन्होंने अपने शरीर को टटोला। कुण्डलिनी, जिसे वे हमेशा करधनी की तरह कमर से बांधे रहते थे, वह साँप ग़ायब था।

जैसे किसी ने दिन-दहाड़े उनकी आँखों पर काली पट्टी बाँध दी हो। उन्हें आग की गर्मी और उसकी चमक तो महसूस हो रही थी, लेकिन नज़र कुछ नहीं आया। यह भी समझ में नहीं आया कि वे गुफा के बाहर हैं या अन्दर हैं। एक बार उन्हें ऐसा लगा कि वह आग गुफा से बाहर निकल कर उनके अस्तित्व पर छा जाने वाली हो। उन्होंने घबराकर एक और क़दम पीछे हटाया और अपना चेहरा हाथों में छुपा लिया। क्या यही अंजाम है? क्या इसी को निजात, निर्वाण, मोक्ष कहते हैं?

न मालूम कितनी देर हो गयी। उन्होंने हिम्मत करके आँखें खोलीं तो वहाँ कुछ भी नहीं पाया। आग ने सब निगल लिया था या ख़ाक कर दिया था और पर्वती बर्फीली हवा अचानक गर्म आँधी बनकर सब कुछ उड़ा ले गयी थी? न कल्पना, न कल्पित ऋषि, न वह पानी का चश्मा, न वे मछलियाँ। न वह ख़ाक न पथरीली चट्टानें, न गुफा की गहराइयाँ, जहाँ तक नज़र जाती थी, एक ऊँची पहाड़ी थी, जो दूर किसी ढलान में गुम थी और वह जीवनदायिनी नहर, जो इस सबका स्रोत थी? वे खुद से शर्मिंदा हुए। उन्हें अपने ही अस्तित्व का स्रोत पता नहीं था और अब वह नाग भी उन्हें छोड़ गया था। उन्हें किसी और अस्तित्व के सच्चे या झूठे होने का सवाल उठाने का अधिकार ही क्या था?

एक ज़माने में उन्हें सूफ़ियों के कुछ हल्कों में उठने-बैठने का मौक़ा मिला था। उनमें से एक सूफ़ी का कहना था कि हर क्षण अस्तित्व है और हर क्षण मृत्यु है। तो फिर ऐसी सूरत में किसी निश्चित हस्ती के स्रोत की तलाश व्यर्थ थी।

वशिष्ठ ऋषि ने थके हुए क़दमों से नीचे उतरना शुरु किया। अब वह हरियाली थी न झरना, न वेसरू और देवदार के पेड़। रास्ता ऊबड़-खाबड़ था, जैसा कि पहाड़ों में होता ही है। वे ज़रा और नीचे उतरे, मौसम कुछ गर्म हो चला था। गुफा के आसपास तो बहुत ठण्डा मौसम था और उसके ज़रा ऊपर हर जगह बर्फ़ बन्दी थी। यहाँ सूरज तो अभी उन्हें दिखायी देता था लेकिन आसमान दूर-दूर तक नीला था। वे उतरते गये। सहसा उन्हें शक हुआ कि कहीं कोई चीज़ चमक रही है। इधर-उधर तो कुछ भी नहीं था। ऊपर ऊँचा पहाड़ था। नीचे, जहाँ वे खड़े हुए थे, मुश्किल पहाड़ियाँ उतरती चली गयी थीं। उन्होंने हिम्मत करके बायें तरफ़ की कगार पर से झाँकना चाहा। उनका सिर चकराने लगा। नहीं, कुछ भी नहीं था। फिर उन्होंने दो क़दम उतरकर दायीं ओर देखा। हरा सुनहरा रंग चमक रहा था। उन्होंने नज़रें जमाने की कोशिश की और देखा कि बहुत कुछ नीला रंग भी था। यह तो मोर था। वही मोर तो नहीं जो कल्पित ऋषि ने बनाया था? आमतौर पर मोर इतनी ऊँचाई पर नहीं पाये जाते। ऐसा लगता था कि यह वही मोर था, किसी कारण से उसकी उड़ने की सामर्थ्य ख़त्म हो गयी तो वह घाटी की दरार में उतर गया। शायद दम लेने के लिए लेकिन फिर वह उस दरार से बाहर नहीं आ सका, शायद पर फैलाकर उड़ जाने की जगह नहीं थी।

क्या कल्पना और मछलियों से भरी नहर की तरह वह मोर भी कल्पित ऋषि की राह चलने पर मजबूर हो गया था?

वामन वशिष्ठ के गालों पर दो क़तरे बह निकले। धुँध हर तरफ़ बहुत तेज़ी से छायी जा रही थी। भारी दिल के साथ उन्होंने टटोल-टटोलकर क़दम रखना शुरु किया। थोड़ी देर बाद धुंध ने उन्हें बिल्कुल ग़ायब कर दिया।

इलाहाबाद, फरवरी - अप्रैल २०१६

परिशिष्ट भाग

सन् २०१६ में मुहम्मद हसन अस्करी की पैदाइश को सौ साल हो गये। मैंने यह कहानी (या आप चाहें तो इसे कोई और नाम दे लें) अस्करी साहब को श्रद्धांजलि के तौर पर लिखना शुरू किया था, लेकिन जैसे-जैसे कहानी की सूरत बनती गयी, मुझे महसूस हुआ कि अस्करी साहब इसे पसन्द नहीं करते, क्या कहानी के तौर पर क्या किसी तरह की लाक्षणिक रचना के तौर पर। लेकिन मुझे तो लिखना वही था जिसकी आवश्यकता मेरे दिल-ओ-दिमाग़ में थी। कई बैठकों में यह कहानी पूरी हुई। अब जैसी भी है, आपके सामने है।

इस कहानी को गति देने में इक़बाल का बहुत-सा कलाम नुमायाँ हैसियत रखता है। मैं इक़बाल से कहाँ और किस तरह लाभान्वित हुआ हूँ, वह सब कुछ कहानी में साफ़ नहीं। और आज के इक़बालपरस्त दौर में तो शायद बिल्कुल न दिखायी दे, लेकिन सरनामे के तौर पर 'बाले जिब्रील' का एक शेर ज़रूर पहुँचा न जा सकेगा।

इस कहानी को एक़दम गतिमान करने में सबसे नुमायाँ एरिक हंटिंग्टन की एक क़िताब और उस पर मेरे दोस्त डेविड शुलमन की समीक्षा है, जो 'न्यूयॉर्क रिव्यू ऑफ़ बुक्स' में छपी थी। हंटिंग्टन की क़िताब 'यूनिवर्सिटी ऑफ़ वाशिंगटन प्रेस' ने प्रकाशित की है और उसका नाम है, 'क्रिएटिंग दि यूनिवर्स, डिपिक्शन ऑफ़ दि कॉस्मॉस इन हिमालयन बुद्धिज़्म'। जैसा कि नाम से ज़ाहिर है, यह क़िताब हिमालयी बुद्ध मत में प्रचलित ब्रह्माण्ड-विज्ञान से बहस करती है। मैंने इसे यहाँ-वहाँ से पढ़ा। इसमें बहुत-सी बातें ऐसी मिलीं, जो आधुनिक मनुष्य की वैचारिक उलझनों और आन्तरिक कशाकश की तरफ़ इशारा करती हैं और असल में सोचने का निमन्त्रण भी देती है।

इस कहानी में बहुत कुछ मेरा गढ़ा हुआ है। जिस तरह से भी पढ़ें, यह कहानी ही है, कहानी के सिवा और कुछ नहीं। मैं इसे मुहम्मद हसन अस्करी की आत्मा की सेवा में श्रद्धा-सुमन के तौर पर पेश करता हूँ।

श.फ़ा.

इस कहानी का अनुवाद करने में मुझे अलग-अलग जगहों पर सहयोग आदरणीय शमीम हनफ़ी साहब, श्री अतहर फ़ारूक़ी, श्री तालीफ़ हैदर, श्री अशरफ़ चौधरी, श्री दानिश हुसैन और श्री मुशर्रफ़ अली फ़ारूक़ी से मिला है। इन सभी का जितना भी आभार व्यक्त किया जाए कम ही होगा।

अनु., अक्टूबर २०२०

एक ख़ंजर पानी में

ख़ालिद जावेद

उर्दू से अनुवाद : रिज़वानुल हक़

ज़ीनू के नाम

सुबहे-क़यामत एक दुम गुर्ग थी असद
जिस दश्त में वो शोख़े दो आलम शिकार था

मिर्ज़ा ग़ालिब

पाठक की पैदाइश उस वक़्त होती है, जब लेखक की मौत हो जाती है।

- रोलाँ बार्थ

इंसानों के ज़रिए किये गये तमाम काम असमलैंगिक, असम्बन्धित, नामुनासिब और बे मौक़ा होते हैं। चाहे वो शाइर और लेखक हों या व्याकरण के विद्वान।

- हरमैन ब्रोख़

छन्द से ख़ाली कोई शब्द नहीं होता और न ही शब्दों से ख़ाली कोई छन्द।

- नाट्यशास्त्र

ये यक़ीनन मौत की तीसरी क़िताब है जिसको हाज़िरे ख़िदमत करते हुए मैं बस दो या तीन बातें कहना चाहता हूँ। सबसे पहले तो ये कि मेरी तमाम पिछली तहरीरों की तरह इस क़िताब में भी वही ख़राबियाँ मौजूद हैं जिनकी काफ़ी शोहरत रही है। बल्कि मुमकिन है इस बार पहले से कुछ ज़्यादा ही हों। दूसरी बात ये है कि ज़ुबान का एक काम चीज़ों की नुमाइन्दगी करना ज़रूर है। मगर किसी भी रचनात्मक आख्यान में शब्द महज़ बाह्य या आन्तरिक सच की नुमाइन्दगी नहीं करते। वरना इस तरह तो हर कला एक दूसरे दर्जे की वस्तु बन कर रह जाएगी। यानी नुमाइन्दगी करने का महज़ एक माध्यम रचनात्मक भाषा

में शब्द आपस में मिलकर जो आख्यान रचते हैं, उसे अपने आपमें एक मुकम्मल और पूर्ण दुनिया होना चाहिए। आत्म निर्भर और स्वोद्देश्य सच्चाई। मेरे लिए परेशानी का कारण यही है क्योंकि इंसानों के शब्द परछाइयों की तरह होते हैं और परछाइयाँ रोशनी के बारे में हमें कुछ नहीं समझा सकतीं। रोशनी और परछाई के दरम्यान की एक धुँधली सतह होती है जहाँ से लफ़्ज़ पैदा होते हैं। भाषा की ये दो सरहदें जहाँ मिलती हैं वहाँ खींची गयी एक लकीर पर मेरी तहरीर अकेली और बे यार-ओ-मददगार भटकती रहती है। अपने मानी की तलाश में जो भाषा के इस दो मुँह वाले रहस्यमय साँप जैसे रवैय्ये की वजह से कभी एक स्थान पर नहीं ठहरते। मुमकिन है कि इस क़िताब में ये समस्या ज़्यादा गम्भीर हो। तीसरी और आख़िरी बात ये कि यहाँ उर्दू के प्रमाणित शब्दकोष, व्याकरण,... वग़ैरा को अमान्य तो नहीं किया गया है, मगर हर जगह बहुत सख़्ती से पाबन्द भी नहीं रहा गया है। इसलिए कि ये क़िताब दर अस्ल बहते हुए वक़्त और पानी की क़िताब है।

- ख़ालिद जावेद

आदत हमें फ़ुरसत फ़राहम करती है और हम सुरक्षित हो जाते हैं। आदत हमें संवेदनशील नहीं रहने देती। आदत संवेदनशीलता की दुश्मन है।

- जे. कृष्णमूर्ति

किसी भी फ़नपारे को समझने से ज़्यादा उसको महसूस करना चाहिए, जहाँ तक समझने की बात है हम गणित के एक सवाल तक को नहीं समझते हैं, और न ही महसूस करते हैं। हम वहाँ पहले से कुछ फ़र्ज़ कर लेते हैं। और सवाल हल करने का अभ्यास करते रहते हैं। फिर ये अभ्यास हमारी आदत बन जाती है। हम हर समस्या से आदतन गुज़रना सीख जाते हैं।

- बर्गमैन

तो इस तरह दुनिया ख़त्म हो जाएगी। धमाके के साथ नहीं, बल्कि एक कमज़ोर सिसकी के साथ।

टी. एस. ईलियट

सुबह के ठीक आठ बजे सरहाने लगे हुए एलार्म ने उसे जगा दिया। सर दर्द से फटा जा रहा था। वह आँखें मलते हुए उठ खड़ा हुआ। खिड़की के परदे से शीशा सरकाया। बाहर वही पीली-पीली-सी धुँध था। तीन दिन पहले एक धूल भरी, पीली आँधी आयी थी मगर फिर यहीं आकर रुक गयी, आगे नहीं गयी। अब हवा बिलकुल बन्द थी मगर आँधी का ग़ुबार ठहरा रहा। अगर बारिश हो जाती तो ये ग़ुबार धुल जाता मगर बारिश का दूर तक पता न था। कुछ चीज़ें ऐसी ही होती हैं। वह एक जगह पहुँच कर रुक जाती हैं, वह जिन पहियों पर सफ़र करती हैं वह जाम हो जाते हैं।

ये बड़ा मनहूस मौसम होता है, ये बड़ा हब्स पैदा करता है। उसने कहा। हर मौसम ख़राब होता है। उसकी बीवी उकता कर बोली। वह कमरे से निकल कर सीधा ट्रॉयलेट में चला गया। आठ मिनट बाद, ठीक आठ मिनट बाद उसने फ़्लश की ज़ंजीर खींची। पानी के रेले की गड़गड़ाहट के साथ नाक़ाबिले बरदाश्त बदबू का रेला भी आया। उसने घबराकर नाक बन्द कर ली। फिर नाली बन्द हो गयी। उसने सोचा, सड़ान्ध ही सड़ान्ध है। उसके सर के दर्द में और भी इज़ाफ़ा हो गया। बाहर आया, वॉश बेसिन पर झुक कर कुल्ली करने लगा। मुँह कुछ नमकीन हो गया और ज़ुबान कड़वी। दाँत किरकराने लगे। वह बड़बड़ाने लगा। कई दिन से रात में सो नहीं पाता। मुँह के ज़ायक़े का सत्यानाश होकर रह गया। सोओगे भी तो कैसे? आधी आधी रात को तो उठ कर मेरे ऊपर चढ़ने की कोशिश करते हो। तुम चढ़ने देती हो? हो भी इस क़ाबिल? मेरा क्या यही उपयोग रह गया है, क्या मैं कोई काई लगी चट्टान हूँ कि तुम चढ़ते रहो और फिसलते रहो बल्कि फिसलों कुछ ज़्यादा ही। कड़क चाय बना कर लाओ। रात में बताऊँगा चाय लाओ, फिर मैं जाऊँ नहाने, जल्दी आफ़िस पहुँचना है। उसने कहा, दफ़्तर जाकर करते क्या हो, एक पैसे की कमाई नहीं। बीवी रुखाई से बोली। अच्छा, इतने ऐश तो कर रही हो। ऐश? इतना बजट तो बढ़ा नहीं सके कि एक बच्चा ही पैदा हो जाता। यही रट लगा रखी है कि अभी नहीं। तीन साल हो गये, शादी को, इस मनहूस शादी को। देख लेना मैं जल्दी ही इस उम्र से निकल जाऊँगी। चाय, मैंने कहा ना कि चाय की प्याली। गर्म, बहुत गर्म। आज मौसम बहुत ख़राब है। बीवी पैर पटकती हुई रसोईघर की तरफ़ जाने लगी। तुम्हारे हाथ के बनाये हुए मकानों के नक़्शे किसी को एक आँख नहीं भाते। कोई उन्हें पसन्द नहीं करता। पता नहीं कैसे आर्किटेक्ट हो। हो भी या जाली डिगरी है। ऊपर से आफ़िस खोल कर बैठे हैं। ग्लोबल कंस्ट्रक्शन कम्पनी, हुँह। वो उसे किचन में इधर उधर चलता फिरता देख रहा था। उसकी चाल में उत्तेजना थी। वह ज़हरीले अन्दाज़ में मुस्कराने लगा।

•••

ये एक छोटा-सा शहर है। आस-पास के छोटे छोटे गाँवों से घिरा हुआ। शहर के इलाक़े से वह राजमार्ग बहुत नज़दीक है जो मुल्क के पश्चिमी क्षेत्र को पूर्वी क्षेत्र से मिलाता है। इस शहर में या तो मालदार बनिये हैं जिनकी औलादें डोनेशन के ज़रिए डिगरी पास कर करके अपने क्लिनिक और नर्सिंग होम खोलती जा रही हैं। या फिर कामगार और मामूली कारीगर हैं, बढ़ई, दर्ज़ी, कढ़ाईकार और राजगीर तो यहाँ के दूर दूर तक मशहूर हैं। यहाँ का सुर्मा और फ़र्नीचर विदेशों तक जाता है। ये एक साफ़ सुथरा शहर है। (अब तो ख़ैर सारे शहर में खुदाई का काम चल रहा है।) और मज़हबी उदारता व अम्न ओ अमान के लिए भी पूरे राज्य में शोहरत रखता है। यही कारण है कि ज़िले के सारे बड़े अधिकारी अपनी मुलाज़िमत से सेवा निवृत्त होने के बाद मुस्तक़िल तौर पर यहीं बस जाना चाहते हैं। इसलिए शहरी तरक़्क़ी के नाम पर पिछले पाँच छह सालों से यहाँ कई क़ीमती प्रोजेक्ट पर काम चल रहे हैं और बिल्डर माफ़िया शहर में रोज़ ब रोज़

मज़बूत होता जा रहा है। कई छोटे छोटे गाँवों की ज़मीनें कट कट कर कालोनियों में बदल चुकी हैं। शहर फैलने लगा है और आसपास के इलाक़ों में दूर तक फ़्लैट बनते हुए नज़र आते हैं। उनके चारों तरफ़ कई शापिंग माल भी खुल गये हैं और कुछ फ़ैक्ट्रियाँ भी जो लोकल सियासी कशमकश का अच्छा नतीजा है। उन्हीं में वो मशहूर गोश्त फ़ैक्ट्री भी है जहाँ आधुनिकतम मशीनों के ज़रिए बड़े जानवर ज़िबह किये जाते हैं और उनके गोश्त की, अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के मुताबिक़ उम्दा पैकिंग की जाती है और उसे न सिर्फ़ मुल्क के दूसरे हिस्सों में बेहद एहतियात, सफ़ाई और सेहत के सरंक्षण के उसूलों का ख़्याल रखते हुए पहुँचाया जाता है बल्कि कई खाड़ी देशों को निर्यात भी किया जाता है। ज़िबह में निकले हुए ख़ून को मशीनों और पाइपों के ज़रिए ज़मीन के अन्दर पहुँचा दिया जाता है। साफ़्ट और कोल्ड ड्रिंक बनाने वाली मशहूर कम्पनियों ने भी अपनी अपनी फैक्ट्रियाँ शुरू कर दी हैं जहाँ उन पेयों का ड्राई फ़ारमूला पावडर की शक्ल में तैयारशुदा रूप में भेजा जाता है मगर पानी नहीं। पानी को स्थानीय स्तर पर ही फ़राहम किया जाता है। आउट सोर्सिंग और सरमाया कारी का ये एक मुनाफ़ा बख़्श कारोबार है। इसके अलावा तालीम के निजी सेक्टर में शामिल किये जाने के बाद से यहाँ इन्जीनियरिंग, मेडिकल और मैनेजमेण्ट कालेज बहुत बड़ी तादाद में खुलते जा रहे हैं। ये शहर छोटा है और फैलाव बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए जंगल, खेत, तालाब और झीलें सब सीमेंट के घरौंदों में तब्दील होते जा रहे हैं। यही नहीं जगह जगह फ़्लाई ओवर बनाये जा रहे हैं। इसलिए पिछले कई सालों से ये पूरा शहर उधड़े हुए स्वेटर की तरह नज़र आने लगा है। सड़कें गलियाँ सब खुदी हुई नज़र आती हैं। चलने वालों को इसी मलबे से बच कर निकलना होता है। चाहे उन्हें अस्पताल जाना हो या कचहरी या फिर सड़क किनारे खड़े होकर गोल-गप्पे ही क्यों न खाने हों। बहुत संभल कर चलना होता है। कहीं भी कोई गड्ढा रास्ते में आ सकता है जिसमें कीचड़ और पानी भरा हो। गड्ढे में गिरकर कोई भी अपने हाथ पैर तुड़वा सकता है या फिर सड़क के बीचो-बीच डाली जा रही सीवर लाइन के खुले हुए मैन होल पल भर में किसी के पेट से निकली हुई आँत या केंचुए की तरह आपको शहर के दूसरे हिस्से पर बहने वाली क़िले की नदी के किनारे पर बनी बायो गैस के प्लान्ट में पहुँचा कर जहन्नम रसीद कर सकती है। इन नयी बनी हुई कालोनियों तक जाने के लिए आपको इतना होशियार तो रहना ही पड़ेगा। चाहे आपके पास बाइक हो, साइकिल हो या रिक्शा हो मगर सबसे ज़्यादा ख़तरा तो पैदल ही चलने वालों को उठाना पड़ेगा और अगर इत्तिफ़ाक़ से बारिश हो रही हो, फिर तो कहना ही क्या।

ये भी एक नयी सोसाइटी बन कर तैयार हुई है। तीन मंज़िला फ़्लैटों की। इसका नाम लाइफ़ अपार्टमेन्ट है। इस कालोनी के सारे मकान बाहर से पीले रंग से पुते हुए हैं और मकान के अन्दर बाहर के रंग से कुछ कम पीला रंग किया गया है। पिछले आठ सालों से यही रंग फ़ैशन में है और आर्किटेक्ट मकानों के नक़्शे तैयार करने के बाद इस रंग की सिफ़ारिश करता है। उसका ख़्याल है कि मकानों के डिज़ाइन से इसी रंग का एक ख़ास सम्बन्ध है। इस रंग का फ़िलहाल एक फ़ायदा यह भी है कि बाहर फैली हुई पीली धुन्ध की वजह से ये छोटे फ़्लैट कुछ फैले हुए और लम्बे चौड़े नज़र आने लगे हैं। एक छोटा-सा पार्क। चन्द ज़रूरी सामान की दुकानें और हर वक़्त यहाँ तक कि दिन में भी रौशन नियोन लाइट्स। ये वह बातें हैं

जिनसे लाइफ़ अपार्टमेन्ट की तश्कील ओ तामीर होती है। ये जिस ज़मीन पर बनी है वह पहले एक तालाब थी, जिसे पाट पाट कर और मिटटी डाल डाल कर सूखी ज़मीन में बदल दिया गया है। तालाब के किनारे कभी एक बहुत पुराना क़ब्रिस्तान भी हुआ करता था जिसकी क़ब्रें न जाने कब की धंस चुकी थीं और अब वह एक बड़े से गड्ढे में बदल चुका था। एक ज़माने से इस क़ब्रिस्तान में कोई फ़ातिहा तक पढ़ने नहीं आता था। और न ही कोई मुर्दा दफ़्न होने। चन्द साल पेशतर तक कुछ आसेबी कहानियाँ भी इस जगह से मानी जाती थीं। मगर अब शहरी योजना बन्दी और तरक़्क़ी की शानदार और जगमगाती हुई रौशनियों ने अन्धविश्वास, ख़ौफ़ और दहशत को हमेशा के लिए अपने अन्दर निगल लिया था। अब शायद ही किसी को ये भी याद रह गया हो कि उस तालाब से मिली हुई एक बहुत छोटी और पतली-सी नदी भी बहा करती थी और इस तरह की कालोनियों में बने हुए मकानात की बुनियादें इंसानी पिंजरों और हड्डियों की राख और चूने पर टिकी हुई थीं। वैसे भी इस क़िस्म की बातों को याद करना या याद रखना दोनों ही सिरे से बेतुका था। और किसी हद तक अनैतिक भी क्योंकि नैतिक मूल्यों का सम्बन्ध हमेशा अपने ज़माने से हुआ करता है। 'ज़माने' को तो बुरा कहा ही नहीं जा सकता, मुमकिन है कि ज़माना ही ख़ुदा हो। और ये ज़माना एक दूसरी और वैकल्पिक नैतिकता गढ़ रहा था।

लाइफ़ अपार्टमेन्ट में बिजली का कनेक्शन तो बहुत जल्द हो गया था। मगर पानी की क़िल्लत अभी भी किसी हद तक मौजूद थी। ज़िला जल बोर्ड का पानी चौबीस घण्टे में सिर्फ़ दो बार आता था जिसका कोई वक़्त तै न था। इसलिए उसे स्टोर करके रखना पड़ता था। पानी के स्रोत पूरी दुनिया में तेज़ी से कम होते जा रहे हैं। अगले सौ साल में हमें पानी के बग़ैर ख़ुशदिली के साथ ज़िन्दा रहना सीखना होगा और इंसान की नस्ल को पानी का कोई बदल ढूँढना होगा। सोसाइटी की प्रबन्धन समिति ने अपना बोरिंग अलग से करवा रखा था मगर बोरिंग का पानी बहुत खारा था और उसमें कैलशियम मैगनीशियम, सोडियम और पोटेशियम की मात्रा ख़तरनाक हद तक थी। इस पानी में रेत और मिट्टी कण भी मिले हुए थे जिनकी वजह से पानी का रंग धुंधला और मटियाला था। ज़ाहिर है इस पानी को पीना मुश्किल भी था और ख़तरनाक भी। ख़ास तौर से गुर्दों और फेफड़ों के लिए। बोरिंग के पानी को उबालकर या छान कर बल्कि आर ओ के ज़रिए भी आलूदगी दूर नहीं की जा सकती थी। ये पानी सिर्फ़ ट्वॉयलेट और किसी हद तक नहाने या कपड़े धोने में ही बहालते मजबूरी इस्तेमाल किया जा सकता था। ऊपर से तुर्रा ये कि हर दो तीन महीने के बाद बोरिंग बन्द हो जाया करता था। और फिर नये सिरे से कोई दूसरी जगह तलाश करके वहाँ की ज़मीन को खोदना पड़ता और बोरिंग कराना पड़ता। मगर मोहल्ले के ज़लील और निचले वर्ग के लोगों के दरमियान रहने से कहीं बेहतर था कि हर शरीफ़ आदमी को इस तरह की नयी कालोनियों में आकर बस जाना चाहिए। यहाँ इतनी रौशनी थी, इतना सुकून था और बुलन्द समाजी मक़ाम था। सबसे बढ़ कर ये कि यहाँ शरीफ़ों के बच्चों को खेलने के लिए अच्छे अच्छे पार्क हैं और वह अब मोहल्ले के घटिया लोगों के बच्चों के साथ खेल कर बिगड़ेंगे नहीं। अब रहा वह ज़र्द गुबार और रही वह पीली धुन्ध तो जहाँ नयी तामीर होती है वहाँ ये गुबार और मलबा होना लाज़मी है। इस गुबार को देखा ही क्यों जाए। ज़मीन खोदी जा रही है।

उसमें गड्ढे किये जा रहे हैं। चारों तरफ़ मिट्टी उड़ रही है या फिर कव्वे। इस गुबार को देखा ही क्यों जाए, इन कव्वों की काँय काँय सुनी ही क्यों जाए। आँखों पर काला चश्मा लगा लिया जाए और घर से निकलने से पहले और घर पहुँचने के बाद अच्छी तरह मल मल कर नहा लिया जाए। बस इतना ही तो करना है। अपार्टमेण्ट के तक़रीबन तमाम लोग बच्चों के साथ काला चश्मा लगाकर बाहर निकलते हैं। और वापस आकर ख़ुशबूदार साबुनों से नहा लेते हैं। एक मानक ज़िन्दगी गुज़ारने के लिए क्या ये ज़्यादा है।

•••

उसने बीवी की हाथ से लेकर चाय का कप अपने हाथ में पकड़ लिया। बीवी ने जल्दी जल्दी अपने हाथ को ऊपर नीचे करना शुरू कर दिया। ये उसकी मुद्दतों पुरानी आदत थी। उसे ये वहम था कि बार-बार उसका हाथ सुन्न हो जाता है। न तो मेरे अन्दर ख़ून बचा है। सारा ख़ून जल गया है और न ही कुछ और वह बड़बड़ाती। वैसे देखने में वह एक सेहतमन्द और लम्बी औरत थी जिसे सतही नज़र रखने वाले ख़ूबसूरत भी कह सकते हैं। अगरचे औरत को मर्द से ज़्यादा ख़ूबसूरत समझना तमाम जीवों में सिर्फ़ इंसानों का ही बेवकूफ़ी भरा फ़ैसला है। औरत अक़्लमन्द और ताक़तवर तो है बशर्ते ताक़त को उसके असली मानी में समझा जाए। मगर उसकी ख़ूबसूरती के बारे में हमेशा शक किया जाना चाहिए। क्योंकि वह समाज को बनाती है और समाज पर मर्द से ज़्यादा हावी है। चाहे लाख इस समाज को मर्दों का समाज कहा जाये, क्या इस क़िस्म की कोई भी जब्र करने वाली चीज़ ख़ूबसूरत होगी, मगर औरत का समाज पर हावी होना इंसान की नंगी आँखों से हरगिज़ नहीं देखा जा सकता। उसकी ताक़त ख़ून में बाल की तरह बारीक नसों में अपना जाल बना कर समाज की पूरी ज़ेहनियत की सरंचना को बनाती है। औरत की ताक़त को उस सूक्ष्मदर्शी के ज़रिए देखा जा सकता है जिससे किसी बैक्टीरिया या वायरस को। कीड़े मकोड़े तक इस मामले में इंसानों से ज़्यादा अक़्लमन्द हैं बल्कि कहना चाहिए कि इंसानी समाज के नरों से ज़्यादा समझदार वही हैं। इसलिए औरत के जिस्म को हसीन समझ लेना एक अन्धे जानवर तक के लिए मुश्किल बात है। औरत के जिस्म का हर हिस्सा इतना ज़्यादा ग़ैर ज़रूरी गोश्त से भरा हुआ और थुल थुल करता हुआ चर्बी भरा है कि यही एक बात इस बात की गवाह है कि ये ख़ूबसूरती नहीं है। औरतों के जिस्म का रंग भी कुदरती तौर पर इतना चमकीला नहीं जितना कि एक मर्द के जिस्म का होता है। इसीलिए उन्हें मेक अप की ज़रूरत पड़ती है। नयी नवेली दुल्हन को बग़ैर मेक अप के ज़्यादा दिन देखने से मर्द का दिमाग़ ख़राब हो सकता है। दिन में, घास में पड़ा हुआ, सिकुड़ा हुआ पर डाले हुए एक बेसुध नर पतंगा भी अपने रंगों के लिहाज़ से रात को उड़ने वाली मादा पतंगे से ज़्यादा चमकीला है। मर्द तो सिर्फ़ जंग के लिए पैदा होते हैं और अब तो जिस तरह की जंग होती है उसमें भी मर्दों का कोई ख़ास काम नहीं रह गया है। अब उनका एक ही काम है कि वह औरतों के पेट में अपना बीज डालते फिरें। एक बदअक़्ल आवारा घूमते हुए साँड की तरह और इस तरह उन्हें और भी ज़्यादा मज़बूत बनाते फिरें। अस्ल हाकिम, यक़ीन मानिए कि, औरत ही है। उसने यूँ ही खड़े

खड़े चाय का एक घूँट लिया और फ़ौरन मुँह से उसे बाहर निकालते हुए कुल्ली सी कर डाली। चाय है या ज़हर? वह चिल्लाया। मेरे मुँह पर ही कुल्ली कर देते ना। वह ज़ोर ज़ोर से अपना हाथ ऊपर नीचे करने लगी और उसके भूरे बालों का जोड़ा खुल कर बिखर गया जिसकी वजह से उसकी एक आँख ढँक गयी। वह इसी चेहरे से डरता था जब भी उसकी एक आँख माथे से सरके हुए बालों से ढँक जाती और बस एक आँख चेहरे पर नज़र आती। उस एक आँख में एक सर्द और ख़ौफ़नाक हुक्म था। दरअस्ल यही एक अस्ल ज़ालिम हाकिम की आँख थी। किसी देवमालाई किरदार की ग़ुस्सावर आँख। अगर उसके चेहरे पर दोनों आँखें नज़र आती रहतीं तो वह इस ग़ज़बनाक चेहरे का मुक़ाबला भी कर सकता था मगर माथे पर सिर्फ़ एक बड़ी भूरी और लालिमा भरी आँख घूरती नज़र आती है। तक़रीबन एक शैतानी आँख जिस पर कभी गुहेरी तक निकलने की हिम्मत नहीं कर सकती। वो वाक़ई डर गया। उसे मालूम था कि बुरी नज़र भी एक ही आँख से लगती है और जिस आँख से लगती है, उसमें कभी आँसू नहीं होते। चाय का कप उसने एक स्टूल पर पहले ही रख दिया था। उस सूखी आँख से अपनी आँखें फेरते हुए गुस्लख़ाने में जाकर उसने दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लिया। वह तेज़ से तेज़ गर्मी में भी गर्म पानी से ही नहाता था। उसने सबसे पहले गीज़र का स्विच ऑन किया। वह स्विच ऑन करने पर हल्का-सा स्पार्क करता था। गीज़र की लाल बत्ती रौशन हुई मगर उस लाल बत्ती का कोई भरोसा नहीं था। गीज़र में एक अजीब ख़राबी पैदा हो गयी थी। वह कभी गर्म पानी देता था और कभी बर्फ़ की तरह ठण्डा। पूरी सर्दियाँ इसी तरह बीत गयीं। गर्म पानी की अलामत उस लाल बत्ती के नीचे वो काँपता और ठिठुरता रहा। दरमियान में कभी कभी गर्म पानी का रेला भी आ जाता जैसे ख़्वाब में किसी दोस्त का चेहरा नज़र आ जाए। वो अपनी मसरूफ़ियत की वजह से (अगर वाक़ई उसकी कोई मसरूफ़ियत थी) और कुछ इस यक़ीन की वजह से कि ऐसी अजीब ओ ग़रीब तकनीकी ख़राबियाँ जल्दी दूर नहीं होती हैं। क्योंकि उनका एक अनदेखा रिश्ता इंसानों के मुक़द्दर और नक्षत्रों की चाल से होता है। ये रहस्यमय बातें हैं और फ़िलहाल वो रहस्यमय बातों के बारे में सोचना नहीं चाहता था। वो आईने के सामने खड़ा शेव कर रहा था। ये भी एक चटखा हुआ आईना था। चटखे हुए आईने में अपना चेहरा देख कर शेव करने के दौरान अक्सर उससे अन्दाज़े की ग़लती हो जाती। ब्लेड कहीं का कहीं चल जाता। चेहरे पर लगे हुए साबुन के सफ़ेद गाढ़े झागों में ख़ून की लकीरें शामिल हो जातीं। आईने का न बदलना यक़ीनन उसी की लापरवाही थी मगर वो नहीं जानता था कि आईना चाहे चटखा हुआ न भी हो तब भी हर आईने के सामने खड़े होकर आदमी की आँखें हमेशा अन्धेरे में ग़लती करती हैं। वह मुस्तक़बिल के बारे में तो ज़्यादा ही बेख़बर हो जाता है। साबुन के सफ़ेद झागों से उसका साँवला चेहरा इस तरह ढँक गया जैसे किसी गड्ढे में काले और सड़ते हुए पानी पर सफ़ेद रेत और चूना डाल कर वक़्ती तौर पर ढँक दिया जाता है। उसने उस चेहरे से झाँकती हुई आँखों से अपने दाएँ हाथ पर निकले हुए फोड़े के पुराने निशान को देखा। वह हमेशा शेव बनाते हुए उस ज़ख़्म के निशान को देखता। ये निशान हथेली के बिलकुल नीचे कलाई पर उस जगह मौजूद था जो गालों पर रेज़र चलाते वक़्त बार-बार दिख जाती थी। अगर ये ज़ख़्म उसके चेहरे पर अपना निशान छोड़ता और किसी फोड़े की वजह से नहीं चाकू या तलवार के किसी

ख़तरनाक वार के नतीजे में अस्तित्व में आया होता तो किसी भी औरत के लिए उसकी शख़्सियत में सेक्स अपील बहुत बढ़ जाती। उसने शेव करने वाले ब्रश से कलाई पर आये हुए इस भद्दे निशान पर साबुन के सफ़ेद झाग लगा दिये। बिलकुल उसी तरह जैसे दीवार पर उभरे हुए किसी बदनुमा सीलन के धब्बे पर सफ़ेदी पोत दी जाती है। गुस्लख़ाने की खिड़की के बाहर फैला हुआ पीला गुबार उसी तरह स्थिर व जमा हुआ मौजूद था। आज दफ़्तर पहुँचकर वो उन तस्वीरों से कुछ कोने निकाल कर मकानों के चन्द नक़्शे नमूने के तौर पर बनाएगा जिनका एलबम कई हफ़्तों की मेहनत के बाद वह हासिल कर पाया था। ये क़ब्रिस्तानों की तस्वीरें थीं और शमशान घाटों की भी। क़ब्रिस्तान में जा जाकर तरह तरह की पक्की क़ब्रों की तस्वीरें जो उसने ख़ुफ़िया तौर पर अपने कैमरे से ली थीं। कई हफ़्तों से वो शहर के क़ब्रिस्तानों का चक्कर लगता फिर रहा था। कभी फ़ातिहा पढ़ने के बहाने, कभी किसी अज़ीज़ या दोस्त की क़ब्र तलाश करने के बहाने और उन दिनों किसी का अन्तिम संस्कार तो उसने छोड़ा ही नहीं थी क्योंकि क़ब्रिस्तान तक जाने का कोई मौक़ा वो हाथ से जाने नहीं देना चाहता था। क़ब्रिस्तान के चारों और अब चार दिवारी बना दी गयी थी और बेवजह क़ब्रिस्तान में घूमने फिरने वाले को शक की नज़र से देखा जाने लगा है। वजह ये है कि इंसान बिज्जू जैसे क़ब्र खोदने वाले जानवर से भी बदतर हो गये हैं। बिज्जू तो फिर भी अपना पेट भरने के लिए क़ब्र खोद कर मुर्दे खाता है। मगर इंसान तो क़ब्रों से लाशें निकाल निकाल कर विदेशों के मेडिकल कालेजों में स्मगल करने लगे हैं ताकि उनके अंग निकाल कर उन पर नये-नये प्रयोग किये जा सकें। प्रयोग तो वो भी करना चाहता था। वो मकानों की तामीर में वही रहस्य पैदा करना चाहता था जो क़ब्रों में पाया जाता है। और ये यक़ीनन निर्माण कला में एक नया इज़ाफ़ा होगा गम्भीर सम्मान पूर्वक विचारणीय और रूहानी भी। आज कल इतने ऊट पटाँग क़िस्म के नक्शों पर आधारित मकान तामीर किये जाते हैं और इतने बचकाना, भद्दे और आँखों में चुभने वाले तेज़ रंगों का इस्तेमाल किया जाता है कि उन मकानों में रह कर इंसान सिर्फ़ डिप्रेशन का शिकार हो सकता है। या हिस्टीरिया का या फिर ख़ौफ़नाक सपनों के एक कभी न ख़त्म होने वाले सिलसिले का। इंसानों को अगर हक़ीक़ी सुकून अपने घर में चाहिए तो उसके बनाये हुए मकानों के उन नक़्शों और डिज़ाइनों में मिलेगा जो मुख़्तलिफ़ क़िस्म की क़बरों के असेम्बलाज से तैयार किये जाएँगे। इंसानों की ज़िन्दगी में हमेशा मौत की एक झलक, एक आहट ज़रूर शामिल रहनी चाहिए। मौत को अपने घरों की दीवारों से बेदख़ल नहीं करना चाहिए। हम अपने पास नये और पुराने नोट एक साथ जमा करके रखते हैं फिर एक दिन आता है जब पुराने नोट वापस ले लिये जाते हैं और नयी सीरीज़ के नोट बाज़ार में दाख़िल कर दिये जाते हैं। लोग न मरते मरते थकते हैं और न पैदा होते होते इसी लिए घरों में दोनों रंग शामिल होने चाहिए। ज़िन्दगी और मौत की एक जुगलबन्दी। वो जब भी क़ब्रिस्तान से बाहर आता मौत का कोई चीथड़ा उसके जूते के तलवे में चिपक कर उसके साथ बाहर आ जाता। वो उसे अपने पैरों के तलवों में साफ़ और स्पष्ट रूप से महसूस करता। उसकी ठण्डक को, उसकी उदासी को और उसके भेद को या रहस्य को। रहस्य तो किसी भी क़िस्म का हो उसे जाना नहीं जा सकता सिर्फ़ महसूस किया जा सकता है। उसे ये एहसास था कि उसकी बीवी भी एक रहस्य है बल्कि ये शादी भी एक रहस्य ही थी जो क्यों हुई,

इसकी कोई ख़ास वजह आज तक समझ में नहीं आयी है। बस इतना ज़रूर था कि उन दिनों शादी से कुछ महीने पहले उसकी सेक्सुअल ख़्वाहिश नाक़ाबिले यक़ीन हद तक बढ़ गयी थी। उसे एक ही रात में कई कई बार स्खलन हो जाया करता था। उसे स्खलन से हमेशा ही बहुत डर लगता था। क्योंकि ख़्वाब में नुकीले और लम्बे दाँतों वाली चुड़ैलें पाँव में पायल बाँधे छन छन छन करती हुई उसके जिस्म का सारा ख़ून पी जाने के लिए उसकी छाती पर आकर सवार हो जातीं। उसे लगता जैसे वो पीला पड़ने लगा है। इसलिए अब यही एक शरीफ़ाना हल रह गया था और वही उसने तलाश कर लिया। दोस्तों से कह कहला कर एक रिश्ता तै किया और एक औरत को घर में ले आया। औरत जिसके कहने के मुताबिक़ ख़ुद उसके अपने जिस्म में भी ख़ून जल गया था मगर फिर भी वो एक सेहतमन्द औरत थी और हुक्म चलाने की ताक़त रखती थी। बीवी ने किचन में जाकर अण्डे तलाश करना शुरू कर दिये। वो हमेशा अण्डे कहीं रख कर भूल जाती थी। फ़्रिज में अण्डे रखने के वो सख़्त ख़िलाफ़ थी। उसका ख़्याल था कि फ़्रिज में ठण्डक से अण्डों की ज़र्दी जम जाती है और उसे किसी भी जमी हुई चीज़ को पिघलाना सख़्त नापसन्द था। पिघलने का मंज़र उसे घिनौना नज़र आता था। वो तो पिघलता हुआ मक्खन, घी और यहाँ तक कि बर्फ़ को भी पिघलता हुआ नहीं देख सकती थी, इसीलिए उसने पावर कट के ज़माने में अपने घर में आज तक मोमबत्ती नहीं जलायी। ये इत्तेफ़ाक़ नहीं था कि अपने शौहर को कहीं भी हाथ लगाने से, छू लेने से या बोसा लेने की रस्मी और नैतिक कोशिश से भी वो नहीं पिघली। उसके जिस्म में द्रव्य पदार्थों और पानी की बहुत कमी थी। उसके होंठ भी सूखे रहते थे और आँखें भी। दिल का पता नहीं, दिल का पिघलना तो महज़ मुहावरा है। अब ये तो बिलकुल साफ़ है कि उन दोनों में मुहब्बत नहीं थी और अगर होती भी तो भी क्या? मुहब्बत और नफ़रत दो ऐसी नदियों की मानिन्द हैं जो थोड़ा सा फ़ासला बरक़रार रखते हुए बराबर चलती हैं, मगर कभी किसी शहर या गाँव में पहुँच कर अलग अलग दिशाओं में निकल जाती हैं। चक्कर काटती हैं, बल खाती हैं, कभी कभी तो साँप की तरह फिर बहुत दूर कहीं आगे जाकर कोई ऐसा स्थान ज़रूर आता है जहाँ दोनों एक दूसरे में मिल जाती हैं। फिर जो पानी आगे बढ़ता है उसमें सिवाय तकलीफ़, ईर्ष्या, जलन और ओछेपन के कुछ नहीं होता। ये आगे बढ़ता हुआ पानी मुहब्बत और नफ़रत दोनों से ज़्यादा कमीने और ख़तरनाक समुन्दर में जाकर गिर जाता है।

जहाँ तक उन दोनों के यहाँ बच्चों के न होने का सवाल है तो उसका ज़िम्मेदार अपने शौहर और उसकी आर्थिक मजबूरियों को ठहराना एक ग़लत इल्ज़ाम था। वो इस हक़ीक़त को अच्छी तरह जानती थी कि उसके जिस्म में एक भयानक सूखापन था। यूँ तो वो माँ बनना चाहती थी मगर इसे क्या किया जाए कि शौहर से सहवास के वक़्त (अगर इसे सहवास कहा जा सकता हो) बग़ैर किसी मुहब्बत और ख़्वाहिश के साथ सूखे हुए होंठ, लार से बिलकुल ख़ाली मुँह, ज़ुबान और सूखी हुई योनि के साथ लेटे रहना दर अस्ल बलात्कार के अमल से भी ज़्यादा घिनौना और बदतर था। अगर ऐसी सूरते हाल में इत्तेफ़ाक़ से उसकी कोख में किसी बच्चे का बीज पड़ भी जाता तो वो एक बदनसीब और बिन बुलायी जान ही होती। वो ख़ुद भी बर्फ़ की एक जमी हुई चट्टान थी। उसे अपने आप से भी चिढ़ थी और अपने आप को भी पिघलते

हुए देखने से तो उससे भी ज़्यादा। जहाँ तक ख़्वाहिश का सवाल है तो वो जिस्म की एक बड़ी ग़लतफ़हमी है। वक़्त का एक ज़रा-सा पाँसा पलटने पर जिस्म के अन्दर बहने वाले कीमियाई द्रव्यों की मामूली-सी ग़द्दारी से ही वो कीना परवर, मज़ाक़ उड़ाती हुई कटनी रौशनी पैदा हो जाती है जिसमें मुहब्बत, नफ़रत, ख़्वाहिश और ममता सब एक साथ किसी जादुई ताक़त के ज़ेरे असर सर के बल खड़े नज़र आते हैं। इसलिए अस्ल बात जो बग़ैर किसी नैतिक फ़्रॉड के और लाग लपेट के, कही जा सकती है वो ये है कि मर्द अपने तक़रीबन हर वक़्त खड़े हुए अंग से आजिज़ था और औरत अपनी सूखी हुई अपंग योनि से।

ठीक उसी लम्हे में बिजली चली गयी। जब उसने फ़्राई पैन में अण्डे तोड़े, गर्म गर्म तेल में एक नागवार आवाज़ के साथ ज़र्दी और सफ़ेदी दोनों अपनी अपनी अलग दुनिया में सिकुड़ती जा रही थीं। आज कल सुबह सुबह भी जाने लगी है। वो बड़बड़ाई। गर्मी बढ़ रही है, बिजली जाने का सबसे बड़ा नुक़सान तो यही है कि पसीना आएगा। अन्धेरा तो बर्दाश्त कर ही लिया जाता है। रौशनी कोई इतनी अच्छी चीज़ भी नहीं मगर पसीने में जिस्म पिघल पिघल कर बहता है। जिस्म अपने किनारों से बाहर आने लगता है। नमकीन, गन्दे द्रव्य की शक्ल में और बदबूदार पानी की शक्ल में। बिजली क्यों चली गयी? इतनी देर में बिजली आ गयी। लॉबी में लगे हुए छत के पंखे के पर अभी पूरी तरह घूम भी न पाये थे कि बिजली फिर चली गयी। उसने बिजली को कोसना शुरू कर दिया और अपने हाथ को ऊपर नीचे करना भी। मगर बिजली को कोसने से बेहतर था कि अपने मुक़द्दर को कोस लिया जाए। बिजली की अपनी एक अलग शख़्सियत है जैसे पानी की। उसके अपने उसूल हैं और अपनी नैतिकता।

•••

प्यार मुहब्बत
ग़म ग़ुस्सा
रोने और उत्तेजना में
वो पैदा होती है
पानी से उसकी अज़ीम दोस्ती की
मछलियाँ क़समें खाती हैं
मछलियाँ जो अपनी दुम के
आखिरी हिस्से में उसे सुला कर रखती हैं
शार्क ने उसके झटके को महसूस किया और शिव के ताण्डव जैसा रक़्स देखा
पानी में रक़्स
इस रक़्स के कोई मानी न थे
इस रक़्स में लफ़्ज़ न थे
पाठ्य पुस्तकें कभी काफ़ी नहीं होतीं

रबड़ के दस्ताने पहन कर
लकड़ी पर पैर या हाथ जमा लेने से
हम उससे आज़ाद नहीं हो सकते
उसमें एक भेद है
जो इस नज़्म में नहीं

Tell me when the storm is over
When all the lights are down and the sound of thunder claps
Bringing silence than a flash
Only the electricity brings light
Shooting from the sky
Brings a new life to the ground
Killing everything around
The smell of dirt and burnt tissue forming dust and smoked death.

क्या साबुन सड़ रहा है? उसने ग़ुस्लख़ाने में बहुत ही अजीब-सी नागवार बू महसूस करते हुए सोचा। गीज़र की टोंटी के नीचे बाल्टी पानी से आहिस्ता आहिस्ता भर रही थी। बिजली चली गयी थी। बस खिड़की के शीशे से पीला ग़ुबार अपना अक्स पानी पर डाल रहा था। उसने बाल्टी के पानी में झाँका। पानी ज़र्द नज़र आया। बाहर फैले हुए उस घुटन भरे ग़ुबार को दिल ही दिल में बुरा भला कहते हुए उसने बाल्टी के पानी से मग भर कर अपने सर पर उँडेला। पानी पहले उसकी आँखों में दाखिल हुआ फिर वहाँ से बहता हुआ नाक के नथुनों में और उसके बाद उसकी गंजी और चिकनी खोपड़ी से फिसलता हुआ कनपटियों और कानों के दरम्यान एक पल को रुकता हुआ बहुत तेज़ी के साथ दोनों कानों के अन्दर चला गया। उसके ताज़ा शेव किये हुए चेहरे पर से फिसला और होठों के किनारों को गीला कर दिया। उसने एक साँस मुँह खोल कर ली तो कुछ बूँदें मुँह के अन्दर पहुँच गयीं। पानी अब गरदन से बहता हुआ, उसके कन्धों, पेट और पीठ तक आकर रुक गया। इससे पहले कि वह दूसरा मग भर पाता, उसने अपने मुँह, चेहरे, आँखें, नाक, कान और यहाँ तक कि अपने दिमाग़ को भी भयानक बदबू के हमले में और घिरा हुआ पाया। उसके मुँह में तो जैसे खारा पेशाब भरा जा रहा था। उसका जी बुरी तरह मतलाया। पेट में उल्टियों का और उबकाईयों का एक तूफ़ान बाहर निकलने को बेचैन था। जिसे रोकते हुए उसने मग को दूर दीवार पर दे मारा और बहुत ज़ोर से चीख़ा। ये कैसा पानी है, दरवाज़ा खोलो। बीवी ने एक बार में नहीं सुना, उसे पसीना आ रहा था। वो पसीने से परेशान थी। उसने नहीं सुना। दरवाज़ा खोलो सुअर की बच्ची, खोल दरवाज़ा। ग़ुस्से ने उसे दुनिया का सबसे बहादुर मर्द बना दिया। ख़ुद क्यों नहीं खोलता कुत्ते, दरवाज़ा तूने

अन्दर से बन्द किया है। औरत दहाड़ी। वो दरवाज़ा खोलता है और ग़ुस्से में बौखलाया नंगा ही बाहर आ जाता है। उसके बदन से फूटने वाली बदबू लाबी में भर गयी है। वो उसके सामने तन कर खड़ी है। अन्दर जाओ, बेहया, बेशरम, औरत चीख़ती है। तूने पानी नहीं देखा कुतिया। सुबह से पड़ी फन्ना रही है। तूने पेशाब और पाख़ाने की चाय मुझे पिला दी। देखा नहीं पानी में क्या मिला हुआ था, सुअर की बच्ची। अन्दर जा बेहया। बाप को गाली मत दे नंगे। नंगा होकर और ज़लील लग रहा है तू और तेरा ये। औरत पूरी ताक़त से चिल्लाती है। उसके सर के बाल खुल गये हैं जिनसे उसकी एक आँख ढँक गयी है मगर अब वो उस चेहरे से नहीं डरा। वो ग़ुस्से में अपनी पुरानी हस्ती खो चुका है। अभी पूछता हूँ तुझसे, आज तू नहीं बचेगी मेरे हाथ से मारी जाएगी। वो पागल की तरह बड़बड़ाता हुआ दोबारा ग़ुस्लख़ाने में जा रहा है। शायद तौलिया बांधने। औरत उससे भी ज़्यादा पागल होती हुई उसके पीछे पीछे ग़ुस्लख़ाने में घुस आती है, किसी बला या महामारी की तरह। क्या करेगा, मार डालेगा, क्या पूछेगा भड़वे की औलाद। वो बेलिबास, गीला और बदबूदार उसके सामने खड़ा ग़ुस्से से पागल हुआ काँप रहा है। उसका हाथ ऊपर उठता है। वो औरत को पूरी ताक़त के साथ पीछे की तरफ़ धक्का देता है। वो थोड़ा-सा पीछे की तरफ़ झुकती है और फिर संभल कर जवाब में उसकी गरदन पकड़ कर दीवार की तरफ़ धकेलती है। गीज़र के बिलकुल नीचे। अचानक बिजली आ जाती है, गीज़र की लाल बत्ती रौशन होती है। अपने आप को गिरने से बचाने के लिए वो किसी चीज़ का सहारा लेना चाहता है। वो दीवार पर लगे हुए बिजली के साकेट को थाम लेता है। एक धमाका, रौशनी का एक झमाका, शार्ट सर्किट। एक ज़ोरदार झटका खाते हुए उसका मादर ज़ाद बरहना जिस्म किसी भारी पथर की मानिन्द लुढ़कता हुआ बाल्टी से टकराता है। बाल्टी उलट गयी, गन्दे बदबूदार पानी से उसके जिस्म का निचला हिस्सा तर हो गया है। उसके दाँत पहले किटकिटाते हैं, फिर भिंच जाते हैं। मुँह टेढ़ा होकर नीला पड़ने लगा है। नीलाहट आहिस्ता आहिस्ता सारे जिस्म में रेंग रही है। चन्द लम्हों तक के लिए उसका नीला जिस्म किसी आमियाना क़िस्म के संगीत यंत्र की तरह झनझनाता है। फिर बेजान हो जाता है। ग़ुस्लख़ाने में अब एक बू और भी आकर शामिल हो जाती है, ये मौत की बू है। चन्द घण्टों बाद या ज़्यादा से ज़्यादा एक दिन के बाद, उसके कमरे में अलमारी के नीचे रखे हुए उसके जूतों के तलवों में चिपकी हुई मौत वापस क़ब्रिस्तान की तरफ़ रेंग जाएगी। मौत का ये पसन्दीदा शौक़ है, घर से क़ब्रिस्तान। क़ब्रिस्तान से घर।

साढ़े दस बजे औरत पुलिस स्टेशन फ़ोन करती है। ग्यारह बजे एक पुलिस इन्सपेक्टर दो सिपाहियों के साथ अन्दर दाख़िल होता है। लाश कहाँ है? बाथरूम में। इन्सपेक्टर सिपाहियों के साथ बाथरूम के अन्दर जाता है फिर नाक पर रुमाल रख कर वापस आता है। हादसा कैसे हुआ? इन्सपेक्टर पूछता है। पता नहीं। औरत जवाब देती है। पुलिस और खुला दरवाज़ा देखकर चन्द पड़ोसी अन्दर आ गये हैं। दोनों में रोज़ झगड़ा होता था। हमारा जीना हराम कर रखा था। एक कहता है। शायद वो मारा गया। दूसरा कहता है। इन्सपेक्टर कड़क कर औरत से पूछता है। ये क़त्ल है? मालूम नहीं। औरत जवाब देती है। सच सच बताओ तुमने क़त्ल किया है। तुम्हें गिरफ़्तार किया जा रहा है। इन्सपेक्टर कहता है। नहीं, हाँ। औरत इन्सपेक्टर की

आँखों में अपनी एक खुली हुई आँख डालते हुए कहती है। उसके सर के बाल माथे पर अभी भी लटके हुए हैं और एक आँख उन बालों से बुरी तरह ढंक गयी है। वो अपने एक हाथ को बार-बार ऊपर नीचे कर रही है। इन्सपेक्टर उसकी खुली हुई आँख को ग़ौर से देखता है। वो हैरत अंगेज़ हद तक सूखी हुई है। मगर उसमें एक बेहिस सी चमक है जो मुहब्बत और नफ़रत दोनों की अन्तहीन कमी से पैदा होती है। जवाब दो। इन्सपेक्टर गरजता है। हाँ वो मारा गया। उसी चक्कर में। औरत बड़बड़ाती है। किस चक्कर में? इन्सपेक्टर चौकन्ना होकर दिलचस्पी से सवाल करता है। पानी के चक्कर में। वो पानी के चक्कर में मारा गया। औरत अपने बाल माथे से हटाती है और अब दोनों आँखों से इन्सपेक्टर को देखते हुए इत्मीनान के साथ जवाब देती है।

•••

लाइफ़ अपार्टमेन्ट के हर घर में अब गन्दा और बदबूदार पानी आ रहा था। तीन दिन गुज़र चुके थे। उन्होंने पीने का पानी नहाने और ट्रॉयलेट के लिए इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था। मगर पीने के पानी का एक वक़्त मुक़र्रर था और वो बहुत कम मात्रा में आता था। तीन ही दिनों में वो सख़्त बीमार पड़ गये। बीमार होने वालों में ज़्यादा तादाद बच्चों की थी। उन्हें दस्त आने लगे जिनमें ख़ून मिला हुआ था। उनके पेट में ऐंठन और मरोड़ रहने लगे। फिर उन्हें बेतहाशा ख़ून में मिली हुई उल्टियाँ शुरू हो गयीं। उन्हें तेज़ बुख़ार रहने लगा। यहाँ से आधे किलोमीटर की दूरी पर एक नर्सिंग होम था। जब उसमें अब और मरीज़ों के लिए कोई बेड ख़ाली नहीं रहा तो वो शहर के दूसरे अस्पतालों की तरफ़ भागने लगे। मरीज़ों की तादाद बढ़ती जा रही थी। बोरिंग वाले गन्दे पानी की सप्लाई रोक दी गयी। कुछ लोग सोसाइटी छोड़ कर अपने रिश्तेदारों या दोस्तों के यहाँ चले गये। या किसी दूसरी जगह ज़रूरी सामान साथ में रख कर किराये पर रहने लगे। महीने की आख़िरी तारीख़ थी जब इस बीमारी में मुब्तला एक आठ साला बच्चे की मौत हो गयी। किसी भी फैलने वाली बीमारी में पहली मौत की ही सबसे ज़्यादा अहमियत होती है। जिस तरह पहली मुहब्बत की। उसके बाद तो सब आम से आदमी बन कर रह जाते हैं। मरीज़ों की क़रीबी और अस्पताल के अमले के बीच झगड़ा शुरू हो गया। सबका ख़्याल था कि महज़ अस्पताल वालों की लापरवाही की वजह से बच्चे की जान गयी है वरना कालरा से आज के ज़माने में कोई नहीं मरता।

मगर क्या ये वाक़ई वही था? यानी महज़ कालरा जिससे अब कोई नहीं मरता। ज़िला सरकारी अस्पताल के इमरजेन्सी वार्ड के सामने एक लम्बी राहदारी में खड़े हुए लम्बी नाक वाले और एक पेशेवर मुक्केबाज़ का-सा चेहरा रखने वाले नौजवान डॉक्टर ने कहा। उल्टियाँ हो रही हैं, खाल सूख रही है, नस, पट्ठे सिकुड़ रहे हैं। हाथों और पैरों पर झुर्रियाँ पड़ रही हैं। दस्त रुक नहीं रहे हैं। बुख़ार उतर नहीं रहा है। आँखों से चमक ग़ायब हो रही है। यक़ीनन ये लक्षण कॉलरा के हैं, या बिगड़ी हुई पेचिश के मगर एंटी बायटिक दवाएँ असर नहीं दिखा रही हैं। सेलाइन और ग्लूकोज़ चढ़ाने पर भी जिस्मों में पानी की मात्रा बढ़

नहीं पा रही है। एक हज़ार मिली ग्राम पैरासिटामॉल देने पर भी बुख़ार एक डिगरी भी नीचे नहीं आ रहा है। मरीज़ के जिस्म के दूसरे ज़रूरी अंग गुर्दे, जिगर, फेफड़े और आहिस्ता आहिस्ता अपना काम छोड़ रहे हैं। कॉलरा बैक्टीरिया वाली बीमारी है मगर मरीज़ों के ख़ून की जाँच में किसी बैक्टीरिया का सुराग़ भी नहीं मिल रहा है। दूसरी बात ये कि वायरस से फैलने वाली पेट की बीमारी में इस तरह के दस्त नहीं आते और न ही मरीज़ का जिस्म इस हद तक पीला पड़ जाता है। मगर मुमकिन है कि ये किसी नये वायरस से फैलने वाली बीमारी हो। इस पर तहक़ीक़ शुरू हो चुकी है। मगर याद रखिए जो भी हो रहा है, वो उस पानी के इस्तेमाल की वजह से हो रहा है जिसमें सीवर लाइन का गन्दा पानी आकर मिल गया है। अब हमें करना ये है किसी मरीज़ को बग़ैर दस्ताने पहने छूना नहीं है। मरीज़ के गन्दे कपड़ों को जलाना है और उसके बाक़ी चीज़ों को भी। जी, जी, हम अपना काम कर रहे हैं। आप ये कैमरा थोड़ा मुझसे दूर रखिए। जी, अब बिलकुल ठीक है। जी, तो आप लोग भी अपना काम कीजिए। अब मेरे पास और किसी सवाल का जवाब नहीं है। आप लोग चीफ़ मेडिकल आफ़िसर से बात कर सकते हैं। सी. एम. ओ., जी हाँ सी. एम. ओ. साहब से। वजह? मैंने बताया ना कि वजह सिर्फ़ गन्दा पानी है। पानी से आप लोगों को मालूम नहीं कि कितनी बीमारियाँ फैलती हैं। मसलन मियादी बुख़ार तक। बहुत-सी बीमारियों के बारे में अभी भी पता नहीं। ये कैमरा थोड़ा और इधर उधर पीछे कर लीजिए। शुक्रिया, जी अब ठीक है। लेकिन पानी की सप्लाई रोक देने के बाद भी केस लगातार बढ़ रहे हैं। एक रिपोर्टर ने पूछा। वायरस नहीं मरता। डॉक्टर ने जवाब दिया। सूखी हुई सतह पर आम सा वायरस एक घण्टा सक्रिय रह सकता है और गीली सतह या पानी में तो लगातार अपनी नस्ल बढ़ाता रहता है। बाथरूम में टोटियों, बाल्टियों, मग्घों से बहुत होशियार रहना है। इस्तेमाल हो चुके साबुनों को फेंक दीजिए। बाथरूम की दीवारों और फ़र्श को हाथ नहीं लगाना है। ऐसी जगहों पर तो वो बारह बारह घण्टे तक सक्रिय रह सकता है। पानी से बहुत बचना है, बहुत होशियार रहना है। आप लोग तो बाथरूम जाना ही बन्द कर दीजिए।

बाथरूम जाना बन्द कर दें? इसका क्या मतलब हुआ। कैमरा मैन के बराबर में खड़ी हुई चश्मा लगाये एक नज़रों को भाने वाली लड़की ने सवाल किया। लड़की टी वी के किसी चैनल की रिपोर्टर मालूम होती थी। वही मतलब हुआ जो आप समझ रही हैं। डॉक्टर ने जवाब दिया। तो क्या जंगल में फ़ारिग़ होना पड़ेगा। लड़की बोली, उसके हाथ में माइक था जो उसने डॉक्टर की तरफ़ बढ़ा दिया। ये .... मैं नहीं जानता। डॉक्टर ने लापरवाही से अपने कन्धे उचकाने की नाकाम कोशिश करते हुए कहा। इस सूरत में महिलाओं का क्या होगा। उन कालोनियों के आस पास अब ऐसे जंगल या ज़मीनें नहीं बची हैं जहाँ महिलाएँ अपनी शर्म ओ हया को बरक़रार रखते हुए फ़ारिग़ हो सकें और अपनी इज़्ज़त ओ इस्मत भी बरक़रार रख सकें। क्या आपके ख़्याल में ये मुमकिन है? लड़की ने पेशेवराना अंदाज़ में तेज़ी के साथ जुमले अदा किये जिसकी वजह से उसकी आँखों की चमक बढ़ गयी। और कैसे? देखिए हमारा काम सिर्फ़ मरीज़ों का इलाज करना है। हम इस लैंगिक डिस्कोर्स में पड़ कर अपना वक़्त कैसे बर्बाद कर सकते हैं। डॉक्टर ने जवाब दिया। मगर आप एक ज़िम्मेदार शहरी भी हैं और बुद्धिजीवी वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। आप इस बारे में क्या

कहना चाहेंगे कि क्या ऐसी बीमारी से महिलाओं की दिमाग़ी और समाजी ज़िन्दगी पर नकारात्मक प्रभाव पड़ने का ख़तरा है। लड़की ने अपना सुनहरा फ़्रेम का चश्मा उतारा और अपनी आँखों को रूमाल से साफ़ करते हुए पूछा। लड़की की आँखें बहुत ख़ूबसूरत थीं। उसके चश्मे से भी ज़्यादा ख़ूबसूरत। डॉक्टर एक पल को उसकी आँखों में देखता ही रह गया। फिर कहा, मर्दों के लिए भी शर्म ओ हया उतनी ही ज़रूरी है जितनी कि स्त्रियों के लिए। क्या आप वाक़ई इस पर यक़ीन रखते हैं? आपने जर्नलिज़्म का कोर्स कब मुकम्मल किया? अच्छा एक माह पहले ही, वेरी गुड। किस इन्स्टिट्यूट से? ओह अच्छा, वो तो बहुत अच्छा इन्स्टिट्यूट है। देखिये मैं लगातार आपसे गुज़ारिश किये जा रहा हूँ कि अपने कैमरे मुझसे दूर रखिए। जी बराहे-करम मुझे कैमरे से वहशत होती है। आप मुझसे ख़ाली वक़्त में मेरे कमरे में आकर मिल सकती हैं। डॉक्टर ने लड़की की तरफ़ मुस्कराते हुए कहा। और लड़की ने मुस्कराते हुए अपने वैनिटी बैग से सफ़ेद रंग का विज़िटिंग कार्ड निकाला और डॉक्टर के हाथ में थमा दिया।

•••

लाइफ़ अपार्टमेन्ट के फ़्लैट आधे से ज़्यादा ख़ाली हो चुके थे। चालीस मरीज़ जो शहर के मुख़्तलिफ़ अस्पतालों में भरती थे। उनमें से सिर्फ़ पन्द्रह मरीज़ ही बच सके थे। ज़िला अधिकारी और प्रबन्धन के लिए ये एक विचारणीय पल था। जगह जगह बड़े अधिकारियों की मीटिंगें होने लगीं। स्थानीय सतह के सियासतदान भी सक्रिय हो गये और मुख़ालिफ़ पार्टियों पर ख़तरनाक साज़िश का इल्ज़ाम धरने लगे। वो बिल्डर भी उनके घेरे में आ गया जिसने लाइफ़ अपार्टमेन्ट्स की सोसाइटी के लिए फ़्लैट तामीर करवाये थे। उस बिल्डर की एक ख़ास सियासी पार्टी के साथ साठ गाँठ थी। ये ख़ास पार्टी कुछ महीने पहले ही सत्ता की कुर्सी से नीचे आयी थी। इसलिए बिल्डर पर मुक़दमा चलवाने की माँगें और अपीलें होनी शुरू हो गयीं। म्यूनिसपल कारपोरेशन के दफ़्तर में बेचारे बिल्डर को बुलाया गया। मीटिंग में ज़िला मजिस्ट्रेट और मेयर के अलावा दूसरे कई बड़े अधिकारी शामिल थे। इलाक़े का कारपोरेटर भी मौजूद था। सवाल ये है कि सोसाइटी में पानी उपलब्ध कराने के लिए आपने किस कम्पनी को ठेका दिया था। ज़िला मजिस्ट्रेट ने सवाल किया। वो एक नौजवान आई. ए. एस. आफ़िसर था। ट्रेनिंग के बाद उसकी पहली पोस्टिंग इसी शहर में हुई थी, वो सफ़ेद बेदाग़ क़मीज़ और फ़ाखतई रंग की पतलून पहने हुए था। उसकी आँखें उल्लू की तरह गोल गोल थीं जिन पर उसने गोल शीशों वाली ऐनक भी लगा रखी थी। फ़िलहाल उसके सुर्ख ओ सफ़ेद चेहरे पर चालाक क़िस्म की ईमानदारी की चिकनाई थी। मगर जल्द ही वो ईमानदारी के इस तेल को अपने सूखे हुए चेहरे पर लगाना छोड़ देगा। किसी कम्पनी को नहीं जनाब। पानी उपलब्ध करने के लिए किसी कम्पनी को ठेका नहीं दिया जाता है। क्यों? क्योंकि पीने के पानी के लिए जल निगम में अर्ज़ी देना काफ़ी होता है। जल निगम की फ़ीस अदा कर दी जाती है और निगम वहाँ अपनी पाइप लाइन बिछा देता है। बिल्डर ने अदब के साथ जवाब दिया। ठीक है। आपको मालूम है कि वहाँ पीने का पानी प्रदूषित हो चुका है। वो पीला और बदबूदार है। उसमें इंसान के पेट से निकली हुई गन्दगी मौजूद है। ज़िला मजिस्ट्रेट ने बिल्डर को ग़ौर से देखते हुए कहा, नहीं जनाब! मुझे इस बारे में इल्म नहीं। आपको किस बारे में इल्म है? बिल्डर ने ख़ामोशी के साथ

सर झुका लिया। उसे पहली बार किसी सरकारी मीटिंग में शिरकत करने का सम्मान हासिल हुआ था इसलिए उसने अपनी काली क़मीज़ के कालर में तेज़ नीले रंग की टाई भी लगा रखी थी। टाई की गिरह इतने पक्के तरीक़े से बाँधी गयी थी कि उसके एक छोटे बन्दर जैसे चेहरे को हास्यास्पद बना रही थी। पक्केपन में बेवक़ूफ़ी का एक पहलू हमेशा उभरा रहता है ख़ास तौर पर जब आदमी बिल्डर की तरह जवानी के दौर से बाहर निकल गया हो। सीवर लाइन बिछाने का काम किस विभाग का है? म्यूनिसपल कारपोरेशन के चीफ़ इन्जीनियर ने हाथ उठाया और कहा, हमारा विभाग इस ज़िम्मेदारी को निभाता है। ये काम आप की निगरानी में हुआ था? जी जनाब, मगर हम कई मामलों में पी. डबल्यू. डी. वालों से भी मशविरा करते हैं क्योंकि वो लोग सड़कें वग़ैरा बनवाते रहते हैं और सड़क के नीचे ही नालियों के पास थोड़ा ऊपर की तरफ़ सीवर लाइन भी डाली जाती है। चीफ़ इन्जीनियर ने भरोसे के साथ जवाब दिया। मगर शायद ज़िला मजिस्ट्रेट को उसका ये विश्वास से भरा लहजा अच्छा नहीं लगा क्योंकि वो आई. ए. एस. था। ज़िला मजिस्ट्रेट ने बुरा-सा मुँह बनाया और कहा ये आप मुझे मत बताएँ, हम लोगों को सब पढ़ाया जाता है। इन्जीनियरिंग से लेकर शायरी तक। यस सर, सारी सर। मेरा मतलब था कि P.W.D. वालों का भी इस काम में रोल रहता है। चीफ़ इन्जीनियर ने अपनी ग़लती सुधारते हुए कहा। आपके ख़्याल में पीने के पानी में ये गन्दगी क्यों आ रही है? सर हमारा ख़्याल है, ये सीवर लाइन का पाइप कहीं क्रैक हो गया है या किसी जंक्शन पर लीक हो रहा है। ज़मीन खोद खोद कर देखना पड़ेगा कि कहाँ ख़राबी पैदा हो गयी है। अच्छा। हूँ, अब ये बताइये कि आप लोग सीवर के पाइपों की फ़राहमी के लिए किस कम्पनी को ठेका देते हैं? सर, हर बार टेण्डर इशू होते हैं। कोई एक कम्पनी का इजारा नहीं, हम सबको मौक़ा देते हैं और उनके टेण्डर्स का बग़ौर मुतालआ करते हैं। चीफ़ इन्जीनियर ने जवाब दिया। ज़िला मजिस्ट्रेट ने कहा। इन पाइपों की सप्लाई करने वाली कम्पनी और ठेकेदार दोनों को फ़ौरन नोटिस भेजिये। उसका लहजा हुक्म देने वाला था। यस सर, बिलकुल सर। मगर मैं एक बात और कहना चाहूँगा। चीफ़ इन्जीनियर ने शरमाते हुए कहा। हाँ बताइये, क्या बात है? चीफ़ इन्जीनियर ने कनखियों से मेयर की तरफ़ देखा। उसकी मेयर से एक आँख न बनती थी क्योंकि वो मुख़ालिफ़ पार्टी के टिकट पर इलेक्शन जीत कर आया था। चीफ़ इन्जीनियर एक अधेड़ उम्र का मोटा आदमी था। इतना ज़्यादा मोटा कि उसके बैठने के लिए ये कुर्सी नाकाफ़ी पड़ रही थी और वो उसमें कुछ इस तरफ फँस गया था जैसे चूहेदान में कोई मोटा सा चूहा फँस कर हाँफ़ता है उसकी तोंद के दबाव की वजह से उसकी क़मीज़ के दरमियान में लगे हुए बटन बार-बार खुल जाते थे जिसकी वजह से उसकी नाफ़ के ऊपर पेट पर सफ़ेद बालों की एक बदनुमा लकीर दिख जाती थी। अचानक हाल का दरवाज़ा खुला। इलाक़े का एम. एल. ए. अन्दर दाख़िल हुआ। सारे अफ़सरान, ज़िला मजिस्ट्रेट भी अदब के साथ उठ कर खड़े हो गये क्योंकि उनका न उठना प्रोटोकाल की ख़िलाफ़वर्ज़ी करता था। अब खादी के सफ़ेद कुर्ते और पाजामे का ज़माना बीत चुका था। वो तेज़ गेरुए रंग का ऊँचा-सा कुर्ता पहने हुए था और उसने मोटी मोटी टाँगों पर नीली जींस मढ़ रखी थी जिस पर औरतों के आड़े तंग पैजामे का गुमान गुज़रता था। उसके कूल्हे भी औरतों की तरह पीछे निकले हुए थे। वो जवान आदमी था और उसकी रंगत जी घबरा कर रख देने की हद

तक सफ़ेद थी। गले में गेरुए रंग का अँगौछा डाल रखा था। सर तक़रीबन गंजा था। मगर मूँछें लटक कर ठोड़ी पर आ रही थीं। चन्द माह बेशतर तक वो सिर्फ़ एक ट्रॉंसपोर्ट कम्पनी का मालिक था जिसके ट्रकों पर घटिया शेर लिखे हुए थे। इलेक्शन के बाद वो एम. एल. ए. हो गया, एम. एल. ए. होने से पहले वो शहर में एक बड़े लौंडेबाज़ की हैसियत से मशहूर था अगरचे अब वो औरत और मर्द के प्राकृतिक और नैतिक रिश्ते की अहमियत पर अख़बारात में बयान देने लगा था। एम. एल. ए. ने हाथ जोड़ कर सबको नमस्कार किया और मुस्कराते हुए कुर्सी पर बैठ गया। अब वो सब भी अपनी अपनी कुर्सियों पर बैठ गये। बाहर आँधी आने वाली है। वो बोला। अच्छा। सारे अफ़सरों ने हैरत से आँखें फाड़ कर कहा। सियासी लीडरों की चमचागिरी करने का ये एक पुराना तरीक़ा था। अच्छा आँधी आने वाली है। ओह आँधी, वो कहते रहे। हाँ आना चाहिए, बहुत दिनों से आसमान पर गुबार छाया हुआ था। बहुत दिन हो गये सर जी। एम. एल. ए. ने अँगौछे से माथे का पसीना पोंछते हुए कहा। यहाँ ए. सी. चल रहा है ना। जी सर, चल रहा है। ज़िला मजिस्ट्रेट ने कहा, कूलिंग और बढ़ा दूँ? नहीं मुझे नज़ला हो जाता है। ये ठीक है, एम. एल. ए. ने कहा। तो कार्रवाई चल रही है आप लोगों की? जी बिलकुल, हाँ तो आप क्या कह रहे थे? ज़िला मजिस्ट्रेट ने चीफ़ इन्जीनियर से पूछा जो एम. एल. ए. के आ जाने के बाद से कुछ ज़्यादा ख़ुश और और आत्म विश्वास से भरा नज़र आने लगा था। जी सर, मैं अर्ज़ कर रहा था कि हमारे मेयर साहब के ज़ोर देने पर शहर के चन्द इलाक़ों में रसोई गैस की पाइप लाइन डालने का काम भी एक गैस कम्पनी ने, मेरा मतलब है कि, प्राईवेट गैस कम्पनी ने किया था। उन इलाक़ों में लाइफ़ अपार्टमेन्ट वाली सोसाइटी भी आती है। इस गैस कम्पनी में मेयर साहब की पार्टी के कई ओहदेदारों के बड़े बड़े शेयर हैं। चीफ़ इन्जीनियर बोल कर चुप हो हुआ तो मेयर कह उठा कि आप क्या कहना चाहते हैं? मेयर प्रौढ़ उम्र का एक ख़ूबसूरत आदमी था। उसके चौड़े चकले चेहरे पर एक क़िस्म का ख़ानदानी सम्मान था मगर इस सम्मान में बेरहमी और ग़ुरूर के रंग ज़्यादा शामिल थे। उसके बालों से साफ़ और चिकनी खोपड़ी उन रंगों को और भी चमकीला बनाते हुए छाप छोड़ रही थी। चीफ़ इन्जीनियर ने जवाब दिया, कुछ नहीं बस यही कि गैस कम्पनी ने भी तो सड़कों की खुदाई करवाई थी। तो? तो उससे क्या होता है। सड़क की खुदाई तो बिजली वाले भी करते हैं। ज़मीन के नीचे तार डालने के लिए और टेलीफ़ोन वाले भी करते हैं। इन सबको भी बुलाइए और जवाब माँगिए। गैस कम्पनी - आपको बस गैस कम्पनी याद आयी। मेयर ने नाख़ुशगवार और बुलन्द लहजे में कहा। एम. एल. ए. ने मेयर की तरफ़ हाथ उठा कर इशारा किया और बोलता रहा। मैं चाहता था कि रैम्बो गैस कम्पनी को ये काम सौंपा जाए, वो बहुत शरीफ़ लोग हैं। ये स्टार गैस कम्पनी तो बदनाम रही है। ये तो गुण्डे मवाली क़िस्म के लोगों को अपनी लेबर के लिए हायर करती है। सीवर लाइन के पाइप उन्हीं मज़दूरों ने तोड़े हैं। एम. एल. ए. बोला। आप के पास क्या सुबूत हैं? मेयर ने कहा इंक्वायरी होने दीजिए, सुबूत मिल जाएंगे।

आप क्या कहेंगे? ज़िला मजिस्ट्रेट ने बिल्डर से पूछा, जो अब तक सर झुकाए बैठा था। जनाब मैं क्या कहूँ, मैंने तो सिर्फ़ मकान बनवाये हैं वो भी ठेकेदारों के ज़रिए, बिल्डर शर्मिन्दा-सा होकर बोला। अच्छा मगर क्या आपने मकान ख़रीदने वालों से ये वादा किया था कि आप बिजली पानी की सुविधाएँ देने के साथ

साथ उन्हें पाइप लाइन वाली गैस भी उपलब्ध करा देंगे। जी वादा किया था। अच्छा कितने समय बाद? जनाब, मैंने मेयर साहब के रिश्तेदारों के लिए दो एच. आई. जी. फ़्लैट बुक किये थे। तब मेयर साहब के मशविरे से ये तै किया गया जनाब कि पाइप लाइन गैस की सुविधा हासिल हो जाने से सोसाइटी में रहने वाले लोगों को ज़्यादा अच्छी ज़िन्दगी, मेरा मतलब है कि क्वालिटी लाइफ़ मिल सकती है। बिल्डर ने जवाब दिया और मेयर की तरफ़ चोर नज़रों से देखने लगा।

स्टार गैस कम्पनी को भी नोटिस भेजिए। ज़िला मजिस्ट्रेट ने फ़ैसला सुनाया। मेयर एक बार ज़ोर से खाँसा फिर कहा। हम इस बात को फ़रामोश कर रहे हैं कि सबसे पहले बोरिंग वाला पानी जो सबमर्सिबल पाइप के ज़रिए ज़मीन के अन्दर से खींचा जाता है, प्रदूषित हुआ है। ये काम ज़ाहिर है कि स्थानीय सतह पर काम करने वाले प्लम्बरों और नल लगाने वालों ने किया होगा, हमें सबसे पहले उनसे सम्पर्क क़ायम करना होगा कि उन्होंने तै शुदा गहराई में ही बोरिंग की थी। वहाँ से सीवर लाइन कितनी दूर थी। मेरा ख़्याल है कि उन्हीं प्लम्बरों के ज़रिए पाइप लाइन डैमेज हुई है। जनाब हमने सारे प्लम्बरों के ज़रिए पहले ही सारी लाइन चेक करवा ली है। कहीं कोई ख़राबी नज़र नहीं आ रही है। बिल्डर ने अपनी सफ़ाई पेश की। म्यूनिसपल कारपोरेशन के चीफ़ इन्जीनियर ने फ़ौरन ही बात बढ़ायी। सर, मैंने इन्जीनियरों की एक टीम रवाना की थी। उनकी रिपोर्ट के मुताबिक़ पीने के पानी वाली लाइन में कहीं कोई ख़राबी नहीं है। वो सुरक्षित है। ज़िला मजिस्ट्रेट ने बिल्डर की तरफ़ लापरवाही से देखा, फिर कहा। आप उन सारे नल का काम करने वालों और प्लम्बरों को दोबारा बुलवाइये और स्वास्थ विभाग के कर्मचारियों की मौजूदगी में कल उनके साथ मीटिंग कीजिए। कारपोरेटर साहब आप भी शामिल रहियेगा। और एम. एल. ए. साहब को अगर वक़्त मिले तो पब्लिक का हौसला बढ़ जाएगा। एम. एल. ए. ने मुस्कराते हुए जवाब दिया। मैं ज़रूर सेवा में हाज़िर रहता मगर कल मुझे राजधानी जाना है। गृह मन्त्री ने बुलवाया है। कुछ ख़ास बात करने। कोई बात नहीं, ये लोग देख लेंगे। तो आज की मीटिंग बरख़्वास्त, मेरा मतलब है कि ख़त्म हो गयी है। इसके मिनट्स तैयार करके एक घण्टे के अन्दर सारे मेम्बरान तक पहुँचा दो। ज़िला मजिस्ट्रेट ने अपने बूढ़े स्टेनो से कहा जो एक माह पहले मुलाज़िमत से अवकाश प्राप्त हो चुका था, मगर अभी तक किसी ने उसका चार्ज नहीं लिया था। चाय नहीं आयी अभी तक। ज़िला मजिस्ट्रेट ने थकी हुई आवाज़ में कहा और अर्दली को बुलाने के लिए घण्टी बजायी।

•••

म्यूनिसपल कारपोरेशन के दफ़्तर के सामने भीड़ इकट्ठा होने लगी। ये अजीब दफ़्तर है। इंसानों के मरने जीने का जितना हिसाब क़िताब उसके पास है, उससे ज़्यादा तो बस यमदूत के पास ही होगा। इस दफ़्तर में एक अन्धेरे और बोसीदा से कमरे में, किसी अलमारी में इंसानों की पैदाइश का रिकार्ड और सर्टीफ़िकेट रखे हैं और एक दूसरी अलमारी में जो शायद अलमारी के बराबर में ही रखी होगी उनकी मौत

के सर्टीफ़िकेट हैं। इस अलमारी पर धूल कुछ ज़्यादा ही जमी हुई है। अब ये वहाँ के क्लर्क की आँख ही जानती है या फिर खुदा की आँख कि कौन सी अलमारी में ज़िन्दे बन्द हैं और कौन सी में मुर्दे। वैसे अब न ज़िन्दों को मुर्दों की फ़िक्र है और न मुर्दों को ज़िन्दों की। मुर्दे बेचारे तो फिर भी कभी कभी जिन्दों की ख़ैरियत पूछने के लिए उनके घर आ जाते हैं जहाँ से उन्हें भूत की गाली देते हुए ज़लील करके निकाल दिया जाता है। मगर फिर भी ये सवाल रह जाता है कि वो अलमारी कहाँ है जिसमें उनके रिकार्ड मौजूद हैं जो न ज़िन्दों में हैं न मुर्दों में। जनसंख्या के रजिस्टर में उनके नामों के आगे सुर्ख रौशनाई से सवालिया निशान बना दिया गया है। ये वो बदनसीब हैं जो ज़िन्दा और मुर्दा इंसानों के दरमियान खींची गयी एक सुर्ख़ लकीर पर पड़े हुए कपकपाते हैं। कीड़ों मकोड़ों की तरह।

लोग म्यूनिसपल कारपोरेशन के दफ़्तर के आगे इकट्ठा हैं। वो पूछ रहे हैं कि ख़राबी कब तक दूर की जाएगी। मरम्मत क्यों नहीं की जा रही है और सबसे बढ़ कर ये कि पानी कब तक आएगा। मगर पानी में जो भेद है वो कारपोरेशन के अफ़सरों को और क्लर्कों को नहीं मालूम है। वो इस बारे में जवाब देने से मजबूर हैं।

भीड़ कचहरी में भी है, जहाँ कलेक्टर बैठता है, यानी ज़िला मजिस्ट्रेट जिसे लोग आज भी ज़िले का मालिक या बादशाह समझते हैं। लोगों को यक़ीन है कि उनके बादशाह के पास उनके दुखों का इलाज ज़रूर होगा। मगर बादशाह का ख़ादिम अर्दली सफ़ेद वर्दी पहने भीड़ को बार-बार पीछे हटने का हुक्म देता है। ज़्यादा शोर पुकार मचाने वाले चन्द अति उत्साहित लोगों को हिरासत में लिए जाने की धमकी भी देता है मगर साथ ही उन्हें अर्थ भरी नज़रों से देखता भी जाता है। ज़िला मजिस्ट्रेट ने स्वास्थ विभाग के डायरेक्टर को अपने आफ़िस में बुलाया है जिसके रिटायर होने में पन्द्रह दिन रह गये हैं और जो दिल का मरीज़ होने के साथ साथ बहुत नर्वस क़िस्म का आदमी है। उसकी हथेलियाँ हमेशा पसीजी रहती हैं और पैरों के तलवों से आग निकलती रहती है। उसका चेहरा एक ग़मगीन खच्चर के चेहरे से मिलता है। वो ज़िला मजिस्ट्रेट के सामने कुर्सी पर बैठा है। ज़िला मजिस्ट्रेट एक नौजवान आई. ए. एस. आफ़िसर है और पुराने अफ़सरों को ख़ास तौर पर वो जो प्रमोशन से अफ़सर बने हैं, नफ़रत की नज़रों से देखता है। वो अपने आपको एक आधुनिक और स्मार्ट ब्यूरोक्रेट समझता है। और पुरानी सड़ी हुई लाल फ़ीता शाही को चमकीली, नयी और हरी फीताशाही में बदल देना चाहता है।

डी. एम. साहब हेल्थ वालों के साथ मीटिंग कर रहे हैं। बाद में आप सबसे बात करेंगे। अर्दली चिल्लाता है। भीड़ में अब अपना अपना कैमरा लिए हुए मीडिया के रिपोर्टर भी घुस आये हैं मगर इनमें वो ख़ूबसूरत आँखों वाली लड़की नहीं है। वो यहाँ से तीन किलोमीटर दूर ज़िला सरकारी अस्पताल में लम्बी नाक वाले नौजवान डॉक्टर के कमरे में बैठी हुई काफ़ी पी रही है।

आपका विभाग इस सिलसिले में क्या कर रहा है। कम्यूनिटी हेल्थ के नाम पर आपके क्रियाकलापों का रिकार्ड पिछले बीस सालों में मायूस करने वाला रहा है। ज़िला मजिस्ट्रेट अपने सामने रखी फ़ाइलों को

टटोलते हुए कहता है। हम, सर हम, जनाब, शहर के तमाम मुहल्लों और कालोनियों की नालियों में हर हफ़्ते चूना डलवाते हैं और मलेरिया या डेंगू के ज़माने में मिट्टी के तेल और डी. डी. टी. पावडर का छिड़काव भी कराते हैं। जनाब, जी हाँ। आपको चूना डलवाने के लिए सरकार इतनी मोटी तनख़्वाह देती है? नहीं सर। जनाब, डाइरेक्टर के माथे पर पसीने की लकीरें बह रही हैं। ज़िले का आधिकारी एक फ़ाइल को दूसरी फ़ाइल से अलग करते हुए रख रहा है फिर तीसरे को चौथी से। लाइफ़ अपार्टमेन्ट्स के मामले में आप क्या कर रहे हैं? हम, हमने जनाब, हमने। सर वहाँ हर तरफ़ चूना ही चूना बिखेर दिया है। अब एक मच्छर भी वहाँ पर नहीं मार सकता। जनाब डी. डी. टी. का अच्छी मात्रा में छिड़काव किया है हमने जनाब। अब एक भी मच्छर। डाइरेक्टर ने जल्दी जल्दी अपनी क्रियाकलापों का बयान कर दिया है। तो आपके ख़्याल में ये बीमारी मच्छरों के ज़रिए फैली हैं। ज़िला मजिस्ट्रेट ने सुकून भरे लहजे में पूछा। जी, जी जनाब। नहीं, जी नहीं सर। मगर मच्छरों और गन्दगी से ही ऐसी बीमारियाँ फैलती हैं जनाब। मैंने सुना है जनाब। डाइरेक्टर की आवाज़ लगातार कपकपा रही है। जैसे रेडियो पर किसी स्टेशन या चैनल को सेट करते वक़्त उसकी सुई कपकपाती है। आपने सुना है? आप मेडिकल जर्नल और उनकी ताज़ा तरीन रिपोर्टों को पढ़ते हैं? क्या आप मेडिकल कालेजों और यूनिवर्सिटियों में होने वाले सेमीनारों में तशरीफ़ ले जाते हैं। ज़िला मजिस्ट्रेट पूछता है। मैं जनाब, मैं दिल का मरीज़ हूँ और अगले हफ़्ते मुझे पेस मेकर लगने वाला है। डाइरेक्टर ने अपनी फूलती हुई साँसों के दरमियान कहा। ओह! आप आक्सीजन का सिलेण्डर साथ नहीं रखते? जी हमेशा जनाब। बाहर रखा है। आप के कमरे के बाहर। अर्दली ने अन्दर ले जाने से मना कर दिया। पसीना डाइरेक्टर की गर्दन पर बहने लगा। दो दिन बाद लाइफ़ अपार्टमेन्ट् सोसाइटी में म्यूनिसपल कारपोरेशन के कर्मचारी, बिल्डर की टीम के लोग, प्लम्बर और एम. एल. ए. साहब की एक तहक़ीक़ाती मीटिंग होगी। आपका भी वहाँ रहना निहायत ज़रूरी है। अगर वहाँ की ज़मीन में या पानी में बीमारी के कीटाणु पाए गये तो समझ लीजिए कि ये ख़तरनाक होगा और उसे दूर करना एक टीम वर्क होगा। हमें सबका सहयोग चाहिए। आप भी अपनी ज़िम्मेदारी को बख़ूबी समझ लीजिए। आप एक महीने बाद रिटायर हो रहे हैं। ज़िला मजिस्ट्रेट ने कहा। जी नहीं सर, पन्द्रह दिन बाद। अच्छा रिटायर होने के बाद क्या इरादा है। कोई बिज़नेस करूँगा। बीवी भी यही चाहती है और बच्चे भी। बहुत अच्छा ख़्याल है। ज़िला मजिस्ट्रेट मुस्कराता है और कहता है, ज़रूर बिज़नेस कीजिए। चूने के ठेके लेना शुरू कर दीजिए। इसमें बड़ा मुनाफ़ा है। जी क्या फ़रमाया, चूहे के? चूहे के नहीं चूने के। ज़िला मजिस्ट्रेट की मुस्कराहट ज़हर में डूबी होती है। डाइरेक्टर का सर ज़िल्लत और शर्मिन्दगी के बोझ के नीचे दब कर रह जाता है। ज़िला मजिस्ट्रेट घण्टी बजाता है। अर्दली अन्दर आता है। बाहर कितने लोग हैं? तक़रीबन डेढ़ सौ हुकुम। ठीक है उनके सिर्फ़ दो नुमाइन्दों को चुन कर अन्दर भेजो। दोनों नुमाइन्दे अलग अलग मज़हबों के होने चाहिए, क्या समझे? अपने साथ स्टेनो को भी ले लो। क्या समझे? जी हुकुम। अर्दली वापस जाता है। डाइरेक्टर साहब, आप जा सकते हैं। ज़िला मजिस्ट्रेट ने कहा। डाइरेक्टर काँपते हुए पैरों के साथ कुर्सी से उठता है। ज़िला मजिस्ट्रेट अर्दली

को बुलाने के लिए दोबारा घण्टी बजाता है। अर्दली अन्दर आता है। काफ़ी भेजो, बहुत गर्म काफ़ी। ज़िला मजिस्ट्रेट उसकी तरफ़ देखे बग़ैर हुक्म देता है।

चश्मा लगाये, ख़ूबसूरत आँखों वाली रिपोर्टर नौजवान डॉक्टर के कमरे में बैठी हुई काफ़ी के घूँट ले रही है। डॉक्टर उसे रोमानी नज़रों से देखने के बावजूद उस पर अदब के किसी जुग़ादरी प्रोफ़ेसर की तरह अपने अध्ययन का रोब डालने की कोशिश में लगा हुआ है।

आपने Illness as Metaphor पढ़ी है? डॉक्टर पूछता है। नहीं, किसने लिखी है? सुज़न सोंटाग ने। डॉक्टर ने जवाब दिया। अच्छा मैं ने ये नाम पहली बार सुना है। लड़की बोली। ओह! बड़े अफ़सोस की बात है कि आप सुज़न सोंटाग को नहीं जानती हैं। डॉक्टर ने अफ़सोस और हमदर्दी ज़ाहिर करते हुए कहा। फिर फ़ख़्र भरे अन्दाज़ में बोला। मैं मेडिकल कालेज के लिटरेरी और ड्रामा क्लब का जनरल सेक्रेटरी था। ख़ैर आपने स्टीवन आर. का Plant Paradox तो पढ़ा होगा। वो तो बेस्ट सेलर रहा है। ख़ूबसूरत आँखों वाली लड़की अपने काले रेशमी बाल ऊपर झटकती है। धीरे से, अदा के साथ मुस्कराती है और कहती है। नहीं मैंने इस क़िताब का नाम सुना है। चलिए कोई बात नहीं, मगर मेरे ख़्याल में आपको पहली ही फ़ुरसत में The Emperor of All Maladies पढ़ लेना चाहिए। अगर आपको जैसा कि आपने बताया कि आपको बीमारी और उसकी सामाजिकता यानी सोशियोलॉजी से बहुत दिलचस्पी है। डॉक्टर ने जोशीले अन्दाज़ में जुमला मुकम्मल किया। जी, मैंने ये क़िताब पढ़ी तो नहीं है मगर इसके बारे में बहुत सुना है। सिद्धार्थ बनर्जी ने लिखी है ना? जी नहीं, बनर्जी नहीं मुखर्जी। डॉक्टर ने सही किया। हाट केक की तरह बिकती है ये क़िताब, मज़ा आ जाएगा पढ़ कर। डॉक्टर ने कुछ इस अन्दाज़ में कहा जैसे वो कोई पोर्नोग्राफ़ी की क़िताब हो। ख़ैर मैं आपको दूँगा। घर आइएगा कभी। बहुत क़िताबें दूँगा और हाँ मैं आपको मैथ्यू जोन्सटन । Had a Black Dog भी देना चाहूँगा। आप काफ़ी और लेंगी? जी ज़रूर। मुझे काफ़ी बहुत पसन्द है। लड़की मुस्करायी। मुझे काफ़ी से ज़्यादा काफ़ी की ख़ुशबू पसन्द है। डॉक्टर ने कहा। पिछले साल यूरोप गया था, वहाँ की लड़कियाँ अपने पर्स में और अपनी जेबों में ब्राज़ीलियन काफ़ी के बीज रखती हैं। काफ़ी की महक से ज़्यादा अच्छी परफ़्यूम या इत्र की महक भी नहीं हो सकती। उसकी महक में ऐसा क्या है? लड़की अपनी नेल पालिश कुरेदते हुए आहिस्ता से बोली। वो दरअस्ल बेहद सेक्सी होती है। नौजवान डॉक्टर ने इतनी तेज़ी के साथ कहा कि वो लफ़्ज़ 'सेक्सी' पर इतना ज़ोर नहीं दे पाया जितना इस मौक़े पर उसे देना चाहिए था मगर इससे पहले उसे अपनी ग़लती का एहसास हा पाता, लड़की ने उससे भी ज़्यादा तेज़ी के साथ अपना जुमला अदा किया। आप का मतलब 'हाट' से है ना। सेक्सी का लफ़्ज़ पुराना हो चुका है। कम से कम पाँच साल पुराना। हम मीडिया वाले लफ़्ज़ों को हमेशा उनकी सही पृष्ठभूमि में इस्तेमाल करते हैं। हमें इसकी ट्रेनिंग दी जाती है कि समकालीनता से अल्फ़ाज़ का रिश्ता कभी टूटने न पाये। डॉक्टर पहली बार कुछ झेंप जाता है। फिर उस झेंप को मिटाने के लिए पूछता है। तो आपने बीमारियों पर कौन सी क़िताबें पढ़ रखी हैं? मैंने और काफ़ी मँगवाई है। शुक्रिया जब मैं कालेज में पढ़ती थी तो वहाँ के तक़रीबन हर छात्र

के हाथ में मारक्वेज़ की Love in the Time of Cholera हुआ करती थी। मुझे भी पढ़नी पड़ी। उसी ज़माने में अल्बेयर कामू की 'प्लेग' का भी अध्ययन किया। और हाँ याद आया चीन का एक लेखक था ली यान, उसके उपन्यास Ding के भी कुछ पेज पढ़े थे। मगर आगे नहीं पढ़ पायी। दिल नहीं लगा। लड़की अपनी लिप स्टिक दुरुस्त करने लगती है जो ज़्यादा चंचल रंग की नहीं थी और उसकी भूरी आँखों से मेल खाती थी। डॉक्टर ने बिना इरादे के अपने निचले होंठ पर ज़ुबान फेरी और लापरवाही का इज़हार करते हुए कहा, मगर ये सब तो उपन्यास हैं। उपन्यास में होता ही क्या है। झूठ और लफ़्फ़ाज़ी के अलावा। इतना झूठ बकते हुए उन पर बिजली क्यों नहीं गिरती। उनसे वक़्त गुज़ारी और तफ़रीह बाज़ी के अलावा कोई संजीदा मक़सद नहीं हासिल हो सकता। आप इल्मी और तहक़ीक़ी क़िताबें पढ़ा करें। दर अस्ल मुझे लिटरेचर की कोई समझ नहीं। आपने पूछा तो बता दिया। लड़की ने कहा। वैसे आपको ये उपन्यास कैसे लगे थे? डॉक्टर ने पूछा। कुछ समझ में ही नहीं आया। लड़की बोली। वही तो, वही तो। डॉक्टर ख़ुश होकर कहने लगा। आप बजाए उपन्यास पढ़ने के उपन्यास पर लिखी समालोचनात्मक क़िताबें पढ़ लिया कीजिए। उनको पढ़ कर आपको ये मालूम हो जाए कि उपन्यासकारों से ज़्यादा अहमक़ और कोई क़ौम नहीं होती और उपन्यास से ज़्यादा अश्लील और नैतिक मूल्यों को ख़राब करने वाली कोई चीज़ नहीं होती। चपरासी काफ़ी के दो कप ट्रे में रखे हुए दाख़िल हुआ मगर उसके पीछे एक नर्स और वार्ड बॉय भी थे। क्या बात है? डॉक्टर ने पूछा। एक मरीज़ और चल बसा है। वार्ड का माहौल बहुत बिगड़ गया है। नर्स ने जवाब दिया। ओह, अच्छा! ठीक है। तुम चलो, मैं काफ़ी ख़त्म करके आता हूँ। डॉक्टर ने कहा। नर्स कनखियों से लड़की की तरफ़ देखती हुई, वार्ड बॉय के साथ वापस चली जाती है।

क्या मैं भी आपके साथ वार्ड में चल सकती हूँ। लड़की ने पूछा। मेरे ख़्याल में शायद ये मुनासिब न हो। मीडिया के लोगों को अन्दर जाने की इजाज़त नहीं है। डॉक्टर ने बेचारगी का इज़हार किया। मैं बस मीडिया की रिपोर्टर हूँ? ख़ूबसूरत आँखों वाली लड़की ने पता नहीं किस तरकीब से अपनी आँखें और ख़ूबसूरत और नशीली बना लीं। उसने लिपिस्टक लगे हुए अपने उभरे उभरे होंठ कुछ इस अन्दाज़ में आगे बढ़ाए जिससे ये पता लगाना मुश्किल था कि वो डॉक्टर को बोसा देना चाहती है या उसका बोसा लेना चाहती है। डॉक्टर की साँसें तेज़ हो गयीं। अच्छा मैं कोशिश करता हूँ। तुम अपना कैमरा तो साथ नहीं लायी हो? उसने कहा। नहीं। ये अच्छा है। चलो फिर जल्दी से काफ़ी ख़त्म करें। डॉक्टर ये कहता हुआ काफ़ी का कप हाथ में पकड़े हुए उठ कर मेज़ की दूसरी तरफ़ लड़की की कुर्सी के क़रीब आ गया। लड़की ने इधर उधर देखा फिर काफ़ी का एक लम्बा घूँट लिया। डॉक्टर ने अपना कप मेज़ पर रख दिया। लड़की ने भी अपना कप मेज़ पर रख दिया। लड़की के कप पर लिपिस्टक का निशान आ गया था। डॉक्टर ने उस निशान को ग़ौर से देखा। फिर वो लड़की के और क़रीब आ गया।

•••

इमरजेन्सी वार्ड के अन्दर एक औरत बुरी तरह चीखती थी, रोती थी। अपने सीने पर दो हत्थड़ मारती थी। उसके तीन साल के मासूम बच्चे की लाश अभी भी बेड पर मौजूद थी। जिस पर लाल कम्बल डाल दिया गया था। उसके बराबर में चार पलंग और पड़े हुए थे। सामने भी, दूसरी क़तार में पाँच पलंगों पर मरीज़ लेटे हुए थे। मगर इससे हमें ये नहीं समझ लेना चाहिए कि इमरजेन्सी वार्ड में सिर्फ़ दस ही मरीज़ थे। दर अस्ल पलंगों की और जगह की कमी होने की वजह से एक पलंग पर दो मरीज़ लिटाये गये थे। यूँ देखा जाए तो वार्ड में बीस लोग भर्ती थे जिनमें से फ़िलहाल एक मर चुका था। मरीज़ों की तादाद में लगातार इज़ाफ़ा हो रहा था। चीफ़ मेडिकल आफ़ीसर की हिदायत के मुताबिक़ इन मरीज़ों को सिर्फ़ इमरजेन्सी वार्ड में ही रखा जा सकता था। इन तमाम मरीज़ों से मुख़्तलिफ़ और अलग जो दूसरी बीमारियों और दूसरी वजूहात की बिना पर अस्पताल में भरती थे या जिनके भरती होने के इम्कानात थे, दूसरी तरफ़। शहर के प्राइवेट अस्पतालों और नर्सिंग होमों ने भी ऐसे किसी भी मरीज़ को अपने यहाँ भरती करने से मना कर दिया था। जो लाइफ़ अपार्टमेन्ट्स से आये हों। मगर अब तो ऐसी ख़बरें भी मिलनी शुरू हो गयी थीं कि ये बीमारी महज़ लाइफ़ अपार्टमेन्ट्स तक ही महदूद नहीं रह गयी थी। सूरते हाल की नज़ाकत और संगीनी को देखते हुए इमरजेन्सी वार्ड के बाहर एक लम्बी और गॉथिक तरीक़े की बनी हुई तक़रीबन सुनसान-सी रहने वाली रहदारी में भी मरीज़ों के लिए पलंग बिछा दिये गये थे। यहाँ भी एक पलंग पर दो मरीज़। दोनों मरीज़ों के जिस्म में चढ़ाई जाने वाली ग्लूकोज़ और सेलाइन की बोतलें और नलकियाँ आपस में उलझ उलझ जातीं, टकराती रहतीं। वो तड़पते और बार-बार पेट में उठने वाले भयानक नामालूम दर्द के सबब से एक दूसरे की तरफ़ बेचैन होकर करवटें बदलते और एक दूसरे से लिपट लिपट जाते। उनके हाथों और पैरों की उंगलियाँ एक दूसरे की उँगलियों में फँस फँस जातीं। इन्जेक्शन के वास्ते उनकी कलाइयों और पिण्डलियों में पेवस्त सुइयाँ बार-बार बन्द हो जातीं। बोतलों की नलकियों में हवा भर जाती जिसके सबब उनके जिस्म से ख़ून निकल निकल कर दूसरों के कपड़ों और चेहरों पर लग जाया करता। वो दर्द से बेहाल होकर इस तरह चिल्लाते जैसे ज़िबह होते हुए जानवर। कभी कभी तो करवटें लेने में वो पलंग से नीचे भी गिर जाया करते और उनके जिस्म के किसी हिस्से की हड्डी टूट जाया करती। वो अपनी देखभाल करने वाले तीमारदारों के बस में न आते थे। यूँ भी वार्ड में एक मरीज़ के साथ सिर्फ़ एक तीमारदार ही रह सकता था। कभी कभी बात बेबात पर एक पलंग के दोनों तरफ़ खड़े तीमारदार एक दूसरे से लड़ना भी शुरू कर देते थे।

इन बदनसीब मरीज़ों को किसी हाल भी चैन न था। उन पर न तो दर्द कम करने के इंजेक्शन असर करते और न ही नींद वाले इंजेक्शन। वार्ड में बेहद गंदगी फैली हुई थी और बेहद सड़ांध भी। वार्ड के तमाम कर्मचारी अगरचे मास्क लगाये हुए थे और दस्ताने पहने हुए थे। फिर भी बदबू थी कि चली आती थी। वो मास्क के बारीक रेशों की दीवार को तोड़ देती थी और नाक में दनदनाती घुसी आती थी। नाक बंद कर लेने और साँस रोक लेने पर भी उस बदबू की आहट को साफ़ महसूस किया जा सकता था। बेचारे सफ़ाई कर्मचारी पर शायद ही इससे ज़्यादा बुरा वक़्त पड़ा हो। उनके दस्ताने हर वक़्त ख़ून मिली हुई

उल्टियों और ज़र्द गन्दगी से सने रहते थे। उनकी बाल्टियाँ उस गन्दगी से लबालब भर चुकी थीं मगर अब अस्पताल में ऐसी कोई जगह भी बाक़ी नहीं बची थी जहाँ ये बाल्टियाँ ख़ाली की जा सकतीं। फ़िनाइल और डेटॉल का स्टाक ख़त्म हो चुका था। साबुन और पोंछे के कपड़े अब बाक़ी न रहे थे।

वो सब चिल्ला रहे थे। मरीज़ ही नहीं, लाशों के वारिस ही नहीं बल्कि वार्ड बॉय, सफ़ाई का काम करने वाले और नर्सें तक सब जानवरों की तरह चीख रहे थे मगर फिर हर एक की चीख पर एक ख़ामोशी हावी थी। लाशों की ख़ामोशी और मौत के सन्नाटे ने वहाँ औरतों के रुदन को भी एक कमज़ोर आवाज़ में बदल करके रख दिया। जब तीन साल के उस बच्चे की लाश को बिस्तर से उठाकर बाहर लाया जाने लगा तो उस पलंग पर उसके बराबर लेटे हुए एक अधेड़ उम्र के शख़्स ने मुर्दा बच्चे के लाल कम्बल को पूरी ताक़त के साथ पकड़ लिया। वो नहीं चाहता था कि बच्चे की लाश वहाँ से हटायी जाए। इसमें हैरत की कोई बात नहीं। ऐसा वक़्त भी आ सकता है, जब लाशें ज़िन्दों को ख़ौफ़ज़दा करने की बजाए उनको ढारस बँधाती फिरें। ख़ास तौर पर वो ज़िन्दे जिनके जल्द ही लाशों में तबदील होने के इम्कानात हों। इस कोशिश में बच्चे के गले में पड़ी हुई, तावीज़ की काली डोरी अधेड़ उम्र के हाथ में फँस गयी। बच्चे की माँ दिल दहला देने वाली चीख़ें मार रही थी। जब वार्ड बॉय ने किसी न किसी तरह बच्चे की लाश को उठा कर बाहर स्ट्रेचर पर डाल दिया तो माँ उसके पीछे पीछे इस तरह भाग रही थी जैसे बिल्ली अपने बच्चे को ख़तरे में देखकर उसे बचाने के लिए दीवानावार भागती है। वार्ड के बाहर फैला हुआ पीला ग़ुबार उसी तरह अपनी जगह क़ायम था। वो वार्ड के शीशों से छन छन कर अपना अक्स मरीज़ों और उनके बिस्तरों पर डाल रहा था जिसकी वजह से वो सब पीलिया के मरीज़ लग रहे थे। उनके बिस्तरों की सफ़ेद चादरें तक ज़र्द दिखायी देती थीं। पूरा शहर बुख़ार के इस ग़ुबार में जल रहा है और कँपकँपा रहा है। बुख़ार का ये मनहूस बादल, ये पीला मटियाला बादल, अपनी जगह से हिलता नहीं। इधर उधर जुंबिश तक नहीं करता। आसमान इस ज़र्द धुंध के बादल में मढ कर रह गया है। इस बादल में कीटाणु ही कीटाणु हैं। काले सफ़ेद कपड़े पहने हुए, घृणास्पद, बदसूरत जोकरों की तरह एक दूसरे के मुँह पर तमाँचे मारते हुए। वायरस और बैक्टीरिया भेस बदल बदल आते हुए जाते हुए। वो इंसान को किसी दरख़्त, घास या पौधे से ज़्यादा कुछ नहीं समझते। कुछ भी नहीं।

सुनहरी फ़्रेम का चश्मा लगाये उस ख़ूबसूरत आँखों वाली लड़की ने अपने चेहरे पर मास्क लगा लिया है और हाथों में दस्ताने पहन लिए हैं। वार्ड के अन्दर दाख़िल होने से पहले ही उसे चक्कर आने लगा है। नौजवान डॉक्टर मरीज़ों का मुआयना कर रहा है। वो ड्यूटी पर मौजूद जूनियर डॉक्टर से पूछता है। मरीज़ों के नाख़ून आपने देखे? यस सर, जूनियर डॉक्टर ने जवाब दिया। कोई ख़ास बात नोट की आपने? जूनियर डॉक्टर थूक निगल कर रह जाता है। सबके नाख़ून टेढ़े होकर ऊपर की तरफ़ मुड़ रहे हैं। नौजवान डॉक्टर ने फ़ातिहाना नज़रों से लड़की की तरफ़ देखा जो घबरायी हुई नज़र आ रही है। ओह यस सर, यस सर। जूनियर डॉक्टर ने जवाब दिया। बच्चे की लाश पोस्टमार्टम के लिए जाएगी और अब तक जितने लोगों की

मौतें हुई हैं, उनके पोस्ट मार्टम की रिपोर्टें सी. एम. ओ. साहब के दस्तख़त के साथ फ़ौरन इन्स्टिट्यूट आफ़ वायरोलोजी और माइक्रोबायलोजी सेंटर को रवाना की जाएँगी। क्या समझे। जी सर। जूनियर डॉक्टर ने सर हिलाते हुए जवाब दिया। नाख़ूनों का टेढ़ा होना रहस्यमय है। ये सिर्फ़ जानलेवा क़िस्म के ज़हर के ज़रिए ही मुमकिन है। अगर ये बैक्टीरिया है तो भी और वायरस है तो भी। मगर नाख़ून टेढ़े नहीं हो सकते और देखिए ये पीले पड़ कर टेढ़े हो रहे हैं। पीले ही हो रहे हैं या ख़ून की कमी है या उस कम्बख़्त पीली धुँध का उन पर अक्स पड़ रहा है। ये पीली आँधी यहाँ आकर कब से रुकी खड़ी है। इसने तो यहीं ख़ेमा डाल लिया है और हाँ सुनिए। इन्स्टिट्यूट ऑफ़ टॉक्सिकॉलजी को भी रिपोर्ट भेजिए। डॉक्टर ने अपनी बात ख़त्म की ही थी कि नर्स दौड़ती हुई आयी। सर, वो उधर बाहर राहदारी में एक की हालत बिगड़ रही है। दोनों डॉक्टर और नर्स राहदारी में आते हैं। ख़ूबसूरत आँखों वाली लड़की पीछे है।

अट्ठारह उन्नीस साल के एक नौजवान के मुँह से ख़ून की लकीर बहती हुई ठोड़ी तक आ रही है। आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ गयी हैं। वो बेहोश है या फिर मर रहा है। ब्लड प्रेशर नापा कितना है? डॉक्टर ने नर्स से पूछा। ३००/१६०। ये बहुत है। दिमाग़ की नस फट गयी। ये देखिए इसके भी नाख़ूनों का वही हाल है। टेढ़े होकर आसमान की तरफ़ जा रहे हैं। डॉक्टर मरीज़ पर झुकता है तो वो कहता है। मुझे बचा लो, अरे कोई मुझे बचा लो। मैं मरना नहीं चाहता। इसी बेड पर नौजवान के बराबर में लेटा हुए बूढ़ा दाढ़ी वाला आदमी रो रो कर कहने लगा। रुई लाओ, ख़ून साफ़ करो। जवान आदमी है बहुत ख़ून बाहर आएगा। रुई का स्टाक ख़त्म हो गया है डॉक्टर। नर्स कहती है। बाहर से मँगवाओ। जी डॉक्टर। आर्डर दे दिया गया है मगर सप्लाई नहीं हो पा रही है। तो कोई कपड़ा लाओ। पट्टी लाओ। अब नाक से भी ख़ून निकलना शुरू हो गया है। नौजवान के मुँह और नाक से बहता हुआ ख़ून, बराबर में लेटे हुए बूढ़े दाढ़ी वाले शख़्स की पसलियों को भिगोने लगा। उसने घबराकर दूसरी तरफ़ करवट लेनी चाही तो स्टैण्ड पर लगी हुई ग्लूकोज़ की बोतल निकल कर फ़र्श पर गिर कर टूट गयी। इस ज़बरदस्त झटके की वजह से सुई भी उसकी कलाई से निकल कर गोश्त फाड़ती हुई, दोनों मरीज़ों के सिरों पर डोलने लगी। कुछ देर के लिए ऐसा लगा जैसे ज़लज़ला आ गया हो। अब दाढ़ी वाले की कलाई से भी ख़ून का फ़व्वारा फूट पड़ा। बिस्तर की सफ़ेद चादर में उन दोनों के ख़ून घुल मिल कर रह गये।

मुझे चक्कर आ रहा है, सारा जिस्म सुन्न हो गया है। ख़ूबसूरत आँखों वाली लड़की धीरे-से कहती है। बस यहाँ से निकल रहे हैं। मुझे सी. एम. ओ. से मिलना है। डॉक्टर ने भी बहुत आहिस्ता से जवाब दिया। फिर बुलन्द लहजे में नर्स से कहा। अस्पताल में ख़ून तो अच्छी मात्रा में मौजूद है। जी नहीं सर, स्टाक ख़त्म हो गया हैं मेडिकल एसोसिएशन के ब्लड बैंक से मँगवाओ। डॉक्टर ने नाराज़ होते हुए कहा। जी सर, वहाँ भी स्टाक ख़त्म हो गया है।

अस्पताल की राहदारी से निकल कर वो नीचे उतरने वाली सीढ़ियाँ तय करते हैं। आख़िरी सीढ़ी पर पहुँच कर लड़की का पैर फिसलता है। डॉक्टर उसे सहारा देते हुए उसकी कमर में हाथ डाल देता है। ये

चीफ़ मेडिकल आफ़िसर के बंगले तक जाने वाला एक शार्ट कट है। दरख़्तों से घिरा हुआ एक सुनसान रास्ता। पेड़ों पर बैठे हुए कुछ कव्वे, उनके सरों पर काँव काँव कर रहे हैं। इधर कोई आता जाता नज़र नहीं आता। बाई तरफ़ मुड़ कर स्टाफ़ के चन्द छोटे छोटे क्वार्टर हैं जिनकी तरफ़ एक औरत दूध की बाल्टी लिए हुए जा रही है। एक भूरी बिल्ली ने उनका रास्ता काटा है। सामने घने दरख़्तों का एक झुण्ड है जिसके पीछे थोड़े फ़ासले पर अस्पताल का वो पिछला छोटा-सा गेट है जो एक तय वक़्त में स्टाफ़ के लिए ही खोला जाता है। दरख़्तों के झुण्ड के नीचे पहुँच कर, अचानक डॉक्टर, लड़की को पूरी ताक़त के साथ अपनी बाहों में जकड़ लेता है। वो लड़की के होंठों का बोसा लेने की कोशिश करता है। लड़की अपना सर पीछे की तरफ़ करती है। डॉक्टर की लम्बी नाक का बाँसा लड़की के चश्मे से टकराता है। चश्मा आँखों से फिसल कर ज़मीन पर गिर जाता है। वो चश्मा उठाने के लिए नीचे झुकती है तो उसके गहरे कटाव वाले जम्पर में से छोटे छोटे स्तन अपनी आधी झलक दिखाने लगते हैं। डॉक्टर उसकी कमर में हाथ डाल कर, उसे सीधा करने की कोशिश करते हुए अपने होंठ उसके सीने के क़रीब ले आता है पेड़ों पर बैठे कव्वे ज़ोर ज़ोर से बोलते हैं।

नहीं, आज नहीं। मुझे उल्टी आ रही है। बहुत ज़ोर की उल्टी। लड़की घबराई और काँपती हुई आवाज़ में दोबारा कहती है। मेरा जी मतला रहा है। वो वहीं ज़मीन पर उकड़ू बैठ जाती है और सिर झुका कर क़ै करने की कोशिश में उबकाईयाँ लेती हुई खाँसने लगती है। डॉक्टर उसकी पीठ सहलाने लगता है और उसके ब्रेसिअर के सख़्त हुक को भी। मैंने सख़्त मना किया था वार्ड में जाने को। आम आदमी ये सब बर्दाश्त नहीं कर सकता। ख़ैर कोई बात नहीं। अभी ठीक हो जाओगी। नहीं ज़बरदस्ती उबकाइयाँ मत लो। हलक़ छिल जाएगा। डॉक्टर कहता है और अपनी पतलून की जेब में से विटामिन सी की गोलियाँ निकालता है। लो ये दो गोलियाँ मुँह में रख लो और गहरी गहरी साँसें लो।

कुछ देर बाद लड़की उठ कर खड़ी हो जाती है। पसीने से उसका चेहरा भीगा हुआ है और लिपिस्टक बिगड़ गयी है। जिसे वो ठीक करती हुई कहती है। मैं जाऊँ? इधर पिछले गेट से ही बाहर निकल जाऊँ? अच्छा ठीक है, मैं अपनी कार से तुम्हें छोड़ देता मगर आज सी. एम. ओ. के यहाँ ज़रूरी मीटिंग है। अभी तमाम डॉक्टरों को इसमें शिरकत करना है। डॉक्टर कहता हैं। नहीं शुक्रिया, मैं चली जाऊँगी। कल काफ़ी पीने कहीं बाहर चलते हैं। दो बजे के बाद मेरी ड्यूटी ख़त्म हो जाएगी। डॉक्टर मुस्करा कर कहता है। मैं फ़ोन पर बता दूँगी, रात में ओ. के.। और हाँ वो सूज़न सोंटाग की क़िताब लेने घर कब आओगी? क़िताब का नाम याद है ना? डॉक्टर पूछता है। Illness as Metaphor लड़की जवाब देती है।

लड़की अस्पताल के पिछले दरवाज़े से बाहर चली जाती है। डॉक्टर चीफ़ मेडिकल आफ़िसर के बंगले की जानिब क़दम बढ़ाने लगता है। उसका सफ़ेद कोट अचानक न जाने कहाँ से भटक आए हुए हवा के एक झोंके से लहराने लगता है। सिर्फ़ एक पल के लिए। शायद वो झोंका एक धोखा था। पहले ग़ुबार ने सूरज को पूरी तरह ढक लिया है। धुँध कुछ और गाढ़ी हुई है। ग़ुबार में कुछ नयी परतें शामिल हुई हैं। इमरजेन्सी

वार्ड के अलावा हर तरफ़ ख़ामोशी है। दूसरे क़िस्म के मरीज़ यहाँ आने से डर रहे हैं। जब भरी दोपहर में ये सन्नाटा है तो शाम ढल जाने के बाद यहाँ कैसा लगेगा। रात में जब अस्पताल की राहदारियों में कुत्ते घूमेंगे और आवारा बिल्लियाँ रोएँगी, वो उस मौत को देख कर रोएँगी जो वहाँ आराम से चहल क़दमी कर रही हैं। इंसान मौत से डरते तो हैं मगर उसके क़दमों की हक़ीक़ी चाप नहीं सुन सकते।

मामला अब वाक़ई लाइफ़ अपार्टमेन्ट्स तक ही महदूद न रहा था। जल्द ही दूसरी कालोनियों से भी घरों में गन्दा पानी आने और वहाँ के बाशिन्दों के बीमार पड़ जाने की ख़बरें आने लगीं। ख़बरें सिर्फ़ स्थानीय अख़बारों की सुर्ख़ियाँ ही नहीं थीं। बल्कि राष्ट्रीय स्तर के अख़बारों में भी यहाँ की ख़बरें छपने लगीं। राज्य के स्वास्थ विभाग ने शहर के बड़े अधिकारियों को तरह तरह के निर्देश देने शुरू कर दिये। लोग उन कालोनियों से निकल निकल कर जाने लगे। आलम ये हो गया कि सत्तर से अस्सी फ़्लैटों पर आधारित हर सोसाइटी में महज़ दस या पन्द्रह फ़्लैट ऐसे बचे होंगे जिनमें अभी भी लोग रह रहे थे और उन्हें ये उम्मीद थी कि जल्द ही ये बला टल जाएगी। इधर आकर गर्मी भी बढ़ गयी थी। हवा बन्द थी, इसलिए घुटन बहुत बढ़ गयी थी। कुछ लोग इसलिए भी यहाँ से नहीं हटना चाहते थे कि उनके घरों में तमाम सहूलतें मयस्सर थीं। सबसे बढ़ कर नेमत तो एयर कन्डीशन थे तो आख़िर उन्हें दीवारों से उखड़वा कर कहाँ ले जाया जा सकता था और किस के घर में।

एक तब्दीली ये भी घटित हुई थी कि अचानक उस इलाकें में एम्ब्यूलेन्सों की आवाज़ें ज़्यादा आने लगी थीं। आटो रिक्शा या टैक्सी वग़ैरह मुश्किल से ही नज़र आती थीं। आधी रात में जब एम्ब्यूलेन्स साइरन देती हुई गुज़रती तो कुत्ते उसकी लाल रौशनी पर भौंकने लगते। इस तमाशे को चलते हुए डेढ़ हफ़्ता हो चुका था। दूसरे हफ़्ते के आख़िरी दिनों में इस तमाम इलाक़े में पीने के पानी की सप्लाई बन्द कर दी गयी। ये क़दम सेंटर फ़ार डिसीज़ेज़ कन्ट्रोल के मशविरे पर उठाया गया था। वैसे तो इस मसअले के हवाले से शहर में तक़रीबन रोज़ाना ही उच्च अधिकारियों की मीटिंगें हो रही थीं जिनमें डॉक्टरों के अलावा सिविल इंजीनियर भी शामिल रहते थे। मगर इस हफ़्ते यहाँ की मिट्टी अण्डर ग्राउण्ड पानी की जाँच परख करने के लिए इन्स्टिट्यूट आफ़ सॉइल रिसर्च वालों की एक टीम भी प्रदेश की राजधानी से आ पहुँची। इस टीम के साथ जिओलाजिकल सर्वे के दो वैज्ञानिक भी मौजूद थे। ये कोई आम बात नहीं थी। मीडिया ने इसे बहुत संजीदगी से लिया था। ये जल बोर्ड के इंजीनियरों, म्यूनिसपल कार्पोरेशन के अफ़सरों और सियासतदानों की मूशिग़ाफ़ियों से कहीं बढ़ कर थी। इस टीम ने प्रभावित इलाक़े और उसके आस पास की ज़मीन खोदनी शुरू कर दी। खोदी गयी मिट्टी के ढेर ऊँचे होते जाते थे। मिट्टी के इन ऊँचे ढेरों पर चील और कव्वों ने आकर बैठना शुरू कर दिया। ये टीम दस लोगों पर आधारित थी। और अपने साथ ज़मीन खोदने आधुनिकतम मशीनें और कई ताक़तवर जनरेटर भी साथ लायी थी। ये काफ़ी हैरत की ही बात थी कि एक छोटे-से नज़र अन्दाज़ कर दिये जाने वाले शहर के एक विशेष इलाक़े में पानी से फैलने वाली एक बीमारी को रोकने या उसकी वजह की खोज-बीन करने के लिए ये क़दम न सिर्फ़ राज्य स्तर पर बल्कि

केन्द्रीय हुकूमत के आदेशों के तहत उठाये जा रहे थे। स्थानीय सियासतदान इसका सेहरा अपने सर ले रहे थे क्योंकि इस इलाक़े में एक बाई इलेक्शन भी होना था जिसका दिन क़रीब आ रहा था।

मरने वालों के पोस्ट मार्टम रिपोर्टें और मरीज़ों के ख़ून की जाँचें पाबन्दी के साथ इन्स्टिट्यूट ऑफ़ वायरोलॉजी को भेजी जा रही थीं मगर अभी तक तो कोई नतीजा सामने आया नहीं था और अगर आया था तो ज़ाहिर है कि उसे ख़ुफ़िया रखा जा रहा था। जो भी हो रहा था और जो भी सुनने में आ रहा था वो तरह तरह के अन्देशों और अन्धविश्वासों का एक लम्बा सिलसिला बन कर रह गया था। अख़बारों में पूरे पूरे पृष्ठों पर ऐसे इश्तहार छापे जा रहे थे जो आम दिनों में नज़र नहीं आते। मसलन उन तथ्यों का प्रसार किया जा रहा था कि स्वास्थ्य के दिशा निर्देशों का ख़्याल रखते हुए विज्ञान ने बहुत ही ख़तरनाक बीमारियों को जड़ से ख़त्म कर दिया है। मुख़्तलिफ़ क़िस्म की दवाइयाँ, सर्जरी के नये उपकरण, मशीनें, सी. टी. स्कैन, एम. आर, आई. और भी बहुत सी ऐसी रेडियाई मशीनें जिनके ज़रिए कैंसर जैसे जानलेवा मर्ज़ तक पर क़ाबू पा लिया गया है। खेती के मैदान में भी रसायनिक खादें, दवाएं और हाइब्रिड बीजों के ज़रिए न सिर्फ़ फ़सल की पैदावार बढ़ी है बल्कि बंजर और रेतीली ज़मीन भी खेती के क़ाबिल हो गयी है। अनाज, फल और सब्ज़ियों में पहले से कई गुना ज़्यादा पैदावार होने लगी है मगर एक नकारात्मक पहलू भी सामने आया है और वो ये कि माहौल में प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यावरणीय प्रोग्राम के तहत प्रदूषण के बारे में लगातार आंकड़े दिये जा रहे हैं और एशियाई मुल्क इस ख़तरे से कुछ ज़्यादा ही दो-चार हैं। हवा तो प्रदूषित होती ही है मगर सबसे ज़्यादा ख़तरा पानी के प्रदूषित हो जाने की वजह से है और ज़मीन के नीचे के पानी की सतह न सिर्फ़ कम होती जा रही है बल्कि ज़हरीली भी। ये भी मुमकिन है कभी आगे चल कर पानी के स्रोत ख़त्म हो जाएँ। मुल्क के कई राज्यों में पानी के विभाजन पर आपस में विवाद चल रहा है और मुमकिन है कि अगर तीसरी आलमी जंग हुई तो वो सिर्फ़ पानी की स्रोतों पर क़ब्ज़ा करने की नियत से होगी। इन विज्ञापनों में आजकल रोज़ हरे दरख़्तों को काटने से मना किया जाता है और ये आगाह किया जाता है कि हरे जंगलों और दरख़्तों को काटना और वहाँ कारख़ाने और फ़ैक्ट्रियाँ लगाना एक जुर्म है। पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने के लिए हुकूमत ने बहुत-से क़दम उठाये हैं, जिनकी सूचना आम आदमी तक पहुँचाना बहुत ज़रूरी है। ये क़दम क़ानून बनाने तक पहुँच गये हैं और उनको न सिर्फ़ प्रदेश सरकारों बल्कि केन्द्रीय सरकार के ज़रिए भी लागू किया जा रहा है। उनमें फ़ैक्टरी एक्ट, पर्यावरण एक्ट और जल पर्यावरण का क़ानून भी शामिल हैं। प्रदूषण को कन्ट्रोल में रखने के लिए बाक़ायदा तौर पर एक बोर्ड को भी बनाया गया है जिसकी सिफ़ारिशात पर हुकूमत के ज़रिए अमल किया जाना लाज़िमी है। इस तरह के इश्तेहारात न सिर्फ़ अख़बारों में बल्कि टेलीविज़न और रेडियो पर भी प्रसारित किये जा रहे हैं। दीवारों पर पोस्टर भी लगाये जा रहे हैं। ये अच्छे संकेत नहीं हैं। ये किसी बड़े ख़तरे का पूर्वाभास हैं। हद हो गयी कि अच्छी तन्दुरुस्ती को बरक़रार रखने के पुराने और बेकार उसूल भी दुहराये जाने लगे हैं। कसरत करना, सुब्ह का टहलना, पौष्टिक आहार, वक़्त की पाबन्दी वग़ैरा के फ़ायदे और शराब पीने या सिगरेट पीने के बुरे प्रभाव गिनवाये जा रहे हैं। ताज़ा फल और सब्ज़ियाँ खाने पर ज़ोर दिया जा रहा है

और गोश्त खाने से होने वाले नुक़सानों के बारे में निर्देश दिये जा रहे हैं। स्वास्थ्य की सुरक्षा के तमाम उसूल रटाये जा रहे हैं जबकि स्वास्थ्य सुरक्षा के मुखिया इनके बारे में कुछ नहीं जानता और अवाम इस क़िस्म के इश्तिहारों पर अपना वक़्त बर्बाद नहीं करना चाहते मगर सबसे बड़ा आभास तो उस वक़्त दिल में घर कर जाता है जब अख़बारों के इन इश्तिहारों में से सतर भी देखने को मिल जाती हैं कि 'याद रखिए! पाक व साफ़ पानी का न तो कोई रंग होता है और न ही कोई मज़ा और ख़ुशबू।' काश ये भी बता दिया जाता कि हाइड्रोजन गैस के दो अणु, आक्सीजन गैस के एक अणु से मिलने के बाद जो शै बनाते हैं वो पानी कहलाती है। पड़ोसी मुल्क के वैज्ञानिकों ने पानी की इस तारीफ़ में एक जुमले का नैतिक और मज़हबी इज़ाफ़ा भी कर लिया है। उनके मुताबिक़ इन दोनों गैसों के अणु तब तक आपस में मिल ही नहीं सकते जब तक उन्हें मिलाने में ख़ुदाई मर्ज़ी शामिल न हो। शायद इसलिए चाँद पर पानी शुरू शुरू में दरयाफ़्त नहीं किया जा सका हालाँकि वहाँ आक्सीजन भी थी और हाइड्रोजन भी मगर ये दोनों गैसें ख़ुदा की मर्ज़ी न हो तो मुहाल हैं, ये भी ख़ुदा की मर्ज़ी है।)

पता नहीं इस क़िस्म के इश्तिहार बचकाना हैं या किसी हमलावर फ़ौज के आगे आगे दौड़ते हुए ढोल बजा बजा कर आने वाली मौत से ख़बरदार करने वाले भाण्ड और मसख़रे। ये इससे ज़्यादा और क्या ख़बर दे सकते हैं या इसके अलावा और क्या बता सकते हैं कि साफ़ पानी का न कोई रंग होता है न मज़ा ओर न कोई ख़ुशबू, अगर ख़ुदा चाहे तो।

ख़ुदकुशी नामा

रिज़वानुल हक़

ये सूरते हाल उर्दू/हिन्दी में तो है ही, चन्द मग़रिबी मुल्कों को छोड़कर लगभग पूरी दुनिया में यही सूरते हाल है। ये कुछ ऐसे सवाल हैं, मसलन किरदार और उसके रचनाकार में क्या रिश्ता है? क्या कभी किरदार अपने रचनाकार से गुफ़्तगू करते हैं? अगर गुफ़्तगू करते हैं तो क्या गुफ़्तगू करते हैं? और क्या वाक़ई किरदार का कोई रचनाकार होता है? साथ ही ये भी कि क्या किरदार का कोई अस्तित्व होता है? या वह महज़ एक कठपुतली होता है। जिस की डोर रचनाकार के पास होती या उस उपन्यास के निहित लेखक के पास होती है? निहित लेखक और रचनाकार में क्या रिश्ता होता है? क्या दोनों बुनियादी तौर पर एक ही होते हैं? या अलग अलग? और अगर अलग अलग होते हैं तो उनका आपसी रिश्ता क्या होता है। ऐसे न जाने कितने सवाल हैं, जिन पर गुफ़्तगू तक़रीबन नहीं के बराबर होती है। ये सवाल सिर्फ़ आलोचना के नहीं हैं, इनका रिश्ता रचनाकार से भी होता है। अगर आलोचना इन सवालों को नज़र अन्दाज़ करेगी तो ये सवाल रचनाकार की रचनाओं में जगह पाएँगे।

पूर्व गुफ़्तगू

इस उपन्यास में मेरा नाम तालिब है, मैं ही इसका मुख्य किरदार हूँ, मेरा रचनाकार आज फिर मुझे क़िस्सा सुनाने पर मजबूर कर रहा है। (अब इस बात की व्याख्या ज़रूरी है कि औपचारिक रूप से ये उपन्यास शुरू हो चुका है, और आगे मैं जो भी बातें कहुँगा, वह उपन्यास ही का हिस्सा होंगी।) मैं अपने रचनाकार से आवेदन कर रहा हूँ कि जनाब आप क़िस्सा गो हैं आप जैसा चाहें क़िस्सा सुनाइये, लेकिन मुझे इस क़िस्सा गोई से दूर रखिए, मैं आपके उपन्यास का रावी नहीं बनना चाहता। क़िस्सा सुनाने के लिए आप एक क़िस्सा गो की रचना कीजिए, या कोई उपेक्षित किरदार भी रावी हो सकता है। मैं तो आपका मुख्य किरदार हूँ, अगर मैं क़िस्सा सुनाऊँगा तो ये क़िस्सा एक जीवनी क़िस्म का आख्यान बन जाएगा। एक किरदार को किसी जीवनी में क्या दिलचस्पी हो सकती है? जीवनी में बहुत सी ख़ूबियाँ हो सकती हैं। लेकिन वह फ़िक्शन का पर्याय नहीं हो सकता। अगर किरदार क़िस्सा गोई करेगा तो क़िस्सा गोई पर कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़ेगा।

इसलिए बेहतर होगा कि मुझे सिर्फ़ किरदार ही रहने दिया जाए, क़िस्सा सुनाने के लिए मुझे मजबूर न किया जाए। रही बात इस क़िस्से में किरदार बनने या निभाने की तो इसके लिए हमेशा ही मेरा सर झुका हुआ है। मैं आपकी रचना हूँ, आप जो रोल देंगे मैं उसे अदा करने की पूरी कोशिश करुँगा।

एक किरदार के तौर पर ये तालिब हर तरह का किरदार निभाने को तैयार है लेकिन मुझे किरदार ही रहने दीजिए क़िस्सा गो मत बनाइये। क़िस्सा सुनाने में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। क़िस्सा सुनाते वक़्त

मैं एक क़िस्म की नाक़ाबिले बयान कशमकश में मुबतला हो जाता हूँ। फिर ये क़िस्सा भी तो देखो कैसा है? ''ख़ुदकुशी नामा!'' ज़रा ये भी तो ग़ौर फ़रमाइये, लोग क्या कहेंगे? लोग सोचेंगे कि मैं उन्हें ख़ुदकशी की तरफ़ आकर्षित करने के लिए ये क़िस्सा सुना रहा हूँ। मेरे साथ ये बड़ी नाइन्साफ़ी है। मेरी बात मानी जाए या न मानी जाए लेकिन मैं अपना प्रतिरोध ज़रूर दर्ज करा देना चाहता हूँ। ताकि प्रमाण रहे कि मुझे क़िस्सा सुनाने पर मजबूर किया गया है।

मेरे रचनाकार मेरी बात कहाँ मानने वाले, कहते हैं, नहीं! इस बार क़िस्सा तुम्हें ही सुनाना होगा। ऐसा नहीं है कि मैंने कभी कोई क़िस्सा सुनाया न हो। ये सच है, मैं पहले भी किरदार रहते हुए क़िस्सा सुना चुका हूँ लेकिन बहुत कम। मेरे रचनाकार, मेरे दिमाग़ में अभी अभी एक विचार आया है, मैं आपकी कहानियों से आपका हम आवाज़ रहा हूँ, कहीं ऐसा तो नहीं कि आप मुझसे ऊब चुके हैं और ख़ुदकुशी नामा का हीरो बनाकर, मुझसे ख़ुदकुशी करवा के अपना पीछा छुड़वाना चाहते हैं।

मुझे शक है कि इस क़िस्से में ज़रूर कुछ ऐसी बातें होंगी, जिसका इल्ज़ाम आप अपने सर नहीं लेना चाहते होंगे, क्योंकि रावी के विचार को लोग लेखक के विचार मान ही लेते हैं। लेकिन वही विचार अगर किसी किरदार के हों, भले ही वह मुख्य किरदार के हों, तो बहर हाल लेखक की उससे एक दूरी क़ायम हो जाती है। कि किरदार के विचार लेखक के विचार नहीं हो सकते, क्योंकि किरदार तो हर तरह के होते हैं। अक्सर विरोधी विचार के और टकराव भरे भी, सभी एक ही रचनाकार की रचना होते हैं। ऐसे में सवाल उठेगा कि किस किरदार के विचार लेखक के विचार होंगे? और किस किरदार के विचार लेखक के नहीं माने जायेंगे। इसका फ़ैसला कैसे होगा? वैसे मैं अपने तजुर्बे की बुनियाद पर इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि निहित लेखक किसी भी तरह का हो, उसके विचारों को लेखक के विचार समझ लेना एक गुमराह करने वाली बात है।

मैं समझता हूँ शायद मेरा रचानाकार इस क़िस्से को जज़्बातियत और व्यक्तिगत तजुर्बात से भी दूर रखना चाहता होगा, जब कोई शख़्स ख़ुद का क़िस्सा बयान करता है, तो बहरहाल वह अपना तमाशा ज़रा संभल कर ही करता है। बहुत सी बातें जब निहित लेखक दूसरे का क़िस्सा मान कर बयान करता है तो लेखक आज़ाद होता है, जितनी चाहे जज़्बातियत की रचना कर सकता है लेकिन जब एक किरदार क़िस्से को जीवनी के तौर पर बयान करेगा तो ज़्यादा वस्तुनिष्ठ रवैया इख़्तियार करना मुश्किल है। मैं जानता हूँ आपबीती के तौर पर क़िस्सा सुनाने में रहमदिली और आयरनी ज़्यादा आसानी से और बेहतर तरीक़े से पैदा की जा सकती है लेकिन मैं वही तो नहीं चाहता हूँ।

बहर हाल मैं अपने रचनाकार के आग्रह के आगे मजबूर हूँ, ये किरदार तालिब एक बार फिर आप ख़्वातीन ओ हज़रात! अगर तीसरे लिंग के लोग भी हिन्दी उपन्यास के पाठक में शामिल हैं, तो उनके भी सामने मैं एक क़िस्सा लेकर हाज़िर हूँ। अब ये पूरा उपन्यास मेरी नज़र से आप तक पहुँचेगा। यहाँ से रचनाकार का रोल ख़त्म होता है।

ये क़िस्सा सुनाते वक़्त मेरे सामने श्रोता नहीं हैं। अब मैं ये क़िस्सा अपने रचनाकार को संबोध्य मानकर सुना सकता हूँ। जो सच पूछो तो रचनाकार भी सीधे मेरे सामने नहीं है। जैसे आप दुनियावी इन्सान ख़ुदा को हाज़िर और दर्शक मान कर बहुत सारी झूटी सच्ची क़समें खाते रहते हैं। वैसे ही ये क़िस्सा गो भी अपने रचनाकार को हाज़िर और दर्शक मानकर क़िस्सा सुना सकता है, जहाँ तक सच और झूठ का सवाल है तो मेरे ऊपर तुम्हारी दुनिया की पाबन्दी नहीं है। मैं सच का पाबन्द हूँ लेकिन तुम्हारी दुनिया के सच का नहीं, बल्कि फ़िक्शन के सच का, जो इस वास्तविक और ठोस दुनिया के सच के समानांतर एक दूसरा सच है।

इस क़िस्से की सूरत हाल ये है कि मैं एक टैक्सी में शहर से दूर भाग रहा हूँ और इसी टैक्सी में अपने क़िस्से को याद कर कर के अपने जी को परेशान कर रहा हूँ। ऐसे में इस क़िस्से का एक बड़ा हिस्सा तो ख़ुद से बात करने के हालात में है। बहर हाल ये नाचीज़ तालिब एक बार फिर क़िस्सा गोई के लिए आप तमाम लोगों की ख़िदमत में हाज़िर है।

> कुछ वाक़िए, कुछ बातें वक़्त से परे होती हैं, आप ये नहीं कह सकते कि इस वाक़िए का किसी ख़ास ज़माने से सम्बन्ध है। कुछ बातों का रिश्ता किसी बहुत पुरानी बातों से होता है। किसी बात का सम्बन्ध सैकड़ों साल पहले से भी हो सकता है। फिर आज जो कुछ हो रहा है वह भूतकाल में हुए किसी वाक़िए का नतीजा, प्रतिक्रिया या उसका विस्तार भी मुमकिन है। पृष्ठभूमि के बग़ैर आप समकालीन को समझ नहीं सकते।

क़िस्से की पृष्ठभूमि

मैं आपको एक अनजान ज़माने के जाने पहचाने भूगोल में ले चलता हूँ। लखनऊ के उत्तर में क़रीब तीस मील की दूरी पर एक छोटा सा शहर करीम नगर स्थित है। जिसके पश्चिम में कोई डेढ़ मील की दूरी पर फन्दा गाँव आबाद है। ये गाँव फन्दा लगाने के लिए उस इलाक़े में बहुत मशहूर है। चाहे वह मामला ख़ुदकुशी का हो, फाँसी देने का हो या दूसरे के गले में फन्दा डाल कर उसे क़त्ल कर देने का हो। हर तरह के वाक़िआत का एक पूरा इतिहास इस गाँव में मौजूद है।

फन्दा गाँव के अस्तित्व में आने के बारे में एक वाक़िआ मशहूर है, जिसे आम तौर पर इस गाँव का बच्चा बच्चा जानता है। इसलिए इस वाक़िए से आप का भी तआरुफ़ करा देना चाहिए। वह मशहूर वाक़िआ इस तरह है।

बात पुरानी है, हर काई जानता है लेकिन कितनी पुरानी है कोई नहीं जानता है। जब कोई वाक़िआ ज़ुबानी चलता है लेकिन लिखा नहीं जाता, तो उसका अंजाम ऐसा ही होता है। करीम नगर के महाराज के सिपाहियों ने एक बार ख़ौफ़नाक डाकू राम कुकरेती को पकड़ कर महाराज की ख़िदमत में पेश कर दिया। करीम नगर के महाराज कहने को तो ख़ुद मुख़्तार महाराजा थे लेकिन अदालत अंग्रेज़ बहादुर की ही चलती

थी। कुकरेती के बारे में मशहूर था कि उसे पकड़ना बहुत मुश्किल है और पकड़ कर क़ैद में रख पाना उससे भी मुश्किल बल्कि नामुमकिन है। वह कई बार पकड़ा जा चुका था, मामला अदालत तक पहुँचा और अदालत इन्साफ़ के लम्बे सफ़र पर चल कर कोई फ़ैसला सुनाती, इससे क़ब्ल ही वह हर बार किसी न किसी तरीक़े से क़ैदख़ाने से भाग जाता। कभी क़ैदख़ाने के सुरक्षा कर्मियों को कुछ लालच देकर, कभी जेल की दीवार में सेंध लगाकर और कभी सुरक्षा कर्मियों को क़त्ल या ज़ख़्मी करके। इस तरह उसको क़ैद में रख पाना नामुमकिन सा हो गया था और भागने के बाद वह अपने पकड़ने वालों को, या पकड़ने में मदद करने वालों और उसे किसी भी क़िस्म की तकलीफ़ देने वालों को वह चुन चुन कर मारता था।

इस बार महाराज चाहते थे कि कुकरेती का मामला अदालत तक न पहुँचने पाए और उसे फ़ौरन फाँसी दे दी जाए लेकिन मुश्किल ये थी कि शाही जल्लाद अभी अपने गाँव गया हुआ था, उसकी बेटी की शादी थी। और कोई दूसरा ये काम अंजाम देना नहीं चाहता था, क्योंकि सब जानते थे कि राम कुकरेती को फाँसी पर चढ़ाना आसान नहीं है, किसी न किसी बहाने वह निकल भागेगा और भागने के बाद वह चुन चुन कर बदला लेगा। ऐसे में महाराज ने ऐलान करा दिया कि जो कोई राम कुकरेती को फाँसी के फँदे पर चढ़ाएगा उसे महाराज की तरफ़ से ख़ूब इनाम ओ इकराम से नवाज़ा जाएगा।

किसी की हिम्मत न हो रही थी कि वह आगे आकर उसे फाँसी पर चढ़ाए, उनका ख़्याल था कि कुकरेती इस बार भी किसी न किसी बहाने बच निकलेगा और फिर हमें ज़िंदा न छोड़ेगा। ऐसे में महाराज के व्यक्गित सुरक्षा कर्मियों के एक सदस्य यूसुफ़ हुसैन ख़ाँ का बीस साल का जवान बेटा मंज़ूर हुसैन ख़ाँ सामने आया, वह बहुत बहादुर और ताक़तवर था। मंज़ूर हुसैन ख़ाँ ने उसी रात कुकरेती के गले में फंदा डाल कर खींच दिया और वह मारा गया। महाराज ने उसकी लाश को चुपके से गड्ढे में गड़वा दिया कि कहीं अंग्रेज़ बहादुर की अदालत को मालूम न हो जाए कि उन्होंने अदालत के काम को अपने हाथ में लिया है। मरने के बाद भी कई दिनों तक लोगों को यक़ीन न आया कि वह मारा गया है, यही खटका लगा रहता कि वह किसी न किसी बहाने भाग निकला होगा और अपने ज़िंदा होने के ऐलान के लिए फिर कोई वारदात कर देगा। लेकिन हक़ीक़त हक़ीक़त होती है, देर सबेर अपने आपको मनवा ही लेती है।

उसके मरने के बाद महाराज ने चैन की साँस ली, उन्होंने अपने वादे के मुताबिक़ मंज़ूर हुसैन खाँ को ख़ूब इनआम ओ इकराम से नवाज़ा। महाराज ने मंज़ूर हुसैन ख़ाँ को नक़द के साथ साथ चार गाँव की ज़मींदारी भी अता की। ये चारों गाँव करीम नगर से एक से तीन मील के दायरे में थे। मंज़ूर हुसैन खाँ ने उन्हीं गाँव के क़रीब अपनी शानदार हवेली तामीर करवाई और वहीं रह कर चारों गाँवों की ज़मींदारी का काम देखने लगे। हवेली के आस पास ही उन्होंने कई लोगों को बसाया। शुरू में हवेली तामीर करने वाले मज़दूरों को बसाया। जब हवेली बन गयी तो भी मन्ज़ूर हुसैन ने उन मज़दूरों को वहाँ से जाने न दिया। औरतें बच्चे हवेली में काम करने लगे और मर्द खेतों में।

गाँव में पैसा ज़मीन, जायदाद सब कुछ था, इसके बावजूद मंज़ूर हुसैन का वहाँ दिल न लगता। कारण ये था कि गाँव में कुलीन वर्ग से कोई न था। जिससे वह बातचीत करते, दोस्ती और रिश्तेदारी करते और सुख दुख में शामिल होते। यूँ तो करीम नगर में अभी भी उनका पुश्तैनी मकान था। वह अक्सर वहाँ रहते भी थे लेकिन दिक़्क़त ये थी कि अगर वह शहर में रहते तो ज़मींदारी सही से नहीं चल पा रही थी। और अगर गाँव में रहते तो कोई यार दोस्त ऐसा न था, जिससे दो घड़ी बात चीत कर सकते। बहुत सोच बिचार के बाद मंज़ूर हुसैन ने ये फ़ैसला किया कि अपने कुछ दोस्तों और रिश्तेदारों को ज़मीन जायदाद दे कर गाँव में ही बसाया जाए।

इस तरह मंज़ूर हुसैन ने कई दोस्तों और रिश्तेदारों को ज़मीन जायादाद दी और वह लोग हवेली के आस पास रहने लगे, धीरे धीरे ये हवेली एक गाँव में तबदील होती चली गयी और लोगों ने इस गाँव को फन्दा कहना शुरू कर दिया। मंज़ूर हुसैन को चार गाँवों की ज़मींदारी मिली थी लेकिन उन्होंने उसमें एक गाँव फन्दा का इज़ाफ़ा करते हुए पाँच गावों के ज़मींदार बन गये। शुरू शुरू में मंज़ूर हुसैन ख़ाँ को ये नाम बिलकुल पसन्द न आया लेकिन उनके एक दोस्त ने समझाया कि कुछ भी हो, इस नाम के साथ तुम्हारी बहादुरी के क़िस्से भी नस्लों तक जारी रहेंगे। इससे लोग आपसे डरते भी रहेंगे और लोगों पर आपके ख़ानदान की बहादुरी का रोब भी छाया रहेगा। आख़िर राम कुकरेती को फाँसी का फन्दा डालने वाला कोई मामूली शख़्स तो नहीं हो सकता। ये बात मंज़ूर हुसैन खाँ के दिल को भा गयी और उन्होंने उस गाँव का नाम फन्दा ही रहने दिया।

मंज़ूर हुसैन खाँ का ख़ानदान कई नस्लों तक फन्दा गाँव में ज़मींदारी करता रहा। इस दौरान फन्दा गाँव की आबादी भी काफ़ी बढ़ गयी थी। कई लोग अंग्रेज़ी हुकूमत में नौकरी करने लगे थे, अब गाँव में उन सरकारी नौकरों का एहतेराम भी बढ़ता जा रहा था। आज़ादी के बाद जब ज़मींदारी न रही तो धीरे धीरे इस ख़ानदान के व्यक्ति शहर में जा जा कर बसने लगे और हवेली वीरान होती चली गयी। ऐसा न था कि ज़मींदार के घर वाले कुछ सोच समझ कर एक साथ शहर में जा बसे हों। दर अस्ल हुआ यूँ कि एक बार पढ़ने के लिए जो शहर गया, तो फिर लौट कर कोई वापस गाँव न आया। सबसे बड़ी समस्या ये थी कि गाँव में बिजली न थी। बिजली के बग़ैर गाँव में उनका रहना मुमकिन न था। ज़मींदार साहब ने लखनऊ में भी एक कोठी बनवाई थी। जिसमें कई लोग रहते थे। ख़ानदान के कई लोग दूसरे शहरों में भी नौकरी या कारोबार के सिलसिले में आबाद हो गये थे। फिर एक ज़माना ऐसा आया कि घर के सारे लोग शहर में जा बसे, और उस वक़्त के ज़मीदार असलम ख़ान अकेले हवेली को वीरान होते देखते रहे, वह न उसे फिर आबाद कर सके और न उसे छोड़ सके, उन्होंने आख़िरी साँसे उसी हवेली में लीं। उसके बाद ख़ानदान के लोग कभी कभी आते थे और खेत व बाग़ों के हिसाब क़िताब करके चले जाते थे। अपनी जायदाद की देखभाल की ज़िम्मेदारी उन्होंने गाँव के लोगों को दे रखी थी।

अब हवेली टूट टूट कर खण्डहर बनती जा रही है, अब इसमें कोई नहीं रहता है। लेकिन गाँव अब भी क़ायम है, मेरे पूर्वज मंज़ूर हुसैन ख़ाँ के उन रिश्तेदारों में थे जिन्हें उन्होंने ज़मीन जायदाद देकर गाँव में आबाद किया था। तो ये रही फन्दा गाँव की मुख़्तसर तारीख़। अब जिस गाँव का नाम ही फन्दा हो और जिस गाँव की बुनियाद की वजह भी फन्दा ही हो, तो नाम का कुछ तो असर होना ही था। उस गाँव में फाँसी का फन्दा डाल कर मार देने की एक पुरानी परम्परा रही है, लेकिन अब गाँव के बुज़ुर्ग इस बात को लेकर परेशान हैं कि अब ये परम्परा टूट रही है। अब इस जनवादी हुकूमत में किसी ज़मींदार को ये अधिकार भी नहीं है कि वह किसी को फाँसी दे दे, इधर कुछ बरसों से देखने में ये आया है कि यहाँ के लोग ख़ुदकुशी करने के लिए भी दूसरे तरीक़े अपनाने लगे हैं। आप कह सकते हैं कि इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? ख़ुदकुशी तो ख़ुदकुशी है चाहे फन्दा डाल कर की जाए, चाहे किसी दूसरे तरीक़े से। जी नहीं! रस्सी का फन्दा डाल कर मरना, मरने का एक ऐसा तरीक़ा है जिसमें सबसे कम हिंसा होती है। न कोई ख़ून निकलता है, न कोई ज़ख़्म होता है, ये मौत बीमार होकर मरने से भी कहीं आसान और बेहतर इन्सानी मौत है। शायद इसीलिये आधुनिक जनवादी देशों में भी फाँसी की सज़ा के लिए इसी तरीक़े को अपनाया गया है।

तो मैं आज इसी गाँव फन्दा का एक क़िस्सा सुनाने जा रहा हूँ। अगरचे मैं जानता हूँ कि ये क़िस्सा मुझे ख़ुदकलामी और सरगोशी के अन्दाज़ में ही सुनाना है क्योंकि जिनको मैं सम्बोधित कर रहा हूँ, वह मैं ख़ुद हूँ या मेरा रचनाकार और कोई नहीं है। अगरचे रचनाकार को ये अधिकार भी है कि वह इस क़िस्से को छपवा भी सकता है और इसके दरवाज़े तमाम अवाम के लिए खोल दे लेकिन फ़िलहाल मैं ये क़िस्सा तनहाई में और लगभग ख़ुदकलामी की कैफ़ियत में सुना रहा हूँ।

पहला अध्याय

> वह एक ख़ौफ़नाक ज़माना था, हर तरफ़ ख़ौफ और दहशत का माहौल था। लोग कुछ भी कहने से डरते थे, जिनको उन सबके ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी थी वह कह रहे थे, हर तरफ़ अम्न ओ अमान है, वह कह रहे थे मुल्क तरक़्क़ी कर रहा है, वह इन्साफ़ का एक बहुत पुराना विचार लागू करना चाहते थे और कह रहे थे हम इन्साफ़ के सुनहरे दौर में रह रहे हैं, शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं। वह आसुओं के सैलाब को रहमत की बारिश कह रहे थे और मासूमों के दुख दर्द को मुल्क के दुश्मनों की साज़िश।

मैं आपको फन्दा गाँव का परिचय 'क़िस्से की पृष्ठिभूमि' के तौर पर करवा चुका हूँ, क़िस्से का शीर्षक भी आप देख ही चुके हैं। आइये अब अस्ल क़िस्से की जानिब बढ़ते हैं। शीर्षक से आप पर ये बात भी स्पष्ट हो चुकी होगी कि मैं एक सम्भावित ख़ुदकुशी की जानिब बढ़ रहा हूँ, और इस ख़ुदकुशी के लिए एक अच्छा सा ख़ुदकुशी नामा तैयार करने की कोशिश कर रहा हूँ। जिससे मेरी ख़ुदकुशी अर्थपूर्ण हो सके। लेकिन मैं चाहता हूँ कि ख़ुदकुशी के सख़्त तरीन नतीजे पर पहुँचने से पहले मैं उन हालात को भी थोड़ा

सुना दूँ। जिनकी वजह से मैं ये सख़्त तरीन क़दम उठाने पर मजबूर हुआ। इसके बाद तो मुझे ख़ुदकुशी करनी ही है और ख़ुदकुशी से पहले एक ख़ुदकुशी नामा भी लिखना है। यूँ तो मेरी पूरी ज़िन्दगी ही ख़ुदकुशी के लिए कहीं न कहीं राह हमवार करती रही है। लेकिन वर्तमान परिस्थितियों की जहाँ से शुरू होती है, अब मैं इस क़िस्से की वहीं से शुरुआत करता हूँ।

बात तक़रीबन एक साल पुरानी है, उन दिनों मैंने एक नई नौकरी शुरू की थी वह एक एन. जी. ओ. था। उसका दावा था कि वह ख़वातीन की ख़िदमत करता है। नौकरी के दौरान यूँ तो बहुत से वाक़िए पेश आए, मैं उन तमाम वाक़िआत में अपना काम ज़िम्मेदारी से करता रहा। लेकिन ये सारे काम मैं पेशेवराना ज़िम्मेदारी से करता था। मैंने कभी भी अपने आपको सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं समझा। उन कामों को नौकरी की ज़िम्मेदारियाँ समझ कर ही निभाता रहा। इसी नौकरी के दौरान मेरे सामने एक औरत की ख़ुदकुशी का वाक़िआ पेश आया। उस औरत का नाम रज़िया था, उसने हालात से मजबूर होकर ख़ुदकुशी कर ली थी। इससे पहले उसके शौहर का क़त्ल हो गया था। उसे मुआवज़ा दिलाने और उसके मरहूम शौहर के क़ातिलों को जेल पहुँचाने के लिए एक स्थानीय नेता सनेही राम सामने आए। जो वहाँ के एम. पी. भी थे। मालूम हुआ कि वही नेता उस बेवा औरत का बरसों तक यौन शोषण करता रहा है।

जब एक बार रज़िया गर्भवती हो गयी, तो उसने नेता जी पर ज़ोर डालना शुरू कर दिया कि मुझसे शादी करो। नेताजी तो पहले से शादी शुदा थे और रज़िया से शादी करने का उनका कोई इरादा भी नहीं था। ऐसे में रज़िया ने नेता जी के ऊपर बलात्कार का आरोप लगाया और उनके ख़िलाफ़ रिपोर्ट लिखवाने थाने पहुँच गयी। थानेदार ने नेता जी को फ़ोन करके मामला समझाया। नेताजी ने फ़ौरन एक गाड़ी भेजकर रज़िया को थाने से अपने घर बुलवा लिया। आख़िर कार दोनों में इस बात पर रज़ामंदी हुई कि नेताजी अपने एक मुस्लिम अंध भक्त से उसकी शादी करा देंगे।

अभी शादी की तैयारियाँ चल ही रही थीं कि अंध भक्त की आँखें खुल गयीं, क्योंकि उसको रज़िया के गर्भ के बारे में मालूम हो गया, फिर वह अचानक कहीं ग़ायब हो गया। महीनों तक उसकी तलाश जारी रही लेकिन वह न मिलना था न मिला। अब रज़िया ने गर्भपात कराने की कोशिश की, अब तक पाँचवा महीना शुरू हो चुका था, इसलिए डाक्टर ने गर्भपात करने से मना कर दिया। उनका कहना था कि इस मरहले में गर्भपात कराना ज़च्चा को सीधे मौत के हवाले करना है। अब गर्भपात मुमकिन नहीं है। रज़िया अस्पताल से मायूस होकर वापस चली आयी। जब बाइज़्ज़त ज़िन्दगी की कोई सूरत न निकल सकी तो रज़िया ने ख़ुदकुशी कर ली।

मामला सियासी था, वह नेता सत्ताधारी पार्टी का एम. पी. है। शुरू में जो ख़बर मिली थी उसके मुताबिक़ रज़िया ने ख़ुदकुशी नामा लिखा है और उसने अपनी मौत के लिए एम. पी. को ज़िम्मेदार ठहराया है। लेकिन अख़बारों में जो ख़बर छपी उसमें बताया गया कि ख़ुदकुशी व्यक्तिगत कारणों से की गयी है और

इस सिलसिले में कोई ख़ुदकुशी नामा मिलने का कोई ज़िक्र नहीं था। ये पूरी ख़बर पुलिस के हवाले से छपी थी।

मुझे जब से ये ख़बर मालूम हुई थी, तभी से मैं इस वाक़िए के विवरण जमा कर रहा था, लेकिन अब तक कुछ ख़ास हाथ न लगा था। एक दिन एक शख़्स मेरे दफ़्तर आया जो रज़िया का एक रिश्तेदार था, उसने मुझे रज़िया के ख़ुदकुशी नामे की एक कापी दी और मदद की अपील की। उसने रज़िया का पूरा क़िस्सा सुनाते हुए बताया कि किसी प्रोग्राम में उस एम. पी. सनेही राम की नज़र रज़िया पर पड़ गयी थी, रज़िया बहुत ख़ूबसूरत थी और वह उसको पहली ही नज़र में भा गयी और उसने रज़िया को कैसे भी हासिल करने का फ़ैसला कर लिया। एम. पी. ने अपने आदमियों को उसी वक़्त ये मालूम करने के लिए लगा दिया कि वह कौन है, उन लोगों ने रज़िया के शौहर के बारे में मालूम करके बता दिया। इसके बाद एम. पी. ने रज़िया के शौहर का क़त्ल करवा दिया। रज़िया की ख़ूबसूरती ही उसकी दुश्मन बन गयी। उसकी रज़िया के शौहर से कोई दुश्मनी न थी, एम. पी. ने उसे सिर्फ़ इसलिए क़त्ल करवा दिया कि अब रज़िया उसके पास आने के लिए मजबूर हो जाएगी और हुआ भी कुछ ऐसा ही।

जब उसके शौहर के क़त्ल की ख़बर फैल गयी तो उसके शौहर के क़ातिलों को पकड़वाने और रज़िया को मुआवज़ा दिलवाने के लिए एम. पी. ख़ुद रज़िया के घर गया। उसने रज़िया को यक़ीन दिलाया कि वह जल्द ही उसके शौहर के क़ातिलों को पकड़वा कर जेल भिजवाएगा। साथ ही उसने सरकारी मदद और मुआवज़ा दिलवाने का वादा किया। रज़िया और उसके शौहर का सम्बन्ध लखनऊ के आस पास के किसी गाँव से था। रज़िया का शौहर लखनऊ आकर इलेक्ट्रिशियन का काम करने लगा था। उसका कोई क़रीबी रिश्तेदार शहर में न था, कुछ दूर के रिश्तेदार और यार दोस्त ज़रूर थे। उन लोगों ने कुछ दिन तो रज़िया का साथ दिया फिर वह सब भी अपने काम धन्धे में लग गये। एम. पी. मदद के लिए रज़िया को कभी यहाँ कभी वहाँ बुलवाने लगा। अपनी तरफ़ से रज़िया को मदद के नाम पर कुछ पैसे भी देने लगा। रज़िया के पास आमदनी का कोई दूसरा ज़रीआ न था। फिर एम. पी. ने उसकी यौन शोषण शुरू कर दिया। रज़िया अकेली इतने बड़े शख़्स से कैसे लड़ सकती थी? फिर उसकी अपनी आर्थिक और शारीरिक ज़रूरते थीं। हल्की फुल्की न नुकुर के अलावा उसने एम. पी. से कोई एहतिजाज न किया। उसे अपने शौहर के क़ातिलों के बारे में कुछ भी नहीं मालूम था। पुलिस रज़िया के क़ातिल को तलाश करने में नाकाम रही। और अब रज़िया की ख़ुदकुशी में भी पुलिस को कोई साज़िश नज़र न आई थी, इसलिए दोनों केस बन्द हो चुके थे।

रज़िया का ख़ुदकुशी नामा मिलने के बाद मैंने पत्रकारों और विपक्षी पार्टियों की मदद लेनी चाही। मैंने एक प्रेस कान्फ़्रेन्स आयोजित की। पूरा वाक़िआ सबको बताया, ख़ुदकुशी नामा की एक कापी भी दी। विपक्षी पार्टियों ने इस वाक़िए में कोई दिलचस्पी न दिखाई। मीडिया में ये एक मामूली सी ख़बर बनकर ग़ायब हो गयी, किसी अख़बार ने ये न लिखा कि रज़िया का ख़ुदकुशी नामा मौजूद है और उसने एम. पी. पर

बलात्कार का इल्ज़ाम लगाया है और उसकी ख़ुदकुशी का ज़िम्मेदार वही है। ख़बर में सिर्फ़ ये छपा कि रज़िया नाम की एक बेवा औरत ने ख़ुदकुशी कर ली।

उस प्रेस कान्फ़ेन्स का कोई ख़ास असर न पड़ा, जबकि मुझे लगता था कि इस ख़बर से सियासी हलक़ों में ज़लज़ला आ जाएगा। तो मैंने सोशल मीडिया पर भी ये ख़बर डाल दी। सोशल मीडिया के मेरे दोस्तों में देहली के एक पत्रकार ने जब ये ख़बर देखी तो उसने मुझसे सम्पर्क किया। मैंने पूरा विवरण ख़ुदकुशी नामा की कापी के साथ उसको भेज दी। उसने इस ख़बर को ख़ास सुर्ख़ी के साथ छाप दिया, ये एक इलेक्ट्रानिक अख़बार था, काग़ज़ पर छपने वाला न था। बहर हाल उसका कुछ तो असर पड़ा, इस ई अख़बार में छपने के बाद कुछ और इलेक्ट्रानिक अख़बारों ने भी ये ख़बर छाप दी। देहली के एक एन. जी. ओ. ने मामला राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तक पहुँचा दिया। कुछ हिन्दुस्तान के बाहर के अख़बारों ने भी इस ख़बर को छाप दिया। मामला धीरे धीरे बढ़ा, लेकिन ये सिलसिला चलता रहा। उसके बाद देहली के काग़ज़ पर छपने वाले अख़बारों ने भी इस ख़बर को छापना शुरू कर दिया। तब जाकर स्थानीय अख़बार भी ये ख़बर विस्तार के साथ छापने पर मजबूर हो गए। और फिर टी. वी. ख़बरों में भी इस वाक़िए पर बहसें शुरू हो गये। मुझे कई चैनलों पर बहस के लिए बुलाया गया।

जब ये ख़बर तेज़ी से फैलने लगी तो विपक्षी पार्टियों ने भी उसे एक सियासी बहस का विषय बना दिया। कुछ अख़बारों ने मेरे ख़िलाफ़ भी कुछ ख़बरें छापीं और रज़िया के किरदार पर भी सवाल उठाए, कुछ अख़बारों ने इसे हिन्दू मुस्लिम रंग देकर इस तरह ख़बर छापी जैसे किसी मुस्लिम संगठन ने एक गिरे हुए किरदार की मुस्लिम औरत का इस्तेमाल करके एक हिन्दू नेता को फँसाने की कोशिश की हो। अब जब कि ये मामला सुर्ख़ियों में आ चुका था और विपक्षी पार्टियों ने भी पार्लियामेण्ट में हँगामा शुरू कर दिया था। उसके बाद केस सी. बी. आई. को सौंप कर मामला ख़ामोश कर दिया गया। ये वह ज़माना था जब ये कुत्ता अपने आक़ा के इशारे के बग़ैर किसी पर नहीं भौंकता था और आक़ा की मर्ज़ी नहीं थी कि वह इस मामले में भौंके या काटे। यूँ भी अब रज़िया को क्या इन्साफ़ मिलता? जबकि वह इस दुनिया को ठुकरा कर जा चुकी थी।

•••

रज़िया वाले केस के बाद मेरी शोहरत काफ़ी बढ़ गयी थी, लोग मुझे मानवाधिकार और सामाजिक कार्यकर्ता के तौर पर जानने लगे, इसी के साथ ही मेरी ज़िन्दगी को भी ख़तरा हो गया। सनेही राम ने मुझे हर तरह से तबाह और बरबाद करने की कोशिश की। एक दिन मुझे मारने की भी कोशिश की गयी। अगर मैं लखनऊ छोड़कर रातों रात भाग न गया होता तो शायद वह मेरा क़त्ल भी करवा देता। मैंने कई अख़बारों में अपने ऊपर हुए हमले के बारे में भी ख़बर छपवा दी कि एम. पी. ने मुझ पर क़ातिलाना हमला करवाया है, विपक्षी पार्टियों ने मेरे ऊपर हुए हमले पर भी पार्लियामेण्ट में सवाल उठाए।

इसके बाद ख़ुद उसकी पार्टी ने सनेही राम को चेतावनी दी कि आगे मेरे ऊपर ऐसी कार्यवाही न की जाए इससे पार्टी की बदनामी हो रही है और अब अगर कुछ हुआ तो उसे पार्टी से निकाल दिया जाएगा। इसके बाद वह दिखावे के लिए ख़ामोश हो गया। उसने मुझे मरवाने की इरादा भी कुछ वक़्त के लिए टाल दिया। कुछ समय बाद मुझे देहली के एक बड़े एन. जी. ओ. में नौकरी मिल गयी और मैं चुपचाप देहली चला गया। अब मैं किसी अवामी जलसे में जाने से गुरेज़ करने लगा और कोशिश करता कि किसी को ये न मालूम होने पाए कि मैं देहली में रहता हूँ और यहीं किसी संस्था में काम करता हूँ।

एक दिन देहली में ही औरतों के एक प्रोग्राम में मुझे बुलाया गया, मैंने उन लोगों को यही बताया कि मैं अभी भी लखनऊ में रहता हूँ। उस प्रोग्राम में औरतों के लिए लड़ने के लिए मेरी बहुत तारीफें हुईं और मुझे बोलने के लिए कहा गया। मैंने औरतों के मसाइल को दूसरे समाजी और सियासी मसाइल से जोड़ते हुए अपने विचार व्यक्त किए। इसमें शरीक लोग ज़्यादातर किसी न किसी एन. जी. ओ. से थे, कुछ उन बस्तियों के लोग भी थे जहाँ ये एन. जी. ओ. वाले काम करते थे। मेरे वक्तव्य के बाद काफ़ी लोगों ने मुझे घेर लिया और बहुत से सवाल पूछते रहे, वहाँ मेरी काफ़ी तारीफ़ें हुईं।

मैं उनकी नज़रों में लखनऊ से आया था। इसलिए मेरे खाने और ठहरने का इंतज़ाम भी उन लोगों ने उसी इमारत में कर दिया था, जहाँ दिन का प्रोग्राम था। रात में एक शानदार दावत का भी इन्तज़ाम किया गया था। जिसमें दिन की तरह भीड़ तो न थी लेकिन फिर भी काफ़ी लोग थे। बहुत सी औरतें और कुछ मर्द भी। कुछ औरतें काफ़ी कम कपड़ो में थीं, उनमें से कुछ मुझसे ज़्यादा बेतकल्लुफ़ होने की कोशिश कर रही थीं। कई औरतें शराब भी पी रही थीं लेकिन ऐसी औरतों की संख्या बहुत कम थी जो सिगरेट पी रही हों। ऐसे में एक औरत ने मुझे सिगरेट पेश की तो मैंने क़ुबूल कर ली, हालांकि मैं सिगरेट नहीं पीता था, लेकिन कभी कभी किसी के आग्रह पर एक आध सिगरेट पी लेता था। जब सिगरेट किसी औरत ने पेश की हो तो उसे ठुकराना ठीक न लगा। बहर हाल ये एक नई क़िस्म की नई प्रगतिशीलता थी, मुझे जिसकी रक्षा करनी थी।

पहला कश थोड़ा तेज़ लिया, तेज़ कश लेते ही खाँसी आयी लेकिन ये कश बहुत ज़्यादा कड़ुवा था, जैसे सीधे दिल पर उसका हमला हुआ हो, कुछ लोग हँसे, शायद मेरे नौसिखियेपन पर, मैंने अपने नौसिखियापन की झेंप मिटाने के लिए जल्दी जल्दी तीन चार भर पूर कश ले लिए, ये कश लेते ही जैसे मैं किसी और दुनिया में पहुँच गया। यह नश्शा मेरे लिए बिलकुल अजनबी था, इससे पहले मैं शराब में भी कभी ऐसे होश से बेगाना न हुआ था। नश्शे की ऐसी कैफ़ियत से मैं वाक़िफ़ ही न था। यह सिगरेट शराब से भी ज़्यादा नशा लाने वाली थी। थोड़ी देर में मेरे लिए खड़े रहना नामुमकिन सा हो गया। मैं अपने कमरे की तरफ़ चल पड़ा, अभी दो चार क़दम ही बढ़ाए होंगे कि मेरे क़दम लड़खड़ाए और मैं वहीं गिर गया।

जिस औरत ने सिगरेट पेश की थी उसी ने मुझे संभाला एक दो औरतें और आ गयीं, वह भी मुझे पकड़ कर साथ साथ चलने लगीं, मैंने उनसे गुज़ारिश की मुझे मेरे कमरे में पहुँचा दो। चलते चलते वह

ख़वातीन मुझे संभालने की कोशिश में मुझसे क़रीब से क़रीबतर होती जा रही थीं। अब मुझे उस वक़्त की कोई भी बात याद नहीं है लेकिन चन्द अक्स मेरे ज़ेहन में हैं। उसके बाद मैं होश से तक़रीबन बेगाना हो चुका था। कमरे में पहुँचने के बाद शायद वह मुझसे काफ़ी क़रीब हो गयी थीं। वह कम से कम दो या तीन थीं, ऐसा मुझे याद आ रहा है, उसके आगे क्या हुआ? मुझे अब कुछ भी याद नहीं। न आवाज़ न कोई अक्स।

सुब्ह जब उठा तो नश्शा टूट चुका था। थोड़ी देर में मेरे पास किशु तोमर का फ़ोन आया। वह औरतों के अधिकार के लिए काफ़ी मशहूर हैं लेकिन उतनी ही विवादित भी। रज़िया वाले केस में उन्होंने उस नेता के समर्थन में बयान दिया था, यूँ तो उनका सम्बन्ध भी उसी पार्टी से था, जिसकी केन्द्र में सरकार है, लेकिन वह पार्टी से सम्बन्ध कभी ज़ाहिर नहीं करती थीं। उनकी नज़र महिला आयोग के आयुक्त की कुर्सी पर थी। उन्होंने मुझसे फ़ोन पर कहा, आप ने अच्छा नहीं किया है, ये मत समझना कि आप समाजी कार्यकर्ता हैं, इसलिए आपके साथ कोई रिआयत बरती जाएगी।

मैंने जवाब दिया, मुझे क्या रिआयत चाहिए? तो उन्होंने कहा, कल रात तुमने एक क्रिश्चियन औरत क्रिस्टोफ़र के साथ बलात्कार किया है। मेरे पास उसके सारे सुबूत फ़ोटोग्राफ़ की शक्ल में मौजूद हैं, क्रिस्टोफ़र ने तुम्हारे ख़िलाफ़ थाने में रिपोर्ट लिखवाने का फ़ैसला कर लिया है। अभी किसी तरह से मैंने उसे रोक लिया है लेकिन वह रुकने वाली नहीं है। मुझे याद आया शायद सिगरेट देने वाली वह औरत क्रिस्टोफ़र ही थी। उसने मेरे साथ ऐसा क्यों किया? मेरे साथ उन लोगों की क्या दुश्मनी है?

आहिस्ता आहिस्ता मुझे समझ में आने लगा कि मुझे इस प्रोग्राम में बुलाने से लेकर सिगरेट पिलाने और फिर मेरे ऊपर बलात्कार का आरोप लगाने तक पूरा मामला एक संगीन साज़िश थी। मुझे अपनी ग़लती का एहसास हुआ कि लोगों को जाने समझे बग़ैर, उनका दावत नामा क्योंकर क़ुबूल कर लिया। लेकिन उन पर यक़ीन न करने की कोई वजह भी तो न थी। किशू तोमर भी इस प्रोग्राम में शामिल हैं, मुझे किसी ने नहीं बताया था, वह इस प्रोग्राम में आयी भी नहीं थीं, न दिन में, न रात में। मैं उनको पसन्द तो नहीं करता था और उनकी पृष्ठभूमि से भी वाक़िफ़ था, लेकिन औरतों के मामले में वह मुझे दो तीन बार फ़ोन कर चुकी थीं। हर बार औरतों के लिए मेरे कामों की तारीफ़ करती थीं। उन्होंने ये भी कहा था कभी किसी तरह की दिल्ली में मदद दरकार हो तो बे झिझक कहना। उन पर यक़ीन तो कभी नहीं था लेकिन मेरे दिल में यह था, चलो अगर औरतों के लिए काम करती हैं, औरतों के बारे में हमारी उनकी राय मिलती है तो उनसे बात करने में क्या बुराई है? और बात तो तब भी की जा सकती है जबकि हमारी राय उनसे अलग हो।

दोपहर में फिर किशु तोमर का फ़ोन आया, उन्होंने शाम को एक जगह मिलने के लिए बुलाया और ये भी बताया कि क्रिस्टोफ़र भी वहाँ रहेगी। मैं शाम को तै शुदा मक़ाम और वक़्त पर पहुँच गया। उन्होंने तस्वीरें दिखायीं, मैं उन तस्वीरों में क्रिस्टोफ़र के साथ क़ाबिले-एतराज़ सूरत में नज़र आ रहा था। इसी

दरमियान क्रिस्टोफ़र भी कमरे में दाख़िल हुई और मुझे देखते ही चीखने लगी। थोड़ी देर तक मेरे ऊपर इल्ज़ाम लगाती रही, फिर तेज़ तेज़ रोने लगी। मैंने उसे समझाने की कोशिश की, मैंने ऐसा कुछ नहीं किया है, तो वह और तेज़ रोने लगी। फिर किशु तोमर ने उसे चुप कराने की कोशिश की और कहा तुम्हें पूरा इन्साफ़ मिलेगा। इसके बाद वह क्रिस्टोफ़र को समझाते हुए दूसरे कमरे में ले गयीं। मैं उसी कमरे में इन्तज़ार करने लगा। बुज़ुर्गो से त्रिया चरित्र के बारे में बहुत सुना था, कभी एतबार तो न हुआ लेकिन आज दीदार हो गये।

थोड़ी देर बाद वह फिर आयीं और मुझसे बोलीं, मैं तुम्हें बचा सकती हूँ। अगर तुमने मेरी शर्तें पूरी कर दीं तो क्रिस्टोफ़र मेरी बात मानने को तैयार है। पहली शर्त ये है कि मैं रज़िया वाले केस में दिलचस्पी लेना बन्द कर दूँ और रज़िया के किरदार के ख़िलाफ़ प्रेस में बयान दूँ। दूसरी शर्त ये है कि एक निजी कम्पनी को एक बड़ा प्रोजेक्ट मिला है, जिसमें सैकड़ों किसानों की ज़मीन सरकार खाली कराके एक प्राइवेट कम्पनी को दे रही है, जिस पर वह कम्पनी कोई बड़ा प्रोजेक्ट लगाएगी। इस प्रोजेक्ट को मुकम्मल करने के लिए हज़ारों पेड़ भी काटने होंगे। इसके ख़िलाफ़ अवाम अन्दोलन चला रहे हैं। अभी ये आन्दोलन बहुत मामूली सतह का है, तुम्हें इस आन्दोलन को विकास विरोधी बता कर ख़त्म कराना होगा। अगर ये दोनों शर्तें तुमने पूरी कर दीं, तो ये तस्वीरें हमेशा के लिए नष्ट कर दी जायेंगी, और इसकी पुलिस में रिपोर्ट भी नहीं लिखवाई जायेगी।

ये सुनने के बाद मैंने किशु से पूछा कि इन सारी बातों का क्रिस्टोफ़र से क्या सम्बन्ध है? वह मेरा सवाल सुनकर तिलमिला गयीं। उन्होंने अपने आप को संभालते हुए ग़ुस्से में जवाब दिया। तुम्हें ये सब जानने की ज़रूरत नहीं है। मुल्ज़िम तुम हो, इसलिए समझौता मेरी शर्तों पर होगा ना कि तुम्हारी शर्तों पर। ये सुनकर मैं घबरा गया, मैंने बात बनाने की कोशिश की। नहीं, नहीं बस ऐसे ही, कुछ जिज्ञासा हुई कि आख़िर ये मामला क्या है?

यह सुनकर किशु ने कहा, अब तुम जा सकते हो। कल दोपहर तक मुझे जवाब चाहिए, अगर दोपहर तक तुमने मेरी शर्तें मंज़ूर न कीं। तो मैं कल शाम को प्रेस कान्फ़्रेन्स कर रही हूँ। सारे सुबूत मीडिया को दे दूँगी। तुम काफ़ी मशहूर आदमी हो, सारे चैनलों पर सनसनी ख़ेज़ ख़बर फैल जाएगी, और थाने में रिपोर्ट भी लिखवा दी जायेगी। सोच लो कल पूरे मीडिया में सनसनीख़ेज़ ख़बर चल रही होगी, ''तालिब ने एक बिदेसी औरत के साथ बलात्कार किया।'' मुझे पूरी उम्मीद है कि वक़्त की नज़ाकत को तुम समझोगे।

उसके बाद मैं बहुत भारी मन से उस घर से निकला और जैसे तैसे अपने घर पहुँचा। पूरी रात न जाने कैसे कैसे ख़्याल आते रहे। मेरे सामने अब निजात का रास्ता कोई न था। उसने जो शर्तें मेरे सामने रखी थीं, ऐसा करने को मेरा ज़मीर किसी भी तरह तैयार न था, लेकिन वह लम्हा मैं कैसे बरदाश्त कर पाऊँगा? जिसको एक ज़माना औरतों के अधिकार के लिए लड़ने वाले के तौर पर जानता हो, उसी पर बलात्कार का इल्ज़ाम होगा। ख़बरें तमाम चैनलों पर प्रसारित हो रही होंगी और सोशल मीडिया में भी

वायरल हो रही होंगी, ''एक विदेशी औरत के साथ, समाज कार्यकर्ता ने बलात्कार किया।'' मैं यह सब बर्दाश्त नहीं कर सकूँगा। फिर क्या करूँ? इस सवाल पर सोचते सोचते पूरी रात गुज़र गयी।

अगली सुबह मैंने क्रिस्टोफ़र के बारे में कुछ और लोगों से जानकारी हासिल करने की कोशिश की। अभी मामला लोगों की नज़रों में नहीं आया था, इसलिए मैं किसी से भी फ़ोन पर बात कर सकता था। क्रिस्टोफ़र की शक्ल से मैं पहले से वाक़िफ़ था, कुछ औपचारिक सलाम दुआ भी थी, कुछ प्रोग्रामों में, औरतों के लिए उसे विरोध प्रदर्शन करते देखा था लेकिन उससे ज़्यादा मैं उसे नहीं जानता था। दोस्तों से पूछा तो मालूम हुआ कि वह एक अप्रवासी फ़्रांसीसी औरत हैं, वह पिछली एक दहाई से देहली में रह रही हैं। किसी हिन्दुस्तानी से शादी करके देहली में रहने लगी थीं। शादी के दो साल बाद उनमें तलाक हो गया था और जबसे दिल्ली में ही आज़ाद ज़िन्दगी गुज़ारती हैं। ज़िन्दगी काफ़ी ऐश ओ आराम से गुज़ारती हैं लेकिन आमदनी का कोई स्थायी माध्यम नहीं है, पैसों के लिए वह कुछ भी कर सकती हैं। इतना सुनते ही ज़ेहन में आया बहुत मुमकिन है क्रिस्टोफ़र को एक बड़ी रक़म देकर ख़रीद लिया गया हो और यह पूरा वाक़िआ मेरे ख़िलाफ़ एक सोची समझी साज़िश का हिस्सा हो।

दोपहर में किशु तोमर का फिर फ़ोन आया, मुझमें अब उनसे बात करने की हिम्मत न थी, मैंने फ़ोन नहीं उठाया। पाँच मिनट बाद फिर फ़ोन आया, फिर फ़ोन नहीं उठाया। इसके बाद मैंने फ़ोन बन्द कर दिया, मेरे फ़ोन न उठाने से वह ग़ुस्से से पागल हो रही होंगी। वह यक़ीनन अब प्रेस कान्फ़्रेन्स करेंगी और पुलिस में एफ. आई. आर. भी कराएंगी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ?

अचनाकर मेरी पुरानी हमदर्द ख़ुदकुशी के मुहब्बत भरे हाथों ने मेरे ज़ेहन में दस्तक दी। उसने अपनी ख़िदमत देने की पेशकश की। वह बचपन से मेरी दोस्त थी लेकिन एन. जी. ओ. में नौकरी के बाद से मैंने काफ़ी हद तक उससे मुँह मोड़ रखा था। इसलिए मैंने उसकी मुहब्बत को झटक दिया। उसने मेरी इस बदतमीज़ी का बिलकुल बुरा न माना, उसने बहुत गम्भीरता से फिर कहा, मुझे जल्दी नहीं है, तुम अपने सारी संभावनाओं पर ग़ौर कर लो और जब लगे कि मैं ही सबसे उचित और सुरक्षित संभावना हूँ, तब तुम मेरे पास आ जाना। मैं तुम्हारी हमज़ाद हूँ, हमेशा तुम्हारे साथ रहूँगी। तुम जब भी मुझे आवाज़ दोगे मैं हाज़िर हो जाऊँगी। थोड़ी देर चिंतन मनन के बाद मैंने फ़ैसला लिया कि मुझे ख़ुदकुशी नहीं करनी है। फ़िलहाल इस बला को टालने के लिए मैं शहर दिल्ली से कहीं दूर, बहुत दूर जहाँ पुलिस न तलाश कर सके, लेकिन भाग कर कहाँ जाऊँगा? इसका मेरे पास कोई जवाब न था।

मेरे पैतृक निवास को भी बहुत लोग जानते हैं, वहाँ नहीं जा सकता हूँ। बहुत ग़ौर करने पर मुझे अनुराग की याद आयी। वह उत्तराखंड के उत्तर काशी ज़िले की सुदूर पहाड़ियों पर एक अज्ञातवासी का जीवन बिताता है। एक ज़माने में वह लखनऊ यूनिवर्सिटी में मेरे साथ पढ़ता था, उन दिनों अपने इश्क़ में नाकाम होने पर बहुत मायूस रहता था और ख़ुदकुशी करना चाहता था, तब मैंने उसे ज़िन्दगी का हौसला

दिया था, धीरे धीरे वह ज़िन्दगी की तरफ़ वापस आ गया था। मैंने उसे फ़ोन करके बहुत मुहब्बत से बात की।

मेरे दोस्त अनुराग पंत, आज तुम्हारी बहुत याद आ रही है, मैं इस ज़िन्दगी से ऊब गयी हूँ, ये शहरी और आधुनिक ज़िन्दगी बड़ी बेमुरव्वत है, इसमें इन्सान की कोई क़द्र नहीं है। मेरा इस दुनिया से मोह भंग हो गया है, अब बाक़ी ज़िन्दगी तुम्हारी तरह जीना चाहता हूँ। मैं अपनी पिछली ज़िन्दगी भूल कर, मेहनत मशक़्क़त करके, खेती बाड़ी करके बाक़ी ज़िन्दगी गुज़ारना चाहता हूँ। मैं प्राकृतिक और आदिम ज़िन्दगी में वापस आना चाहता हूँ। बस एक शर्त है, मेरे बारे में तुम किसी को बताओगे नहीं, वरना वह लोग मुझे ये गुमनाम ज़िन्दगी जीने न देंगे और फिर इस हवस से भरी दुनिया के दलदल में घसीट लाएंगे।

उसने जवाब दिया, ''आ जाओ मेरे दोस्त तालिब, मेरा वादा है, मैं किसी को कानों कान हवा न लगने दूँगा कि तुम कौन हो? कहाँ से आए हो? हम दोनों साथ साथ रहेंगे।''

उससे बात करते करते मेरे फ़ोन में कई एस. एम. एस. आए, जब मैं अनुराग से बात कर रहा था, उस दौरान भी मेरे फ़ोन पर किसी अजनबी नम्बर से एक फ़ोन आ रहा था। बात ख़त्म करते ही मैंने कोई एस. एम. एस. पढ़े बग़ैर फ़ोन बन्द दिया और पहाड़ों पर जाने के लिए फ़ौरन निकल पड़ा। मैंने घर से थोड़ी दूरी पर जाकर एक अन्जान टैक्सी वाले से टैक्सी किराए पर ली और उत्तर काशी की सुदूर पहाड़ियों की तरफ़ एक गुमनाम ज़िन्दगी के सफ़र पर निकल पड़ा।

दिल्ली के बाहर निकला तो बचपन से लेकर अब तक की ज़िन्दगी के न जाने कितनी यादें मेरे ज़ेहन में उभरने लगीं। तरह तरह के ख़्यालात आने लगे। सबसे ज़्यादा अम्मा की याद आयी। जी चाह रहा था कि एक बार उनसे लिपट कर ख़ूब रो लूँ, अब्बू को अब अपने दिल पर एक पत्थर रखना होगा। कैसे कटेगा उनका बुढ़ापा? वह बेचारे तो मुझे याद करके रो भी न सकेंगे। माता-पिता को मुझसे बड़ी उम्मीदें थीं। जी चाह रहा था एक बार उनसे मिल आऊँ, बाजी से उनकी सुसराल जाकर मिल आऊँ, भाईजान से भी मिल लूँगा, मैंने उन सबकी मर्ज़ी के बग़ैर शादी करके पहली बार उन का दिल तोड़ा था, और अब उनकी ज़िन्दगी से ही बहुत दूर जा रहा हूँ। अब उनसे मिलने का कोई मौक़ा नहीं है। अगर ख़ुदकुशी करनी पड़ी तो मैं अब उनसे कभी न मिल सकूँगा। ये सोच कर दिल बैठ सा गया और ज़ेहन में बचपन की बेशुमार यादें घुमड़ने लगीं।

दूसरा अध्याय

ये उस ज़माने की बात है जब केन्द्र में एक ऐसी हुकूमत थी जो बुनियादी तौर पर मध्य मार्गी सियासत करती थी। जिसमें दाएं बाज़ू के लोग भी बाज़ दफ़ा घुल मिल जाते थे। और बाज़ दफ़ा बाएं बाज़ू की सियासत करने वाले भी उसमें समा जाते थे, दलित इस हुकूमत से इसलिए ख़ुश थे कि उन्हें हुकूमत के

ज़्यादातर कामों में आरक्षण हासिल था। ब्राहमण और दूसरी उच्च जाति के लोग इसलिए ख़ुश थे कि ये एक ऐसी हुकूमत थी जो उनकी थी, उनके द्वारा थी और उनके लिए थी। मुस्लिम इसलिए ख़ुश थे कि जब जब उन पर मुसीबतों का पहाड़ टूटता, उनसे वादा किया जाता कि तुम्हें डरने की कोई ज़रूरत नहीं है, हुकूमत तुम्हारी रक्षा करेगी।

ख़ुदकुशी में मेरी दिलचस्पी कब और कैसे परवान चढ़ी? अब यह बात सही से याद कर पाना मेरे लिए मुश्किल है, शायद ख़ुदकुशी से मेरा कोई आदिम रिश्ता था, लेकिन जितना मुझे याद है, उस लिहाज़ से ख़ुदकुशी से पहले मेरी दिलचस्पी मौत में शुरू हुई थी। मेरा ख़्याल है कि ख़ुदकुशी मौत की तरक़्क़ी याफ़्ता शक्ल है, जिसमें मौत के लिए आप सिर्फ़ दूसरों पर निर्भर नहीं होते। मुझे यक़ीन है मेरा बचपन भी आम लोगों की तरह गुज़रा होगा लेकिन मैं बचपन की याददाश्तों के मामले में थोड़ा ग़रीब ठहरा, अगरचे बाद की याददाश्तों के मामले में भी मैं बहुत अच्छा नहीं हूँ, याददाश्त के मामले में ख़राब ही सही लेकिन दुनिया को समझने की जिज्ञासा मुझमें बहुत ज़्यादा थी। मैंने कई लोगों को तीन चार साल की उम्र के वाक़िए सुनाते सुना है, मुझे अब छः साल के पहले का कोई भी वाक़िआ याद नहीं है।

छः बरस की उम्र की जो यादें हैं, वह भी उस वक़्त के महज़ चन्द अक्स हैं, जो मेरे ज़ेहन में बचे रह गये हैं। इससे ज़्यादा कुछ याद नहीं, मेरे ज़ेहन में उन अक्सों के ठीक बाद की जो यादें हैं। उनमें मौत से सम्बन्धित भी चन्द यादें शामिल हैं, मैं तभी से मौत के बारे में सोचता रहता था। जब भी किसी के मरने की ख़बर मिलती मैं गहरी सोच में डूब जाता कि ये मौत क्या बला है? मरने वाले को ज़मीन में क्यों गाड़ देते हैं? वह कब तक ज़मीन में दबे रहेंगे? उसके बाद क्या होगा? कभी कभी ख़्याल आता अगर ऐसा हो कि दुनिया के तमाम लोग मर जाएं और सिर्फ़ हम चन्द लोग बचे रह जाएं, तो कितना मज़ा आए, दुनिया की सारी चीज़ें हमारी हो जाएंगी। उन चन्द लोगों में सिर्फ़ वह लोग होते जो मुझे बहुत अज़ीज़ होते, कुछ दोस्त, भाई-बहन, कुछ रिश्तेदार और माता-पिता भी! लेकिन फिर ख़्याल आता कि माता-पिता की उम्र तो काफ़ी हो चुकी है, वह भला कैसे बचे रह पाएंगे? फिर सोचता कि हम चन्द दोस्त किस तरह फिर से पूरी दुनिया बसाएंगे? इस दुनिया के तमाम संशाधनों पर हमारा अधिकार होगा। मुझे लगता कि वह नई दुनिया जिसे हम बसाएंगे इस पुरानी दुनिया से यक़ीनन बेहतर होगी। ये भी ख़्याल आता कि ये दुनिया कब तक रहेगी? सब लोग कैसे मरेंगे? और जब सब लोग मर जाएंगे तो इस पृथ्वी का क्या होगा? बहर हाल ये सब बातें बहुत छोटी उम्र की हैं, जिनके अब कोई मानी नहीं हैं। इस वक़्त इन सवालों के बस इतने मानी हैं कि ये यादें भी मौत से सम्बन्धित हैं। अगरचे ये सवाल अब भी बड़े हैं लेकिन अब हमने इन सवालों को नज़र अन्दाज़ करना सीख लिया है।

जब थोड़ा बड़ा हुआ तो अम्माँ और अब्बू से दुनिया और मौत के बारे में बात की, उन्होंने मज़हबी एतबार से मौत, जन्नत, जहन्नम, क़यामत और ख़ुदा का तसव्वुर समझाया और नेक काम करने के लिए डराया भी। मौत के बारे में मज़हबी परिकल्पना मुझे उस वक़्त पसन्द तो नहीं आयी, लेकिन ये बातें माता-पिता ने बतायी थीं, जिनकी मैं इज़्ज़त भी बहुत करता था और उन पर यक़ीन भी करता था। फिर

ख़ुदा से जिस तरह डराया गया था तो डर के मारे उन परिकल्पनाओं को क़ुबूल करने के सिवा हमारे पास कोई दूसरा रास्ता भी न था। उन परिकल्पनाओं से ज़िन्दगी की एक व्यवस्था समझ में आ गयी थी। जिससे मौत के बारे में मेरी जिज्ञासा काफ़ी कम हो गयी थी। इसके बाद जब कभी मौत के बारे में सोचता तो उदास हो जाता। अब मैं ये सोचता कि ये दुनिया कब तक रहेगी? क़यामत कब आएगी? क्या मैं क़यामत में ही मरुँगा या उससे पहले? अगर पहले मर गया तो क़यामत तक मैं कहाँ रहुँगा? और लोग आते कहाँ से हैं? इन सब सवालों पर इस्लामी मालूमात से कभी तसल्ली न हुई। मुझे बस डराया गया, मेरी तलाश और जिज्ञासा को कभी शाँत न किया गया। उस छोटे से बच्चे में डर ज़्यादा देर तक ठहर नहीं सकता था और उनके पास डराने की एक व्यवस्था के अलावा और कोई दलील न थी।

मुझे बचपन में जब भी किसी के मरने की ख़बर मिलती तो ये जानने की जिज्ञासा हमेशा बनी रहती कि उसकी मौत कैसे हुई? एक सवाल ये भी ज़ेरे ग़ौर रहता कि क्या मौत से बचा जा सकता है? मौत से सम्बन्धित न जाने कितने सवाल बचपन से ही मेरे मासूम ज़ेहन में घुमड़ते रहते थे। लेकिन उन सवालों के जवाब किसी के पास न थे।

जब थोड़ा और बड़ा हुआ तो एहसास हुआ कि ज़िन्दगी का सबसे बड़ा मसला मौत नहीं है, मौत तो आनी ही है, उसका कोई विकल्प नहीं हो सकता। अस्ल मसला इन्सानी दुखों का है और दुखों की दुनिया बहुत विस्तृत है। सबके अपने अपने दुख हैं, तो दुखों के हल भी सबके अपने अपने होंगे। उनमें से एक हल ये भी हो सकता है कि इस दुख भरी ज़िन्दगी को ही ठुकरा दिया जाए और दुख से निजात हासिल कर ली जाए, दरअस्ल इसी परिकल्पना से ख़ुदकुशी अस्तित्व में आयी। मैं इन्सानी विकास के सफ़र और उसमें ख़ुदकुशी की तारीख़ी हैसियत के बारे में नहीं जानता। यहाँ मैं ख़ुदकुशी के व्यक्तिगत तर्जुबात की रौशनी में कुछ विचार पेश करना चाहुँगा। इसका सिलसिला वहीं से शुरू होता है जब हमने ज़िन्दगी के दुखों का एक हल ख़ुदकुशी को भी मान लिया था। ख़ुदकुशी में मेरी दिलचस्पी उस वक़्त से है, जब ख़ुदकुशी के सही मानी भी नहीं समझता था। बहर हाल अब मेरे ज़ेहन में जो क़दीम तरीन यादे हैं, उनमें जाने में या अन्जाने में ख़ुदकुशी भी शामिल है।

मैं बचपन में मौत और ख़ुदकुशी के बारे में अपने माता-पिता से बहुत ज़्यादा सवाल पूछा करता था। कुछ समय बाद मुझसे मौत और ख़ुदकुशी को उसी तरह से छिपाया जाने लगा, जैसे भगवान बुद्ध से दुख और मौत को छिपाया गया था। अम्माँ हम लोगों से किसी की ख़ुदकुशी का ज़िक्र भी नहीं करती थीं और कोशिश करती थीं कि मुझे किसी ख़ुदकुशी के बारे में कुछ मालूम न होने पाए।

मेरे घर में अम्मा की हुकूमत चलती थी। अब्बू घरेलू कामों में बहुत कम दिलचस्पी लेते थे। घर के सारे काम हों या बच्चों को प्यार करना हो या उन्हें मार पीट कार सच्चे रास्ते पर लाना हो, ये सारे काम अम्माँ के ही ज़िम्मे थे। अब्बू का इन सब कामों में कोई ख़ास अमल दख़ल न रहता था। उस माहौल में जब भी किसी ख़ुदकुशी की ख़बर मिलती तो घर में अजीब रहस्यमय माहौल बन जाता। ख़ुदकुशी का जो

सबसे पुराना वाक़िआ मेरी याददाश्त में अब तक सुरक्षित है वह दूर की एक मुमानी की ख़ुदकुशी है। मेरे भाई जान ने एक अंधेरी कोठरी में ले जाकर, मुझसे बड़े रहस्यमय अन्दाज़ में पूछा।

''तुम्हें मालूम है, जग्गो मुमानी की मौत कैसे हुई है? उन्होंने ख़ुदकुशी कर ली है।''

ये सुनकर मैंने उनसे पूछा, ''ये ख़ुदकुशी क्या होती है?''

उन्होंने जवाब दिया, ''जब कोई व्यक्ति ख़ुद से मर जाए तो उसे ख़ुदकुशी कहते हैं।''

''लेकिन ज़्यादातर लोग तो ख़ुद से ही मरते हैं, क़त्ल तो बहुत कम लोगों का होता है? फिर इसमें इतनी ख़ास बात क्या हुई?''

उन्हें ये परिभाषा उनके किसी बड़े ने बतायी थी। लेकिन मैंने जब दूसरा सवाल पूछा तो उसका जवाब उनके पास भी न था। अब भाई जान गड़बड़ा चुके थे। ख़ुदकुशी के बारे में इससे ज़्यादा उन्हें भी नहीं मालूम था।

उन्हीं दिनों की बात है कि मेरे ख़ानदान के एक बुज़ुर्ग मोहर्रम अली, जिन्हें मैं दादा जानी कहता था, उनका इन्तक़ाल हो गया। ऐसा मालूम होते ही मैं अपने घर दौड़ता हुआ गया और अम्माँ को बताया।

''अम्माँ! अम्माँ! दादा जानी ने ख़ुदकशी कर ली है।''

ये सुनते ही पहले तो उन्होंने मुझे चुप कराया कि ऐसा नहीं कहते, वाक़िए की सही सूचना उन्हें भी नहीं थी, उन्हें लगा कि दादा जानी ने वाक़ई ख़ुदकुशी कर ली होगी। वह अक्सर बड़बड़ाया करते थे।

''या अल्लाह मौत दे दे, या अल्लाह मौत दे दे।''

वह जल्दी से बाहर निकलीं और रास्ते में उन्हें जो भी मिला, उसे बताती गयीं कि दादा जानी ने ख़ुदकुशी कर ली है। इससे पहले कि वह दादा जानी के घर पहुँच कर सही जानकारी हासिल करतीं। उन्होंने रास्ते में कई लोगों को दादा जानी की ख़ुदकुशी की जानकारी दे दी। दर हक़ीक़त उनकी मौत एक पुरानी बीमारी में हुआ था। इसके बाद लोगों ने मेरा ख़ूब मज़ाक उड़ाया। मेरी वजह से अम्माँ की भी काफ़ी हास्यास्पद सूरत देखनी पड़ी। मेरी पेशी अब्बू के हुज़ूर में हुई, मुझे अब्बू से काफ़ी डाँट भी पड़ी, लेकिन अब्बू ने मुझे ख़ुदकुशी के सही मानी भी समझाए। उन्होंने बताया कि जब कोई शख़्स ख़ुद अपना क़त्ल कर ले या अपनी जान ले ले, उसे ख़ुदकुशी कहते हैं। उस दिन मुझे ख़ुदकुशी के सही मानी समझ में आए।

इस वाक़िए के बाद ख़ानदान और मुहल्ले के बहुत से लोग मुझे ख़ुदकुशी कह कर चिढ़ाने लगे। कई लोगों ने तो मेरा नाम ही 'ख़ुदकुशी' रख दिया था। मैं कहीं जा रहा होता और कोई मुझे ख़ुदकुशी पुकारता, ख़ुदकुशी सुनते ही मैं आस पास में ढेला, लकड़ी, कंकर, पत्थर जो भी मिलता, उठा कर उसे मारने दौड़ता। अगर मारने में कामयाब हो जाता तो कहीं खेत खलिहान में जा कर छुप जाता और अगर मारने में नाकाम रहता तो फिर रोता हुआ घर चला आता और अम्माँ से शिकायत करता कि फ़लाँ ने मुझे ख़ुदकुशी कहा है।

ये सब खेल खेल में चल रहा था। एक दिन सुबह सुबह मैं बन संवर कर बहुत मस्ती में कहीं जा रहा था कि मेरे ख़ानदान के एक चचा ग़फ़ूर अली ने पुकार कर कहा।

''अरे ओए ख़ुदकुशी, कहाँ मरने जा रहा है।''

चचा जान की बात सुनकर मेरा ग़ुस्सा सातवें आसमान पर चढ़ गया। मैंने पास में ही पड़ा एक पत्थर उठाया और उन्हें फेंक कर मार दिया। उनके मुँह से चीख निकल गयी, मैंने डर के मारे उन्हें पलट कर भी नहीं देखा कि उन्हें चोट कहाँ और कितनी लगी है? बग़ैर देखे समझे में गाँव से दूर भागा। इस दौरान मैं बार बार मुड़ मुड़ कर चारों तरफ़ नज़रें दौड़ाता रहा कि कहीं कोई मुझे देख तो नहीं रहा है। जब भी शक होता कि किसी ने मुझे देख लियाा है, तो मैं उस जानिब से किसी दूसरी तरफ़ मुड़ जाता। इस तरह मैं गाँव का आधा चक्कर लगाकर गाँव से थोड़ी दूरी पर मौजूद एक तालाब के पास पहुँच गया। तालाब के किनारे एक बहुत घना जामुन का दरख़्त था, मैं जल्दी से उस पर चढ़ कर छुप गया। दौड़ते दौड़ते मेरी साँसें बहुत तेज़ चलने लगी थीं। गर्दन और पीठ पसीने से भीग चुकी थी। जब साँसें थोड़ी मामूल पर आयीं, तो मैंने पेड़ पर छुपे छुपे अपने चारों तरफ़ नज़रे दौड़ायीं। ये गर्मियों के दिन थे, गेहूँ की फ़सल कट चुकी थी, खेत तक़रीबन ख़ाली थे, सामने तालाब में देखा तो एहसास हुआ कि तालाब में पानी तक़रीबन सूख चुका है। सिर्फ़ बीच में थोड़ा पानी बचा था। सुबह की धुली धुली धूप बड़ी तेज़ लग रही थी।

इस जामुन के दरख़्त से मिला हुआ एक आम का बाग़ भी था। अब मैंने दरख़्त को ग़ौर से देखा तो इसमें जामुन तो आ चुके थे, लेकिन अभी छोटे और बिलकुल कच्चे थे, उन्हें पकने के लिए काफ़ी वक़्त दरकार था, इसलिए इस बात की सम्भावना न थी कि कोई दूसरा शख़्स जामुन तोड़ने के लिए इस पेड़ पर चढ़ेगा। मैं डरा सहमा सा जामुन के दरख़्त पर ही बैठा रहा। थोड़ी देर बैठे रहने के बाद जब कोई ख़तरा महसूस न हुआ, तो मैंने सुकून की साँस ली। मैंने एक बार फिर अपने इर्द गिर्द नज़रें दौड़ायीं तो देखा कि इस जामुन के दरख़्त के पास ही एक आम का भी दरख़्त था। दोनों दरख़्तों की कुछ शाखें आपस में मिली हुई थीं। मैंने ग़ौर किया कि इस जामुन के दरख़्त से आम के दरख़्त पर आसानी से जाया जा सकता है और आम के दरख़्त में काफ़ी आम लगे हुए हैं, मुझे उन्हें देखकर भूख का भी एहसास हुआ। अब मैंने आम के बाग़ में नज़रें दौड़ाईं तो आमों के बचाने वाले कुछ दूरी पर बैठे हुए ताश खेलने में व्यस्त थे।

अच्छा मौक़ा जानकर मैं जामुन की शाख़ से आम की शाख़ पर चढ़ गया। आम अभी पके तो न थे लेकिन कुछ कुछ गदराने लगे थे। मैंने जल्दी जल्दी चुन चुन कर तीन चार गदराए हुए आम तोड़े और वापस जामुन के दरख़्त पर आ गया। इस दौरान मैं बार बार आम की फ़सल बचाने वालों पर नज़रें डाल ले रहा था, वह अपने खेल में अब भी मस्त थे। इस बार मैं आम के दरख़्त से दूर वाली जानिब जाकर जामुन के दरख़्त पर बैठ गया कि किसी को शक न हो कि मैंने आम तोड़े हैं। मैंने सभी आम जामुन के दरख़्त की शाख़ों और पत्तों के बीच में इस तरह छुपा दिए कि अगर कोई मुझे देख भी ले तो आम न देख

सके। मैं एक एक आम लेकर खाने लगा, आम पूरी तरह से तो नहीं पके थे और ऊपर से तो सख़्त थे लेकिन अन्दर से नर्म और पीले थे, इसलिए आम थोड़े थोड़े मीठे और मज़ेदार भी थे।

मैं बार बार इधर उधर देख रहा था कि कहीं कोई मेरी तरफ़ देख तो नहीं रहा है। तीन आम खाने के बाद मेरा पेट भर चुका था, अब मैंने सोचा कि चौथे आम को कल या परसों आऊँगा तब खाऊँगा। तब तक ये आम और मीठा हो जायेगा। मैंने जामुन के पत्तों से रगड़ रगड़ कर हाथ साफ़ किए। थोड़ी देर बाद ऊब सी होने लगी, अभी घर भी नहीं जा सकता हूँ। अब क्या करूँ? तालाब में देखने लगा, तालाब के किनारे किनारे दूर तक दरख़्तों का एक लम्बा सिलसिला था, अब मेरी नज़रें उन्हीं दरख़्तों में से एक दरख़्त पर ठहर गयीं।

गर्मियों की दोपहर गुज़ारने के लिए मुझे देसी आम का ये दरख़्त बहुत पसन्द था। तालाब के किनारे के इस पेड़ पर अक्सर मैं घण्टों बैठा रहता था, इस दरख़्त के आम शुरू में ही खटाई के लिए तोड़े जा चुके थे, क्योंकि इस दरख़्त के आम बहुत खट्टे होते थे और अक्सर खटाई या अचार बनाने के लिए कच्चे तोड़ लिए जाते थे। इस दरख़्त से मेरा एक जज़्बाती रिश्ता था, मैंने जाने कितने दिन इसी पेड़ पर बैठे बैठे गुज़ारे हैं। ये दरख़्त मेरे लिए दूसरे घर की तरह था।

गर्मियों की छुट्टियों में दोपहर में अम्माँ तो रोज़ डांट कर सुलाने की कोशिश करतीं। जो मुझे पसन्द नहीं था, मुझे जब भी मौक़ा मिलता चुपके से दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल जाता और उस देसी आम के दरख़्त पर घण्टों बैठा रहता। ये दरख़्त सिर्फ़ मुझे ही बहुत महबूब न था, दर अस्ल ये दरख़्त मेरे तमाम दोस्तों के मिलने का अड्डा था। हम लोग दरख़्तों से सम्बन्धित कुछ खेल भी इसी दरख़्त पर खेलते थे। ख़ास तौर से एक खेल 'सियर' हम लोग ज़्यादातर आम के इसी दरख़्त पर खेलते थे।

मैं इस खेल में बहुत अच्छा न सही लेकिन ऐसा बुरा भी न था। मुझे इस खेल का कुछ रोज़ पहले का एक वाक़िआ याद आ गया। उस दिन सुबह से ही मेरा दिल बहुत उखड़ा उखड़ा हुआ था, धूप बहुत तेज़ थी और लू के झक्कड़ चल रहे थे। दोपहर में एक बार जब मैंने चुपके से दरवाज़े की कुण्डी खोल कर भागने की कोशिश की तो अम्माँ ने पकड़ लिया।

पहले तो ख़ूब डाँटा, फिर मुझे सुलाने के लिए बिस्तर पर ले गयीं। दोपहर में हम लोग एक कमरे में जमा होते, सबके बिस्तर ज़मीन में ही लगा दिए जाते थे। उस कमरे की खिड़कियों पर ख़स की टट्टियाँ लगी रहती थीं, उन पर पानी छिड़क कर कमरे का माहौल ठण्डा बनाने और लू से बचने की कोशिश की जाती। कमरे की छत से लटकने वाला बड़ा सा पंखा लगा हुआ था, जो रस्सी के ज़रिए हाथ से खींचने पर चलता था। जिसे चलाने की ज़िम्मेदारी हम भाई बहनों की होती थी। तब तक गाँव में बिजली नहीं आयी थी। अम्माँ ने उस कमरे में ले जाकर लेटने का हुक्म दिया और मैं लेट गया। लेट तो गया लेकिन मेरी आँखों से नींद कोसों दूर थी, बड़े भाई पंखा चला रहे थे, मुझे सुलाने की कोशिश में अम्माँ ख़ुद भी कुछ देर में सो गयीं लेकिन मुझे नींद न आयी। मैंने भाई जान से कहा, आप सो जाइये, मैं पंखा चलाता हूँ। भाई

जान पंखा चलाते चलाते थक चुके थे, उनकी तो मन की मुराद पूरी हो गयी। मैं पंखा चलाने लगा और वह जाकर बिस्तर पर लेट गए। कुछ देर में भाई जान को भी नींद आने लगी और वह भी सो गये।

जब सब लोग सो गये, तो मेरा दिल एक बार फिर बाहर निकलने के लिए बेताब हो गया। दिक़्क़त ये थी कि अब अगर मैं भागा तो अम्माँ शाम को ख़ूब पिटाई करेंगी। लेकिन जाना भी ज़रूरी था, मैंने दोस्तों से वादा किया था कि खेलने ज़रूर आऊँगा। इसलिए मैंने पंखा रोक कर, डरते डरते पंजों के बल चलते हुए चुपके से दरवाज़े की कुण्डी खोली और बाहर निकल गया, इस बार सब लोग सोते रह गये। वहाँ सारे दोस्त पहले से जमा थे, उन लोगों ने पहले से तै कर रखा था कि देर से आने की वजह से आज चोर मुझे ही बनाया जाएगा। सारे दोस्त उस दरख़्त के नीचे जमा हो गये। अगरचे चोर चुनने के कई तरीक़े थे, मिसाल के लिए सब लोग एक दायरे में खड़े हो जाते थे। एक एक शख़्स पर हाथ रख कर हम लोग पढ़ते जाते। अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बोल अस्सी नब्बे पूरे सौ, सौ में लगा धागा चोर निकल के भागा। हर खिलाड़ी पर एक-एक शब्द बोला जाता, जिस पर आख़िरी शब्द पहुँचता वह अलग हो जाता यानी वह चोर बनने से बच गया है। इसके बाद एक बार फिर वही सिलसिला शुरू हो जाता, आख़िरी शख़्स जो बचता वही चोर मान लिया जाता। कभी कभी कोई ख़ुद से चोर बनने को तैयार हो जाता, तो उसे चोर मान लिया जाता। उस दिन मुझे देर से आने की सज़ा दी गयी कि चोर मुझे ही बनना है। मैंने उन लोगों की सज़ा क़ुबूल कर ली और चोर बन गया।

एक लकड़ी का टुकड़ा लिया गया, उस लकड़ी को एक लड़के ने अपने पैर के नीचे से दूर फेंक दिया। मैं दौड़ते हुए गया और उस लकड़ी को उठा लाया और तै शुदा जगह पर उसे रख दिया। जब तक मैं लकड़ी को उठा कर लाया, इतनी देर में सारे लोग पेड़ पर चढ़ चुके थे। पेड़ बहुत ऊँचा था और चारों तरफ़ उसकी शाखें फैली हुई थीं। वह शाख़े काफ़ी नीचे इस तरह लटकी हुई थीं कि उन शाख़ों से भी पेड़ पर आराम से चढ़ा या उतरा जा सकता था। दर अस्ल इस खेल के लिए ऐसे ही पेड़ों का चयन किया जाता है। अब मुझे उनमें से किसी को छू कर आना था और उस लकड़ी को चूमना था। लेकिन ये भी ख़्याल रखना था कि कोई मुझसे पहले लकड़ी को न चूम ले, अगर ऐसा हुआ तो मुझे एक बार फिर चोर बनना पड़ेगा। मैं जब लकड़ी लेकर आया तो कोई भी शख़्स ऐसा न था कि मैं जिसे ज़मीन से ही छू सकूँ। तो मैं पेड़ पर चढ़ गया और एक साथी को छू भी लिया लेकिन इससे पहले कि मैं पेड़ से उतर कर वह लकड़ी चूमता, दिनेश पेड़ की एक शाख़ से लटक कर कूद गया और वह लकड़ी चूम ली। अब मुझे एक बार फिर से चोर बनना था, इस बार लकड़ी दिनेश को ही फेंकनी थी क्योंकि लकड़ी उसी ने चूमी थी। इसके बाद ये सिलसिला काफ़ी देर तक चलता रहा, कभी मेरे छूने से पहले ही कोई आकर वह लकड़ी चूम लेता और कभी मैं किसी को छू तो लेता लेकिन मेरे लकड़ी चूमने से पहले ही कोई और उसे चूम लेता। इस तरह ये सिलसिला तक़रीबन एक घण्टे तक जारी रहा लेकिन मैं किसी को छूकर वह लकड़ी न चूम सका कि उसको

चोर बना सकूँ। अगरचे इससे पहले मेरे साथ ऐसा कभी न हुआ था कि मुझे इतनी देर तक चोर बनना पड़ा हो। लेकिन शायद वह दिन ही मेरे लिए ख़राब था।

उस दिन जब एक घण्टा खेलने के बाद घर पहुँचा तो मेरा चेहरा धूप और लू से जल कर काफ़ी काला पड़ चुका था। मैं डरते डरते घर में दाख़िल हुआ। घर में अम्माँ न थीं, मुझे बड़ी ख़ुशी हुई कि अम्माँ की मार से बच गया, लेकिन बाजी ने मेरा हाथ पकड़ लिया। ''तुम्हें अम्मा ने कितना मना किया था कि इस लू में घर से बाहर मत निकलना, फिर भी तुम निकल गए, शक्ल देखो ज़रा कैसी बना रखी है? लगता ही नहीं कि तुम इस घर के बच्चे हो, कितनी लू चल रही थी अगर तुम्हें लू लग जाती तो क्या होता? अम्माँ बहुत नाराज़ हैं, वह तुम्हें ढूँढ़ने बाहर गयी हैं।

मुझे तेज़ प्यास लग रही थी, मैंने बाजी से हाथ छुड़ाया और हाथ से चलने वाले नल के पास जाकर उसमें पानी निकालने लगा, तक़रीबन आधी बाल्टी पानी निकालने के बाद उसमें से ताज़ा और ठण्डा पानी निकलने लगा, मैं गिलास में पानी लेकर पीने लगा, अभी मैंने पानी पीना शुरू ही किया था कि अम्माँ आ गयीं।

वह मुझे पानी पीते देखती रहीं, पानी पीते वक़्त कुछ नहीं कहा। अब पानी मेरी हलक़ से नहीं उतर रहा था, बहर हाल मैंने जैसे तैसे गिलास ख़ाली किया। उन्होंने मुझे एक रस्सी लाकर दी और बोलीं, जाओ जिस पेड़ के नीचे घण्टे भर से चोर बने हुए थे, उसी से फन्दा लगाकर लटक जाओ। मैं हैरान कि एक तो अम्माँ मुझे ख़ुदकुशी करने को कह रही हैं, कहाँ तो मेरे सामने ख़ुदकुशी का ज़िक्र करना भी मना था और आज वह ख़ुद मुझसे ख़ुदकुशी करने को कह रही थीं। वह ख़ुदकुशी ही क्या ख़ुदकुशी हुई? कि जिसे दूसरे के कहने पर किया जाए। दूसरे उनको ये कैसे मालूम हो गया कि एक घण्टे से मैं ही चोर बना हुआ था। ये बात मुझे अगले रोज़ मालूम हुई कि एक दोस्त ने जो खेल को बीच में ही छोड़कर गाँव चला आया था। उसने किसी दूसरे लड़के पर अपना रोब दिखाने और मुझे ज़लील करने के लिए उस दिन के खेल का पूरा क़िस्सा कह सुनाया था। जब अम्माँ मुझे ढूँढ़ने के लिए गाँव में घर से बाहर निकली थीं तो रास्ते में वह मिल गया, अम्माँ ने उससे मेरे बारे में पूछा कि तुमने तालिब को तो नहीं देखा है? तो उस लड़के ने पूरा वाक़िआ अम्माँ को कह सुनाया। बहर हाल उस दिन अम्माँ ने मेरी ख़ूब पिटाई की, आख़िरकार बाजी ने ही ये कह कर मुझे बचाया कि कल से मैं देखुँगी कि ये बाहर कैसे निकलता है, अब इसे मारना बन्द करिये मैं ज़िम्मेदारी लेती हूँ कि अब ये लू में घर से बाहर नहीं निकलने पाएगा। उस दिन मैं देर तक सिसक सिसक कर रोता रहा। बाजी ने बड़े प्यार से मुझे ख़ूब समझाया लेकिन अगले ही रोज़ मैं सब भूल गया। बाजी ने मेरी पूरी चौकीदारी की कि मैं बाहर न निकलने पाऊँ, और मैं कई दिनों तक वाक़ई दोपहर में घर से न निकल सका।

मैं जब उस दरख़्त की यादों से बाहर आया तो दोनों हाथों को गालों पर ले गया, जैसे आज़माना चाह रहा हूँ कि आज इन गालों पर कितने तमांचे लगेंगे? कौन जाने आज वह कैसे मारेंगी? इसके बाद मुझे

एक लम्बी जम्हाई आई। अब मुझे नींद आ रही थी, मैंने एक घनी जगह तलाश की और जामुन के दरख़्त की एक चौड़ी शाख़ पर लेट गया। थोड़ी देर में नींद भी आ गयी। जाने कितनी देर सोता रहा। सोते सोते करवट लेने लगा और पेड़ से गिरने को हुआ कि आँखें खुल गयीं, मैं गिरते गिरते बचा। जब नींद पूरी तरह से टूटी तो सूरज की जानिब नज़रें दौड़ायीं, उसे देख कर लगा ग़फ़ूर चचा को मारे हुए तीन चार घण्टे तो गुज़र चुके होंगे। इसलिए अब मामला रफ़ा दफ़ा हो चुका होगा। यह सोच कर मैं दरख़्त से उतर कर घर की जानिब चल पड़ा।

घर पहुँचा तो माहौल बहुत ख़राब था, भाई जान ने मुझे देखते ही पूछा, कुछ ख़बर भी है तुमने क्या किया है? ग़फ़ूर चचा का सर फट गया है, और वह लहूलुहान होकर घर आए हैं। घर में सब लोग गुस्से में थे। आदत के मुताबिक़ आज अम्मा ने घर पहुँचते ही मारना नहीं शुरू किया। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और चुपचाप घर की अँधेरी कोठरी में लेकर चली गयीं। वहाँ पहुँच कर उन्होंने कहा, अब आज मैं कुछ नहीं करूँगी, आज जो कुछ करना है अब्बू करेंगे, शाम को अब्बू को आने दो, जब तक तुम इसी कोठरी में बन्द रहोगे। यह कह कर वह वापस चली गयीं और जाते जाते दरवाज़ा बाहर से बन्द कर गयीं। मैं बहुत घबराया, ये क्या बात हुई? जो कुछ मारना पीटना है मार पीट लें और बात ख़त्म करें। मामला अब्बू के पास क्यों जाएगा? अब्बू हम लोगों को आम तौर पर मारते पीटते न थे। वह घर में आम तौर पर बहुत ख़ामोश रहते थे अगरचे मैंने सुना था कि वह अपने कुछ ख़ास दोस्तों में ख़ूब हँसते हँसाते हैं लेकिन घर में वह हमेशा गम्भीर रहते थे। हम भाई बहन उनकी बहुत इज़्ज़त करते थे और डरते भी ख़ूब थे।

मुझे बस एक वाक़िआ याद है जब अब्बू ने भाई जान की ख़ूब पिटाई की थी। अब ये तो याद नहीं कि भाई जान को उन्होंने किस लिए मारा था लेकिन ये याद है कि जब मारा था तो ख़ूब जमकर मारा था। हम लोग अब्बू के सामने कभी कोई शरारत नहीं करते थे, फिर भी अगर हम लोगों की कोई बात उन्हें अच्छी नहीं लगती तो वह बस एक बार हमें घूर कर देखते और हम लोग डर कर ख़ामोश हो जाते। कभी कभी वह हम लोगों की किसी नापसन्दीदा हरकत पर अम्माँ को भी हिदायत देते थे कि बच्चे की ये शिकायत सुनी है या इससे कह दो कि ये आदत दुरुस्त कर ले। फिर अम्माँ हमें अच्छे से समझातीं कि आगे से ऐसा नहीं होना चाहिए वरना अब्बू नाराज़ हो जायेंगे। और अब्बू की नाराज़गी का मतलब हम भाई बहन ख़ूब अच्छे से समझते थे।

मैं तीसरे पहर से इस अंधेरी कोठरी में बन्द था, बीच बीच में अम्माँ आतीं और देख कर चली जातीं, बाजी और भाई जान भी एक आध बार आए लेकिन किसी ने मुझसे बात न की, सब मेरी तरफ़ घूर कर देखते और वापस चले जाते। अम्माँ ने सख़्त हिदायत दे रखी थी कि कोई मुझसे बात नहीं करेगा। जैसे सब अब्बू बन गये हों।

शाम को अम्माँ चाय बिस्किट लेकर आयीं, मेरे सामने रख दिया, कुछ भी नहीं बोलीं, बस बैठी रहीं, जब मैंने बेशर्मी से चाय पी ली तो वह कप प्लेट लेकर चल दीं। वापस जाने लगीं तो मैं ये ख़ामोशी

बरदाश्त न कर सका और उनका हाथ पकड़ कर गिड़गिड़ाने लगा। अम्माँ आप को जैसे मारना है मार लीजिए। हाथ से मारिए, पैर से मारिए, छड़ी या डण्डे से मारना है तो उससे मार लीजिए और मामला ख़त्म करिए।

उन्होंने पलट कर मेरी तरफ़ घूर कर देखा, हाथ छुड़ाया और चली गयीं, कुछ न बोलीं। मुझे उनकी और दूसरे लोगों की ख़ामोशी ने तोड़ दिया, अब्बू न जाने कितना मारेंगे, या कुछ और करेंगे? कुछ समझ में न आ रहा था, एक एक पल बिताना मुश्किल हो रहा था। जब अन्धेरा बढ़ चला तो अचानक दरवाज़ा खुला, भाईजान लालटेन लिए हुए थे, अब्बू सबको साथ लेकर आए थे, सब मेरे चारों तरफ़ घेर कर खड़े हो गये, सबकी नज़रें मेरे ऊपर जमी हुई थीं। यूँ तो सबको बेचैनी थी कि अब्बू अब क्या करेंगे? किसी को नहीं मालूम था, लेकिन सबसे ज़्यादा बेचैन मैं था। उन्होंने मेरी तरफ़ घूर कर देखा, मैं उनकी नज़रों की ताब न ला सका और नज़रें नीची कर लीं। फिर दोबारा ऊपर देखने की हिम्मत न कर सका। वह कुछ देर उसी तरह मेरी तरफ़ घूरते रहे, फिर अचानक उठ कर चल दिये। उनके पीछे पीछे बाक़ी लोग भी चल दिए। फिर पूरी रात मुझसे किसी ने बात न की, अलबत्ता बाजी खाना रख कर चली गयी थीं। जिसे मैंने हाथ भी न लगाया। वही बेचैनी पूरी रात क़ायम रही जिस बेचैनी में दिन बीता था। अब मेरी बेचैनी ये थी कि सुबह फिर न जाने क्या होगा? बस यही ख़्वाहिश थी अब्बू को जो भी मारना पीटना हो मार पीट कर बात ख़त्म करें। लेकिन ये मामला था कि निपट ही नहीं रहा था। देर रात तक नींद न आई लेकिन सुबह होते होते कुछ देर के लिए आँखें लग गयीं। जब आँख खुली तो सब कुछ रोज़ की तरह था। सब लोग मुझसे यूँ बातें कर रहे थे जैसे कुछ हुआ ही न हो।

इस वाक़िए ने मुझे अन्दर तक हिला कर रख दिया था, बल्कि मुझे बिलकुल बदल कर रख दिया था। मैं बहुत गम्भीर और और बड़ा हो गया था। किसी से कोई मार पीट नहीं, लड़ाई झगड़ा नहीं, ख़ुदकुशी की चिढ़ भी जाती रही लेकिन ख़ुदकुशी में मेरी गम्भीर दिलचस्पी और बढ़ गयी। उन्हीं दिनों की बात है, एक दिन मैं अख़बार पढ़ रहा था कि एक ख़बर पर मेरी नज़रें ठहर गयीं। ख़बर थी ''दुनिया की हसीन तरीन ख़ुदकुशी'' मैंने जब ख़बर की पूरी तफ़सील पढ़ी तो मालूम हुआ कि बहुत साल पहले न्यूयार्क शहर की एम्पायर स्टेट बिल्डिंग की छियासवीं मंज़िल से कूद कर एवलिन मैकहाले नाम की तेइस साल की ख़ूबसूरत लड़की ने ख़ुदकुशी कर ली थी। जब वह नीचे गिरी तो सामने संयुक्त राष्ट संघ की एक ख़ूबसूरत लिमोज़िन कार थी, वह उस पर जा गिरी। दोनों हसीन तो थीं लेकिन ये ख़ुदकुशी इसलिए हसीन तरीन कहलाई कि तीन सौ बीस मीटर की ऊँचाई से गिरने के बावजूद जब वह नीचे गिर कर मरी तो बड़े हसीन अन्दाज़ में लेटी हुई थी, न कोई ज़ख़्म नज़र आ रहा था, न एक क़तरा ख़ून दिख रहा था। वह अपने तमाम मेक अप के साथ दिलकश और पुर सुकून अन्दाज़ में पैर के ऊपर पैर रखे लेटी हुई थी। इस वाक़िए के महज़ चार मिनट बाद फोटोग्राफ़ी के एक विद्यार्थी राबर्ट सी विल्स वहाँ से गुज़रे और उन्होंने एवलिन की फ़ोटो खींच ली। मैंने एवलिन की हसीन तरीन ख़ुदकुशी वाली फ़ोटो अख़बार से काट कर रख ली थी। ये

हसीन तरीन ख़ुदकुशी उस ज़माने में नहीं हुई थी, बस उस हसीन तरीन ख़ुदकुशी की तारीख़ को याद करने के लिए वह ख़बर छपी थी। मैं उस ख़बर को सालों साल पढ़ता रहा। शायद अभी भी वह कटिंग मेरे पुराने काग़ज़ों में कहीं रखी होगी। इस हसीन तरीन ख़ुदकुशी को पढ़ने के बाद अख़बारों में ख़ुदकुशी की ख़बरें पढ़ने में मेरी दिलचस्पी और बढ़ गयी थी।

अब जब भी कभी अख़बार में ख़ुदकुशी की कोई ख़बर छपती तो मैं उसे पूरी दिलचस्पी से पढ़ता, एक एक शब्द को कई कई बार पढ़ता और दिल ही दिल में उसकी मौत का मातम करता और उन हालात को समझने की कोशिश करता जिनकी वजह से उसने ख़ुदकुशी की थी। धीरे धीरे मैंने महसूस किया मौत तो हमेशा एक जैसी ही होती है, हर मौत का अन्जाम एक ही होता है, इस तरह मौत में दिलचस्पी भी आहिस्ता आहिस्ता कम होती चली गयी। उसके बाद मेरी दिलचस्पी ख़ुदकुशी के कारण तलाश करने और ख़ुदकुशी के तरीक़ों के अनुसंधान में बढ़ गयी। लेकिन बाद में इस सिलसिले में एक दिलचस्पी और पैदा हो गयी और वह दिलचस्पी इस क़द्र बढ़ी कि बाद में सबसे ज़्यादा दिलचस्पी इसी में रह गयी। ये नयी दिलचस्पी थी ख़ुदकुशी से क़ब्ल लिखा जाने वाला ख़त यानी ख़ुदकुशी नामा। एक लम्बा अरसा मैंने ख़ुदकुशी नामों के शोध में गुज़ारा और इस नतीजे पर पहुँचा कि अगर किसी ने ख़ुदकुशी की लेकिन ख़ुदकुशी नामा नहीं लिखा तो समझो उसने अपनी ख़ुदकुशी बरबाद कर दी। हालाँकि इसमें औपचारिक तौर पर शोध जैसा कुछ न था, बस अख़बार में अगर किसी ख़ुदकुशी की ख़बर छपी तो उसे बहुत ग़ौर से कई कई बार पढ़ता और अगर कभी किसी को ख़ुदकुशी पर बात करते सुनता तो कान खड़े हो जाते और ग़ौर से सुनने लगता कि वह लोग ख़ुदकुशी के बारे में क्या बात कर रहे हैं? असली शोध यह था कि मैं ख़ुदकुशी और ख़ुदकुशी नामा पर घण्टों सोच विचार करता रहता। कभी कभी ये भी सोचता कि अगर मैंने ख़ुदकुशी की तो कैसे करूँगा।

तीसरा अध्याय

यह बात उन दिनों की है, जब मुल्क में बड़ी बेचैनी थी, आज़ादी के चालीस साल बीत चुके थे और आज़ादी के तमाम ख़्वाब अब तक टूट चुके थे। किसी ग़ैर मुल्क से जंग हुए भी तक़रीबन पन्द्रह साल बीत चुके थे, कि लोग मुल्क की सलामती के लिए व्यक्तिगत उमंगें और ख़्वाहिशें छोड़ दें। नवजवानों में बेरोज़गारी और नाउम्मीदी फैली हुई थी। पूरी नस्ल के सामने ज़िन्दगी का कोई माडल न था, वह उदास नस्लों का ज़माना था, उस ज़माने में ख़ुदकुशी एक व्यक्गित और मनोवैज्ञानिक मसला था, किसी सियासत से उसका कोई ख़ास सम्बन्ध न था।

मेरी यादों के ख़मोश तलाब में ''साहब जी!... साहब जी।'' कह कर ड्राईवर ने जैसे पत्थर फेंक दिया हो। मेरी यादों के तमाम अक्स बिखर गये और मैं वर्तमान में लौट आया। मैंने बाहर झाँक कर देखा

अब टैक्सी शहर से काफ़ी दूर निकल आयी थी, अंधेरा भी छाने लगा था। अब तक मैंने ड्राइवर से तक़रीबन नही ंके बराबर बात की थी। चाय की तेज़ ख़्वाहिश हो रही थी।

''आप चाय नहीं पीते?'' ड्राइवर ने झिझकते पूछा।

''पीते हूँ।''

''तो चाय पीते हैं, कैसी जगह चाय पीना पसन्द करेंगे।''

''किसी भी जगह पी लेंगे, बस ज़्यादा भीड़ भाड़ वाले ढाबे पर मत रोकना, कहीं किसी पुर सुकून जगह पर चाय पी जाएगी।''

''जी साहब।''

कुछ दूर चलने के बाद ड्राईवर ने एक ढाबे पर टैक्सी रोक दी, मैंने तौलिये को थोड़ा मुँह ढकते हुए सर से बाँध लिया। ढाबे पर एक टी वी चल रहा था, जिस पर इश्तेहार प्रसारित हो रहे थें, लेकिन नीचे कैप्शन में ''देहली में एक औरत के साथ बलात्कार'' की भी ख़बर चल रही थी। हम लोगों ने जल्दी जल्दी चाय पी और आगे बढ़ गये। अब मेरी बेचैनी और बढ़ गयी। कहीं रास्ते में कोई पहचान न ले, ज़रूर मेरी फ़ोटो भी टी वी पर दिखायी गयी होगी, बहुत संभल कर रहना होगा। थोड़ी देर में एक बार फिर मेरी हमदमे दैरीना खुदकुशी ने दस्तक दी जो मेरी हमज़ाद बन मेरे साथ साथ चल रही थी, वह मुझसे सम्बोधित हुई। अब तो सबको मालूम हो गया है, कब तक भागोगे? किस किस से भागोगे, कहाँ तक भागोगे? इस ज़लील ज़िन्दगी को हासिल करके भी क्या करोगे? इस तरह तुम रोज़ ज़लील होगे, कभी समाज और दुनिया तुम्हें ज़लील करेगी, कभी दोस्त और तुम्हारे प्यारे तुम्हें ज़लील करेंगे और कभी खुद अपने ज़मीर का सामना होगा तो ज़लील होगे। अगर ज़िल्लत भरी ज़िन्दगी कुबूल कर लोगे तो इससे बुरा क्या हो सकता है? इससे बेहतर है कि तुम मेरे पास आ जाओ, मैं तुम्हें आदिम सुकून दूँगी।

मैंने एक बार फिर उसकी बातों पर ध्यान न दिया और बेदर्दी से उसे झटक कर आगे बढ़ता रहा। थोड़ी दूर चलने के बाद मैं फिर से पुरानी यादों में समा गया।

• • •

एक दिन हम कुछ दोस्त अपने गाँव फन्दा में बैठे बातें कर रहे थे, बातें क्या बस ये समझिए कि दिनेश का व्याख्यान चल रहा था। दिनेश उम्र में तो मुझसे तक़रीबन तीन साल बड़ा था। लेकिन स्कूल में वह मेरा सहपाठी था। दर अस्ल वह पढ़ाई में बहुत ख़राब था, दो तीन बार फ़ेल हो चुका था लेकिन वह मेरा और मेरे जैसे कई और लड़कों का गुरु था। उसका क़िताबी ज्ञान बहुत सीमित था, लेकिन ज़िन्दगी का ज्ञान हम सबसे बहुत ज़्यादा। दुनिया भर की ऐसी न जाने कितनी मालूमात उसे थीं, जो किसी क़िताब में न मिलती थीं। कम से कम मेरी पहुँच वाली क़िताबों में तो बिलकुल न थीं। उसकी मालूमात से मैं और मेरे

दूसरे दोस्त अक्सर फ़ायदा उठाते रहते थे। उस दिन वह लड़कियों के बारे में हमारे आगे ज्ञान के दरिया बहा रहा था। हम सब कान धरे उसकी बातें सुन रहे थे और हैरान हो रहे थे कि लड़कियों के बारे में उसे इतनी मालूमात कहाँ से आती हैं, कि अचानक एक शोर उठा, हम लोगों ने उस शोर की तरफ़ देखा तो उधर से धुआँ उठ रहा था, ऐसा लगा जैसे कहीं आग लग गयी है। हम सब उसी तरफ़ दौड़े, वहाँ पहुँचे तो सामने जो मन्ज़र था उसे देख कर हम सबकी आँखें फटी की फटी रह गयीं।

सामने बाल मुकुन्द की बीवी रमा बाला जली हुई पड़ी थी और तड़प रही थी, और दिल दोज़ आवाज़ों के साथ चीख रही थी। वह लगभग नंगी हालत में थी, अब उसकी लम्बाई भी सिमट कर कम रह गयी थी। हम शायद उसे पहचान भी न पाते लेकिन उसका दो साल का बेटा अम्माँ अम्माँ कह कर चीख रहा था। वह बार बार उनसे लिपटने की कोशिश कर रहा था, लेकिन उसके ताऊ की बेटियों ने उसे पकड़ रखा था। वह ख़ुद भी चाची चाची कह कर चीख रही थीं। कुछ देर में रमा बाला की चीखें बन्द हो गयीं उसके हाथ पैर हिलने भी बन्द हो गये। लोग अभी भी उसके ऊपर पानी डाले जा रहे थे, मरने से पहले उसके मुँह से एक बार पानी निकला था। फिर उसके ससुर ने उस पर और पानी डालने से मना कर दिया। वह बोले घर से जल्दी से एक चादर लाकर इसके ऊपर डाल दो। और एक चारपाई तैयार करो जिस पर लिटा कर जल्दी से इलाज के लिए करीम नगर ले जाना होगा। उस वक़्त तक गाँव में किसी के यहाँ कार या दूसरा वाहन न था, अगर कोई ऐसा वाक्या होता तो उसे चारपाई पर लिटा कर पैदल ही करीम नगर अस्पताल ले जाते थे। अब रमा बाला मुकम्मल ख़ामोशी की हालत में पहुँच चुकी थी।

बाल मुकुन्द का भाई अंकुर जल्दी से उसके ऊपर चादर डाल कर ढक गया, घर वालों के अलावा शायद ही कभी किसी ने उसका चेहरा देखा होगा। वह जब भी घर से बाहर निकलती थी तो लम्बा सा घूँघट उसके चेहरे पर पड़ा रहता था और आज वह सरे आम सड़क पर माँ जई नंगी पड़ी हुई थी। अगरचे वह काफ़ी हद तक जली हुई थी, चर्बी भी काफ़ी जल चुकी थी। मिट्टी के तेल और चर्बी के जलने की बिसाँध चारों तरफ़ फैली हुई थी। किसी ने पूछा, आग कैसे लगी? तो एक बच्चे ने जवाब दिया, चाची ने मिट्टी का तेल छिड़क कर माचिस से आग . . . लेकिन इससे पहले कि वह जुमला मुकम्मल करता, घर के एक बुज़ुर्ग ने उसे डाँटते हुए कहा, चुप रहो! जब तुम्हे सही नहीं मालूम तो क्यों बोल पड़ते हो, बहू अपने दो साल के बच्चे का दूध गर्म कर रही थी कि अचानक स्टोव फट गया और आग लग गयी। ये बाद मुझे बाद में मालूम हुई कि उस वक़्त आग लगने या लगाने से जितनी भी मौतें होती थीं, सबमें यही बताया जाता था कि आग स्टोव फटने से लगी है और ये महज़ एक हादसा था।

यह वही ज़माना था जब जहेज़ के लिए तक़रीबन हर रोज़ कहीं न कहीं कोई औरत जला दी जाती थी, और इल्ज़ाम बेचारे स्टोव पर जाता था। अख़बार में तक़रीबन हर रोज़ ऐसी ख़बरें छपती थीं। ऐसे में सुनली दत्त ने एक फ़िल्म "ये आग कब बुझेगी" बनायी थी। फ़िल्म देखकर उस वक़्त मेरा मासूम दिल वाक़ई ख़ूब रोया था। मुझे नहीं मालूम कि ये इस फ़िल्म का असर था या कि तकनीक बदलने का, फ़िल्म

रिलीज़ होने के कुछ अरसे बाद स्टोव से जलने वाली बहुएं बहुत कम हो गयी थीं। फ़िल्म के बाद लोगों को इस बात का यक़ीन कम रह गया था कि स्टोव हमेशा यूँ ही फटता है और हमेशा जवान बहुओं को ही जलाता है। जहाँ अस्सी की दहाई में मिडिल क्लास में तेज़ी से मिट्टी के तेल के स्टोव फैले थे, वहीं नब्बे की दहाई में तेज़ी से गैस के चूल्हे फैले थे। कारण जो भी हो, फ़िल्म के बाद स्टोव से जलने जलाने का यह तरीक़ा बहुत कम हो गया था। लेकिन हम अभी फ़िल्म से पहले के ज़माने की बात कर रहे हैं।

अब तक घर के लोग चारपाई भी निकाल लाए थे, लोग उस पर रमा बाला को लिटाने की तैयारी कर रहे थे कि किसी ने कहा, डाक्टर साहब आ गये। सब लोग उधर ही देखने लगे। किसी ने गाँव के अकेले डाक्टर को समाचार दे दिया था। डाक्टर ने डाक्टरी की कोई पढ़ाई तो न की थी लेकिन वह किसी डाक्टर के सहायक के तौर पर कुछ साल काम कर चुके थे और अब गाँव में अपना क्लीनिक चलाते थे। उन्होंने फ़ौरन आला लगा कर चेक किया और बोले, अब करीम नगर ले जाने का कोई मतलब नहीं है, साँसें काफ़ी पहले थम चुकी हैं।

डाक्टर के ऐलान करते ही लोगों ने ज़ोर-ज़ोर से रोना शुरू कर दिया। चारों तरफ़ मातम का माहौल बन गया। बाल मुकुन्द को अभी तक सूचना न मिल सकी थी। वह अपने काम से करीम नगर गए हुए थे। बाल मुकुन्द के चचा ने अपने बड़े बेटे को बाल मुकुन्द को सूचना देने और बुला कर लाने के लिए भेज दिया था। यह वह ज़माना था जब मोबाइल का आविष्कार नहीं हुआ था, गाँव में अभी तक किसी के यहाँ लैण्ड लाइन फ़ोन भी नहीं था। घर और ख़ानदान के क़रीबी लोग चीख चिल्ला रहे थे, बाक़ी लोग आपस में काना फूसी कर रहे थे। दिनेश ने मेरा हाथ पकड़ा और एक किनारे ले जाते हुए कहा। तुम्हें मालूम है ये मामला क्या है? बाल मुकुन्द की बीवी ने ख़ुदकुशी क्यों की?

मैंने जवाब दिया, नहीं! मुझे क्या मालूम, हो सकता है कल तक ख़ुदकुशी नामा सामने आ जाए तो हम सब लोगों को सही सही मालूमात हासिल हो जायेगी, ये भी मुमकिन है कि कल के अख़बार में पूरी तफ़सील छप जाए। दिनेश ने कहा तुम किस क़िताबी दुनिया में रहते हो? फन्दा गाँव से आज तक किसी की ख़ुदकुशी की ख़बर अख़बार में छपी है? जो अब छपेगी? न ही कोई ख़ुदकुशी नामा मिलेगा और न अख़बार में ख़बर छपेगी। वह ख़ुदकुशी पर मेरे शोध के जुनून का ज़माना था, मुझे दिनेश के बयान से बड़ी मायूसी हुई लेकिन मुझे व्यक्तिगत तौर पर यही लगता था कि जब ख़ुदकुशी हुई है तो अख़बार में ख़बर भी ज़रूर छपनी चाहिए और ख़ुदकुशी नामा भी ज़रूर मिलना चाहिए। नहीं तो रमा की ख़ुदकुशी बेकार हो जायेगी।

अब तक का मेरा शोध अख़बारों की रिपोर्टों पर ही आधारित था, मुझे लगता था कि मैं ख़ुदकुशी के बारे में कोई बहुत बड़ा विशेषज्ञ हूँ और ख़ुदकुशी पर दुनिया का तमाम ज्ञान रखता हूँ। ऐसे में दिनेश की बात सुन कर मुझे बड़ी तकलीफ़ हुई। मैं जानता था वह जो कुछ कह रहा है वही सच होगा। इसके बाद वह मेरा हाथ पकड़ कर चल दिया और बोला, यहाँ जो होना था सो हो गया, अब चलते हैं। मैं जुनून की हद तक ख़ुदकुशी में दिलचस्पी रखने वाला व्यक्ति, आज ज़िन्दगी में पहली बार किसी ख़ुदकुशी को इतनी क़रीब

से देख रहा था, इसलिए अभी इस जगह से जाना नहीं चाह रहा था। अगरचे न मैंने उसे जलते हुए देखा था, न ख़ुदकुशी की वजह जानता था। फिर भी उसे जली हुई हालत में तड़पते और चीखते हुए देखा था, उसे आख़िरी साँस लेते हुए देखा था।

मैंने दिनेश से हाथ छुड़ाया और अभी जाने से मना कर दिया। अब मैं उसके पास भी नहीं बैठना चाहता था क्योंकि मैं उस ख़ुदकुशी को महसूस करना चाहता था। उसके विभिन्न पहलुओं पर अपने ज्ञान की रौशनी में सोच विचार करना चाहता था। उसकी मौजूदगी में ये सारे काम मुमकिन न थे, वह लगातार कुछ न कुछ बोले जा रहा था। मैंने उससे कहा, तुम चलो, मैं बाल मुकुन्द के छोटे भाई अंकुर से मिल कर थोड़ी देर में आता हूँ। दिनेश मेरी बात मान गया। मेरी बाल मुकुन्द के छोटे भाई अंकुर से दोस्ती थी और मैं अभी उससे मिल भी नहीं पाया था, वह दौड़ धूप में लगा हुआ था। मैं थोड़ी देर वहाँ और रुका, अंकुर से मुलाक़ात हुई, मैंने उससे अफ़सोस ज़ाहिर करते हुए कहा, ''ये सब अचानक कैसे हो गया? मुझे तुम्हारी भाभी के जलने का बहुत अफ़सोस हुआ।''

''हाँ सब कुछ अचानक हो गया, भाई को तो अभी भी नहीं मालूम है, वह करीम नगर में न जाने कहाँ होंगे, अब मैं भी उन्हें तलाश करने जा रहा हूँ, देखो कहाँ मिलते हैं वह।''

यह कह कर वह चला गया, मैंने उससे बहुत मशीनी अन्दाज़ में बात की थी, मुझे अफ़सोस है कि मैं उससे अच्छे से अफ़सोस भी ज़ाहिर न कर सका। मेरी हमेशा की आदत है कि ऐसे मौक़ों पर चुप सी लग जाती है। इसके बाद मैं अपने घर वापस चला आया। घर आने पर मालूम हुआ कि अम्माँ भी बाल मुकुन्द के घर गयी हुई हैं।

मैं बेचैन था कि अम्माँ पूरी रिपोर्ट सुनाएंगी। वह किसी भी वाक़िए को बहुत तफ़सील से और दिलचस्प अन्दाज़ में सुनाती थीं। अक्सर वह कुछ न कुछ नई मालूमात भी किसी न किसी तरीक़े से निकाल कर लाती थीं। अम्माँ ने बताया कि मामला बहुत गम्भीर है, कुछ समझ में ही नहीं आ रहा है कि वह चाहती क्या थी, कभी किसी से खुल कर कोई बात ही नहीं करती थी। कोई लड़ाई नहीं, झगड़ा नहीं, दोस्ती यारी नहीं, अन्दर ही अन्दर घुटती रहती थी। कभी किसी को कुछ बताती ही नहीं थी, बहुत घुन्सी औरत थी। बेचारा बच्चा कैसे बिलख बिलख कर रो रहा था। यह कहते कहते अम्माँ के भी आँसू आ गये। अभी तो वह दो साल का है, सही से समझ भी नहीं सकता है कि वह अब यतीम हो चुका है। अभी तो उसकी चाची ने संभाल लिया है लेकिन उसका भविष्य क्या होगा? कोई नहीं जानता, इसके बाद वह सिसकियाँ लेने लगीं।

अम्माँ ने भी इस सिलसिले में कुछ ख़ास नहीं बताया। उस दिन मुझे महसूस हुआ कि कोई और वाक़िआ होता है तो अम्माँ कितनी दिलचस्पी के साथ और कितनी तफ़सील के साथ सब कुछ बताती हैं लेकिन जब ख़ुदकुशी का कोई वाक़िआ होता है तो वह हमेशा सबकुछ गोल मोल कर जाती हैं। इस बारे में उनसे बात करते हुए कई बार महसूस हुआ कि शायद वह कुछ छुपा रही हैं। इसके बाद पूरे दिन मेरी

तबियत बेचैन रही, बार बार मिट्टी के तेल से जला हुआ नंगा बदन मेरे दिमाग़ में उभरता रहा। उसकी बदबू मेरे दिमाग़ में बस गयी थी। शाम को मालूम हुआ कि उसका अंतिम संस्कार भी उसी शाम हो रहा है। इससे पहले कि पुलिस को समाचार मिले और वह लाश को पोस्ट मार्टम के लिए ले जाए, उन लोगों ने अंतिम संस्कार कर देना ही मुनासिब समझा। बाल मुकुन्द तो आ चुके थे लेकिन रमा के घर वाले नहीं आ सके थे। मैं अंतिम संस्कार में शामिल होना चाह रहा था लेकिन अम्माँ ने सख़्ती से मना कर दिया। नहीं! जली हुई लाश तो तुम देख ही चुके हो, अब उसे और जलाने का क्या अर्थ रह गये हैं। चुपचाप घर में बैठो, इसके बाद अम्माँ ने बाहरी दरवाज़े बन्द करके ताला लगा दिया और चाभी अपने पास रख ली कि मैं किसी तरह भी बाहर न निकल पाऊँ।

उस रात मुझसे खाना न खाया गया, अभी खाने के लिए बैठा ही था कि दिमाग़ में फिर वही शक्ल उभर आयी, उसका गोरा चिट्टा ख़ूबसूरत जिस्म, जो अब जली हुई काली लाश में तबदील हो चुका था, मेरी तबियत बेचैन हो गयी। एक निवाला भी खाए बग़ैर मैं उठ गया। अम्माँ ने बहुत कोशिश की कि मैं सब कुछ भुला कर खाने की कोशिश करूँ लेकिन ऐसा मुमकिन न हो सका। जब उसका अंतिम संस्कार हो जाने की ख़बर मिली तो अम्माँ ने बाहरी दरवाज़े का ताला खोल दिया।

तबियत बेचैन थी, जब बेचैनी हद से ज़्यादा बढ़ गयी तो मैं रात में एक बार फिर गाँव में घूमने निकल गया। हर तरफ़ ख़ौफ का माहौल था। दूर दूर तक सन्नाटा पसरा हुआ था, थोड़ा आगे बढ़ने पर कुछ लोगों के बोलने की आवाज़ें सुनाई दीं। ये आवाज़ें गाँव की अकेली दुकान से आ रही थीं। ये दुकान एक तरह से गाँव की चौपाल थी, जहाँ सब लोग जमा होकर विभिन्न विषयों पर बातें करते थे। मैं उसी तरफ़ चल दिया लोग रमा की ख़ुदकुशी का ही चर्चा कर रहे थे। वहाँ ख़ुदकुशी की तरह तरह की व्याख्याएं की जा रही थीं। कुछ लोगों को इस बात का बहुत अफ़सोस था कि रमा बाला ने फन्दा न लगा कर गाँव की रवायत को तोड़ा है, उसे आग लगाकर ख़ुदकुशी नहीं करनी चाहिए थी। उसे फन्दा लगाकर ही ख़ुदकुशी करनी चाहिए थी। यह बात सुन कर एक बुज़ुर्ग ने कहा कि वह इस गाँव की बेटी तो थी नहीं, वह तो बहू थी। उसे क्या मालूम कि इस गाँव के लोग ख़ुदकुशी कैसे करते हैं, इसकी क्या परम्परा है। यह सुन कर पहले वाले साहब ने जवाब दिया। लेकिन अब उसकी शादी हुए तीन साल से ज़्यादा अरसा गुज़र चुका था। उसे अब तक फन्दा गाँव की परम्परा मालूम हो जानी चाहिए थी, इसके लिए हम सब ज़िम्मेदार हैं। गाँव की परम्परा को तोड़ कर उसने अच्छा नहीं किया, यह बदशगुनी है इस गाँव के लिए।

गाँव के लोग इस बात पर एकजुट थे कि यह हादसा नहीं बल्कि ख़ुदकुशी है, देर तक लोग उस ख़ुदकुशी के कारणों पर बातें करते रहे लेकिन सब ख़ाम ख़्याली बातें थीं किसी को कुछ नहीं मालूम था। किसी के पास कुछ ऐसी दलील न थी, जिससे मालूम होता कि उसने ख़ुदकुशी क्यों की? मुझे ख़ुदकुशी नामा में ख़ास तौर से दिलचस्पी थी, जब जब उसकी ख़ुदकुशी का ज़िक्र होता तो मेरे ज़ेहन में ख़ुदकुशी नामा का सवाल ज़रूर आता, लेकिन किसी ने भी ख़ुदकुशी नामा का कोई ज़िक्र ही नहीं किया। मेरे लिए यह बड़ी

मायूसी वाली बात थी कि कोई ख़ुदकुशी नामा का ज़िक्र ही नहीं कर रहा है, लगता है उसकी ख़ुदकुशी भी यूँ ही बर्बाद हो गयी।

मैं आख़िरकार घर लौट आया, कुछ देर में सोने के लिए लेट गया लेकिन हर आहट पर लगता कि बाल मुकुन्द की बीवी कहीं से आ रही है। गाँव में मशहूर था कि ख़ुदकुशी करने वाले का निर्वाण नहीं होता है और उसकी आत्मा यूँ ही भटकती रहती है। ज़ेहन में यही ख़ौफ़ बसा हुआ था कि उसकी आत्मा कहीं आस पास ही भटक रही होगी, जो किसी भी वक़्त और किसी भी रूप में आ सकती है। उसके आने के डर से किसी परिन्दे या झींगुर की आवाज़ सुनाई पड़ती तो लगता कहीं वह तो नहीं आ गयी। मैंने जब सोने की कोशिश की तो आदत के मुताबिक़ रौशनी बन्द करके लेट गया। दिल मज़बूत करके किसी तरह अपने आपको यक़ीन दिलाया कि डरना नहीं है, ऐसा कुछ नहीं होगा लेकिन कुछ तो भूख की वजह से और उससे ज़्यादा दिल मज़बूत करके लेटने की वजह से देर तक नींद न आ सकी।

अचानक किसी के क़दमों की आहट सुनाई दी, मैं डर कर संभल गया। अब आँख खोली भी नहीं जा रही थी और बन्द भी नहीं रखी जा सकती थी। बहर हाल मैंने डरते डरते इधर उधर देखने की कोशिश की। ऐसा लगा कि जैसे रौशनी के हल्के हल्के साए इधर उधर घूम रहे हों। क़दमों की आहट और नज़दीक होती जा रही थी। दूर कहीं कोई परिन्दा तेज़ आवाज़ के साथ उड़ा, तो मैं और डर गया। अब मुझे पूरा यक़ीन हो चला था कि हो न हो रमा बाला की ही आत्मा भटक रही होगी। मैंने उसकी ख़ुदकुशी के राज़ जानने की ज़रूरत से ज़्यादा कोशिश की है, कहीं इसीलिए वह मेरा पीछा तो नहीं कर रही है? अचानक मेरा दरवाज़ा खुल गया, मेरे मुँह से तेज़ चीख निकल गयी।

''बचा ... ओ''

''तालिब! डरो मत, मैं अम्मा हूँ।''

मेरी नज़रें अम्माँ पर पड़ीं, वह एक हाथ में चराग़ और दूसरे हाथ में एक ख़्वान लिए हुए थीं, उन्होंने कहा।

''तुमने खाना नहीं खाया है, तुम दूध ब्रेड खा लो, ख़ाली पेट नींद भी नहीं आती है और डर भी ज़्यादा लगता है।''

क़रीब आकर उन्होंने ख़्वान रख दिया, उसमें दूध ब्रेड थे, मैं ब्रेड को दूध में डुबो कर खाने लगा। उन्होंने मुझे डर से बचाने के लिए कुछ दुआएँ पढ़ कर मुझ पर दम कर दीं। उसके बाद उन्होंने अपने मिट्टी के तेल के चराग़ से मेरे कमरे के चराग़ को रौशन किया और वापस अन्दर चली गयीं।

दिमाग़ में कशमकश तो चल ही रही थी, भले डर थोड़ा कम हो गया हो लेकिन अब उजाले में और भी नींद न आयी। मैं देर तक उजाले में सोने की कोशिश करता रहा। करवटें बदलता रहा, चराग़ की लौ को थरथराते देखता रहा, लेकिन किसी करवट नींद नहीं आ सकी। आख़िरकार एक बार फिर रौशनी बुझा

कर सोने की कोशिश की और फिर देर तक करवटें बदलता रहा। ख़ौफ़ से पसीना पसीना होता रहा। रात के तीन बज चुकने के बाद आख़िरकार मुझे नींद आ ही गयी। अभी नींद में पहुँचा ही था कि एक ख़्वाब ने आकर मुझे बुरी तरह से जकड़ लिया। वह सफ़ेद साड़ी पहने, हाथों में दिया लिए चली आ रही थी।

बहुत ज़माने बाद जब मैंने मशहूर ज़मान चित्रकार राजा रवि वर्मा की 'चराग़ लिए औरत' वाली तस्वीर देखी थी जिसमें गुलाबी साड़ी पहने हुए औरत एक हाथ में चराग़ लिए हुए थी जबकि दूसरे हाथ से वह चराग़ को बुझने से बचाने के लिए चराग़ को हाथ से घेरे हुए थी। चराग़ की रौशनी का पीला सा अक्स उसकी साड़ी पर पड़ रहा था, साथ ही चेहरे पर चराग़ की रौशनी पड़ने से उसके चेहरे से उम्मीद का रौशनी फैल रही थी। चित्रकारी का वह दुर्लभ नमूना देख कर मुझे ख़्वाब का वह मन्ज़र याद आ गया था। दोनों बिलकुल एक जैसे थे। जबकि मुसव्विर और उसकी और उसकी मशहूर ज़माना तसवीर से उस वक़्त मैं बिलकुल अनभिज्ञ था। बहर हाल उस वक़्त उसे देख कर मेरे मुँह से ख़ौफ़नाक आवाज़ें निकल रही थीं। जैसे दूर से तेज़ हवा आ रही हो तभी अजनबी हाथ उसके ऊपर मिट्टी का तेल छिड़कने लगे, फिर हवा का तेज़ झोंका आया और उसी चराग़ से आग उससे दामनगीर हो गयी। आग लगते ही वह तेज़ तेज़ चीखने लग गयी।

''तालिब! तालिब मुझे बचा लो, यह लोग मुझे जला रहे हैं, तालिब मुझे बचा लो।''

वह जल रही थी, वह चीख रही थी, उसकी साड़ी जल गयी, उसकी खाल जलने लगी, उसका ह्यूला छत तक ऊँचा उठने लगा। वह चीख रही थी, उछल रही थी, दौड़ रही थी, कुछ अजनबी आवाज़ें उसका हँसी ठठ्ठा कर रही थीं। वह अचानक मेरी तरफ़ दौड़ी और मुझसे लिपट गयी।

''तालिब मुझे बचा लो।''

डर से मेरी घिग्घी बंध गयी, मैं ख़्वाब में ही चीखने लगा, शायद ख़्वाब से बाहर भी मेरी ख़ौफ़नाक आवाज़ें निकल गयी थीं। एक बार फिर से मेरी आँखें खुल गयीं। फिर देर तक मैं सो न सका। सुब्ह होते होते फिर नींद आयी। कुछ देर ही सोया था कि अम्माँ ने स्कूल जाने के लिए जगा दिया। लेकिन जब उन्होंने मेरा हाथ छुआ तो मैं तेज़ बुख़ार में मुबतला था। मैं सुबह की रोज़ की ज़रूरतों से फ़ारिग़ हुआ तो उन्होंने मुझे नाश्ता खिला कर दवा खिलाई और कहा आज स्कूल मत जाना, घर में ही आराम करो।

अम्माँ के जाने के बाद मैं थोड़ी देर तो लेटा रहा। रात भर जागने के बावजूद नींद अब भी मेरी आँखों से कोसों दूर थी। देर तक करवटें बदलता रहा। फिर पसीना निकलने लगा, शायद अब बुख़ार उतर रहा था, अब तबियत हल्की हो रही थी। उसके बाद मैं गहरी नींद सो गया, नींद से उठा तो दोपहर हो चुकी थी, मैं नहाने की तैयारी कर रहा था, अम्माँ ने कहा, ऐसे बुख़ार में नहाने की ज़रूरत नहीं है, हाथ मुँह धोकर आ जाओ, मैं खाना लगाती हूँ। रात में भी तुमने खाना नहीं खाया था, खाना खाकर तबियत बेहतर हुई तो मैं घर से बाहर निकल गया।

बाहर जाते ही मेरी दिनेश से मुलाक़ात हो गयी, मिलते ही उसने पूछा।

''तालिब तुम्हें मालूम है? भारतीय पैनल कोड में एक धारा ऐसी है कि जिसके तहत अगर कोई जुर्म करने में कामयाब हो गया तो उसके लिए कोई सज़ा नहीं है और अगर नाकाम रहा तो उसके लिए सज़ा है।''

मैंने कहा, ''नहीं, मुझे नहीं मालूम, भला ऐसा कौन सा जुर्म हो सकता है जो कामयाबी से करने पर कोई सज़ा नहीं है और नाकाम रहने पर सज़ा है।''

''ख़ुदकुशी! ख़ुदकुशी ऐसा जुर्म है कि उसे करने की कोशिश की लेकिन नाकाम रहे तो उसकी सज़ा है और अगर कामयाब हो गये तो मुर्दे को क्या सज़ा दी जा सकती है? कोई भी नहीं।''

दिनेश भी आज मुझसे मिलने के लिए बेचैन था, उसे बाल मुकुन्द की बीवी की ख़ुदकुशी के तमाम राज़ मुझे बताने थे। मेरे बैठते ही उसने बाल मुकुन्द की बीवी की ख़ुदकुशी के तमाम राज़ों से पर्दे हटाने शुरू कर दिए। उसने बताया कि दर अस्ल मामला बाल मुकुन्द शर्मा और अरुणेश यादव की दोस्ती का था। बाल मुकुन्द शर्मा तो ज़ाहिर है ब्राह्मण है और अरुणेश यादव यानी अहीर है। लेकिन दोनों में दोस्ती बहुत पक्की थी और बचपन से ही थी। बाल मुकुन्द जितना गोरा था अरुणेश उतना ही काला था।

दोनों के घर कुछ ही दूरी पर स्थित थे, बाल मुकुन्द का मकान पक्का था और उसके पिछवाड़े कुछ ख़ाली जगह पड़ी थी जो उसी की थी। वहाँ कोई नहीं रहता था, सन्नाटा रहता था। मुस्तक़बिल में वहाँ दीवार बनाने की नियत से मौजूद दीवार में खाँचे बने हुए थे, कि जब दीवार तामीर होगी तो वह नयी दीवार इन्हीं खाँचों में बैठकर मज़बूत हो जायेगी। इन खाँचों से आसानी से छत पर चढ़ा जा सकता था। बाल मुकुन्द और दिनेश यादव के जिस्मानी सम्बन्ध थे, दोनों सम लैंगिक सम्बन्ध बनाते थे अरुणेश रात में मौक़े के अनुसार उन्हीं खाँचों से छत पर चढ़ जाता था और छत पर पहुँच कर वह दोनों अपनी हवस मिटा लेते थे। छत पर सिर्फ़ एक ही कमरा था, बाल मुकुन्द के बाक़ी घर वाले नीचे सोते थे। इसलिए नीचे वालों को ऊपर की कोई ख़बर न मिलती। वैसे बाल मुकुन्द ज़ीने के दरवाज़े बन्द कर लेता था।

बी ए के बाद बाल मुकुन्द शर्मा ने करीम नगर में छोटी मोटी ठेकेदारी का काम शुरू कर दिया था, तो उसकी शादी तै हो गयी, उस वक़्त तक अरुणेश पढ़ ही रहा था क्योंकि उसके घर में ठेकेदारी या कोई दूसरा कारोबार शुरू करने के पैसे न थे। उसका अभी पढ़ाई का लम्बा इरादा था, क्योंकि उसे तो कोई न कोई नौकरी ही करनी थी। इसलिए जब तक नौकरी नहीं लग जाती, शादी का कोई सवाल ही न था।

बाल मुकुन्द शर्मा की शादी में अरुणेश यादव ने ख़ूब बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया, कुछ ब्राह्मणों को इस पर एतराज़ भी था कि ब्राह्मणों की शादी की सारी रस्मों में एक यादव का क्या काम है? लेकिन उसके घर वालों को मालूम था अरुणेश उसके बचपन का जिगरी दोस्त है, उसे किसी रस्म से मना नहीं किया जा

सकता। उसने जब बाल मुकुन्द की बीवी को देखा तो उसके दिल में उमंगें जाग उठीं। बहर हाल बाल मुकुन्द शर्मा की शादी अच्छे से सम्पन्न हो गयी।

शादी के कई दिन बाद तक बाल मुकुन्द ने अपनी बीवी से सम्बन्ध न क़ायम किए, जब बीवी ने वजह जाननी चाही तो बाल मुकुन्द ने साफ़ साफ़ बता दिया कि उसके अरुणेश यादव के साथ सम लैंगिक सम्बन्ध रहे हैं, मैं उसके साथ बेवफ़ाई नहीं करना चाहता। बीवी ने चाहा कि उसकी ये आदत छुट जाए तो बाल मुकुन्द इसके लिए तैयार भी हो गया। क्योंकि सम लैंगिकता उनका चुनाव नहीं था। कामुक ख़्वाहिशें अन्दर से उठती ही थीं लेकिन विपरीत सेक्स मौजूद नहीं था, तो सम लैंगिकता ही सही। अगरचे कुछ लोगों के लिए सम लैंगिकता पहली पसन्द भी होती है, लेकिन अरुणेश या बाल मुकुन्द के लिए सम लैंगिकता पहली पसन्द न थी। बल्कि सेक्स का एक बदल था, विपरीत सेक्स के साथ सेक्स का एक विकल्प।

जब बाल मुकुन्द सम लैंगिकता छोड़ने को तैयार हुआ तो उसने अपनी बीवी के सामने एक शर्त रख दी कि उसे अरुणेश को भी कभी कभी ख़ुश करना होगा। यह ऐसी शर्त थी जिसे वह किसी दुःस्वप्न में भी नहीं सोच सकती थी। वह बहुत नाराज़ हुई, कई दिन तक उसने बाल मुकुन्द से बात भी न की। लेकिन अब क्या हो सकता था? उसके घर वालों ने सिखाया था कि जिस घर में तेरी डोली जा रही है उसी घर से तेरी अर्थी निकलेगी। अब घर वापसी या शादी से आज़ादी की कोई सम्भावना न थी। भले क़ानूनी तौर पर हिन्दू धर्म में तलाक़ का विकल्प हो गया हो। लेकिन उसकी परवरिश जिस ब्राह्मण समाज में हुई थी उसमें अभी भी तलाक़ की कोई कल्पना न थी।

बाल मुकुन्द की शर्त सुनने के बाद रमा को ख़ामोशी लग गयी। वह न कुछ बोलती और न कोई फ़रमाइश करती। काफ़ी दिनों तक ये सिलसिला चलता रहा लेकिन ऐसा कब तक चलता, आख़िरकार उसने अपने शौहर की शर्त क़ुबूल कर ली और ख़ुद को उसके सुपुर्द कर दिया। धीरे धीरे शौहर के साथ उसके सम्बन्ध क़ायम हो गये। एक रात अरुणेश भी पिछवाड़े से छत पर आ गया। उसके कमरे के नीचे घर के दूसरे लोग सो रहे थे किसी क़िस्म के विरोध की गुँजाइश न थी। वैसे भी सैद्धांतिक रूप से वह अपने शौहर की शर्त पहले ही क़ुबूल कर चुकी थी। अब बाल मुकुन्द जो जी चाहे करे या कराए। वह किसी क़िस्म का प्रतिरोध न करेगी। अपने आपको उसने अरुणेश के हवाले भी कर दिया।

फिर ये सिलसिला चलता रहा, वह अक्सर देर रात में, अंधेरे में उसकी छत पर आ जाता, मुमकिन है कभी किसी ने उसे रातों में बाल मुकुन्द की छत पर आते जाते हुए देखा हो। लेकिन उनके बीच जो चलता था चलता रहा। जब तक कोई ठोस सुबूत न हों कोई कुछ नहीं कर सकता। इस दौरान रमा बाई के गर्भ ठहर गया, अब रमा को ये चिंता सताने लगी कि बच्चा किसका है? अगर बच्चा बिलकुल अरुणेश की तरह हो गया तो क्या होगा? यह सोच सोच कर उसकी नींद और उसका चैन सब उड़ जाते, इन्हीं सोचों में और डर के माहौल में बच्चा पैदा भी हो गया। जिसकी ख़ुशियाँ धूम धाम से मनायी जाने लगीं। बच्चा माँ पर गया था, वह न बाल मुकुन्द की तरह गोरा था और न अरुणेश की तरह काला। शक्ल में भी अरुणेश

या बाल मुकुन्द के कुछ स्पष्ट प्रभाव न थे, अलबत्ता माँ की एक झलक ज़रूर नज़र आती थी। फिर ये कहावत मौजूद थी कि जिसका बाप ज़िन्दा हो उसको हरामी कौन कह सकता है? इसके बाद रमा ने एक फ़ैसला कर लिया की अब पिछली ग़लती नहीं दोहरानी है, कंडोम के बग़ैर अब अरुणेश के साथ बिस्तर में नहीं जाएगी। बच्चे की पैदाइश के बाद अब रमा अरुणेश के साथ रिश्ते की कशमकश से ऊपर आ चुकी थी, उसे अब अरुणेश का इन्तज़ार रहने लगा था और अरुणेश के साथ ज़्यादा मज़ा आता था। जो सच पूछो तो उसे अरुणेश से मुहब्बत हो गयी थी। बाल मुकुन्द ने यह बात महसूस तो की लेकिन वह बड़े दिल का था। उसके दिल में अरुणेश के लिए कोई जलन न पैदा हुई, बल्कि बच्चे की पैदाइश के बाद जब उसकी पत्नी अपने मायके गयी, तो उसने अरुणेश के साथ एक बार फिर समलैंगिक सम्बन्ध स्थापित किए।

इस दौरान अरुणेश की तालीम भी मुकम्मल हो गयी उसे लखनऊ में एक कारख़ाने में नौकरी भी मिल गयी। ऐसे में अरुणेश के घर वालों को उसकी शादी की चिंता हुई और उसकी शादी के लिए लड़की देखी जाने लगी। अब अरुणेश लखनऊ में रहने लगा था, बीच बीच में जब वह गाँव आता तो बाल मुकुन्द और उसकी बीवी से दोस्ती उसी तरह क़ायम रही। जब अरुणेश की शादी तै हो गयी तो रमा बाला ने इसका सख़्त विरोध किया। उसने कहा, मैंने तुम्हारे लिए इतनी क़ुरबानी दी है, अब तुम शादी नहीं कर सकते, अब हम तीनों लखनऊ में रहेंगे। अरुणेश ने कहा, नहीं! मैं तुम्हारे पास आता रहूँगा, लेकिन अब शादी ज़रूरी है, मुझे नौकरी मिल चुकी है, मेरी उम्र के गाँव के सारे लड़कों की बहुत पहले शादी हो चुकी है, अब शादी से मना करने का मेरे पास कोई बहाना नहीं है। इसके बाद अरुणेश लखनऊ चला गया, उसकी शादी की तारीख़ तै हो गयी थी। उसके लखनऊ जाने के बाद रमा बाला ने ख़ुदकुशी कर ली।

दिनेश ने मुझे रमा बाला की ख़ुदकुशी का ये राज़ बताया, उसने जिस विश्वास और सिलसिलेवार कड़ी से कड़ी जोड़ते हुए ये क़िस्सा सुनाया था, उस पर एतबार न करने की कोई वजह नहीं रह गयी थी। दिनेश एक सिद्धांत पर हमेशा बहुत पाबन्दी से क़ायम रहता था, कोई कितनी भी कोशिश कर ले लेकिन वह कभी किसी को ये नहीं बताता था कि उसे ये मालूमात कहाँ से हासिल हुई है? जिसको यक़ीन करना है करे, नहीं करना है तो न करे, वह अपने स्रोत कभी नहीं बताएगा। रमा बाला का ये क़िस्सा सुनते सुनते मुझे एक बार फिर बुख़ार चढ़ने लगा था और मैं जल्दी से घर चला आया।

• • •

ख़ुदकुशी से कुछ हफ़्ते पहले रमा बाला अपने मायके गयी थी। उस वक़्त उसने सुसराल की तारीफ़ की थी और किसी क़िस्म की शिकायत न की थी। अगरचे शुरू में उसके मायके वालों को यही बताया गया था कि बच्चे का दूध गर्म करते हुए स्टोव फट गया था लेकिन धीरे धीरे मायके वालों को मालूम हो गया था कि रमा बाला ने ख़ुदकुशी की थी। कोई ख़ुदकुशी नामा नहीं था, कोई शिकायत न थी, फिर उसका दो साल का बच्चा भी था, अगर पुलिस में रिपोर्ट लिखवाई गयी तो बच्चे से भी सम्बन्ध टूट जायेगा। वैसे भी जब तक इस बात के पक्के सुबूत न हों कि बाल मुकुन्द ने उसे ख़ुदकुशी पर मजबूर किया है तब तक पुलिस में

एफ. आई. आर. करने से कुछ नहीं होने वाला। फिर बार बार यहाँ के थाने और कोर्ट में दौड़ कर आना पड़ेगा सो अलग से। इसलिए आख़िरकार रमा के मायके वालों ने बाल मुकुन्द और उसके घर वालों के ख़िलाफ़ रिपोर्ट न लिखवाने का फ़ैसला किया।

उधर सुसराल में सब लोगों का यही ख़्याल था कि वह बहुत घुन्सी थी, कभी किसी को हमराज़ न बनाती थी, बल्कि कुछ लोगों का यह भी ख़्याल था कि शादी से पहले उसे किसी से मुहब्बत थी, इसलिए उसने बालमुकुन्द के साथ शादी को कभी दिल से कुबूल ही नहीं किया था।

अरुणेश यादव की शादी तैशुदा तारीख़ में ही हो गयी। उसकी बीवी अरुणा भी गाँव में रहने लगी। शादी के कुछ दिनों तक अरुणेश गाँव में रहा, इस दौरान अरुणेश ने अपनी बीवी को बाल मुकुन्द और उसकी बीवी से अपने रिश्तों के बारे में सब कुछ बता दिया। अरुणा को ये बात सुनकर गहरा सदमा हुआ, उसने अरुणेश से पूछा, तुमने मुझे ये बात क्यों बतायी? क्या तुम चाहते हो अब मैं भी बाल मुकुन्द के साथ वही रिश्ते बनाऊँ जो तुमने उसकी बीवी के साथ बनाए थे? मुझसे ऐसा हरगिज़ न होगा। मैं ऐसा होने से पहले चीख चीख कर सबको बता दूँगी और अगर आपने फिर भी मुझे मजबूर करने की कोशिश की तो मैं भी ख़ुदकुशी कर लूँगी। अरुणेश ने बात को टालने के लिए कहा मैं तुम्हें किसी बात के लिए मजबूर नहीं करुँगा, मैंने तो बस यूँ ही अपने माज़ी को तुम्हारे सामने रख दिया। कुछ दिनों तक अरुणेश उसके साथ रहा फिर वह अपनी बीवी को गाँव में ही छोड़ कर नौकरी करने लखनऊ चला गया। अभी लखनऊ में उसने अलग घर किराए पर न लिया था। वह एक दोस्त के साथ किराए पर कमरा ले कर रहता था। इसलिए बीवी को लखनऊ नहीं ले जा सकता था।

अरुणेश जिस दिन अरुणा को छोड़ कर लखनऊ गया उसी दिन बाल मुकुन्द की बीवी रमा बाला के भूत ने अरुणा को आकर जकड़ लिया। अरुणा खुल खेलने लगी। उसने अपने सारे बाल खोल दिए, तेज़ तेज़ क़हक़हा लगा कर हँसने लगी। अपनी सास के बाल पकड़ कर खींचे और हँसते हुए बोली, तूने ही अरुणेश की शादी कराई थी ना? अब मैं तुम्हें नहीं छोडुंगी।

अरुणा की आँखें अंगारे की तरह दहक रही थीं, गुस्से में वह सास को घूरे जा रही थी। अरुणेश की माँ ख़ौफ़ से तेज़ तेज़ चीखने लगीं। लोगों की भीड़ जमा हो गयी। झाड़ फूंक करने वाले एक मौलवी को बुलाया गया। उन्होंने अरुणा के बालों में एक गाँठ लगवायी और खुद बुदा बुदा कर कुछ पढ़ने लगे। पढ़ने के बाद उन्होंने अरुणा के ऊपर फूँक दिया। वह तेज़ दहाड़ी।

''हुँ...ह, मेरे ऊपर तुम्हारा कोई जंतर मंतर नहीं चलने वाला, तुम मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।''

मौलवी साहब ने एक बार फिर पढ़ना शुरू किया। इस बार वह पहले से ज़्यादा बुलन्द आवाज़ में पढ़ रहे थे। पढ़ने के बाद उन्होंने चारों तरफ़ फूँका और एक बार फिर अरुणा की तरफ़ सम्बोधित होकर कहा।

''बताओ! तुम कौन हो? तुम्हें किसने भेजा है?''

''मैं नहीं बताने वाली, मुझे किसी ने नहीं भेजा है। मैं अपने बारे में तुम्हें कुछ नहीं बता सकती।''

इस बार मौलवी साहब ने अरुणा के चारों तरफ़ खड़िया से एक दायरा बना दिया। और एक बार फिर से कुछ मुँह में बुदबदाते हुए पढ़ने लगे, आँखें बंद कर लीं और अरुणा के ऊपर दायरे के चारों तरफ़ फूँक कर बोले।

''तुम्हें बताना ही पड़ेगा। अब तुम बच कर नहीं जा सकतीं, मैंने तुम्हें घेर दिया है।''

इतना सुनते ही अरुणा आग बबूला हो गयी और उसने एक लात खींच कर मौलवी के सीने पर मार दी, मौलवी साहब इस वार के लिए बिलकुल तैयार न थे इसलिए अपने आप को संभाल न सके और लड़खड़ा के पीछे गिर गये। कुछ बच्चे और नवजवान जो आस पास खड़े थे खिलखिला कर हँसने लगे। लेकिन मौलवी साहब जल्दी ही खड़े हो गये, कुर्ता झाड़ा, अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरा और मुक़ाबले के लिए फिर तैयार हो गये। लपक कर उन्होंने अरुणा के बाल पकड़ लिए और बहुत तेज़ खींचने लगे अब अरुणा बुरी तरह बिलबिला उठी।

''मुझे छोड़ दो, मैंने कुछ नहीं किया है, आह मुझे छोड़ दो, बहुत दर्द हो रहा है।''

''तुम अरुणा को छोड़ दो मैं तुम्हें छोड़ दूँगा, लेकिन इससे पहले तुम्हें बताना होगा कि तुम कौन हो और यहाँ किस लिए आयी हो।''

''मैं बाला हूँ, मैं इधर से गुजर रही थी कि मेरी इस पर नज़र पड़ गयी, और मैं देखने लगी कि ये दुल्हन किसकी है, जब क़रीब आई तो मालूम हुआ कि ये तो दिनेश की बीवी है। मैं इसकी आशिक़ हो गयी, अब मैं इसे छोड़ कर जाने वाली नहीं हूँ।

''तुम अभी भी सही नहीं बता रही हो, सच सच बताओ मामला क्या है।'' इसके बाद मौलवी साहब ने बाक़ी लोगों से कहा, सिर्फ़ अरुणा की सास यहाँ रहेंगी, बाक़ी सब लोग यहाँ से निकल जाएं। जब सब लोग निकल गये तो उन्होंने अरुणा की एक बाँह पकड़ ली और उसे मरोड़ने लगे। वह चीख चीख कर रोने लगी और ठहर ठहर कर बोली।

''अरुणा ने मेरा सारा खेल बिगाड़ दिया है, मेरी उम्मीदों पर पानी फेर दिया है, मैं भी इस आराम से नहीं रहने दूँगी।''

ये कह कर वह ज़मीन पर लेट कर रोने लगी, अब मौलवी साहब ने उसे छोड़ दिया। अरुणा वहीं ज़मीन पर लेटी रही, कुछ देर तक सिसकती रही, साँसें तेज़ तेज़ चलती रहीं, फिर जैसे नींद सी आने लगी। उसने आँखें बन्द कर लीं और गहरी नींद सो गयी। कोई आधे घण्टे तक वह यूँ ही पड़ी रही, इस दौरान वह न कुछ मुँह से बोली और न उसके जिस्म में कोई हरकत हुई, बस साँसें तेज़ तेज़ चलती रहीं।

मौलवी साहब ने बाहर आकर कहा अब सब कुछ ठीक है, सब लोग यहाँ से चले जाएं, कुछ लोग ज़रूर चले गये लेकिन काफ़ी लोग वहीं जमे रहे। आधे घण्टे बाद उसने आँखें खोलीं तो जल्दी से उसने साड़ी दुरुस्त की और घर के अन्दर वाली कोठरी में चली गयी।

यह ख़बर जब अरुणेश यादव को लखनऊ में मिली तो वह घर आ गया, वह मौलवी साहब के पास गया, उन्होंने कहा, इस पर एक ख़तरनाक चुड़ैल का साया है, लेकिन अब तुम्हें घबराने की कोई ज़रूरत नहीं है, मैंने उसे बाँध दिया है। अब वह वापस नहीं आ पाएगी। अरुणेश ने अरुणा को करीम नगर में एक डाक्टर को भी दिखाया, उसने अरुणा की कई तरह की जाँचें करायीं, रिपोर्टें देख कर डाक्टर ने बताया कि अरुणा को कुछ ख़ास नहीं हुआ है, वह बिलकुल ठीक है, बस कोशिश कीजिए कि उसे किसी क़िस्म का ज़ेहनी तनाव न होने पाए। अगर फिर भी कोई दिक़्क़त आए तो दिमाग़ के डाक्टर को दिखा दीजिएगा। एक चिकित्सक की हैसियत से मैं कह सकता हूँ अरुणा बिलकुल ठीक है।

कुछ दिन सब कुछ ठीक ठाक रहा, और अरुणेश एक बार फिर लखनऊ वापस चला गया। शादी के बाद भी जिसका शौहर उससे दूर शहर में रहता हो और वह अपनी सुसराल में रहती हो। उसे ज़ेहनी और जिस्मानी दोनों तरह के तनाव होना प्राकृतिक बात है। अरुणेश के जाने के एक हफ़्ते बाद एक बार फिर बाला की चुड़ैल अरुणा पर सवार हो गयी। और ये सिलसिला चल निकला, वह अक्सर अरुणा पर आ जाती और वही सिलसिला घण्टों चलता रहता। गाँव वाले कह रहे थे देख लिया आग लगा कर ख़ुदकुशी करने का नतीजा? फन्दा गाँव में ख़ुदकुशी फन्दा डाल कर ही की जा सकती है। रमा बाला ने इस परम्परा को तोड़ा है, उसकी आत्मा इसीलिए अभी तक भटक रही है। जब मर कर भी चैन नहीं आएगा तो किधर जाएगी? चुड़ैल बन कर किसी को परेशान करेगी और क्या होगा? वह इसके सिवा और क्या कर सकती है? लेकिन सब्र से काम लेना होगा, चुड़ैल किसी को कितना भी परेशान कर ले, सुकून की बात ये है कि वह किसी की जान नहीं ले सकती।

आलोचना की भाषा

अशोक वाजपेयी

कविता की भाषा के अलावा, हमारे यहाँ आलोचना की भाषा पर विचार किया गया है। उसमें कुछ नया जोड़ना मुश्किल है। पर उस विचार वितान का कुछ सर्वेक्षण जैसा किया जा सकता है। आलोचना में भाषा निरी भाषिक अभिव्यक्ति भर नहीं होती, वह दृष्टिसम्पन्न, मूल्यगर्भित और पूर्वग्रहयुक्त होती है। वह साहित्य के अनुराग, साहित्य के लम्बे और गहरे आस्वाद में रसी-रमी भाषा होती है। साथ ही वह ऐसी भाषा भी होती है जो अपने को विस्तृत करने और ज़रूरी हो तो बदलने के लिए भी तत्पर होती है। वह बखान के साथ-साथ विश्लेषण, विशेष से सामान्यीकरण की ओर जाती भाषा होती है।

आलोचना की भाषा कई दबावों के बीच लिखी जाती है और विकसित होती है। पहला दबाव तो रचना की भाषा का होता है। रचना की भाषा तेज़ी से बदलती है पर आलोचना की भाषा बदलने में मन्दगति रहती है। रचना का गुण संश्लेषण होता है जबकि आलोचना का विश्लेषण; और दोनों में स्पष्ट ही तनाव रहता है। आलोचना की अपनी परम्परा का, उसके मूल्यों-अवधारणाओं-पूर्वग्रहों, सामान्यीकरणों का दबाव भी पड़ता है। अन्य क्षेत्रों में विकसित विचार-भाषाओं का दबाव भी होता है। हिन्दी के क्षीण-शिथिल वैचारिक वर्तमान के कारण कई विदेशी विचार-सारणियाँ आलोचना हिसाब में लेती है और उदाहरण के लिए मार्क्सवाद, स्त्री-विमर्श, उत्तर-आधुनिकता आदि का दबाव पड़ता है। चूँकि ज़्यादातर आलोचना अकादेमिक परिसर में ही होती है, अकादेमिक प्रतिष्ठान की अपेक्षाओं, परिपाटियों और प्रक्रियाओं, पूर्वग्रहों का आलोचना पर प्रभाव पड़ता हे, भले आलोचना की अकादेमिक भाषा अधिकतर जड़, रूढ़, निष्प्राण और ऊर्जा हीन होती है।

हिन्दी की एक बड़ी विडम्बना यह है कि उसमें मौलिक विचार बहुत कम है और जो है उसकी व्याप्ति और मान्यता बहुत कम है, विचारधाराओं और विचारधारा-विरोध के दबावों के बीच आलोचना को अपना वैचारिक और भाषिक सन्तुलन खोजना पड़ता है। बहुत सारी आलोचना राजनैतिक रूप से सही होने की चेष्टा करती नज़र आती है। हमारे समय में, ख़ास कर सम्प्रेषण के नये माध्यमों से पैदा हुई लोकप्रिय भाषा का प्रलोभन भी कई बार आलोचना को भटका दे सकता है। लोकतन्त्र की मुख्य वृत्ति आलोचना, प्रश्नांकन और जवाबदेही की होती है भले वह इस समय बहुत मन्द पड़ गयी है। लोकतन्त्र में जो होता है उसका प्रभाव भी आलोचना पर पड़ता है। कई बार उसमें बखान और विश्लेषण के बजाय फ़ैसला देने की हड़बड़ी दिखायी देती है। हर समय कुछ न कुछ आलोचनात्मक मतैक्य दृष्टि पर सक्रिय रहता हैः उसका वर्चस्व और व्याप्ति आलोचना को कई बार जोखिम उठाने से रोकती है। यह आकस्मिक नहीं है कि अवाँ गार्द अकसर रचना में होता है, आलोचना में नहीं।

अगर हम आज आलोचना की हालत का जायज़ा लें तो पता चलेगा कि प्रशंसा, निन्दा और उपेक्षा के सरलीकरण हावी हैं। साहित्य को निरे विचार में घटाने का उद्यम हो रहा है जो दरअसल साहित्य को एक तरह से उपकरण मानना है। ब्यौरों में जाने के अनिवार्य आलोचनात्मक उद्यम की उपेक्षा हो रही है। फिर आलोचना में नयी अवधारणाओं का अभाव सा है: सचाई और समाज बदल गये हैं, रचना बदल रही है पर आलोचना विजड़ित है, ठिठकी हुई है, नये ढंग से सोचने से या तो बच रही है या उसे टाल रही है। सचाई और रचना की तरह अपने को वैध्य बनाने के साहस या जोखिम से पीछे हट रही है। अगर थोड़े से आलोचकों को अपवाद मानकर छोड़ दें तो अधिकांश आलोचकों पर नितान्त समसामयिकता का आतंक-सा है। आलोचना का एक काम स्मृति को सजीव रखना है जबकि आज ज़्यादातर आलोचना से स्मृति का लोप हो चुका है। जिन मुद्दों पर लम्बी और सार्थक बहस पहले हो चुकी उन्हें फिर उसी सन्दर्भ से उठाया जा रहा है क्योंकि आलोचना को स्वयं अपनी बौद्धिक परम्परा की स्मृति नहीं रह गयी है। आलोचना में इन दिनों बार-बार पहिये का आविष्कार होता है।

आलोचना में स्वयं रचनाकारों ने जो योगदान दिया है, अज्ञेय-मुक्तिबोध-निर्मल वर्मा-मलज-विजयदेव नारायण साही आदि ने वह धारा सूख चुकी है। हर हालत में वह अवरुद्ध लगती है। पेशेवर आलोचकों पर उस अवदान का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है जबकि सबसे अधिक नये आलोचनात्मक पद और अवधारणाएँ इसी धारा से आयी हैं। आलोचना में साहित्य से अनुराग की हानि भी स्पष्ट नज़र आती है क्योंकि आलोचना की भाषा में ऐसे अनुराग का कोई साक्ष्य नहीं दीख पड़ता।

जैसे रचना वैसे ही आलोचना स्थापित व्यवस्था को प्रश्नांकित करने का जोखिम उठाये बिना नयी और ईमानदार नहीं हो सकती। इस व्यवस्था को उसकी जटिल सूक्ष्मता में पहचानना ज़रूरी होता है : सामान्य भाषा से लेकर रचनात्मक भाषा में अनेक गहरे संकेत छुपे होते हैं जो सचाई का हिस्सा होते हैं और जिन्हें रचना और आलोचना दोनों में पकड़ने-समझने का काम जतन और अध्यवसाय की माँग करता है। ऐसा जतन आलोचना में इधर कम ही दीख पड़ता है। जैसे रचनाकार को वैसे ही आलोचक को यह हक़ है कि वह बदले, अपनी दृष्टि और अनुभवों के फलितार्थ पर पुनर्विचार करे। ऐसा पुनर्विचार आलोचक के लिए अलग क़िस्म की कठिनाई पैदा करता है। रचनाकार को तो अपने बदले रूख़ का कोई बचाव नहीं करना पड़ता पर आलोचक को ऐसा करना पड़ता है। उसके बदले रूख़ को तभी विश्वसनीय माना जायेगा जब अपने पिछले रूख़ में परिवर्तन का विस्तार से कारण भी बताये। एक दिलचस्प उदाहरण नामवर सिंह का अज्ञेय की जन्मशती के अवसर पर बहुत विधेयात्मक आकलन है। दुर्भाग्य से, नामवर जी ने यह नहीं बताया कि लगभग अज्ञेय-विरोध की एक अधसदी चलाने के बाद उनका मत-परिवर्तन क्यों और कैसे हुआ। उन्होंने तो नया आकलन ऐसे लिखा जैसे कभी उन्होंने अज्ञेय के बारे में नकारात्मक कुछ लिखा या कहा ही न हो : यह आलोचना की और आलोचक की बुनियादी नैतिकता से विरत होना है और नामवर जी का मत-परिवर्तन विश्वसनीय नहीं हो सका।

रचना और आलोचना का साहचर्य ज़रूरी है और वह प्रायः होता ही आया है। लेकिन साहचर्य का अर्थ रचना का अनुगमन नहीं होता। वाल्टर बैन्यामिन ने कहा था कि 'साहित्य-संघर्ष में आलोचक रणनीतिकार होता है।' आलोचना की अपनी स्वायत्तता होती है और वह अपनी सही भूमिका अपनी स्वायत्तता की रक्षा कर ही निभा सकती है।

बहुत सारी आलोचना रचना का सघन-सूक्ष्म पाठ करने से संकोच करती है क्योंकि उसकी सार्वजनिक विमर्श होने में दिलचस्पी होती है। लेकिन दोनों में कोई तात्विक अन्तर्विरोध नहीं होता। ब्यौरे समूचे साहित्य के देवता होते हैं, रचना के और आलोचना दोनों के।

कुछ और प्रश्न, इस मुक़ाम पर, उठाये जा सकते हैं। क्या बिना अनुराग, आस्वाद और आदर याने विनय के अच्छी आलोचना लिखी जा सकती है? क्या साहित्य का अनुराग दरअसल संसार की हालत से सरोकार रखने से ही नहीं उपजता या उसी की ओर नहीं ले जाता? क्या दृष्टि होना ज़रूरी तौर पर निश्चयात्मक बनाता है? जैसे जीवनानुभव रचना में मात्र व्यक्त नहीं चरितार्थ होता है, वैसे ही क्या आलोचना में साहित्यानुभव को मात्र व्यक्त नहीं, चरितार्थ होना चाहिये? क्या जीवनानुभव और साहित्यानुभव के बीच अनिवार्य तनाव को जैसे रचना में वैसे ही आलोचना में सर्जनात्मक ऊष्मा और समझ का स्रोत नहीं माना जाना चाहिये?

हिन्दी में रचनाकारों द्वारा की गयी आलोचना की धारा इतनी कमज़ोर क्यों पड़ गयी है जबकि संसार के अनेक बड़े कवि-गद्यकार ऐसी सर्जनात्मक आलोचना में लगातार सक्रिय हैं? रूसी कवि जॉसा जोसैफ़ ब्रॉडस्की, आयरिश शीमस हीनी, फ्रैंच ईव बोनफुआ, चैक मिलान कुन्देरा, इस्पानी मारिऔ योसा आदि। इसका कारण सिर्फ़ यह तो नहीं हो सकता कि हमारी पेशेवर आलोचना ने सृजनात्मक आलोचना को जगह या मान्यता नहीं दी। लगता है कि युवतर पीढ़ियों में आलोचना वृत्ति आत्मालोचन के साथ ही मन्द पड़ गयी। रचना को अभिधा तक सीमित होने के कारण, एक तरह से आलोचना की ज़रूरत ही नहीं रह गयी!

इस तथ्य को भी हिसाब में लेना ज़रूरी है कि, एक दूसरे स्तर पर, नयी संचार तकनालजी के कारण, हर व्यक्ति को आलोचना करने की सुविधा और अधिकार मिल गये। इसे एक तरह की लोकतान्त्रिकता भी कहा-माना जा सकता है। लेकिन उसने बहुत सतही क़िस्म की टिप्पणियाँ करने को ही आलोचना बना दिया लगता है। किसी गम्भीर और सुचिन्तित, विचारोत्तेजक विमर्श की उसमें गुंजाइश बहुत कम है। वह आलोचना को तुरन्त अभिमत में घटाने का अवसर भी देती है।

इस समय आलोचनात्मक मतैक्य का भ्रम पैदा करती हुई एक सोची-समझी विचारधारात्मक रणनीति सक्रिय है जो कुछ लेखकों और कुछ कृतियों के नाम बार-बार दुहराती है और सारे मत-मतान्तरों को उन्हीं के इर्द-गिर्द रखने का माहौल बनाती-पोसती है। इस थोपे गये मतैक्य को प्रश्नांकित करने वाली प्रतिरोधात्मक आलोचना का, दुर्भाग्य से, अभाव है। अगर इस समय ऐसे लेखकों और रचनाओं की सूची बनायी जाये

जिनकी आलोचना ने अवहेलना की है तो वह यह भी उजागर करेगी कि आलोचना में न्यायबुद्धि कितनी कम बची और सक्रिय है।

यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि आलोचना में कोई अवाँ गार्द क्यों नहीं है। एक तो जो स्त्री-विमर्श और दलित विमर्श चल रहे हैं उन्हें किसी हद तक, अवाँगार्द माना जा सकता है। पर व्यापक रचना-जगत् में ही जब कोई अवाँ गार्द नहीं है तो आलोचना में उसकी उम्मीद कैसे की जाये।

रोलाँ बार्थ की एक अवधारणा याद आती है। उन्होंने कहाः संसार में किसी भी साहित्य ने उन प्रश्नों का कभी कोई उत्तर नहीं दिया जो उसने पूछे और इसी विलम्बन या स्थगन ने हमेशा उसे साहित्य के रूप में विन्यस्त किया है। यह वह भाषा है जो मनुष्य प्रश्न की हिंसा और उत्तर की ख़ामोशी के बीच रखते हैं। यह पूछने का मन करता है कि क्या प्रश्नों की दोपहर और उत्तरों की गोधूलि में कहीं आलोचना का समय है, होता है, हो सकता है। इस समय जब व्यापक लोकतन्त्र में आलोचना लगभग दण्डनीय होती जा रही है तब साहित्य में आलोचना के लिए क्या यह प्रखर और प्रतिरोधक होने का नहीं है। हमारी आलोचना अपनी भाषा में इतना कम क्यों देखती है? इतनी कम रोशनी क्यों डालती है?

आलोचक और आलोचना दोनों को इस समय हिस्सेदार और प्रतिरोधक होने की ज़रूरत है। बल्कि पूरक भी। वे प्रश्न और अभिप्राय जो रचना में नहीं उठ या आ रहे हैं उन्हें आलोचना में जगह मिलना चाहिये। हिन्दी समाज, इस समय हिंसा-हत्या-बलात्कार की भाषा को लगभग वैधता देता समाज बनता जा रहा है। आलोचना को इस समय स्वयं ऐसे समाज के विरुद्ध मुखर और सचेष्ट होना चाहिये। यह समय सिर्फ़ साहित्य तक अपने को महदूद रहने का नहीं है : आलोचना को व्यापक सामाजिक और लोकतान्त्रिक भूमिका निभाने के लिए तैयार होना चाहिए। ऐसा निरी वाक्शूरता से सम्भव नहीं है। आलोचना को भारतीय सभ्यता के संकट को अधिक गहराई और उसकी जटिलता में समझना होगा। बिना इस समय बौद्धिक हस्तक्षेप हुए, बिना दुस्साहस किये आलोचना यह सब नहीं कर सकती।

हिन्दी भाषा इस समय भेदभाव, घृणा, साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता की हिंसक-आक्रामक भाषा सामाजिक संवाद में, सत्ता-राजनीति-बाज़ार-पूँजी-धर्म-मीडिया के अभूतपूर्व गठबन्धन से बनायी जा रही है। आलोचना इस भयानक प्रवृत्ति की अनदेखी नहीं कर सकतीः उसे सविनय अवज्ञा, असहयोग, नैतिक विवेक की उग्र लेकिन सौम्या और भद्र भाषा बनकर दृश्य पर सीधे आना होगा। अगर रचना में नैतिक कायरता बढ़ रही है तो उसे इसकी सख़्ती और सहानुभूति से पड़ताल करना होगी। साहित्य आमतौर पर दोटूक ढँग से न तो सचाई को देखता, न व्यक्त करता है। पर यह समय नैतिक द्वन्द्व या विभ्रम का नहीं है क्योंकि लोकतन्त्र, परम्परा, भारतीयता सभी दाँव पर हैं। यह समय साफ़ देखने और साफ़ कहने का है। देखना और कहना साहित्य में हमेशा बचाने के पर्यायवाची हो जाते हैं। हम चुप रहकर, या ख़ामोशी की चतुर हरकत से न सिर्फ़ कुछ नहीं बचा पाएँगे बल्कि एक व्यापक सभ्यतामूलक ध्वंस में भागीदार होंगे। आलोचना की भाषा,

ठीक इस मुक़ाम पर अगर कभी भी, सिर्फ़ शब्द की नहीं कर्म की भाषा बन जाती है। इस समय रचना कर्म है और आलोचना भी : स्पष्ट, निर्भीक, अदम्य, अहिंसक, साहसी, नैतिक।

।२००८ में दिये वक्तव्य का २०२० में लिखित-परिवर्द्धित रूप।

तान्त्रिक उपासना

वागीश शुक्ल

१ प्रारम्भिक

१.१ विवर्त-वाद और परिणाम-वाद

भगवत्पाद द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र सत्ता ब्रह्म की है, जिसे हम 'पारमार्थिक सत्ता' कहते हैं; इस जगत् (फलतः हमारी, अर्थात् जीव) की, सत्ता मिथ्या है, जिसे हम 'व्यावहारिक' कहते हैं और जो इस पारमार्थिक सत्ता पर माया का आवरण पड़ने के कारण प्रतीत होती है। इस व्यावहारिक सत्ता के बारे में भगवत्पाद का सिद्धान्त 'विवर्त-वाद' कहलाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि जगत् की सत्ता नदी में भँवर की तरह है, इससे कोई नया तत्त्व नहीं प्राप्त होता और जिस प्रकार भँवर के शान्त होने पर नदी से भँवर का अपार्थक्य पहचाना जा सकता है, वैसे ही माया का आवरण हटने के बाद पारमार्थिक सत्ता से अपनी सत्ता के अपार्थक्य को पहचाना जा सकता है। इस सिद्धान्त को हम अद्वैत की अन्य प्रस्तुतियों से अलग सूचित करने के लिए इसके तकनीकी नाम 'केवलाद्वैत' से बतायेंगे।

इस 'विवर्तवाद' के प्रतिपक्ष में 'परिणामवाद' है, जिसके अनुसार जगत् (और फलतः जीव) की सत्ता ब्रह्म की सत्ता का विवर्त नहीं, परिणाम है, जो उसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता से भिन्न एक नवीन सत्ता है। जिस प्रकार दही की सत्ता दूध की सत्ता से भिन्न है और इस नाते मिथ्या नहीं है, जिसे भ्रम की निवृत्ति के बाद हम ब्रह्म की सत्ता के रूप में पहचान सकें। इस परिणामवाद की कई प्रस्तुतियाँ हैं, जिनके पक्षधरों में विविध प्रकार के सिद्धान्त हैं, जो अपने को अद्वैत-वादी से लेकर द्वैत-वादी तक बताते हैं।

'विवर्तवाद' और 'परिणामवाद' के नाम पहले भी भक्ति पर चल रही इस चर्चा में आ चुके हैं। आजकल स्कूलों में विज्ञान की कक्षाओं में 'भौतिक परिवर्तन' और 'रासायनिक परिवर्तन' समझाया जाता है: भौतिक परिवर्तन वह है जिसमें परिवर्तन से कोई नया पदार्थ नहीं मिलता और परिवर्तन का कारण हटने पर वस्तु को पहले की तरह पा सकते हैं (जैसे मोम के पिघलने के बाद फिर ठण्डे होने पर मोम फिर पहले की तरह मिल जाता है) और रासायनिक परिवर्तन वह जिससे परिवर्तित वस्तु को पुनः प्राप्त करना सम्भव नहीं है (जैसे दही बन जाने के बाद फिर वापस उससे दूध नहीं मिल सकता)। एक दृष्टान्त के रूप में हम विवर्तवाद को 'भौतिक परिवर्तन' और परिणामवाद को 'रासायनिक परिवर्तन' से समझने की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु दृष्टान्त की सीमा होती है और उसे खींच कर सांग रूपक में नहीं बदलना चाहिए।

हम विभिन्न प्रकार के परिणामवादी सिद्धान्तों की चर्चा में नहीं उलझेंगे और अपने को सिर्फ़ अद्वैत की एक दूसरी प्रस्तुति तक सीमित रखेंगे जो 'शिवाद्वैत' या 'शाक्ताद्वैत' कहलाती है। इसके भी प्रवर्तक भगवत्पाद ही हैं और भारतीय चिन्तन में इसकी सर्वाधिक परिपूर्ण प्रस्तुति भास्कर राय द्वारा हुई है, जिनके अनुसार यह सिद्धान्त 'तान्त्रिक परिणामवाद' कहलाता है। इस आलेख में हम इस सिद्धान्त पर विचार नहीं कर पाएँगे और इसकी चर्चा कभी आगे करेंगे किन्तु इतना बताना आवश्यक है कि इस 'तान्त्रिक परिणामवाद' का केवलाद्वैत में पर्यवसान ब्रह्मसूत्र पर श्रीकण्ठाचार्य के भाष्य से होता है और ब्रह्मसूत्र के भगवत्पादीय भाष्य में इसके संगमन का मार्ग अप्पय दीक्षित ने सुझाया है। केवलाद्वैत की ही नींव पर अभिनवगुप्त का 'कौल-मत' इस 'तान्त्रिक परिणामवाद' के ठीक पड़ोस में खड़ा है। 'तान्त्रिक उपासना' से हमारा तात्पर्य इन्हीं आचार्यों द्वारा निर्देशित उपासना-व्यवहार से है, जिस पर कुछ परिचयात्मक विचार इस आलेख में करेंगे।

१.२ ब्रह्मात्मैक्य और उपासना

सनातन धर्मावलम्बियों का सर्वाधिक प्रमुख लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है, जिसका तात्पर्य है, संसार-चक्र से छूटकर निर्गुण ब्रह्म की सत्ता से अपनी सत्ता का अभेद, अर्थात् 'ब्रह्मात्मैक्य' को पहचानना। निर्गुण ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और जीव की व्यावहारिक, अतः जीव द्वारा अपनी ब्रह्मात्मक पारमार्थिक सत्ता की पहचान का प्रथम चरण है, अपने जैसी ही व्यावहारिक सत्ता वाले सगुण ब्रह्म की आराधना द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त करना, जिससे पारमार्थिक सत्ता के इस अभेद-ज्ञान की पात्रता प्राप्त होती है। इस आराधना के कई मार्ग आचार्यों द्वारा बताये गये हैं। यद्यपि यह नामकरण भ्रामक है क्योंकि सनातन धर्म के तन्त्र-मार्ग भी अपने को वेदसमर्थित मानते हैं, इस नामकरण की लोक-स्वीकृति देखते हुए हम इसी का व्यवहार करेंगे।

'तान्त्रिक' आराधनाओं के कुछ ऐसे विधान हैं, जो लोकव्यवहार के विरुद्ध हैं। यह वाक्य बौद्ध तान्त्रिक आराधनाओं के लिए भी समान रूप से सत्य है किन्तु हम केवल सनातन धर्म के भीतर स्वीकृत तान्त्रिक आराधना-पद्धतियों की बात करेंगे और उनके भीतर यद्यपि सौर, गाणपत्य, शैव आदि अनेक मार्ग मौजूद हैं, केवल शक्ति-साधना तक सीमित रहेंगे- इस चर्चा को कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ उन अन्य मार्गों पर भी लागू किया जा सकता है।

१.३ उपासना का व्यवहार

'उपासना' के व्यवहार को विद्यारण्य स्वामी[१] की पंचदशी (चित्रदीप-प्रकरण) से कुछ उद्धरण सामने रखकर समझना समीचीन होगा (हिन्दी अनुवाद पीताम्बर दत्त वसिष्ठ जी की टीका[२] के अनुसार है) :

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः

विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ।।२०६।।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः

अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ।।२०७।।

जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः

ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ।।२०८।।

यथा यथौपासते तं फलमीयुस्तथा तथा

फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ।।२०९।।

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा

स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ।।२१०।।

(ईश (= अन्तर्यामी), सूत्र (= हिरण्यगर्भ), विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि, विघ्न (= गणेश), भैरव, मैराल, मारिका (= एक देवी), [३]यक्ष, राक्षस, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, घोड़ा, मृग, पक्षी, पीपल-बरगद-आम आदि वृक्ष, जौ-धान-तिनके आदि, जल, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, बढ़ई के काम आने वाली बँसुली, कुदाल आदि सभी ईश्वर हैं और पूजा करने पर फल देते ही हैं।

उस परमेश्वर की जिस-जिस प्रकार से उपासना करते हैं, उसी-उसी प्रकार से फल मिलता है। (फिर फल की विषमता का क्या कारण है? कहते हैं कि सात्त्विक आदि भेदों के कारण) पूज्य (= अधिष्ठान देवता) और पूजा (= अर्चा) के अनुसार ही फल की न्यूनाधिकता होती है। मुक्ति तो केवल

---

१ ये शांकर अद्वैत के परमाचार्यों में से एक हैं और चौदहवीं शताब्दी में शृंगेरी पीठ के शंकराचार्य थे। विजयनगर साम्राज्य की स्थापना में भी इनका योगदान बताया जाता है।

२ उन्नीसवीं शताब्दी में लिखा गया यह ग्रन्थ अब दुर्लभ है किन्तु इसका बीसवीं शताब्दी की हिन्दी में अनुकूलित एक संस्करण इण्टरनेट पर उपलब्ध है।

३ यह महाकाली का एक रूप है जो चेचक और हैजा जैसे रोगों से रक्षा करने वाली मानी जाती है। तमिलनाडु में इसके कई मन्दिर हैं, उत्तर भारत में भी 'मरी माता' के कई स्थान हैं। 'मैराल' का अर्थ मुझे किसी शब्दकोष या पंचदशी की किसी टीका में नहीं मिला किन्तु भास्कर राय ने ललितासहस्रनाम की अपनी टीका में कपर्दिनी नाम की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'मैराल' शिव का एक अवतार है जिसमें देवी का नाम 'महालसा' है और वे कौड़ियों की माला पहनती हैं।

ब्रह्म-तत्त्व के ज्ञान से ही होती है, अन्यथा नहीं; जैसे अपना सपना तभी टूटता है, जब आदमी जाग जाय।)

इस उद्धरण से यह तो स्पष्ट ही है कि सनातनधर्मी पेड़ और पहाड़ से लेकर शालिग्राम और गढ़ी हुई मूर्ति तक में ईश्वर-बुद्धि क्यों रखते हैं और 'सीय-राम मय सब जग जानी; करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी' का क्या आशय है। फिर आगे स्वामी जी कहते हैं:

अद्वितीयम्ब्रह्मतत्त्वमसंगन्तन्न जानते

जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ।।२१४।।

...

अद्वितीयम्ब्रह्मतत्त्वन्न जानन्ति यदा तदा

भ्रान्ता एवाखिलास्तेषांकव मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।।२१७।।

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम्

स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यान्न बुधः स्पृश्यते खलु ।।२१८।।

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः

कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यम्बुध्यतांच तत् ।।२१९।।

...

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ

यथेच्छम्पिबतान्द्वैतन्तत्त्वन्त्वद्वैतमेव हि ।।२३६।।

(लोग उस अद्वितीय असंग ब्रह्मतत्व को नहीं पहचानते इसलिए उनमें इन मायिक जीव और ईश्वर के विषय में व्यर्थ ही कलह होता रहता है।

...

अद्वितीय ब्रह्मतत्व को जब वे नहीं जानते तब वे सभी भ्रान्त ही हैं। उनको मुक्ति कैसे मिल सकती है, और इस लोक में भी उन्हें कैसे सुख मिल सकता है? (वे जिस पक्ष को पकड़ लेते हैं उसके प्रतिपादन का हठ करते हैं अतः उनका चित्त स्थिर नहीं होता)।

यदि इनमें ऊँचनीचपना होता है, तो हो, इससे क्या होता है? स्वप्न में चाहे राजा बन जाय चाहे भिखारी, इससे बुद्धिमान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि जीव और ईश्वर (को मायिक मानते हुए उन) के विवाद में मन न लगाये अपितु ब्रह्मतत्त्व पर (श्रुति के अनुसार) विचार करके उसी का ज्ञान प्राप्त करे।

...

जीव और ईश्वर, ये दोनों ही माया नाम की कामधेनु के बछड़े हैं। ये जितना चाहें (इस कामधेनु का दूध, अर्थात्) द्वैत पियें, तत्त्व तो अद्वैत ही है।)

१.४ शक्ति - पूजा

शक्तिपूजकों का मानना है कि जब ब्रह्मतत्त्व को जानने का एकमात्र उपाय उपासना ही है तो माया द्वारा कार्य ईश्वर के किसी रूप की अपेक्षा स्वयं माया की ही उपासना करना ठीक रहेगा। इस माया को ही (ब्रह्म की) शक्ति कहते हैं। मोटे तौर पर इसका तात्पर्य यों समझना चाहिए :

योगवासिष्ठ (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्द्ध, 'परमेश्वरवर्णन' नामक छत्तीसवाँ सर्ग) का कहना है कि सभी वाक्यों का तात्पर्य परब्रह्म ही है चाहे उन्हें हम अनर्थक कहते हों या निरर्थक। इस कथन की पुष्टि के लिए दिये गये एक ऊपर से ऊल-जलूल दीखते पद्य का तात्पर्यप्रकाश टीका के विद्वान् टीकाकार ने लोक-परक और ब्रह्म-परक अर्थ करके दिखा भी दिया है। हम यहाँ बहुत गहराई में जाने की कोशिश न करते हुए 'वाक्य' की जगह 'शब्द' रखेंगे और यह मान कर चलेंगे कि शब्द अर्थवान् होता है। इस अर्थवान् शब्द को हम पूर्वाचार्यों के अनुसार 'प्रातिपदिक' कहेंगे। इस 'प्रातिपदिक' को अविभाज्य मानते हुए भी, वैयाकरणों में शब्द-बोध के लिए समान आदर वाली दो प्रक्रियाएँ स्वीकृत हैं: कुछ यह मानते हैं कि किसी शब्द की व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती, 'राम' शब्द अपनी समग्रता में ही परब्रह्मस्वरूप दशरथ-पुत्र का अर्थ बताता है और उसे अवयवों में नहीं समझ सकते। दूसरा पक्ष यह है कि 'रम्' धातु से अधिकरण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय जोड़ कर इस शब्द की समझ बनेगी: 'रमन्ते योगिनः अस्मिन् इति रामः (= इनमें योगियों का मन रमता है इसलिए यह राम हैं)'; यह 'प्रकृति-प्रत्यय विभाग' ही 'व्युत्पत्ति' कहलाता है। प्रथम पक्ष को भगवत्पाद द्वारा प्रतिपादित 'केवलाद्वैत' और द्वितीय पक्ष को अपनी रुचि के अनुसार 'शिवाद्वैत' या 'शाक्ताद्वैत' कह सकते हैं।

पाणिनि का सूत्र है: स्वतन्त्रः कर्ता (१-४-५४), यानी 'राम ने रावण को बाण से मारा' वाक्य में राम कर्ता है तो इसलिए कि वह 'मारा' क्रिया की सिद्धि में प्रधान है तथा 'रावण को' और 'बाण से' जैसे (उप-) कारकों से स्वतन्त्र है। किन्तु ग़ौरतलब यह है कि कर्ता में कर्तृत्व की स्थापना क्रिया ही करती है। कर्ता और क्रिया में अविनाभाव सम्बन्ध है, यदि वाक्य में कर्ता न हो तो क्रिया नहीं रह सकती और क्रिया न हो तो कर्ता नहीं रह सकता। इस प्रकार 'कर्ता' और 'क्रिया' में अभेद है किन्तु चूँकि 'कर्तृ' (जो कर्ता-कारक में 'कर्ता' का रूपग्रहण करता है) शब्द-व्यापार में (व्युत्पत्ति-परक पक्ष के अनुसार) तभी स्वीकृत हो पाता है जब उसे 'करने' की क्रिया बताने वाली 'डुकृञ्' धातु में कर्तृत्व-सूचक कृत्-प्रत्यय 'तृच्' जुड़ने से बना माना जाता है, इसलिए कर्ता-क्रिया की इस सामरस्यात्मक इकाई में, जिसे हम एक अर्थवान् शब्द 'कर्तृ' के रूप में पहचानते हैं, जब भेद-बुद्धि का आश्रय लेते हैं तो यह कहा जा सकता है कि क्रिया के बिना कर्तृत्व-सूचक शब्द एक शव की तरह है। भगवत्पाद ने अपनी सौन्दर्य-लहरी के प्रथम श्लोक में यही कहा है: शिव तभी प्रभावी हैं, जब वे शक्ति से युक्त हैं; यदि ऐसा नहीं है तो शिव स्पन्द भी नहीं कर सकते। यही 'शाक्ताद्वैत' या 'शिवाद्वैत' जिसे हम कर्त्ता और क्रिया के अविनाभाव के दृष्टान्त से समझने की चेष्टा कर सकते हैं, तान्त्रिक उपासना का सैद्धान्तिक चौखटा है।

१.५ 'श्री-कुल' और 'काली-कुल'

शक्ति-पूजा के इस सैद्धान्तिक चौखटे के भीतर जो उपासनाएँ प्रचलित रही हैं, उन्हें सुविधा के लिए दो परिवारों- 'श्री-कुल' और 'काली-कुल'- में बाँटा जाता है और मोटे तौर पर इसका तात्पर्य यह समझा जाता है कि एक 'श्री-विद्या' की उपासना और उसके निकटस्थ उपासनाओं का समूह है तथा दूसरा 'काली-विद्या' की उपासना और उसके निकटस्थ उपासनाओं का। 'श्री-कुल' की उपासनाओं को 'सौम्य' और 'काली-कुल' की उपासनाओं को 'उग्र' बताना भी प्रचलित है किन्तु वस्तुतः ऐसे नामकरण अधूरी जानकारी ही देते हैं। उदाहरण के लिए ललितासहस्रनाम श्रीकुल का ग्रन्थ है फिर भी भास्कर राय ने ललितासहस्रनाम की अपनी टीका में महेश्वरमहाकल्पमहाताण्डवसाक्षिणी नाम की व्याख्या करते हुए योगवासिष्ठ से कालरात्रि की स्तुति का एक पद्य उद्धृत किया है, जो काली-कुल की उग्रतम देवियों में से हैं; यह पद्य प्रचलित धूमावती-स्तोत्र में भी पाया जाता है और धूमावती भी देवी की एक उग्र मूर्ति है। त्रिपुरोपनिषद् भी श्री-कुल का ग्रन्थ है और उसमें श्री-विद्या की उपासना के अन्तर्गत उन तमाम विधियों का उल्लेख है, जिनके नाते तान्त्रिक उपासना लोक-व्यवहार के विपरीत मानी जाती है। हम इस तरह के विभाजनों के आधार पर तान्त्रिक उपासना को वर्गीकृत नहीं कर सकते।

१.६ दक्षिण और वाम मार्ग

तान्त्रिक उपासना का एक प्रचलित वर्गीकरण 'दक्षिण-मार्गी उपासना' और 'वाममार्गी उपासना' के शीर्षकों में किया जाता है और यह माना जाता है कि दक्षिण-मार्गी उपासक अपनी आराधना में मद्य और मांस जैसे पदार्थों का उपयोग नहीं करते जबकि वाम-मार्गी उपासक करते हैं। यह वर्गीकरण भी अधूरी सूचना देता है। भास्कर राय ने ललितासहस्रनाम की अपनी टीका में सव्यापसव्यमार्गस्था नाम की व्याख्या के अन्तर्गत वाम-मार्ग और दक्षिण-मार्ग की उपासनाओं में कालिकापुराण के आधार पर यह अन्तर बताया है :

वाम-मार्गी उपासना में किसी भी वैदिक या स्मार्त कर्म के निर्वहन में उस कर्म से सम्बन्धित देवता की भावना न करके केवल अपनी आराध्य देवी (और देव) की भावना की जाती है। इस प्रकार त्रिपुरभैरवी का आराधक वाममार्गी अपने सभी वैदिक और स्मार्त कर्मों में देव के नाम के आगे 'भैरव' और देवी के नाम के आगे 'भैरवी' जोड़ेगा : इदं विष्णुर्विचक्रमे के स्थान पर इदं विष्णुर्भैरवो विचक्रमे पढ़ेगा और पिता का तर्पण न कर के 'पितृ-भैरव' का करेगा, माता का तर्पण न कर के 'भैरवी माता' का करेगा। ऐसा करने के नाते वह प्रत्येक मनुष्य द्वारा चुकाये जाने वाले तीन ऋणों- देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण को नहीं चुका पाता क्योंकि देवों के यज्ञभाग देवों तक नहीं पहुँच पाते और सीधे देवी ही उनका ग्रहण करती हैं। फलतः वाम-मार्गी को मोक्ष-प्राप्ति में विलम्ब होता है। तथापि चूँकि उसके सारे भोग इसी जन्म में समाप्त हो जाते हैं और उसे इहलौकिक ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है, इसलिए वह मोक्ष-प्राप्ति में यह विलम्ब सह लेता है।

दूसरी तरफ, दक्षिणमार्गी आराधक अपने वैदिक और स्मार्त कर्मों में यथानिर्दिष्ट देवता की भावना करता है और इस प्रकार अपने सारे ऋण चुका देता है। अतः उसे शीघ्र मोक्ष मिल जाता है।

'उपासना' को हम 'यज्ञ' का एक दूसरा नाम समझ सकते हैं; इस पर विस्तार से आगे कभी बात करेंगे। फ़िलहाल इतना प्रासंगिक है कि उपासना (= यज्ञ) में तीन अंग होते हैं : द्रव्य, देवता और त्याग। 'द्रव्य' से तात्पर्य है पूजन-सामग्री, 'देवता' वह इष्ट देव है जिसको यह द्रव्य समर्पित किया जाना है, और 'त्याग' इस द्रव्य को इस देवता के निमित्त विधि-पूर्वक समर्पण को कहते हैं। सामान्यतया यह समझा जाता है कि दक्षिण-मार्गी उपासना के द्रव्य में मद्य और मांस जैसे लोक-निषिद्ध पदार्थ शामिल नहीं होते और वाम-मार्गी उपासना के द्रव्य में होते हैं, किन्तु भास्कर राय के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'दक्षिण-मार्गी उपासना' और 'वाम-मार्गी उपासना' के बीच का अन्तर उपासना के भीतर द्रव्य-देवता-त्याग की त्रयी में उपासक द्वारा ध्येय देवता का है : जब विष्णु की दक्षिण-मार्गी उपासना होती है तो केवल विष्णु-पूजन में ही विष्णु का ध्यान होता है जबकि विष्णु की वाम-मार्गी उपासना में सारे अन्यदेव-परक कृत्य भी विष्णु के ही निमित्त होते हैं। इस प्रकार 'तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष-बान ल्यौ हाथ' की प्रसिद्ध पंक्ति में भगवान राम की 'वाम-मार्गी उपासना' ही है क्योंकि भगवान कृष्ण की वंशीधर मूर्ति में भी धनुर्धारी राम का ही रूप गोस्वामी जी ने देखना चाहा। यही बात मीरा बाई के 'मेरो तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई' और मधुसुदर सरस्वती जी के 'कृष्णात्परंकिमपि तत्त्वमहन्न जाने (= मैं वंशीधर पीताम्बर कृष्ण के अतिरिक्त किसी तत्त्व को नहीं जानता)' आदि के बारे में भी सच है। इसके विपरीत, पंचदेवोपासना (= दैनन्दिन पूजा के अन्तर्गत विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और दुर्गा की पूजा) दक्षिण-मार्गी है।

इस सिलसिले में यह कहा जाता है कि जैसे कुमारी कन्या के लिए अनेक वर देखे जाते हैं वैसे ही अनेक उपासनाओं का विधान है किन्तु जैसे विवाह हो जाने पर उस कन्या से एकनिष्ठता की अपेक्षा होती है वैसे ही एक बार उपासनार्थ इष्टदेव का चुनाव कर लेने के बाद विविध देवों की उपासना में मन लगाने से मन की स्थिरता की हानि होती है। यह तर्क आकर्षक और युक्तियुक्त प्रतीत होता है किन्तु पतिव्रताओं के लिए भी सास-ससुर आदि गुरुजन बिना उनमें पतिबुद्धि रखे ही पूज्य होते ही हैं अतः इस एकनिष्ठा का अर्थ यह नहीं हो सकता कि दुर्गासप्तशती का पाठ करते समय वंशीधर कृष्ण का ध्यान करना चाहिए। ऐसा मानने पर देवकार्य और पितृकार्य का निर्वहन कठिन हो जायेगा।

वस्तुतः सर्वत्र ब्रह्म-बुद्धि रखना भी उपासना का लक्ष्य है किन्तु विधान नहीं; जब श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने यह कहा है कि मुझसे अन्य किसी देवता की उपासना न करो, तो इसका अर्थ भगवान श्रीकृष्ण को ब्रह्म समझना है न कि सभी मन्दिरों से मूर्तियाँ हटा कर उनकी जगह अर्जुन के सारथि की मूर्ति स्थापित करना। भारतीय इतिहास में इस नासमझी की कुछ झलक शैव-वैष्णव विवादों में मिलती है यद्यपि सौभाग्य से वे देश और काल में नितान्त परिसीमित तथा अपनी उग्रता में अल्पप्रभावी रहे जबकि विश्व की दुर्दशा के प्रायः सभी कारण ऐसे ही हठाग्रहों से उपजे हैं।

१.७ पशु-भाव, वीर-भाव और दिव्य-भाव

तान्त्रिक उपासना का सटीक वर्गीकरण उपासक के अधिकार के अनुसार है। उपासना तीन प्रकार की मानी गयी है, पशु-भाव की, वीर-भाव की और दिव्य-भाव की। 'पशु' का अर्थ है 'पाशों से बँधा हुआ'। इस शब्द पर विशेष विचार इस आलेख में आगे करेंगे, फिलहाल यहाँ इतना पर्याप्त है कि इन पाशों की एक प्रचलित सूची इस प्रसिद्ध श्लोक में दी हुई है जो रुद्रयामल तन्त्र का बताया जाता है :

घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पंचमी
कुलं शीलन्तथा जातिरष्टौ पाशा इमे स्मृताः ।।

(घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति ये आठ 'पाश' कहे गये हैं।)

इस प्रकार घृणा (= दया), सन्देह, भय, लज्जा, जुगुप्सा (= निन्दा), कुल (की चेतना), शील (के अनुरूप आचार की चिन्ता) और जाति (का स्वीकार), ये ही पाश[४] हैं और जो भी इनसे बँधा हुआ है अर्थात् जिसमें भी ये मौजूद हैं, वह पशु है। इस परिभाषा के अनुसार सभी सांसारिक जीव पशु ही हैं। इनके लिए लोक-निषिद्ध द्रव्यों (मद्य, मांस आदि) का पूजा-द्रव्यों के रूप में प्रयोग सर्वथा वर्जित है।

वे साधक 'वीर'[५] कहलाते हैं जिन्होंने इन पाशों से मुक्ति पा ली है। इन्हीं को वीर-भाव से उपासना का अधिकार होता है और इसी भाव की उपासना में 'पंच मकार', अर्थात् मद्य-मांस-मीन-मुद्रा-मैथुन के पंचक का प्रयोग विहित है। 'दिव्य' साधक वे होते हैं जो 'देवोपम' हैं अर्थात् जिन्होंने द्रव्य को द्रव्यात्मकता से मुक्त कर लिया है और केवल आन्तरिक भावना से पूजा करने में समर्थ हैं। इनकी उपासना 'अन्तर्याग' या 'महायाग' कहलाती है।

---

४ यहाँ 'घृणा' का अर्थ 'दया' करने से कुछ पाठक चौंक सकते हें। इन आठ पार्शों पर कुछ चर्चा आगे भी करनी होगी, फिलहाल यहाँ पाठक को इधर ध्यान देना चाहिए कि 'दया' करने में दया करने वाले और दया-पात्र में एक उच्चावच भाव निहित है, जिससे दूरी साधक के लिए काम्य है।

५ यहाँ 'वीर' का अर्थ 'बहादुर' न समझकर 'श्रेष्ठ' समझना चाहिए। इस प्रकार 'वीर-वध' एक प्रशंसनीय कृत्य भी हो सकता है (क्योंकि युद्ध में कायर को मार देना किसी की शूरता नहीं बताता जबकि किसी बहादुर लड़ाके का सिर काट लाना पुरस्करणीय माना जाता है) और एक अपराध भी (क्योंकि किसी श्रेष्ठ पुरुष की हत्या घोर निन्दनीय है)। 'वीर' शब्द के इन दोनों अर्थों के सुन्दर काव्यात्मक उपयोग के लिए देखिए नैषधीयचरित (१७-१६७)।

२ तान्त्रिक उपासना और लोक-संग्रह

इस आलेख के प्रारम्भ से ही हम इस सुपरिचित तथ्य की चर्चा करते रहे हैं कि जनमानस में तान्त्रिक उपासना के प्रति कुछ वितृष्णा और भय का भाव रहता है। अन्य मार्गों के उपदेशानुसार भगवत्पूजन करने वाले कई महात्मा भी इस उपासना की निन्दा करते देखे जाते हैं। जिस हद तक ऐसी निन्दाओं से सामान्य जन को वीराचारी उपासना से विरत रखने का उद्देश्य सिद्ध होता है, उस हद तक यह स्थिति

लोकहितकारी भी कही जा सकती है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वयं यह साधना ही अधः-पतन की ओर ले जाने वाली है। इसलिए इसका शास्त्र-निर्दिष्ट स्वरूप क्या है, इसकी ओर ध्यान दिलाना उचित प्रतीत होता है।

किन्तु शास्त्र-वचनों का तात्पर्य समझने के लिए निष्ठा और आचार्योपदेशों के प्रति विनम्रता से जाना चाहिए। जब भगवान श्रीकृष्ण ने यह कहा है कि अवतार धर्म-संस्थापन के लिए होते हैं तो हम महाभारत या श्रीमद्भागवत के पास इसलिए जाते हैं कि हम यह समझें कि यह धर्म-संस्थापन उन्होंने कैसे किया, यह निर्णय देने नहीं कि वे यदुकुल के संहार में भाग लेने के नाते कुलघातक हैं या गोपियों के साथ क्रीड़ाओं के नाते परदारानुरक्ति के प्रचारक हैं।

२.१ उपासना में मकार-सेवन

तान्त्रिक उपासना में 'मकार-पंचक'- अर्थात् मद्य, मांस, मीन, मुद्रा[६] और मैथुन- के विधान ने ही सर्वाधिक उद्वेजना जगायी है अतः सबसे पहले इसी को समझना ज़रूरी है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उपासकों की तीन कोटियाँ हैं, पशु, वीर और दिव्य। इनमें से प्रत्येक के लिए मकार-पंचक का अलग-अलग अर्थ है। उदाहरण के लिए पशु-भाव के उपासकों के लिए मद्य की जगह नारियल का पानी और दूध जैसे कई पदार्थ अनुकल्प के रूप में गिनाये गये हैं और दिव्य-भाव के उपासकों के लिए मद्य का तात्पर्य कुण्डलिनी का मूलाधार से उठकर षट्चक्रभेदन करते हुए सहस्रार चक्र में पहुँचने के बाद वहाँ से झरता हुआ आनन्दात्मक अमृत-रस है जिसका खेचरी मुद्रा में अ-भौतिक पान किया जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण मकार-पंचक का अनुद्वेजक अभिप्राय पशु-भाव तथा दिव्य-भाव के उपासकों के लिए बताया गया है।[७] किन्तु वीर-भाव के उपासकों के लिए

---

६ इस सूची में 'मुद्रा' का तात्पर्य मदिरा-पान के समय बीच-बीच में खाये जाने वाले तले-भुने पदार्थों से है जिसे मद्य-सेवन के भीतर ही मान सकते हैं और 'मीन' स्पष्ट ही 'मांस' के भीतर गिना जा सकता है। इस प्रकार वस्तुतः तीन ही म-कार कहे जाने चाहिए और जैसा कि हम आगे देखेंगे, अभिनवगुप्त ने यही किया है।

७ इन सब के प्रमाण विविध ग्रन्थों में मौजूद हैं किन्तु पाठकों की सुविधा के लिए एक सुलभ सन्दर्भ कर्पूरस्तवराज की सदाशिव दीक्षित द्वारा हिन्दी में लिखी हुई रुचिरा टीका है जिसमें मूल संस्कृत प्रमाणों सहित विस्तार से ये सूचनाएँ दी हुई हैं। यह टीका इस समय इण्टरनेट पर उपलब्ध है।

मकार-पंचक का लोकप्रसिद्ध अर्थ ही स्वीकृत है और उसी पर हमें यहाँ विचार करना है। भारतीय साहित्य के बहुलांश की तरह ही तन्त्र-साहित्य का भी अधिकांश समय के साथ विलुप्त है किन्तु जो बचा है उसका भी वैपुल्य और वैविध्य आश्चर्य-कारी है। हम ढेर सारी सामग्री बटोरने की चेष्टा नहीं करेंगे और महामाहेश्वर अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक के आधार पर कुछ कहने का प्रयास करेंगे।

२.२ लोक-संग्रह का प्रश्न

अभिनवगुप्त की शब्दावली बहुत सारे अन्य तन्त्र-ग्रन्थों से थोड़ी भिन्न है, किन्तु आधारभूत तत्त्व-विश्लेषण और आचार-चर्चा में कोई भिन्नता नहीं है। उन्होंने तन्त्रालोक के उनतीसवें आह्निक में 'कुल-याग' के अन्तर्गत म-कारों का विवरण दिया है, जहाँ उन्होंने पाँच म-कारों की जगह केवल तीन म-कार - मद्य, मांस और मैथुन- का उल्लेख किया है। इस प्रकार उन्होंने 'मीन' को 'मांस' के अन्तर्गत और 'मुद्रा' को 'मद्य' के अन्तर्गत रख लिया है जो स्पष्टतः अधिक तार्किक है।

किन्तु पहले इस म-कार-सेवन के 'औचित्य' की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसे समझने के लिए हम अभिनवगुप्त के चतुर्थ आह्निक की ओर मुड़ सकते हैं, जिसमें 'शाक्तोपाय' का विवरण है और 'द्वादश काली' का उल्लेख है। इसमें अभिनवगुप्त ने 'शुद्धि' और 'अ-शुद्धि' के बीच अन्तर समझाते हुए यह कहा है कि ये अन्तर 'व्यतिरेकिणी (= भेद करने वाली)' बुद्धि से उपजते हैं (श्लोक ११८) और जो कुछ भी मन को प्रसन्न करने वाला किसी भी इन्द्रिय में स्थित है, वह ब्रह्मार्पण के लिए पूजा-द्रव्य ही है (श्लोक १२०-१२१)। यहीं यह कह देना उचित है कि ये बातें केवलाद्वैत-सिद्धान्त में भी इसी प्रकार मानी जाती हैं।

इसके आगे उन्होंने यह कहा है कि ऐसे भेद आचार-संहिताओं पर निर्भर हैं, जो न केवल मनुष्यों के अलग समुदायों के लिए अलग हैं अपितु जिनकी यह विशेषता भी है कि एक ही आचार-संहिता का कोई विधि-विधान उसी आचार-संहिता के निषेध-विधान से काटा जा सकता है। इसके उदाहरण भी उन्होंने और उनके विद्वान टीकाकार जयरथ ने वैदिक आचार-संहिता से दिये हैं (श्लोक २३७-२४७)। ये सारे तर्क और उदाहरण मीमांसा-शास्त्र और केवलाद्वैत के अध्येताओं के लिए अपरिचित नहीं हैं यद्यपि एक बड़ा अन्तर यह है कि केवलाद्वैत शास्त्र का पारमार्थिक मिथ्यात्व स्वीकार करता है और अभिनवगुप्त (तन्त्रालोक, ४-२३४) ऐसा नहीं मानते :

अनवच्छिन्नविज्ञानवैश्वरूप्यसुनिर्भरः
शास्त्रात्मना स्थितो देवः मिथ्यात्वकंवापि नार्हति ।।

(विना किसी अवच्छेद (= निश्चयन-हेतु सीमांकन) के निरन्तर विज्ञान के कारण विश्वरूपता के पूर्णत्व को प्राप्त शास्त्र-शरीर में स्थित देव कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता।)

इन सबके आधार पर अभिनवगुप्त का मत है कि शैवी आचार-संहिता के द्वारा निर्दिष्ट विधियों को वैदिक आचार-संहिता के द्वारा निर्दिष्ट निषेधों द्वारा निरस्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः अभिनव-गुप्त वेद को ब्रह्मा-प्रणीत मानते हैं और इस प्रकार शैवागमों की अपेक्षा उनकी निम्नकक्षता का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने एक उच्चावच घोषित किया है (तन्त्रालोक, ४-२४८, २४९, २५०) जिसके अनुसार शैव निर्देशों को वैष्णव निर्देश नहीं बाधित कर सकते और वैष्णव निर्देशों को वैदिक निर्देश नहीं बाधित कर सकते :

सर्वज्ञानोत्तरादौ च भाषते स्म महेश्वरः

नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम् ।।

उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम्

न शैवं वैष्णवैर्वाक्यैर्बाधनीयंकदाचन ।।

वैष्णवम्ब्रह्मसम्भूतैर्नेत्यादि परिचर्चयेत्

बाधते यो वैपरीत्यात् स मूढः पापभाग्भवेत् ।।

(महेश्वर) (= शिव) ने सभी प्रकार के ज्ञान के ऊपर अपनी बात कही है। मनुष्य, ऋषि, देव, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के कथनों में उत्तरोत्तर प्रामाण्य है और प्रत्येक अपने पहले के वाक्य को काट सकता है। इस प्रकार शिव के निर्देशों को विष्णु के निर्देश नहीं काट सकते, विष्णु के निर्देशों को ब्रह्मा के निर्देश (= वेद-वाक्य) नहीं काट सकते, ब्रह्मा के निर्देशों को देवताओं के निर्देश नहीं काट सकते, देवताओं के निर्देशों को ऋषियों के निर्देश नहीं काट सकते और ऋषियों के निर्देशों को मनुष्यों के निर्देश नहीं काट सकते। जो भी इसके विपरीत जाकर किसी निर्देश को काटता है, वह मूर्ख पाप का भागी होता है।)

इस क्रम-निर्धारण के पीछे उनकी यह मान्यता है कि वेद ब्रह्मा की रचना है और इस प्रकार उपासनार्थ ब्रह्मा-विष्णु-महेश में उत्तरोत्तर उत्कर्ष-परक तारतम्य का स्वीकार उनका मुख्य तर्क प्रतीत होता है। जैसा कि पहले कह आये हैं, केवलाद्वैती वेद को 'ब्रह्मा-प्रणीत' नहीं अपितु अपौरुषेय मानते हैं और इस प्रकार चाहे वे शैव हों चाहे वैष्णव, वेद को ही सर्वोपरि मानते हैं। वस्तुतः केवलाद्वैतियों के लिए यह सारा तारतम्य और चर्या-विधान मिथ्या है।

इसके आगे अभिनवगुप्त ने कहा है कि (तान्त्रिक उपासक को) 'मुख्यतया' लोक-धर्मों का पालन नहीं करना चाहिए और अन्य शास्त्रों (जैसे वैष्णव या वैदिक) के निर्देशों का अनुपालन न कर के अपने शास्त्र के निर्देशों का अनुपालन करना चाहिए (श्लोक २५१)। इस 'मुख्यतया' की व्याख्या करते हुए जयरथ ने समझाया है कि तान्त्रिक उपासक की इन लोकधर्मों में निष्ठा नहीं रहती अतः उसके द्वारा लोक-संरक्षण के लिए इन लोक-धर्मों का अनुपालन गौण रूप में करना अनुचित नहीं है। इसके समर्थन में उन्होंने यह प्रसिद्ध प्रमाण-वाक्य उद्धृत किया है :

अन्तःकौलो बहिःशैवो लोकाचारे तु वैदिकः

सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा ।।

(उपासक को चाहिए कि वह) भीतर से कौल हो, बाहर से शैव हो और लोकाचरण में वैदिक बना रहे; इस प्रकार नारियल के फल की तरह अपने सार-तत्त्व को भीतर छिपा कर रहे।)

कुल मिलाकर अभिनवगुप्त ने वैदिक यज्ञों में पशु-हिंसा आदि के विधान, वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा इन विधानों का अतिक्रमण करते हुए आटे से पशु बना कर यज्ञ आदि करने के विधान, तान्त्रिक सम्प्रदायों में इन सब का अतिक्रमण करते हुए अपनी साम्प्रदायिक उपासनाओं में मद्य-मांस-मैथुन, चक्र-पूजा, श्मशान-साधना आदि के विधान और इन सभी के द्वारा अपने उपासना-व्यवहारों को अधिकारी उपासकों तक सीमित रखते हुए सार्वजनिक जीवन में श्रुति-स्मृति-समर्थित मर्यादा के अनुरूप लोक-व्यवहार, इन सभी को एक साथ साधने का उपक्रम किया है।

२.२.१ टिप्पन : 'तान्त्रिक' और 'वैदिक'

अभिनवगुप्त (और उनके टीकाकार जयरथ) द्वारा तान्त्रिक उपासना में लोकाचार-विरुद्ध कृत्यों के विधान के पक्ष में यह तर्क उपस्थित किया गया है कि वैदिक यज्ञों में भी लोकाचार-विरुद्ध कृत्यों का विधान है। यह जानकारी आधुनिक विद्वान् भी कभी-कभार यह प्रमाणित करने के विचार से देते रहते हैं कि 'प्राचीन भारत' में सनातनधर्मियों का औसत रहन-सहन उन्हीं आदर्शों और व्यवहारों से संचालित था जो एक स्वच्छन्दचारी उपभोक्ता समाज के आदर्श और व्यवहार होते हैं और ज्ञात इतिहास के सनातनधर्मी द्वारा गोमांस-भक्षण-निषेध जैसी वर्जनाओं के अधीन जीवन बिताना उसके अज्ञानी तथा दुराग्रही होने का प्रमाण है। ऐसी किसी बहस में न उलझते हुए भी, यहाँ पाठक को यह जिज्ञासा हो सकती है कि 'वैदिक' लोकाचार में निबद्ध सनातनधर्मी उन लोकाचार-विरुद्ध कृत्यों के विधान को कितना और कैसे जानते होंगे जिनकी चर्चा अभिनवगुप्त ने तान्त्रिक उपासना में लोकाचार-विरुद्ध कृत्यों के विधान को तार्किक बताने के लिए की है।

इस जिज्ञासा के समाधान-हेतु मैं भारत के एक मूर्धन्य महापण्डित और केवलाद्वैतियों के शिरोभूषण महाकवि श्रीहर्ष के महाकाव्य नैषधीय-चरित के सत्रहवें सर्ग की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ। प्रसंग यह है कि महाराज नल के राज्य में कलि (युग) प्रवेश करना चाहता है और नागरिकों का कोई पाप-कर्म खोज रहा है ताकि उस छिद्र से वह नल के राज्य में घुस सके। वह इसमें असफल होता है जब वह देखता है कि :

१. (श्लोक १७७) एक जगह गो-वध की तैयारी हो रही है किन्तु वह 'गो-मेध' नामक यज्ञ के लिए है।

२. (श्लोक १८२) एक जगह ब्राह्मण मदिरा-पान कर रहा है किन्तु वह 'सौत्रामणी' यज्ञ के सम्पादन में कर रहा है।

३. (श्लोक १८६) एक जगह ब्रह्महत्या हो रही है किन्तु वह 'सर्वमेध' यज्ञ में हो रही है।

४. (श्लोक ११८६) एक जगह जुआ खेला जा रहा है किन्तु 'राजसूय' यज्ञ में।

५. (श्लोक १६४) एक जगह एक व्यक्ति अपने पास आयी किसी भी कामुकी के साथ (गम्या-अगम्या का विचार किये बिना) रति-प्रवृत्त हो जाता है किन्तु ऐसा वह 'वामदेव्य उपासना' के अन्तर्गत कर रहा है।

६. (श्लोक १६८) एक जगह कई ब्राह्मण भोजन करते समय एक दूसरे को छू रहे हैं (जो सनातन आचार के विरुद्ध है क्योंकि इस प्रकार वे एक दूसरे का जूठा खा रहे हैं) किन्तु वे ऐसा सोम-पान के समय कर रहे हैं (जिसे करते हुए उच्छिट-भोजन का निषेध अप्रभावी होता है)।

७. (श्लोक १६६) एक जगह एक व्यक्ति धूल में लिपटा हुआ दिखायी पड़ता है किन्तु इसका कारण यह है कि उसने 'पावन स्नान' किया है।[८]

८. (श्लोक २००) एक जगह बैल काटा जा रहा है किन्तु पता लगता है कि वह अतिथियों के निमित्त है।

९. (श्लोक २०१) एक जगह एक ब्राह्मण ने अपने नित्य-नैमित्तिक कर्म (सन्ध्या-वन्दन-तर्पण आदि) छोड़ रखे हैं किन्तु इसका कारण यह है कि उसने यज्ञ की दीक्षा ले रखी है (जिसके बाद यज्ञ की परिसमाप्ति तक ये कृत्य नहीं किये जाते)।

१०. (श्लोक २०२) एक जगह एक व्यक्ति आत्म-हत्या कर रहा है किन्तु इसका कारण यह है कि वह 'सर्वस्वार यज्ञ'[९] कर रहा था।

११. (श्लोक २०३) एक जगह एक ब्रह्मचारी और एक कुलटा परस्पर मैथुन-रत थे किन्तु पता लगा कि यहाँ तो 'महाव्रत' नामक यज्ञ हो रहा है (जिसमें इसका विधान है)।

१२. एक जगह कलि ने यजमान की पत्नी को घोड़े के शिश्न का अपने उपस्थ में निधान करते हुए देखा (किन्तु उसे मालूम नहीं था कि यहाँ अश्वमेध हो रहा है जिसमें इसका विधान है)।

श्रीहर्ष की सूची लम्बी है और इसमें से कुछ का उल्लेख अभिनवगुप्त (तथा जयरथ) ने किया है। तर्क दोनों का एक ही है : चूँकि इन श्रौत कर्मों में इनका विधान है इसलिए ये कृत्य सम्पादित हो रहे थे। अभिनवगुप्त का कहना है कि ठीक इसी प्रकार, चूँकि तान्त्रिक उपासना में कुछ लोकाचार-विरुद्ध कृत्यों का विधान है इसलिए ये किये जाते हैं।

---

८ सामान्य प्रचलित जल-स्नान को 'वारुण' कहते हैं। इसके अतिरिक्त शुद्धि के निमित्त कुछ अन्य स्नान भी विहित हैं: गाय के खुरों से उठती धूल से स्नान 'वायव्य स्नान' कहलाता है और भस्म से स्नान 'आग्नेय'।

९ यह यज्ञ मरणासन्न व्यक्ति के द्वारा किया जाता है और इसे जैनियों के 'सन्थारा व्रत' और वर्तमान समय में बहुचर्चित euthanasia के इर्दगिर्द समझना चाहिए।

फिर जयरथ ने तान्त्रिकों को सार्वजनिक जीवन में 'वैदिक' बने रहने की सलाह क्यों दी है? इसलिए कि स्मृति-कारों ने कलियुग में सनातनधर्मियों के लिए सभी श्रौत कर्म वर्जित कर दिये हैं। 'कलियुग' पिछले छह हज़ार वर्षों को अपने में समेटता है, जो मानवीय इतिहास की ज्ञात सभ्यताओं के उदयास्त की पूरी कहानी है, अर्थात् वस्तुतः किसी भी श्रौत कर्म के विधिवत् सम्पादन का कोई प्रमाण धर्मशास्त्रीय निर्देशों के बाहर नहीं है। इसलिए अश्वमेध यज्ञों के पुष्यमित्र शुंग से लेकर जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह जैसे इतिहास-वर्णित सम्पादक अभिनेता-मात्र माने जाने चाहिए और यही बात उन तमाम पण्डितों के बारे में भी

सच है कि जिनके नाम के आगे 'सोमयाजी' जैसी उपाधियाँ लगी मिलती हैं। इसलिए 'वैदिक' लोकाचार में इन वैदिक कर्मों के सम्पादन का अवकाश नहीं है और कलियुग में हरि-कथा तथा हरिनाम-स्मरण जैसे कृत्य ही धर्म-पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए स्वीकृत हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि महाराज नल की उपस्थिति कृतयुग में मानी जाती है, जो चतुर्युगी का प्रथम युग है और इसलिए जिसमें वैदिक कृत्यों का सम्पादन होता हुआ श्रीहर्ष दिखा सके हैं यद्यपि वे स्वयं बारहवीं सदी के कान्यकुब्ज-नरेश जयचन्द्र के सभापण्डित थे और इस नाते ये सभी वैदिक अनुष्ठान उनके लिए निषिद्ध थे।

किन्तु तान्त्रिक उपासना के उपदेष्टाओं ने युगानुकूल सामाजिक सामर्थ्य के अनुरूप निर्देशों की अवतारणा नहीं की और इस प्रकार साधक के निजी उत्कर्ष को महत्व देते हुए अपने शास्त्रों की सत्ता को पारमार्थिक मान कर उनकी अपरिवर्तनीयता को व्यावहारिक अर्थ में भी अक्षुण्ण रखा। मेरी समझ में जगत् को मिथ्या न मानने का यह एक अवांछित किन्तु अपरिहार्य परिणाम है। फिर भी, जयरथ ने (तन्त्रालोक, ४-२४४ के पूर्वार्द्ध की व्याख्या करते हुए) एक बात कही है जिसपर ध्यान देना चाहिए। उन्होंने कहा है कि ऋषियों ने अपने द्वारा निभाये गये वैदिक विधानों को इसलिए सार्वजनिक रूप से निन्दनीय बताया है कि लोकयात्रा उच्छिन्न न हो। इसलिए जो उन्होंने किया है, वह नहीं करना चाहिए, वह करना चाहिए जो उन्होंने कहा है (= यत्ते कुर्युर्न तत्कुर्याद्यद्ब्रूयुस्तत्समाचरेत्)। यह प्रकारान्तर से 'कलिवर्ज्य' ही है।

२.२.२ टिप्पन : अ-पौरुषेयता और प्रामाण्य

'वैदिक' से अभिनवगुप्त का अभिप्राय वही है, जो साधारणतया सनातनधर्मी समझते हैं- वैदिक = श्रुति-स्मृति-समर्थित। इस समीकरण में 'श्रुति' का अर्थ है 'वेद', जिसके अर्थ का उपबृहण ही स्मृति-पुराण-इतिहास आदि में माना जाता है। 'स्मृति' के भीतर धर्मशास्त्रीय स्मृति-ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण जैसे शास्त्र, रामायण-महाभारत-पुराण जैसे ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ, भगवद्गीता जैसे भगवद्वचन आते हैं; कालिदास आदि महाकवियों के काव्य भी 'स्मृति' के रूप में स्वीकार किये गये हैं। संक्षेप में किसी भी 'आप्त पुरुष' का वचन 'स्मृति' है और प्रमाण माना जाता है। किन्तु यह प्रमाण पुरुष-आधारित होने के नाते 'पौरुषेय' कहलाता है और इसका प्रामाण्य तभी तक है, जब तक यह श्रुति-वचन के विरोध में नहीं जाता; विरोध की स्थिति में श्रुति-वचन ही प्रमाण होता है। इसलिए वेद-वाक्य 'स्वतः-प्रमाण' माने जाते हैं और जब स्मृतियाँ ने किसी वैदिक कृत्य को कलियुग में वर्जित बताया है तो उन्होंने उसको अ-प्रमाणित नहीं कहा है, केवल उसके सम्पादन को देशकाल-निबद्ध किया है और इस प्रकार उसके तात्पर्य का ही उपबृहण किया है। वेदों के इस स्वतःप्रामाण्य की स्वीकृति के पीछे यह मान्यता है कि वे 'अ-पौरुषेय' हैं; अर्थात् उन्हें किसी पुरुष ने रचा नहीं है और इस नाते पौरुष रचना के सम्भावित दोष उनमें नहीं हैं।

किन्तु वेदों के प्रामाण्य के बारे में अभिनवगुप्त का मत भिन्न है। तन्त्रालोक (४-२४३) में अभिनवगुप्त कहते हैं:

अबुद्धिपूर्वं हि तथा संस्थिते सततम्भवेत्।

व्योमादिरूपे निगमे शंका मिथ्यार्थताम्प्रति।।

(यदि निगम (= वेद) अ-बुद्धिपूर्वक रचे माने जाएँ तो वे शून्य-रूप होंगे और उनकी मिथ्यार्थता के प्रति लगातार शंका बनी रहेगी।)

इसकी टीका का समापन करते हुए जयरथ ने इस प्रमाण-वाक्य का आश्रय लेते हुए अभिनवगुप्त का आशय स्पष्ट किया है :

आप्तन्तमेव भगवन्तमनादिमीशमाश्रित्य विश्वसिति वेदवचस्सु लोकः।

तेषामकर्तृकतया तु न कश्चिदेव विस्रम्भमेति मतिमानिति वर्णितम्प्राक्।।

(लोग वेदवाक्यों में विश्वास केवल उस आप्त अनादि ईश्वर पर भरोसे के नाते (यह मान कर कि वेदों को ईश्वर ने बनाया है) करते हैं; पहले ही कहा गया है कि कोई बुद्धिमान् व्यक्ति वेद-वाक्यों में भरोसा करता है तो इसलिए नहीं कि उन्हें किसी ने रचा ही नहीं है।)

वेदों की रचना को 'अ-बुद्धिपूर्व' कहने के पीछे अभिनवगुप्त का इशारा क्या हो सकता है? जयरथ का कहना है कि इसका तात्पर्य यह है कि कुछ अन्य मतानुयायी वेद-वाणी को बादलों की गरज की तरह अ-बुद्धिपूर्वक की गयी ध्वनि मानते हैं- परमते घनगर्जितवदबुद्धिपूर्वम् - और यदि इस प्रकार वेदों का 'अ-बुद्धिमत्कर्तृकत्व' स्वीकार किया जाएगा तो वेदवचन शून्यप्राय ही होंगे जिनमें मिथ्यार्थता की शंका बनी रहेगी।

यहाँ इतना तो स्पष्ट है कि जयरथ के मत में 'अ-कर्त्तृकत्व' और 'अ-बुद्धिमत्कर्त्तृकत्व' एक ही हैं तथा इशारा वेदों को अ-पौरुषेय मानने वालों की ओर हैः 'पुरुष' ही 'बुद्धि-मान्' होता है और यदि वेद किसी पुरुष की कृति नहीं है तो उनका अ-बुद्धिमत्कर्त्तृकत्व ही स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु 'अ-बुद्धिपूर्व' शब्द बहुत प्रचलित नहीं है और देखने की बात यह है कि वे कौन हैं जिनके मत में यह 'अ-बुद्धिमत्कर्तृकत्व' स्वीकार किया गया है?

मेरी समझ में यह इशारा योगवासिष्ठ-कार की ओर है जिन्होंने सृष्टि को अनेकत्र 'अ-बुद्धिपूर्व' रचना बताया है। फिलहाल हम योगवासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्ध) के 'शालभंजिकोपदेश' नामक एक सौ अट्ठावनवें सर्ग के प्रथम श्लोक पर ध्यान दे सकते हैंः

अबुद्धिपूर्वमेवागो यथा शाखाविचित्रताम्

करोत्येवमजश्चित्राः सर्गाभासः ख एव खम्।।

(जैसे वृक्ष बिना बुद्धि के ही अपनी शाखाओं को विचित्र रूप में फैलाता है उसी प्रकार यह अजन्मा परमात्मा अपने शून्याकार में ही शून्याकार सर्गाभासों की रचना करता है।)

योगवासिष्ठ केवलाद्वैत का शीर्षस्थ ग्रन्थ है किन्तु इसे पढ़ते हुए बहुत से केवलाद्वैतियों को भी कुछ असुविधा होती है। प्रस्तुत पद्य में भी टीकाकार आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती ने यह प्रश्न उठाया है कि जब तमाम श्रुति-वाक्य यह बताते हैं कि परमात्मा ने 'ईक्षण (= विचार) पूर्वक' सृष्टि की तो कैसे कहा जा सकता है कि यह सृष्टि 'अ-बुद्धिपूर्वक' हुई। उनका समाधान यह है कि श्रुति का तात्पर्य निष्प्रपंच ब्रह्म के प्रतिपादन में है न कि प्रपंचात्मक सृष्टि के प्रतिपादन में, क्योंकि ब्रह्म में सृष्टि की समझ वैसे ही मिथ्या है जैसे रस्सी में साँप की या सीपी में चाँदी की समझ, और ऐसी कोई भी समझ 'बुद्धिपूर्वक' नहीं होती। इसलिए जब यहाँ वसिष्ठ जी ने भगवान् राम से यह कहा कि सृष्टि 'अ-बुद्धिपूर्वक' होती है तो उनका आशय यह है कि किसी को भी यह शंका न हो कि यह सृष्टि एक मिथ्या आरोप नहीं है अपितु सत्य है। सृष्टि-रचना के पूर्व भगवान् द्वारा तन्निमित्त ईक्षण, कामना, संकल्प आदि का जो उल्लेख श्रुतियों में आता है, वह केवल उन ईक्षणादि की मायामात्रकता के सन्दर्भ में है और बुद्धि तत्व की रचना के पहले के ईक्षणादि को बताता है।

ठीक यही बात भास्कर राय ने ललितासहस्रनाम की अपनी टीका में व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी नाम की व्याख्या करते हुए कुछ विस्तारपूर्वक कही है। उन्होंने कहा है कि परशिव (= ब्रह्म) की सिसृक्षा (= सृष्टि करने की इच्छा) को बताने के लिए उपनिषदों में आये 'ईक्षण', 'काम', और 'तप' जैसे शब्द जिस मायात्मिका वृत्ति को बताते हैं, उसने जो प्रथम सृष्टि की वह 'अ-बुद्धिपूर्वक' ही थी। इस अवस्था में माया का त्रैगुण्य अविभाजित रहता है और इस अव्यक्तता को ही 'तमस्' कहते हैं। तत्पश्चात इस त्रैगुण्य की 'ईषद्वाक्त' अवस्था वाला 'महत्' सर्ग होता है और फिर 'अहंकार' की सृष्टि होती है जिसमें सत्व, रजस्, तथा तमस्, ये तीनों गुण स्फुट हो जाते हैं। इसके आगे भी इस प्रक्रिया का उन्होंने बड़ा विस्तार दिया है, जिसे यहाँ देना आवश्यक नहीं। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि योगवासिष्ठ, या यों कहें कि केवलाद्वैत, के अनुसार सृष्टि-रचना किसी 'पुरुष' द्वारा नहीं की गयी। तब जिस वेद से सृष्टि-रचना निर्दिष्ट होती है, उसके 'पौरुषेय' होने की सम्भावना स्वतः समाप्त हो जाती है- वे यों भी ब्रह्म के 'निःश्वसित' कहे जाते हैं और श्वास-निःश्वास की क्रिया 'अ-बुद्धिपूर्वक' ही होती है। आगे योगवासिष्ठ के इस सर्ग में ईश्वरादिक को 'शून्यात्मक (= अविद्यमान)' बताया गया है और सम्भव है, अभिनवगुप्त को यह शून्यात्मकता स्वीकार्य न हो। इसे ठीक से समझने के प्रयास के लिए जितने ऊहापोह की आवश्यकता है, उसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है।

२.३ कुलाचार

यद्यपि अभिनवगुप्त 'वीर (= श्रेष्ठ)' शब्द का भी प्रयोग करते हैं, उच्चिष्ठ साधकों के लिए उनका प्रिय शब्द 'कौल' है, जो सम्पूर्ण तान्त्रिक साधना में सर्वोच्च कोटि के उपासक के लिए प्रयुक्त होता है। यह

शब्द ऊपर आ चुका हे और हम फ़िलहाल 'वीर' के समानार्थी के रूप में इस शब्द का उपयोग करेंगे। यह 'कुल' से बना है जिस पर कुछ विचार आगे आवश्यक होगा।

जैसा पहले कह आये हैं, कौल (= वीर) उपासक वे हैं, जिन्होंने पाशों पर विजय प्राप्त कर ली है और फलतः जो उन बन्धनों को तोड़ चुके हैं, जो मनुष्य को संसार-चर्या में बाँधते हैं। ये सारे पाश मनुष्यों को कर्म से बाँधते हैं- उदाहरण के लिए जिसे अपने ब्राह्मणत्व का बोध है, वही ब्राह्मण के लिए विहित यजन-याजन आदि करने के लिए बाध्य होगा- और चूँकि कर्म का उद्भव काम से ही है, इसलिए वीर साधक की वीरता का तात्पर्य यही है कि उसने काम पर विजय प्राप्त कर ली है, अर्थात् उसे कर्म और कर्म-फल-भोग के उस चक्र में कोई रुचि नहीं रह गयी, जो उसे स्वर्ग-नरक-पुनर्जन्म के निरन्तर घूमते पहिये में सीमित करता है। वह 'जीवन्मुक्त' है, वह जो भी कर्म करता है, उसमें उसका कर्तृत्व-भाव नहीं रहता। इस अवस्था में पहुँचे हुए साधक के लिए 'जीवन्मुक्त' एक बहु-प्रचलित शब्द है, जिसे समझाने के लिए शंकरानन्द स्वामी ने श्रीमद्भगवद्गीता पर अपनी टीका में य इदम्परमंगुह्यम् ... (१८-६८) की व्याख्या के अन्तर्गत एक बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है :

पुंखानुपुंखविषयेषु च तत्परोऽपि ब्रह्मावलोकननिरूढमना हि योगी।
संगीततालपरिनृत्यवशंगतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ।।

(जिस प्रकार संगीत, ताल और अपने चारों ओर चल रहे (नर्तक-मण्डल द्वारा किये जा रहे) नृत्य के अनुसार पूरी तरह रहते हुए भी नाट्य करती हुई नर्तकी अपना ध्यान इस पर केन्द्रित रखती है कि उसके सिर पर रखा हुआ घड़ा ज़रा-सा भी न खिसके, उसी प्रकार योगी (= ज्ञानी) विषयों में पूरी तरह तत्पर होते हुए भी ब्रह्म-साक्षात्कार में ही अपना मन लगाये रहता है।

(नृत्य में अंग-संचालन-कौशल की पराकाष्ठा उस नृत्य में मानी जाती थी जिसमें नर्तकी अपने सिर पर जल से भरा हुआ घड़ा रख कर नाचती है और एक बूँद भी पानी के घड़े से बाहर नहीं छलकता। उसी का सन्दर्भ यहाँ दिया गया है।)

इस प्रकार 'जीवन्मुक्त' वह है, जिसके बन्धन उसके जीवन-काल में ही कट चुके हैं अर्थात् जिसे जीते-जी ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त हो चुका है और फलतः जिसकी निष्ठा इस संसार-चक्र को चलाने वाले कर्म में नहीं रही; अतः वह कर्म को निस्सार मानते हुए ही कर्म-सम्पादन करता है। 'जीवन्मुक्त' मुख्यतः केवलाद्वैत-शब्दसम्पदा का शब्द है किन्तु तन्त्रालोक में भी यह आया है। इस तान्त्रिक सन्दर्भ में 'जीवन्मुक्त' को 'कौल' और 'वीर' का पर्यायवाची मानकर चलना चाहिए।

अभिनवगुप्त ने मद्य-मांस-मैथुन-मयी उपासना को 'कुल-याग', 'आद्य-याग', 'रहस्य-याग' जैसे कई नामों से पुकारा है और तन्त्रालोक के उनतीसवें आह्निक में इसका वर्णन प्रारम्भ करते हुए घोषणा की है :

अत्र यागे च यद्रव्यन्निषिद्धं शास्त्रसन्ततौ।

तदेव योजयेद्धीमान्वामामृतपरिप्लुतम् ।।२६-१०।।

(जो द्रव्य शास्त्र के द्वारा निषिद्ध है, ज्ञानी को इस याग में उन्हीं द्रव्यों का उपयोग उन्हें मदिरा से सराबोर करके करना चाहिए।)

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अभिनवगुप्त का निर्देश निषिद्ध द्रव्यों को उनकी निषिद्धता जानते-बूझते उपयोग में लाने का है। इस प्रकार शबरी द्वारा भगवान् राम को अपने जूठे बेर खिलाना यहाँ उदाहरण नहीं बनेगा क्योंकि वह प्रेमावेग में उच्छिष्ट की निषिद्धता भूल गयी थी। इस घोषणा को उन्होंने अनेकत्र समर्थित किया है। उदाहरण के लिए आगे (२६-६८) में वे कहते हैं: ओष्ठयान्तत्रितयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते (= ओष्ठय, अर्थात् प-वर्ग, के अन्तिम, अर्थात् 'म', से प्रारम्भ होने वाले तीन पदार्थ, अर्थात् मद्य, मांस और मैथुन का सेवन करने वाले को 'ब्रह्मचारी' कहते हैं)। इसी प्रकार तन्त्रालोक (४-२४३) की व्याख्या में जयरथ ने एक प्रमाण-वाक्य उद्धृत किया है:

यद्रव्यं लोकविद्विष्टं यच्च शास्त्रबहिष्कृतम्

यज्जुगुप्स्यंच निन्द्यंच वीरैराहार्यमेव तत्।।

(जो भी पदार्थ लोकाचार में निषिद्ध हैं, जो शास्त्र द्वारा बहिष्कृत हैं, जिनसे घिन आती है, जो निन्दनीय हैं, वे ही पदार्थ वीराचारियों द्वारा तान्त्रिक उपासना में इस्तेमाल किये जाने चाहिए।)

अभिनवगुप्त ने सचेष्ट भाव से तान्त्रिक उपासना को 'याग (= यज्ञ)' कहा है और यह स्पष्ट है कि वे इस उपासना को वैदिक यज्ञ का सजातीय समकक्ष मानते हैं। इस सजायतीयता के समर्थन में उनके कुछ तर्क और उदाहरण ऊपर आ चुके हैं। चूँकि 'शास्त्र के द्वारा निषिद्ध' इन द्रव्यों का उपयोग कुछ वैदिक यज्ञों में विहित है इसलिए अभिनवगुप्त ने इनके विधान को सार्वकालिक औचित्य से मण्डित करते हुए इनका उपयोग तान्त्रिक उपासना में निर्दिष्ट किया है। उनका 'कुल-याग' प्रधानतः 'मैथुन' पर आधारित है, जिसके अंग के रूप में ही मद्य और मांस के सेवन का विधान है (तन्त्रालोक, २६-६८)। इसमें साधक स्वयं को शिव और सहयोगिनी स्त्री को शक्ति मान कर शिव-शक्ति-सामरस्य की भौतिक अवतारणा के रूप में मैथुन-रत होता है। 'शक्ति' के लिए 'दूती' शब्द का भी प्रयोग तन्त्रालोक समेत अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में हुआ है।

'दूती' कौन और कैसी होनी चाहिए इस विषय में जयरथ ने तन्त्रालोक (२६-१००, १०१, १०२) का आशय स्पष्ट करते हुए बड़े विस्तार से चर्चा की है। संक्षेप में, दूती में वे सभी विशेषताएँ होनी चाहिए जो काम-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र में वर्णित नायिकाओं के लिए काम्य हैं, साथ ही उसमें इस साधना के प्रति पूरी प्रतिबद्धता भी होनी चाहिए। इन सभी गुणों से सम्पन्न दूती का मिलना बहुत कठिन है इसलिए कुछ कम गुणों वाली दूती का भी सहयोग लिया जा सकता है किन्तु बिना दूती के याग नहीं करना चाहिए।

एक प्रश्न इस उपासना को रिरंसा (= रति की इच्छा) से मुक्त रखने का है जिसके लिए बताया गया है कि दूती इन छह में से होनी चाहिए- माता, पितामही, पुत्री, पुत्री की पुत्री, बहिन और बहिन की बेटी। उपासक की पत्नी को शक्ति के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है क्योंकि उसमें रिरंसा की सम्भावना है। स्पष्ट ही अन्य सभी वर्जनाओं के अतिक्रमण के साथ-साथ इस अगम्या-गमन के विधान द्वारा उपासक की अनासक्ति और इस उपासना में उसकी निष्ठा की चरम परीक्षा इष्ट है।

वैदिक कर्मकाण्ड में इस 'दूती-याग' के पूर्वज के रूप में 'वामदेव्य उपासना' का उल्लेख ऊपर आ चुका है अतः उस पर एक नज़र डाल लेना ठीक रहेगा ताकि 'वैदिक' और 'तान्त्रिक' के बीच का प्रत्ययात्मक अन्तर कुछ स्पष्ट हो सके। इस उपासना का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् (२-१३) में है जिसे मैं शांकर भाष्य के आधार पर किये गये अनुवाद के साथ उद्धृत कर रहा हूँ :

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः
प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालंगच्छति तन्निधनम्पारंगच्छति
तन्निधनमेतद्वामदेव्यम्मिथुने प्रोक्तम् ।।१।।
स य एतद्वामदेव्यम्मिथुने प्रोतं वेद स मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम् ।।२।।

(= पुरुष (मैथुनार्थ स्त्री को) जो संकेत देता है, वह 'हिंकार' है, जो (उस स्त्री को मैथुनार्थ प्रवृत्त करने के लिए मीठी बातें करके) प्रसन्न करता है वह 'प्रस्ताव' है, स्त्री के साथ जो सहशयन करता है वह 'उद्गीथ' है, स्त्री की ओर जो मैथुनार्थ अभिमुख होता है, वह 'प्रतिहार' है, मैथुन में जो समय बिताता है, वह 'निधन' है और जो मैथुन-कर्म की परिसमाप्ति तक पहुँचता है, वह भी 'निधन' ही है। यह 'वामदेव्य सामोपासना' मैथुन-रत स्त्री-पुरुष-युगल में ओत-प्रोत है क्योंकि वायु और जल से इसका सम्बन्ध है।[१०]

---

१० 'साम' को आधुनिक भाषा में चलताऊ तौर पर 'ऋग्वेद के मन्त्रों की सांगीतिक प्रस्तुति' समझ सकते हैं। वामदेव्य साम कयानश्चित्र... (ऋग्वेद, ३-६-२४) मन्त्र पर है। प्रत्येक साम-गायन पाँच खण्डों में विभक्त होता है जो क्रमशः 'हिंकार', 'प्रस्ताव', 'उद्गीथ', 'प्रतिहार' और 'निधन' कहलाते हैं।

जो मैथुन-रत स्त्री-पुरुष-युगल में ओत-प्रोत इस वामदेव्य उपासना को जानता है, वह विधुर नहीं होता, वह प्रत्येक रेतःपात से सन्तति प्राप्त करता है, वह पूरी आयु जीता है, उसका जीवन उज्ज्वल रहता है, वह सन्तान से, पशुओं से तथा कीर्ति से महान् होता है। इस वामदेव्य उपासना के उपासक का यह नियम है कि उपासक किसी भी ऐसी स्त्री को न ठुकराये जो समागम की इच्छा से उसके पलंग तक पहुँच गयी है (परस्त्री-गमन का निषेध करने वाले धर्मशास्त्रीय आदेश तब प्रभावी होते हैं, जब मैथुन वामदेव्य उपासना का अंग न हो)।)

उद्धरण-ग्राही जिन विद्वानों को इसके आधार पर ऐसा लग सकता है कि छान्दोग्योपनिषद् में उच्छृंखल यौनिकता का 'उपदेश' है, उनके हितार्थ गीताप्रेस के संस्करण में दिये अनुवाद के अन्तर्गत 'अपनी अनेक पत्नियों में से एक' जैसे अंश जोड़ दिये गये हैं ताकि वे 'उपनिषद् में व्यभिचार' की जगह 'उपनिषद् में बहुपत्नी-प्रथा' पर अपना ज्ञान-वितरण केन्द्रित कर सकें, किन्तु अच्छा यह है कि इस ओर ध्यान दिया जाय कि यहाँ कई उपासनाएँ दी हुई हैं और प्रत्येक में एक नियम है; उदाहरण के लिए रथन्तर साम की उपासना उसे अग्नि में अनुस्यूत मान कर होती है और नियम यह है कि उपासक अग्नि की ओर मुँह करके न थूके।

उपासना को अग्नि में या वायु-जल (के मेलन को प्रतीकीकृत करते हुए स्त्री-पुरुष-युग्म) में अनुस्यूत मानना 'संवादी अध्यास'[११] कहलाता है जैसे (छान्दोग्योपनिषद्, ५-८ के अनुसार) स्त्री में अग्नि-बुद्धि की जाती है :

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो
योनिरर्चिर्यदन्तःकरोति तेऽगारा अभिनन्दा विस्फुलिंगाः ।।१।।
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ।।२।।

(हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ ही समिधा है, पुरुष जो (उसका मैथुनार्थ) उपमन्त्रण करता है, वह धूम है, योनि ज्वाला है तथा जो भीतर की ओर करता है, वह अंगारे हैं और उससे जो सुख होता है, वह विस्फुलिंग हैं।

उस इस अग्नि में देव वीर्य का हवन करते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है।)

इन सभी 'संवादी अध्यासों' के द्वारा की जाने वाली उपासनाएँ चन्द्रलोक-प्राप्ति जैसे क्षयिष्णु फल देती हैं तथापि इनको करने से ही वह चित्तशुद्धि प्राप्त होती है, जो कैवल्य-भाव के लिए अनिवार्य है। किन्तु तान्त्रिक अवधारणा में ब्रह्म और जगत् को समसत्ताक मानने के नाते उपासना का मार्ग सीधे परमशिव तक पहुँचाता है।

---

११ 'संवादी अध्यास' ऐसी मान्यता को कहते हैं, जो परमार्थतः मिथ्या है किन्तु परमार्थ-प्राप्ति का साधन है, जैसे ईश्वर मिथ्या है किन्तु उसमें निष्ठा रखना ही ब्रह्मज्ञान का मार्ग है। शालग्राम में विष्णु-बुद्धि संवादी अध्यास का प्रसिद्ध उदाहरण है।

२.४ 'पशु' और 'कुल'

'पशु' और 'कुल', ये दोनों शब्द ऊपर आ चुके हैं। इनका तन्त्र-साहित्य में बड़ा अर्थ-विस्तार है, जिसकी एक झलक यहाँ प्रस्तुत की जा रही है ताकि तान्त्रिक चिन्तन की पहुँच का कुछ अनुमान लगाया जा सके।

२.४.१ 'पशु' कौन है?

'पशु-भाव' को मैंने इस आलेख में 'कर्म-लिप्तता' से समीकृत किया था। ऐसा मानने के पीछे मेरे मन में बृहदारण्यकोपनिषद् (१-४-१०) का यह कथन है :

...अथ योऽन्यान्देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।
यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यम्भुंज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव
पशावादीयमानेऽप्रियम्भवति किमु बहुषु तस्मादेषान्न तत्प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ।।

(अब जो उपासक अपने उपास्य को अपने से भिन्न मानकर उपासना करता है, वह इस (अद्वैत-तत्व) को नहीं जानता; वह तो देवताओं का पशु ही है। जैसे पशु मनुष्य (की जीविका चलाने में सहयोग देकर उस) का पालन करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी (यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा देवताओं तक उनका प्राप्य आहुतियों के द्वारा पहुँचाते हुए) देवों का पालन करते हैं। (लोक में हम देखते हैं कि) किसी का एक भी पशु इधर-उधर हो जाय तो कष्ट होता है फिर बहुत से पशुओं के खो जाने पर होने वाला कष्ट तो बहुत ही होगा। इसलिए देवता नहीं चाहते कि मनुष्यों को ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान हो (क्योंकि तब मनुष्य कर्मकाण्ड की निस्सारता को समझ कर कर्म का परित्याग कर देंगे)।

('कर्म का परित्याग करना' का तात्पर्य है कर्त्ता द्वारा उसमें से अपनी 'ईप्सा' अर्थात् चाहत, हटा लेना। इसके समर्थन में कुछ विचारकों द्वारा यह तर्क दिया गया है कि महर्षि पाणिनि ने कर्म की परिभाषा दी हैः कर्तुरीप्सिततमंकर्म (१-४-४९), अर्थात् कर्म वह है, जो कर्ता का ईप्सिततम- सबसे अधिक चाहा हुआ- होता है। यह तर्क सटीक प्रतीत होता है और आकर्षक भी है किन्तु इसे यथावत् स्वीकार करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। यह परिभाषा 'साधनात्मक कर्म', अर्थात् 'कर्म कारक' की है जिससे धातु की प्रत्यासत्ति, अर्थात् निकटता, परम्परया होती है जबकि कर्म का लौकिक अर्थ 'क्रिया' होता है। स्वयं पाणिनि ने 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (१-३-१४)[१२] में कर्म शब्द का प्रयोग 'क्रिया' के अर्थ में किया है, अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं। विशेष चर्चा के लिए इस कर्तरि कर्मव्यतिहारे सूत्र पर काशिका-न्यास तथा अन्य व्याख्याएँ देखनी चाहिए। जहाँ तक बात समझ में आती है, अद्वैत-सिद्धान्त में 'कर्म' का तात्पर्य 'क्रिया' ही है, साधनात्मक कर्म नहीं। बराबर 'कर्म-फल' की बात होने से भी यह स्पष्ट ही है क्योंकि फल क्रिया का होता है, व्याकरण-परिभाषित साधनात्मक कर्म-कारक का नहीं।)।

---

१२ इस सूत्र की ओर ध्यान दिलाने के लिए मैं डॉ. बलराम शुक्ल का आभारी हूँ।

ललितासहस्रनाम की टीका में भास्कर राय ने पशुपाशविमोचिनी नाम की व्याख्या करते हुए 'पशु' और 'पाश' शब्दों पर विस्तृत विचार किया है। सर्वप्रथम उन्होंने 'अभेद-ज्ञान से रहित' लोगों को 'पशु' की संज्ञा दी है, जिसके समर्थन में उन्होंने इसी उद्धरण (बृहदारण्यकोपनिषद्, १-४-१०) को दिया है किन्तु इतना विशेष है कि उन्होंने इस उद्धरण में से 'योऽन्यान्देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' लिया है और फिर उसके अन्तर्गत 'योऽन्याम्' को 'यः अन्याम् (= जो दूसरी...)' के रूप में न पढ़ कर प्रचलित समझ के

विपरीत 'योन्याम् (= योनि में)' पढ़ा है, जिसके नाते यह पूरा उद्धरण एक तान्त्रिक सन्दर्भ ग्रहण कर लेता है और योनि-पूजक उपासकों की ओर उन्मुख हो जाता है। 'पाश' को एक व्याकरणिक युक्ति से भास्कर राय ने ('पा' से बतायी गयी) पिपासा अर्थात् प्यास, और ('अश्' से बतायी गयी) अशना, अर्थात् भूख के युग्म में समझा है तथा एक श्रुति-वाक्य भी दिया है जिसके अनुसार ये ही दो पाश हैं। वैसे छान्दोग्योपनिषद् (६-८-३) में इन दोनों का उल्लेख 'शरीरांकुर' के सन्दर्भ में हुआ है।

इसके आगे विविध शैवागमों के आधार पर भास्कर राय ने पाशों की संख्या तीन से लेकर बासठ तक गिनायी है; इनके भीतर ही पहले बताये गये घृणा, लज्जा आदि पाशों का अष्टक भी है। सर्वत्र 'पशु' का अर्थ 'पाशों से बँधा हुआ' ही किया गया है किन्तु उन्होंने एक प्रमाण के आधार पर 'पशु' का अर्थ 'सम्यक्' भी किया है और 'पशुपाशविमोचिनी' का अर्थ 'शिव के साथ द्यूतक्रीड़ा में ठीक से पाँसे फेंकने वाली' भी बताया है।

अभिनवगुप्त ने कहा है कि जो लोग आदियाग में भाग नहीं लेते या उसकी पात्रता न रखते हुए उसमें वैषयिक सुख की लालसा से भाग लेते हैं, वे सभी पशु हैं। (तन्त्रालोक, २९-९९)

२.४.२ 'कुल' क्या है?

'कुल' का कोष-गत अर्थ 'सजातियों का समूह' होता है। तान्त्रिक साहित्य में इसकी अर्थच्छटा बहुत दूर तक जाती है। ललितासहस्रनाम की टीका में भास्कर राय ने कुलामृतैकरसिका नाम की व्याख्या में सर्वप्रथम तो 'कुल' के इस 'सजातीयों का समूह' का तात्पर्य 'ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का त्रिक' किया है और बताया है कि इस नाते ही देवी को 'त्रिपुटी' कहते हैं। इस व्याख्या के आधार के रूप में उन्होंने भगवत्पाद का और कालिदास की चिद्गगनचन्द्रिका से प्रमाण दिये हैं। तदुपरि उन्होंने बताया है कि स्वच्छन्दसंग्रह आदि ग्रन्थों में बत्तीस देहस्थ कमल (= 'चक्र') बताये गये हैं, जिनमें सबसे नीचे का कमल इस त्रिपुटी से सम्बद्ध न होने के नाते 'अ-कुल' कहलाता है और शेष कमल कुल-सम्बन्धी होते हैं। विकल्पतः, अधिक प्रचलित षट्चक्र-व्यवस्था के अन्तर्गत 'कुल' का अर्थ मूलाधार-चक्र है और उसी के नाते सुषुम्ना-नाडी भी 'कुल' कहलाती है, जिसके कारण सप्तम सहस्रार-चक्र से झरता हुआ रस 'कुलामृत' कहलाता है। फिर 'कुल' का अर्थ 'योनि' भी है और इस नाते 'कुलामृत' का अर्थ 'रजः-स्राव' भी है, जिसकी कुछ तान्त्रिक उपासना-विधानों में भूमिका के नाते भी देवी का नाम 'कुलामृतैकरसिका' है।

अगले नाम कुलसंकेतपालिनी की व्याख्या में भास्कर राय बताते हैं कि 'कुल' का अर्थ 'शास्त्र' और 'आचार' भी है और इस प्रकार शास्त्र तथा आचार को 'पशुओं' पर न प्रकट करने के नाते देवी 'कुलसंकेतपालिनी' कहलाती हैं। फिर 'संकेत' का अर्थ 'घर' ग्रहण करते हुए वे कहते हैं कि 'चक्र (= यन्त्र)-

संकेत, मन्त्र-संकेत और पूजा-संकेत, ये तीन देवी के संकेत हैं; इस प्रकार यहाँ 'कुल' का अर्थ 'देवी' होता है।

अगले नाम कुलांगना का सहारा लेते हुए, जिसके बारे में उनका कहना है कि 'कुलवधू' की तरह पर्दे में रहने के नाते देवी का यह नाम है, इस 'कुलांगना' द्वारा इन संकेतों में पहुँच कर 'श्रेष्ठ पुरुष', अर्थात् शिव के साथ विहार करने को लेकर भास्कर राय ने अपने भाष्य में इस जगह किसी चिन्तामणि-स्तव से एक काव्यात्मक उक्ति उद्धृत की है:

कुलांगनैषाप्यथ राजवीथीः प्रविश्य संकेतगृहान्तरेषु
विश्रम्य विश्रम्य वरेण पुंसां संगम्य संगम्य रसम्प्रसूते।।

(कुलांगना होते हुए भी यह राज-मार्ग पर निकल कर विभिन्न संकेतों (= चक्र-संकेत, मन्त्र-संकेत और पूजा-संकेत) में ठहर-ठहर कर पुरुषों में श्रेष्ठ (= शिव) के साथ विहार करती हुई आनन्द-रस का स्राव करती है।

('संकेत' का अर्थ परकीया नायिका और नायक के मिलने का गुप्त स्थान भी होता है।))

कुलांगना से अगले नाम कुलान्तःस्था में भास्कर राय 'कुल' के पहले गिनाये जा चुके अर्थों का स्मरण करते हुए देवी को शास्त्र में, या फिर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के बीच स्थित 'ज्ञान' के रूप में बताते हैं। इसके अगले नाम कौलिनी की व्याख्या में वे 'कुल = शक्ति' और 'अ-कुल = शिव' के समीकरण प्रस्तुत करते हुए यह सुप्रसिद्ध पद्य उद्धृत करते हैं:

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते।।

('कुल' का अर्थ 'शक्ति' है और 'अ-कुल' का अर्थ है 'शिव'; इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध 'कौल' कहलाता है।)

'कौल उपासना' वस्तुतः इसी शिव-शक्ति-सामरस्य में नर-नारी-मैथुन के संवादी अध्यास द्वारा प्रतीकोपासना है। इससे योग (= सम्बन्ध) होने के नाते उन्होंने अगले नाम कुलयोगिनी तथा 'अ-कुल (= सहस्रार-चक्र) में निवास के नाते अ-कुला नाम की व्याख्या की है।

अभिनवगुप्त ने 'कुल' के अर्थ को अनेक तरह से बताया है। 'कुल' का अर्थ 'शिव-शक्ति-नर' का त्रिक और इस पर आधारित शास्त्र है। वह शरीर है, वह आनन्द है। विशेष विस्तार से जानने के लिए डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय की अंगरेज़ी में लिखी पुस्तक Abhinavagupta देखी जा सकती है, जो चौखम्बा प्रकाशन से छपी है।

३ उपसंहार

तान्त्रिक उपासना के इस संक्षिप्त विवरण से इतना स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस उपासना ने देह में देवत्व की परिकल्पना के आत्यन्तिक विस्तार का आश्रय लेते हुए अपनी आध्यात्मिकता का मार्ग चुना है। जैसा कि भास्कर राय ने ललितासहस्रनाम की टीका में पंचमी नाम की व्याख्या में इस प्रमाण-वाक्य के माध्यम से बताया है :

आनन्दम्ब्रह्मणो रूपन्तंच देहे व्यवस्थितम्
तस्याभिव्यंजका पंच मकारास्तैरथार्चनम्।।[१३]

(ब्रह्म का रूप आनन्द है; वह देह में व्यवस्थित है और पंच म-कार उसके अभिव्यंजक हैं, (अतः) उन्हीं से अर्चना की जाती है।)

इस मार्ग की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। संसार की सभी स्त्रियों में शक्ति और संसार के सभी पुरुषों में शिव देखने के नाते इस उपासना ने जीव-मात्र के सांसारिक व्यवहारों में ही परब्रह्म को अनुस्यूत माना है और उनकी प्रीतिकर-ता तथा अप्रीतिकर-ता को अतिक्रान्त करने वाले अनुभवों की सामर्थ्य में मनुष्य की सार्थकता स्वीकार की है। इस आग्रह का उद्देश्य निश्चय ही उच्चकोटिक 'वीर' साधकों के अतिरिक्त अन्य सामान्य सामर्थ्यवान् 'पशु' साधकों को इस साधना से दूर रखने का है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, भास्कर राय ने उन सभी को 'पशु' कहा है जिनको ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान नहीं है। उन्होंने ललितासहस्रनाम की अपनी टीका में वीराराध्या नाम की व्याख्या करते हुए 'वीर' की भी परिभाषा दी है :

अहमि प्रलयंकुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः।
पराक्रमम्परो भुंक्ते स्वात्मानमशिवापहम्।।

(अपने 'मैं' में उससे भिन्न 'यह' का लोप करने का पराक्रम अपने में से अ-शिवत्त्व को दूर करने वाला (और इस प्रकार शिवत्त्व की प्राप्ति कराने वाला) है, इस पराक्रम को करने वाला 'वीर' कहलाता है।)

जो स्पष्टतः इसी अभेद-ज्ञान को प्राप्त महापुरुषों की परिभाषा है।

---

१३ इस श्लोक का संकेत आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्... से देते हुए जयरथ ने भी इसे तन्त्रालोक की अपनी टीका में अनेकत्र उद्धृत किया है।

इन सारी कसौटियों के बावजूद, ऐसे साधकों के लिए पतन की गुंजाइश है ही और (बारहवीं सदी के काश्मीरी कवि) क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थों में ऐसे पातकी दम्भियों की खूब ख़बर ली है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उपासना के नाम पर दुराचार की सम्भावनाएँ अन्य साधना-मार्गों में नहीं है और हम ऐसे दम्भाचरण के उदाहरणों से अपरिचित नहीं है। अतः इस उपासना को अन्य कठिन उपासनाओं की तरह ही

साधारण सामर्थ्यवान् के लिए अव्यावहारिक मानते हुए पुष्पदन्त के शिवमहिम्नःस्तव की ये पंक्तियाँ स्मरण रखनी चाहिएः

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

(हे शिव, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सीधे और टेढ़े रास्तों पर चलते हुए सभी मनुष्यों का गन्तव्य आप ही हैं, जैसे सभी नदियों का गन्तव्य समुद्र ही होता है।)

निर्देशक की व्यथा-कथा

राजेन्द्र पांचाल

लोग मुझे नाटक का आदमी कहते हैं। लेकिन मैं अपने आपको इस तरह से नहीं देख पाता। नाटक शब्द भी अब मुझे जँचता नहीं है। नाटक कहते ही कहानी, द्वन्द्व, संवाद, शुरुआत-मध्य-अन्त आदि सब एक साथ मुझे आ घेरते हैं। मैं बँधा हुआ महसूस करता हूँ। मैं कला की इस सुन्दर दुनिया में इसलिए हूँ क्योंकि एक तो यहाँ कई तरह की कलाएँ आकर एक साथ एक जगह पर इकट्ठी होती है, दूसरा यहाँ मुझे इन कलाओं को बरतने में स्वतन्त्रता दिखायी देती है।

एक निर्देशक के रूप में इसीलिए पूर्व लिखित स्क्रिप्ट भी मुझे आकर्षित नहीं कर पाती। उनमें एक बना बनाया स्ट्रक्चर होता है। एक कहानी का रूप वहाँ होता है। सब कुछ पूर्व निश्चित वहाँ धरा होता है। कहानी, स्थितियाँ, चरित्रों के घात प्रतिघात, घटनाएँ, दृश्यों का क्रम, अन्त आदि। मैं प्रस्तुति में संवाद (डायलॉग) बहुत कम इस्तेमाल करता हूँ। जबकि संवाद नाटक का अनिवार्य तत्व माना जाता है। लेकिन मेरे लिये इसकी अनुपस्थिति का क्या कारण है? एक तो यह कि बतौर निर्देशक संवादों की श्रृंखला में शुरुआत से ही मुझे कोई दिलचस्पी नहीं रही। उनमें विस्तार की सम्भावनाएँ कम देख पाता हूँ। अपवाद रूप में कुछ स्क्रिप्ट हैं। लेकिन वह अपवाद ही हैं। दूसरी ये कि क़िस्मत से मैं एक नाट्य लेखक नहीं हूँ तो मेरे निर्देशन के संक्रमण काल के समय निरन्तर ये विचार चलता रहा था कि मैं कहाँ से लिखित पाठ प्रस्तुति में लाऊँ। परेशान रहता था। बहुत बाद में 'सूर्यमल्ल' में अचानक से रास्ता साफ़ हो गया। यह प्रस्तुति राजस्थान के महाकवि सूर्यमल्ल के जीवन और उनके साहित्य पर आधारित है।

वहाँ से रास्ता खुला कि जो लिखित पाठ है वह संवाद रूप में ही क्यों आये। किसी निबन्ध, किसी यात्रावृत्तान्त, किसी घटना, किसी समाचार पत्र, किसी इतिहास की क़िताब से, किसी कविता आदि जहाँ कहीं से भी हमें कोई सुन्दर बात महसूस होती है, कहने का ढंग अच्छा लगता है या कोई सूचना भी अच्छी लगती है तो वह प्रस्तुति में शामिल की जा सकती है। संत पीपाजी, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, फूल केसुला फूल, सूर्यमल्ल आदि में हमने यही प्रक्रिया अपनायी थी। अभी विनोबा भावे पर आधारित प्रस्तुति के लिये इसीलिए कई तरह से सम्बन्धित विचार की खोजबीन कर रहे हैं।

इस तरीक़े से धीरे-धीरे हमने प्रस्तुति में संवाद की अनिवार्यता से निजात पायी है। हम कभी-कभी संवाद भी उपयोग में लेते हैं लेकिन ज़रूरत मुताबिक़। इस तरह के तरीक़े से हम समृद्ध ही हुए हैं। क्योंकि हमारे पास भिन्न-भिन्न भाषा के, भिन्न-भिन्न शैली के लिखित पाठ एक साथ होते हैं। इसकी ख़ास बात ये भी है कि यह बहुत मन से बहुत शोध के बाद चुने हुए पाठ हमारे पास होते हैं। यदि एक्टर अपने लिये

स्वयं यह पाठ चुने तो ये एक आदर्श स्थिति होती है। इन सब लिखित पाठों को एक खाँचे में बैठाने के लिए रंगमंच के अन्य तत्वों का सावधानी से इस्तेमाल होता है। यह एक ज़िम्मेदारी का काम हो जाता है।

अभी इन दिनों हम विनोबा भावे पर आधारित प्रस्तुति के लिये कार्य कर रहे हैं। हमारे लिये विनोबा कोई चरित्र नहीं है। एक विचार है। क्योंकि जैसे कोई बात विनोबा जो कहते थे वही बात बुद्ध ने भी दूसरे ढंग से कही होगी तो बुद्ध की बात भी प्रस्तुति में आ जाएगी। गाँधी की बात आ जाएगी। इस तरह से एक विचार को प्रकट करने के कई ढंग होंगे। इस तरह से हम कहानी और संवाद की अनिवार्यता से मुक्त हो गये। मुझे लगता है कहानी की नाटक में उपस्थिति अभिनेता ही नहीं निर्देशक के लिये भी नुक़सानदेह है। कहानी बनाने के लिये हमको घटनाओं का सहारा लेना पड़ेगा। अब जैसे विनोबा के सन्दर्भ में कहूँ तो प्रस्तुति के लिये पारम्परिक ढंग से जो क्रम रहेगा वो इस तरह से होगा। उनका जन्म, उनका घर छोड़ना, गाँधी का साथ फिर भूदान आन्दोलन, चम्बल के डकैत, क्षेत्र सन्यास आदि। हर कोई यही क्रम चुनेगा। इसमें हुआ यह की चरित्र का मूल विचार दबकर रह जाता है। मैं जब निर्देशन प्रक्रिया में होता हूँ तो एक कहानीकार नहीं होता बल्कि एक कवि होता हूँ। जैसे कविता में हर शब्द में बढ़त है, हर पंक्ति में नया धरातल है। मैं सोचता हूँ मेरी रचना में भी ऐसी ताक़त हो। वो खुली रहे। जैसे कविता की पहली पंक्ति को अन्तिम पंक्ति बनाया जा सकता है, मैं मेरे बनाये दृश्यों का क्रम कई बार बदल बदल कर देखता हूँ। एक आनन्द आता है। तो मूल बात यह है कि एक रचनाकार के रूप में जिस विनोबा अनुभव से मैं गुज़रा हूँ वही अनुभव सम्प्रेषित भी करूँ। कहानी वह करने नहीं देती। जैसे हमने समूह में क्या किया की हम पवनार स्थित विनोबा आश्रम गये। वहाँ कुछ दिन रहे। वर्धा स्थित गाँधी का सेवाग्राम आश्रम देखा। सम्बन्धित लोगों से मिले। विनोबा का लिखा पढ़ा। उन पर लिखा पढ़ा। हमारे थिएटर आश्रम में कोई दस महीने हमने गायें रखी। हमारा जो रोटेदा गाँव में थिएटर स्पेस है उसे हम आश्रम कहते हैं। आश्रम पैराफ़िन। आश्रम क्योंकि वहाँ की कार्य पद्धति जैसी है उसके लिये स्पेस, स्टूडियो, स्कूल, जैसे शब्द ठीक नहीं बैठते।.... तो अब विनोबा प्रस्तुति के लिये यह जो रचना प्रक्रिया हम अपना रहे हैं। जो अनुभव हमें हो रहे हैं। ये अनुभव ही हमारा हासिल है। इन्हीं से हम समृद्ध होते हैं। तो मैं मूल बात पर फिर से लौटता हूँ कि प्रस्तुति में यदि हम कहानी कहने की तरफ जायेंगे तो ये सारे अनुभव कह नहीं पाएँगे। और कहना भी किससे है। पहले पहल तो हमसे ही कहना है। तो अब जो प्रस्तुति होगी उसमें हर क्षण का विस्तार किया जा सकेगा। वो क्षण खुला होगा। चरित्र भी मुख्य नहीं होगा।

इसी तरह की एक और दिलचस्प बात मुझे याद आती है कि सालों से नाटक का एक और अनिवार्य घटक माना जाता रहा है। वह है 'द्वन्द्व' (conflict)। लेकिन मैं द्वन्द्व से हमेशा ही दूर रहने की कोशिश करता रहा हूँ। कई बार ऐसा होता है कि हम किसी अनजान व्यक्ति से मिलते हैं। उससे दूर जाने के बाद लगता है वाह! क्या आदमी था। इसी तरह कभी कोई बात पढ़ते हैं, सुनते हैं तो लगता है वाह! क्या बात है।... मैंने धीरे-धीरे ऐसी बात अपनी प्रस्तुति में लाने की कोशिश की है। दरअसल जब भी द्वन्द्व

की बात होगी तो दर्शकों का दिमाग़ काम करना शुरू करेगा। उनकी विश्लेषण क्षमता जागृत होगी। तर्क की बात होगी। मैं चाहता हूँ नाटक देखते समय दर्शक केवल दिल का इस्तेमाल करें, दिमाग का नहीं। उदाहरण देना पड़े तो मन्दिर का दूँगा। जहाँ जाने वाले लोग केवल दिल का इस्तेमाल करते हैं। ...हालाँकि अब ऐसा होना भी दुर्लभ हो गया... तो इस तरह का विचार मुझे सालों पहले सन्त पीपाजी नाटक करने के बाद आया। कई साल बाद चिड़ी चमेली से इसकी शुरुआत होते-होते सूर्यमल्ल में हमने इसको अच्छे से समझा। अभी विनोबा में भी वैसी ही कोशिश है।... यदि सरल भाषा में कहूँ तो दर्शकों को एक मूड देते हैं विचार नहीं। और यह हमारा conscious decision है। अर्टिस्टिक च्वॉइस है। सालों की मेहनत का परिणाम है। अब यह भी है की ऐसी प्रक्रिया में प्रस्तुति सपाट होने की सम्भावना बढ़ जाती है। लेकिन जैसा की मैंने पहले कहा कि यदि प्रस्तुति का हर क्षण विस्तार लिये हुए होगा तो वैसी समस्या पैदा नहीं होगी। भारतीय शास्त्रीय संगीत में तो यही होता है। वहाँ हर क्षण विस्तार लिये होता है। अगला क्षण क्या है कैसे आएगा। कोई पूर्व निर्धारित नहीं। हालाँकि प्रस्तुति में चरित्र के अपने स्वयं के द्वन्द्व हो सकते हैं। लेकिन मैं दर्शकों के लिये द्वन्द की बात कर रहा हूँ जो विचार रूप में आएँगे। उनसे मैं बचता हूँ। एक निर्देशक के रूप में मैं अपने दर्शकों पर कोई विचार थोपना भी नहीं चाहता। जैसे विनोबा पर शोध के दौरान हमने पाया कि विनोबा के काम में रुकावटें डालने वाले, विपरीत बात करने वाले लोग उस समय भी थे। भले ही वह भूदान आन्दोलन के समय हो या चम्बल के बागियों के समर्पण के वक़्त। इमरजेंसी पीरियड को विनोबा द्वारा अनुशासन पर्व कह देना तो बहुत बड़ी घटना थी। लेकिन यह सब विपरीत विचार मैं निर्देशक के रूप में प्रस्तुति में लाना नहीं चाहता। एक बार बीकानेर में नन्द किशोर आचार्य ने सुझाव दिया था की इस तरह से तो नाटक, नाटक न रहकर स्तुतिगान हो जायेगा। वह सुझाव उन्होंने तब दिया था जब मैंने इब्राहिम अलकाज़ी और उनके छात्रों के साथ सम्बन्धों की एक परफ़ॉरमेंस और एक ऑडियो प्रदर्शनी तैयार की थी। उस ऑडियो प्रदर्शनी में उनके छात्रों के अपने अध्यापक के बारे में विचार थे। संयोग से केवल वह छात्र ही सम्मिलित हुए थे जो उनकी अध्यापक के रूप में तारीफ़ कर रहे थे। और आधुनिक भारतीय रंगमंच में वह सब भी बड़े नाम माने जाते हैं। खैर उनकी बात पर मैंने कई दिनों तक विचार किया। लेकिन मैं इसे इस तरह से देखता हूँ कि हम इस मानव जीवन में जब आते हैं तो द्वन्द्व लेकर ही आते हैं। जीवन द्वन्द्वमय ही होगा क्योंकि हमारे पास चेतना है। दुनिया निरन्तर परिवर्तनशील है। ऐसे में मैं एक निर्देशक के रूप में ऐसी कल्पना अक्सर करता हूँ कि मेरी प्रस्तुति में कोई अपनी माँ के बारे में दर्शकों को बताये। माँ का प्यार, विश्वास, चिन्ता, समर्पण इत्यादि। बस इतना ही। इसमें मैं यदि माँ द्वारा बच्चे की पिटाई, एक दिन गुस्से में घर से बाहर निकाल देना, एक दिन भूखा रखना जैसी बातें न भी करूँ तो क्या बुरा है। और यह हमने किया भी। एक हमारे दोस्त हैं। लेखक हैं, अम्बिकादत्त चतुर्वेदी। हमने एक प्रस्तुति की 'अम्मा'। उन्होंने अपनी पत्नी संग दर्शकों को अपनी माँ के बारे में बताया। बस इतना ही। मैं ऐसे ही रंगमंच की कल्पना करता हूँ। केवल अन्त में उन्होंने अपनी एक कविता दर्शकों को कही।

माँ के चले जाने के बाद....

माँ ने अपनी सारी तैयारी पहले ही कर ली थी।
मैंने स्वप्न में देखा,
माँ को गठड़ी लिये, प्लेटफ़ार्म की बेंच पर बैठे हुए।
न धुँआ दिखा, न आवाज़ सुनी।
ट्रैन कब आयी, माँ किस डिब्बे में चढ़ी, पता ही न चला।
मेरी जब आँख खुली, माँ जा चुकी थी।।

माँ के कमरे में हवन किया गया।
धुआँ पूरे घर में फैल गया।
माँ अब एक खुशबूदार धुआँ हो गयी है।
माँ अब हवा में है।
हमेशा हमारे चारों तरफ़।
जब कभी भी यादों की अगरबत्ती जलाएँगे, वो बातों में महकने लगेगी।

... तो मैं कहना यह चाहता हूँ की यह भी एक तरीक़ा है जो मैं दर्शकों को देना चाहता हूँ। और यह शायद इसलिये भी है कि मैं व्यक्तिगत तौर पर किसी विवाद में पड़ता नहीं हूँ। किसी परिभाषा, शब्द आदि में उलझता नहीं हूँ। मैं कोई राजनीतिक समस्या, जाति, धर्म, समसामयिक मुद्दे आदि को छूता हुआ कोई बात प्रस्तुति में कहूँगा तो जो द्वन्द्व पैदा होगा, वैसा द्वन्द्व मैं नहीं चाहता। उनसे क्या होता है कि दर्शक का दिमाग़ काम करना शुरू करता है। वो मैं चाहता नहीं। हालाँकि नाटक में एक धारा यह भी कहती है कि प्रस्तुति दर्शक को सोचने पर मजबूर करे तभी वह सफल है। उसके सामाजिक सरोकार हों आदि आदि। लेकिन जैसा कि मैंने कहा कि यह मेरी अपनी आर्टिस्टिक च्वॉइस है कि दर्शक सोचेंगे तो मेरा मक़सद हल नहीं होगा। हम वैसे भी समाचार-पत्र, टीवी, मोबाइल आदि के ऐसे माहौल में हैं कि सोच ही सोच रहे हैं। हर किसी के पास अपना-अपना तर्क है। मज़बूत। इसीलिए तंग आकर मैं कई सालों से अख़बार नहीं पढ़ता। कारण यही है। अभी के हालात में हम कलाओं के ज़रिये एक रूहानी अनुभव दर्शकों को दे सकें, बतौर कलाकार मेरे लिये यह ज़्यादा ज़रूरी है।... इस बात का यह मतलब भी नहीं की केवल इसी तरह की कलाएँ समाज में पैदा हों। लेकिन मुझे ऐसी ही बात जँचती है और यही मुझे दर्शकों से साझा करने की इच्छा रहती है। मुझे दर्शकों से बहुत प्रेम है।

मुझे कई बार यह बात रोमांचित करती है कि एक ही दिन, लगभग एक ही समय, अलग-अलग घरों में लोग एक साथ तैयार होते हैं। कंघी करते हैं। कपड़े पहनते हैं। फिर अलग-अलग दिशाओं से लगभग एक साथ प्रस्तुति स्थान पर पहुँचते हैं। कितनी बड़ी घटना ये होती है। अब इन दर्शकों के सामने अभिनेता जब

खड़ा होता है तो उस पर एक ज़िम्मेदारी का भाव होना चाहिए। मैं एक निर्देशक के तौर पर इस बात में खूब विश्वास करता हूँ कि वहाँ अभिनेता की शक्ल में मैं खुद ही खड़ा होता हूँ।... एक साथ सैकड़ों आँखे मुझे ही देख रही होती है। दर्शक मुझे ही देखने-सुनने के लिये इकट्ठे होते हैं। इसीलिए समूह के साथ हर प्रस्तुति के अन्त में मैं दो बार उनके सामने झुकता हूँ। पहले प्रस्तुति समाप्ति के लिये, दूसरी बार उनके द्वारा हम पर विश्वास के लिये। मेरे लिये यह बहुत ही पवित्र कार्य है।

मैं अक्सर कहता हूँ कि मेरी हर प्रस्तुति का मैं ही पहला और अन्तिम दर्शक हूँ। माने जब प्रस्तुति बनती है तब मैं ही अन्तिम रिहर्सल देखता हूँ। प्रस्तुति को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने के बाद उन्हें पसन्द आये या न आये इस बात का मेरे दर्शक मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कमियाँ, अच्छाईयाँ मुझे दिखायी देती हैं। साफ़-साफ़। इसका ये क़तई मतलब नहीं कि दर्शकों की बात पर मैं विचार नहीं करता। क्योंकि एक जादू है कि जब तक मैं अकेला प्रस्तुति को देख रहा होता हूँ तब तक प्रस्तुति का पूरा आकलन नहीं कर पाता। लेकिन जैसे ही दर्शकों से प्रस्तुति साझा करता हूँ न जाने क्या जादू होता है प्रस्तुति के समय और तुरन्त बाद कई कमियाँ, अच्छाईयाँ मुझे महसूस होने लगती है। मेरा ख़याल है हर निर्देशक को होती होगी। तो इतना गहरा प्रभाव दर्शकों का रहता है। वह दर्शक जो पूर्वाग्रहों से ग्रसित न हों, मुझे विशेष प्रिय हैं। फिर वो बुराई भी करते हैं तो प्यारे लगते हैं।

वो दर्शक जो कलाकार को समझने में, उसकी कला के बारे में जानने में रुचि रखते हैं वही सच्चे दर्शक हैं। दुर्भाग्य से कई रंगकर्मी तो अब तक दर्शक भी नहीं बन पाए हैं। नाट्यशास्त्र में दर्शकों के बारे में लिखा है की वह 'सहहृदयी' हों। यह एक महत्वपूर्ण बात है जो संसार की किसी क़िताब में इससे पहले नहीं आयी। दर्शकों से जो मैं साझा करता हूँ वह मेरा चखा होता है। प्यार से परोसा होता है। वह थाली ठुकरा भी सकता है। थोड़ा छोड़ भी सकता है। 'दुबारा खाने को कब मिलेगा' ऐसा पूछ भी सकता है।... मैं तीनों ही स्थितियों के लिये तैयार रहता हूँ। लेकिन वह कहे कि 'ऐसा क्यों बनाते हो, ऐसा बनाओ।' तो मुझको उनकी अज्ञानता पर दुःख होता है। अब तक के अनुभवों में ऐसी बात रंगकर्मी ही करते हैं। शुद्ध दर्शक नहीं। कलाकार, दार्शनिक, वैज्ञानिक जो भी रचता है, उसे दूसरों से साझा करने की इच्छा उसकी रहती है। मेरी भी रहती है। साझा करने की चाह में यदि अहम् न हो। किसी तरह के लाभ की आकांक्षा न हो तो ही ये नेक काम है अन्यथा नहीं। कई बार उदाहरण देता हूँ कि 'साझा' की भावना ऐसी होनी चाहिए जैसे माँ ने बेटे के दोस्त को बड़े प्यार से खाना बनाकर परोसा हो। माँ अच्छा उदाहरण है। उसके मन में खाना परोसते हुए जो चलता है वैसा ही मेरा भाव रहता है। मैं दर्शकों से नाटक के अगले दिन बात करना चाहता हूँ। लेकिन अज्ञानी रंगकर्मी मुझसे इस तरह से बात करते हैं जैसे मैं एक गुनाहगार हूँ। एक कटघरे में अपने को खड़ा पाता हूँ। वह बातचीत का माहौल बिगाड़ देते हैं। शुद्ध दर्शक तो ऐसे में कुछ बोल ही नहीं पाते। शुद्ध दर्शक कितने प्यारे लोग होते हैं सोचिये कोई बैंक में काम करता है कोई व्यापारी है। वह केवल प्रस्तुति देखने आया है। लेकिन मैं उस तक नहीं पहुँच पाता। एक बार बैंगलोर में शो के बाद यही महसूस हुआ।

बहुत तेज़। हमने किसके लिये यह शो किया। तब से यही कोशिश रहती है कि दर्शकों से बात कर सकूँ। यही बात मैं मेरे अभिनेताओं को भी समझाता हूँ। क्योंकि यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। यह बात एक अभिनेता को समझनी होगी यह कैसा सुख है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को देखने-सुनने आया है। इसीलिए मैं खुद एक निर्देशक के साथ-साथ दर्शक भी होता हूँ। हालाँकि यह अलग बात है कि मैं दर्शक मेरी ही तरह का होता हूँ। बाज़ार की आवश्यकताओं से बहुत दूर।

मेरे अभिनेता और अन्य लोग जो मेरे रचना कर्म के हिस्सेदार हैं वो मेरी इस दर्शक रूपी भूमिका को और अधिक मज़बूती प्रदान करते हैं, और मेरी दर्शक रूपी भूमिका को सुधारते हैं। अभिनेता मेरे लिये क्या हैं? कैसे कहूँ?

सोचता हूँ यदि मैं पेंटर, स्कल्पटर या आर्किटेक्ट होता तो मेरे रचना कर्म का मीडियम रंग, मिट्टी, धातु या पत्थर जैसी ही कोई निर्जीव वस्तु होती। एक निर्देशक के रूप में मुझे ऐसा मीडियम मिला है जिसके अन्दर एक दिल धड़कता है। उसका खून मेरे खून की तरह ही लाल है। वह मुझे देख मुस्कुराता है और मैं भी।

मेरा अभिनेता मुझ पर इस तरह से विश्वास करने लगता है कि मैं स्वयं को एक माँ की भूमिका में पाता हूँ। लेकिन एक पिता जैसी भूमिका निभाते हुए मैं कभी-कभी उसी अभिनेता के साथ कठोर व्यवहार भी करता हूँ। वो फिर भी मुझे ऐसे देखता है कि मैं एक माँ की ही भूमिका में हूँ।

एक निर्देशक के रूप में मेरा अभिनेता मेरे ही चरित्र का एक हिस्सा होता है। या इसे यूँ भी कह सकते हैं कि उसके चरित्र का मैं एक हिस्सा होता हूँ। मेरा दिल उसके दिल से मिल जाता है। हममें से यदि कोई भी एक रचनात्मक त्रुटि करता है तो दोनों को समान रूप से दुःख होता है।

मैं और मेरा अभिनेता दोनों ही इस तरह से रंगभूमि पर कार्य कर रहे होते हैं जैसे किसान और बैल एक खेत में कार्य करते हैं। लेकिन मुझे अक्सर ये बात पीड़ा पहुँचाती है कि हमेशा ही मुझे किसान की भूमिका में रहना पड़ता है। और मैं उतना पसीना नहीं बहा पाता जितना अभिनेता बहाता है।

अपने आप के लिए अक्सर मैं लज्जाजनक भाव महसूस करता हूँ क्योंकि वह मेरे सामने इस तरह से खड़ा होता है जैसे वह मेरा गुलाम है। मेरी हर बात को विनम्रतापूर्वक मानकर उस पर अमल करना ही उसका काम है। मैं उसे सहज करने की कोशिश करता हूँ। सवाल करने के लिए प्रेरित करता हूँ। कोई अभिनेता मेरी इस बात को समझता है, कोई नहीं।

रचना प्रक्रिया के दौरान यदि मेरा अभिनेता चिन्तित होता है तो मैं एक माँ और पिता, दोनों की भूमिका में एक साथ होता हूँ। स्वयं भी बेचैन होता हूँ। कोई उपाय ढूँढ़ने लगता हूँ।

जो नया अभिनेता होता है। अभी-अभी आया होता है। उसकी देखभाल ज़्यादा करनी पड़ती है। वह कमज़ोर न रह जाए ऐसी सावधानी बरतनी पड़ती है। उस समय मैं ऐसा पहलवान पिता बन जाता हूँ जो

अपने बेटे को भी पहलवान बनाना चाहता है। मैं उसके साथ कठोर व्यवहार करता हूँ। चाहता हूँ काम करते-करते उसके हाथों और पैरों में छाले पड़ जाए। चोट क्या होती है, वो ये जाने। लेकिन फिर एक माँ की भूमिका निभाते हुए उसका पसीना भी पोछता ही हूँ।

ये कैसा जादू है कि एक निर्देशक के रूप में जैसा मैं सोचता हूँ, जैसी परिकल्पना करता हूँ, मेरा अभिनेता उसे मूर्त रूप दे देता है। जब इस रहस्य को मैं मेरे अभिनेता से पूछता हूँ तो वह कहता है कि 'आप कहते ही ऐसे हैं कि हम कब कर देते हैं पता ही नहीं चलता।'... इस तरह से मैं और मेरा अभिनेता दोनों ही एक-दूसरे के प्रति 'अन्ध प्रेम भाव' रखने में विश्वास करते हैं।

मेरा अभिनेता मुझे सदैव नया कुछ रचने के लिए प्रेरित करता है। मेरी सोच-विचार की अवस्था के समय वह रंगभूमि पर हाथ पैर हिला रहा होता है। तरह-तरह की आवाज़ें निकाल रहा होता है और मैं कुर्सी से झट से उठकर उसके साथ आ खड़ा होता हूँ। जब मैं अभिनेता के साथ खड़ा होता हूँ तो एक ऐसी जादुई ऊर्जा महसूस करता हूँ जिसका दायरा पूरे स्पेस के साथ-साथ मेरे अन्दर तक होता है। मैं मेरे चुस्त अभिनेता को कुछ कहता हूँ और वापस अपने स्थान पर बैठ जाता हूँ।

मैं और मेरा अभिनेता कई बार एक अँधेरी गुफ़ा में घुसे हैं, वहाँ इधर-उधर भटकते हुए हम कई बार एक साथ हताश हुए हैं, कई बार ठोकर खाकर गिरे हैं। एक-दूसरे को सम्भालते हुए अक्सर हमने एक-दूसरे का हाथ थामा है और अन्त में सोना न सही चाँदी लिए गुफ़ा से बाहर निकले हैं।

प्रस्तुति दर्शकों से साझा करने के बाद हमारी दोस्ती और अधिक बढ़ जाती है। इस तरह प्रस्तुति दर प्रस्तुति हमारी दोस्ती एक रहस्यमयी रूप धारण करती जा रही है। मैं अक्सर मेरे अभिनेता को याद करते हुए बिस्तर में सोते हुए रोया हूँ। इसका कारण खोजने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

बूझती अंगुलियाँ-३

जगदीश स्वामीनाथन

अंग्रेज़ी से अनुवाद : अखिलेश

लिंगो का अंगा

मध्यप्रदेश के आदिवासियों के कलात्मक अभिव्यंजना पर विचार करना निश्चित ही एक बड़े क्षेत्र विचार करना है। जैसा कि पहले भी कहा गया है, मध्यप्रदेश हिन्दुस्तान में न सिर्फ़ सबसे ज़्यादा आदिवासी जनसंख्या रखता है, साथ ही अनुसूचित आदिवासी समुदायों का भी एक बड़ा हिस्सा यहाँ रहता है। उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति न सिर्फ़ उनके मिथकों की मान्यता और सामुदायिक कर्मकाण्डों से आते हैं, बल्कि जिन्हें हम सांसारिक और अलंकारिक प्रयोजन कहते है, वे उनसे भी प्रेरणा पाते हैं। इसके अतिरिक्त ये आविर्भाव न सिर्फ़ उनके ज्ञान के सांसारिक क्षेत्र हैं, बल्कि उनके औज़ारों और अस्त्र-शस्त्र को भी दर्शाते हैं और दैनिक भौतिक उपस्थिति के इस्तेमाल के साधन भी हैं। यहाँ कुछ हैं जो परम्परा में धँसे हुए हैं और कुछ दूसरे हैं जो आदिवासी कलाकारों के सीधे अनुभव से उपजे हैं। फिर, कुछ काम जो कि आदिवासियों द्वारा नहीं बनाये गये हैं, किन्तु साथ में रह रहे सहभागी समुदायों के कलाकारों द्वारा बनाये गये हैं जो उनके लिए हैं, जिसे हम मौटे तौर पर आदिवासी कला ही मानेंगे, जैसा एल्विन ने इसकी तरफ ठीक ही इशारा किया है।

पूर्व में लिखित पाठ में हमने कोशिश की है कि कला की स्वायत्तता की स्थापना करें और आदिवासी कला की ख़ासतौर पर, और हमने उन तत्त्वों को रेखांकित किया है जो अनन्त हैं, जिसके कारण यह सब हमारे लिए प्रासंगिक है। जो कुछ भी इसके प्रेरक घटक हैं : कथात्मक अभिप्राय या आदिवासी कलाकार का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियाँ, हम उनकी सृजनात्मकता में प्रासंगिकता पाते हैं जो इन कारणों से परे है। उनके ऊपर विचार करने पर, प्रभामण्डल की तरह चिपक जाने पर, और उन्हें जीवन के रस से तरबतर और सींचने पर जो उन्हें परिभाषा और व्याख्या के क्षेत्र से निकाल विस्मय के सन्तुष्ट कर देने योग्य क्षेत्र में ले आती है। जैसा भी हो, हमें ख़ासतौर पर इसके विशिष्ट, और प्रासंगिक पक्ष को देखना चाहिए, केवल जिसके सहारे यह सार रूप में अपनी अभिव्यक्ति पाता है।

यद्यपि वे आशय जो कलाकृतियों से नहीं उठते हैं किन्तु जिनके अर्थ मिथकों में हैं, कर्मकाण्डों और जादुई प्रक्रियाओं आदि में हैं, हमें उनके सम्बन्धित स्रोतों का सहारा लेना होगा। यह हमारी 'समझने' की कोशिशों में मदद कर सकता है जो इनकी कला और सामाजिक साँचों को जिसमें से ये उपजे हैं, उसे समझने में सहायता करेगा।

जो भी हो, इस तरह की समझ हमारे देखने को बाधित न करे : हमारा उद्देश्य सामाजिक या नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययन नहीं हैं; हमने अभी तक अपने को आदिवासी समुदायों के सामाजिक, आर्थिक, सम्बन्धों अध्ययन के लिए नहीं, लगाया है, और इस कारण कला को हम एक पक्ष की तरह विश्लेषित करेंगे, जो विश्लेषण और घटाने की प्रक्रिया के रास्ते शायद हमें उस समझ तक ले जाये। यहाँ यह अनावश्यक है कि आदिवासी कलाकार पारिभाषिक शब्दावली नाम पद्धति को जानता है और यह समझता है कि कला का सृजन किया जाये या नहीं; हालाँकि जैसा हम पाते हैं और जैसा वह है, हम अनुभव के उसी कुँए से पानी भर रहे हैं।

लेवि स्ट्रॉस कलात्मक सृजन में प्रासंगिकता की भूमिका के बारे में कहते हैं : ''कलाकृति के लिए किसी अवसर पर इसकी कोई भूमिका हो सकती है या कलाकृति के निर्माण में या उस कारण जिसके लिए यह साभिप्राय बनाया गया है।'' किन्तु वे यह भी कहते हैं, ''कला का कोई भी रूप, किसी भी सीमा तक, अपने नाम के योग्य नहीं है। यदि वह इसकी छूट देता है कि वह बाहरी प्रासंगिकता के आधार पर, भले ही अवसर या कोई और कारण उसके लिए हों तभी पूरी तरह प्रकट होता है। यदि वह करता है तब वह एक प्रतिमा (नमूने का परिपूरक) या एक अस्त्र-शस्त्र की तरह है (जिन वस्तुओं से वह निर्मित किया गया है)। सबसे ज़्यादा व्यवसायिक कला भी हमें प्रभावित करने में तभी सफल होती है जब वह प्रकरण के पक्ष में संभाव्य के दुराचार को समय में क़ैद कर देती है और काम में उसे शामिल कर लेती है, इस तरह वह कलाकृति होने का गरिमामय दर्जा हासिल कर लेती है। अब तक पहले की कला, आदिम कला और 'आदिम' समय व्यवसायिक कला के ही हैं जिनमें सिर्फ़ तारीखें नहीं हैं, वे अपने बनने और इस्तेमाल होने देने की आकस्मिकता के समर्पण के लिए शुक्रगुज़ार दिखाई देती है, जिन्हें वे पूरा करने की कोशिश करते हैं। अपने कुछ कच्चे स्वीकृत तत्त्वों, जैसे प्रयोगसिद्ध सामग्री जो कुछ अर्थवान है, के साथ।''[१]

यहाँ यह सम्भव नहीं है कि मध्यप्रदेश के आदिवासियों के कला के सभी पक्षों को समेट लिया जाये। निश्चित ही अलग-अलग क़िताबों की ज़रूरत है। न सिर्फ़ विभिन्न आदिवासी समुदायों के लिए बल्कि विभिन्न माध्यमों में उनकी कलात्मक धारणाओं के विशिष्ट अभिव्यंजनाओं के लिए भी।

पेड़ के नीचे पत्थरों के टुकड़े जमे हुए रखे हैं और लकड़ी और पत्थर के खम्भे, भाले और झण्डियाँ, मोरपंख, ताड़ के वृक्ष की तरह सजाये गये खम्बे के सबसे ऊपरी हिस्से पर (गोंडों की *चण्डी*) या एक झाड़ी के रूप में जिसमें ऊपर धातु का एक मुकुट लगा है (अबूझमाड़ के *कोलादेव*) लगाये गये हैं और नदी के तट से लाये गये, पॉलिश किये गये पत्थर रखे हैं और उसके ऊपर एक और रखा है *(शिव)* देवता की तरह। यह और क्या है, पर्यावरण में नाममात्र का एक शिल्प? तराशी गयी मूर्तियाँ लकड़ियों और पत्थरों में बनायी गयी हैं, जैसे कि *अंगादेव,* बस्तर के आदिवासियों का कुलदेवता, या लकड़ी की बनी मूर्ति दूल्हे को ले जाती दुल्हन कोंडागाँव, बस्तर से, और पत्थर की वह खड़ी आकृतियाँ, बस्तर के गाँव से या पत्थर की उत्कृष्ट

मातृका, बंजारिन देवी और बूढ़ी माता मण्डला से। रायगढ़ के अगरियाओं द्वारा लोहे को पीटकर बनाये गये शिल्पों की आकृतियाँ और दन्तेवाड़ा के माड़िया लुहार और रायगढ़ के लुहार अपने आदिवासी संरक्षकों के लकड़ी के मुखौटे, टेराकोटा के और तुम्बी के। त्यौहारों के अवसरों पर किये जाने वाले कर्मा या अन्य नृत्य के दौरान इस्तेमाल होने वाले। और टेराकोटा में कुम्हारों द्वारा अन्तहीन प्रकार के कबेलू का सृजन किया गया है। आदिवासियों के चढ़ावे के लिए या खुद आदिवासियों द्वारा बनाये गये। दरवाज़ों को अलंकृत ढंग से तराशा गया है और मिट्टी के रिलीफ़ झोंपड़ियों की दीवारों पर बनाये गये हैं। दीवारों पर आव्हान करने वाले अमूर्त ज्यामितिक रूपाकार, सरगुजा के पण्डों से लेकर धार-झाबुआ के भील और भिलालाओं के अनुष्ठानिक चित्र पिठौरा तक। सुरुचि पूर्ण कंघे प्यार की निशानी की तरह मूड़ियाओं द्वारा लकड़ी में तराशे गये और बैगाओं द्वारा एक दूसरे में फँसे घास के छल्लों द्वारा बनायी गयी लड़ियाँ जिन्हें बैगा औरतें अपने बालों को सजाने के लिए पहनती हैं। माड़िया और कोरकुओं द्वारा मृतकों की स्मृति में बनाये गये लकड़ी के स्मारक इसी तरह भीलों द्वारा बनाये गये पत्थर की गाथा। बस्तर से गढ़वा पीतल के शिल्प पूरी दुनिया में जाने जाते हैं और रायगढ़ के झाराओं द्वारा बनाये गये शिल्प भी समान स्वीकृति के पात्र हैं। और निश्चित ही, गोदने की विशिष्ट कला भी है, जो आदिवासी औरत की पोशाकों से अलगायी नहीं जा सकती। प्रदेश में आदिवासी कला की पूँजी असीम है।

कलात्मक अभिव्यक्ति के नये इलाके भी हम लोगों ने पता लगाये हैं, ख़ासतौर पर चित्रकला के क्षेत्र में : हमने उन्हें रंगों की पूरी शृंखला से परिचय कराया। जो परम्परा से इस्तेमाल में नहीं है और रेखांकन और चित्र बनवाये। जिनके बनाये जाने का कोई प्रमाण नहीं है। हमने, कहने को निष्क्रिय प्रतिभा को जगाया या ग़ायब हो चुके या ग़ायब हो रही अभिव्यक्तियों के तरीकों को पुनर्जीवित किया। शुद्धतावादी हमारी इस पहुँच पर उँगुली उठा सकते हैं, हमने आदिवासी कलाकारों से बन्द कोठरियों में रह रहे कलाकारों की तरह व्यवहार नहीं किया। उदाहरण के लिए मण्डला के पाटनगढ़ से परधान, ख़ासतौर से जनगण सिंह श्याम, जो अपनी झोंपड़ियों की दीवारों पर मोटी रेखाओं और सपाट रंगों के सहारे अनूठे चित्र बनाया करता था, को जब एचिंग के माध्यम से परिचय कराया, उसने नोंक से बनी तीखी रेखाओं की सम्भावनाओं को खोजा और कलम और स्याही से अविस्मरणीय रेखांकनों की एक शृंखला तैयार की। ठीक इसी तरह, मूड़िया बैलगूर चित्र बनाना चाहता था, जो उसने पहले कभी नहीं किया था, वह विचित्र गठनहीन आकारों के साथ निकल आया जो कुछ प्वाइन्टलिज़्म तरीके से बनाये गये थे, जो किसी भी तरह से उसके अस्तित्व के क्षेत्र में बाहर के वातावरण से नहीं उठाये गये थे। या लालदर पाट, बलादर पाट और पेण्ड्रा पाट रायगढ़ जिले के पहाड़ी कोरबाओं द्वारा काग़ज़ पर बनाये गये छटपटाहट के विचित्र अनुभव या भील औरत भूरीबाई के रेखांकन और चित्र जो भोपाल में दैनिक मज़दूरी पर काम करती है।

इस निबन्ध में हम सिर्फ़ कुछ पक्ष जो हमारे इर्द-गिर्द गम्भीरता से प्रकट हो रहे हैं पर बात करेंगे।

...

बस्तर की नारायणपुर तहसील के सैमूर गाँव के देवालय में सबसे पुराना लिंगों का अंगा मौजूद है। यह गाँव नारायणपुर कस्बे की पश्चिमी पहाड़ियों की तहों में मौजूद है और उसी तरह के पक्षों को लिये है जैसा शायद वैरियर एल्विन ने देखा था। बस्तर की पुरानी पौराणिक कथा के अनुसार, जैसी एल्विन के द्वारा दर्ज की गयी थी और जिसे नवल शुक्ल, एक शोधकर्त्ता जो म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद के साथ काम कर रहा है, ने हाल ही में प्रमाणित किया है, जिसे उन्होंने बस्तर की तहसील बीजापुर के गाँव-प्रधान पामेर से सुना था :

''एक बूढ़ा आदमी और औरत के सात बच्चे थे। इनमें से वे सबसे छोटे को ख़ास प्रेम करते थे। छः बड़े भाई शादीशुदा थे, किन्तु सबसे छोटे की पत्नी नहीं थी। वह रोज़ शिकार पर जाता था और शाम को घर आकर के खेलता था; जल्दी ही बड़े भाइयों की छहों पत्नियाँ उसके प्रेम में पड़ गयीं और उसे घर के बाहर झूले में झूला झुलाती थीं।

''एक दिन छहों बड़े भाइयों ने कहा, 'हम लोग रोज़ खेतों में कठोर परिश्रम करते हैं और यह व्यक्ति कुछ नहीं करता।' यह सुनने पर, सबसे छोटा भाई सुबह जल्दी उठा और अपने भाइयों के जागने के पहले बैलों को लेकर खेतों में चला गया। जब वे उठे और उन्होंने देखा कि बैल जा चुके हैं, वे जल्दी-जल्दी खेतों में पहुँचे और देखा दो बार हल चलाना पूरा हो चुका है। उन्होंने अपने बैल लिये और अपने-अपने खेतों में चले गये।

''छहों पत्नियाँ दोपहर का खाना लेकर के आयीं और उन्होंने पहले सबसे छोटे भाई को खिलाया। जब वह खाना खा चुका तो वह नियम के अनुसार अपना वाद्य बजाने लगा। वे छहों औरतें बैठकर संगीत सुनने लगीं और पूरा होने पर जो खाना बचा था अपने पतियों के लिए ले गयीं। जब उन्होंने यह देखा, बड़े भाइयों ने हल चलाने जाने से उसे रोक दिया और घर में ही रहने को कहा। किन्तु घर में भी लड़का संगीत बजाता था और औरतें बैठकर सुनती थीं, और इस कारण उनके पतियों को खाना ले जाने में देर होती थी।

''अन्त में सबसे बड़े भाई ने कहा, 'यह बदमाश है, इसे हम बाहर निकाल दें।' उन्होंने उससे कहा, 'निकल जाओ, दूर चले जाओ।' लड़का जंगल में चला गया; वहाँ उसने देखा वटवृक्ष पर एक चिड़िया बैठी है। उसने चिड़िया की तरफ निशाना साधा और उसके शरीर में एक पत्ती घुसा दी, जिससे कि चिड़िया और पत्ती दोनों साथ में ज़मीन पर गिर पड़े। इस पत्ती पर लिखा था, 'जब पत्ती और चिड़िया एक साथ गिरेंगे, शिकारी राजा बनेगा।' जब उसने यह पढ़ा लड़का पत्ती और चिड़िया को लेकर आया और अपने भाइयों को दिखलाया, उन्होंने कहा, 'भले ही तुम राजा हो, परन्तु हम तुम्हें अपने घर में नहीं चाहते हैं। निकल जाओ।'

''लड़का फिर से जंगल में चला गया। और चलता ही गया, चलता ही गया, चलता ही गया, अन्त में एक पहाड़ी पर उसे एक बाघ मिला जो हल जोत रहा था। जिसके हल के जुए में दो हाथी जुते थे। लड़के ने कहा, 'तुम निश्चित ही विशिष्ट व्यक्ति हो जिसके हल में हाथी जुते हैं'। बाघ ने कहा, 'नहीं, मुझसे भी महान एक है; वह लिंगो है'। फिर लड़के ने कहा, 'किन्तु मैं लिंगो हूँ'। बाघ ने कहा, 'मैं कैसे मानूँ यह? यदि लिंगो मुझे द्वन्द्व-युद्ध में हरा दे, तब मैं उसे लिंगो की तरह जानूँ।' फिर दोनों के बीच द्वन्द्व हुआ और बाघ को फेंका गया, और वह लड़के का सेवक बन गया।

''और फिर वे आगे चलते गये, चलते गये, चलते गये उस जंगल में जब तक कि उन्होंने सड़क के बीच एक विशाल राक्षस को लेटे हुए नहीं पाया जिसका मुँह खुला हुआ था; उसकी ठोढ़ी ज़मीन पर थी और उसका सिर आसमान में था। बाघ ने लड़के से कहा, 'यदि तुम इस राक्षस को पार कर जाओगे तब तुम सचमुच राजा होंगे।' किन्तु लिंगों ने कहा, 'मैं कैसे पार जा सकता हूँ? मैं सिर्फ़ एक लड़का हूँ।' बाघ ने कहा, 'एक तीर हवा में चलाओ, जब वह आसमान में ही हो तब उसे दूसरे से बीध डालो और फिर एक दूसरा उस पर चलाओ, और फिर एक दूसरा, और फिर एक दूसरा, जब तक कि तीरों की एक सीढ़ी न बन जाओ, जिस पर चढ़कर तुम उस पार जा सकता हो।' तब उस लड़के ने अपना धनुष उठाया और एक के बाद एक तीर छोड़े जैसा बाघ ने कहा था। उसने अपने कमर पर एक रस्सी बाँधी और बाघ उससे चिपक गया, वह फिर तीरों की इस सीढ़ी से महापूरब की ओर चढ़ गये।

''बाघ ने लिंगो से कहा, 'वहाँ महापूरब बैठा हुआ है; जाओ और उससे मिलो'। तब लिंगो वहाँ गया और महापूरब को जोहार किया और कहा, 'वटवृक्ष की पत्ती पर यह लिखा हुआ था कि मैं राजा बनूँगा, किन्तु यह कैसे हुआ?' महापूरब ने कहा, 'पहले तुम जाओ और बारह वर्ष प्रायश्चित्त में गुज़ारो। एक अकेली पहाड़ी पर अकेले रहो और मेरे सम्मान में अपना संगीत बजाओ। तब तुम राजा होंगे और मैं अपनी बेटी को तुम्हें पत्नी की तरह दूँगा। किन्तु पहले तुम्हें उस राक्षस को मारना है।'

''लिंगो आकाश से नीचे आया और उसने हज़ारों तीर राक्षस पर छोड़े जिससे वह गिर गया। फिर वह दूर चला गया एक अकेली पहाड़ी पर घर बनाया, जहाँ पर वह अठारह वाद्य यंत्रों को एक साथ बजाता था। यह ध्वनि सुनकर आसपास के गाँव के लड़के-लड़कियाँ वासना से भर गये और उसकी तरफ दौड़े और हर रात को वे सोने और खेलने उनके घोटुल में आने लगे, जिसे लिंगों ने बनाया था।

''हर दिन लिंगो अपने माता-पिता के घर खाना खाने जाता था। माता-पिता ने अपने बहुओं से उसके लिए उत्तम भोजन का प्रबन्ध करने को कहा, और पूरे प्यार के साथ उसे हर चीज़ दी। उसके सारे भाई फिर से ईर्ष्या से भर गये और उससे कहा उनके खेतों में हल जोतने के लिए। तब लिंगों ने दो भैंसे लिये और उन्हें अपने कौपीन से हड़काता हुआ ले चला। फिर वह नंगा ही उस पाट पर चढ़ गया और मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के लिए भैंसों को बाँधकर खेतों के चारों तरफ घुमाने लगा।

''जब वह भैंसों को वापस ला रहा था। उसकी मुलाक़ात अपनी भाभियों से हुई, जो उसके लिए खाना ला रही थीं... वह पाट से नीचे उतरा, कपड़े पहने और एक घण्टे तक उनका मनोरंजन करता रहा और औरतों को फिर देरी हो गयी।

''छहों भाइयों ने एक दूसरे से कहा, 'निश्चित ही यह आदमी हमारी स्त्रियों के साथ कुछ शैतानी करता है, नहीं तो क्यों उन लोगों को देरी होगी?' उन्होंने कहा, 'इन स्त्रियों को देरी से आने के लिए हम लोग मारेंगे'। अब ये औरतें घबरा गयी थीं और उन्होंने अपनी छातियों को काँटों से छीला और अपने सिर पर धूल फेंकी, और वे सो गयीं। जब उनके पति लौटे, उन्होंने पाया कि घर ख़ाली है और खाना तैयार नहीं है, किन्तु उनकी स्त्रियाँ ज़मीन पर सोई हैं, जब उन्होंने उनको उठाया और पूछा कि क्या माजरा है, उन स्त्रियों ने जवाब दिया, 'देखो उस दुष्ट ने हमारे साथ कैसा बर्ताव किया है, क्योंकि वे लिंगो से इस बात के लिए नाराज़ थीं कि उसने उनके साथ संभोग नहीं किया।''

''भाइयों ने दो बार लिंगो को मारने की कोशिश की थी किन्तु निष्फल रहे, तब उन्होंने एक दूसरी युक्ति अपनायी।

''इस बार छहों भाइयों ने एक दूसरे से कहा, 'हम लिंगो से कहेंगे कि वह क़सम खाये कि हमारी पत्नियों के साथ वह पवित्र था या नहीं। यदि वह कहता है वह था, तब हम उससे अग्नि परीक्षा के लिए कहेंगे। हम एक लोहे के कड़ाह में तेल भरेंगे, उसके नीचे आग लगायेंगे और जब तेल उबलने लगेगा उसमें हम उसे फेंक देंगे और ढक्कन बंद कर देंगे। यदि वह सच में पवित्र है, हम उससे कहेंगे, उस पर आग का कोई असर नहीं होगा'।

''अगले दिन छहों भाइयों ने बारह गाँव के लुहारों को बुलाया और विशाल लोहे का कड़ाह और उसका ढक्कन बनाने को कहा। उसके नीचे उन्होंने आग लगायी, और उसमें तेल भर दिया। जब तेल गरम हो गया लिंगो उसमें बैठ गया और उन्होंने ऊपर से ढक्कन लगा दिया। जल्दी ही वह बहुत गरम हो गया कि कोई भी उसके पास नहीं पहुँच सकता, किन्तु अन्दर ठण्डा था और अग्नि से अठारह वाद्यों का संगीत भाइयों ने निकलता हुआ सुना।

''तब छहों भाई डर गये। उन्होंने कहा, 'तीन बार हमने उसको मारने की कोशिश की, अब वह निश्चित ही हमें मार डालेगा। अब हमें उसका चेहरा नहीं देखना चाहिए।' और लिंगो ने उससे कहा, 'आज के बाद मैं तुम्हारा चेहरा नहीं देखूँगा।' सो आज तक लिंगोपेन का चेहरा उसके भाइयों से विपरीत दिशा में रहता है।

''इस पौराणिक कथा के कई अन्त हैं। एक वर्णन में लिंगो आसमान में विलीन हो जाता है और भगवान की बेटी से शादी करता है। दूसरा उसका शादी कांकेर की ब्राह्मण लड़की से करवाता है, जो उसके

माँ के भाई की बेटी है। 'किन्तु जब लिंगो खेत पर जाता है और एक टुण्ड्रा उसे अपने प्रेम के जाल में फँसाकर दूर ले जाता है, उसका एक बच्चा है और वह लड़की उसे झूले में छोड़कर चली जाती है और जब बच्चा रोने लगता है लिंगो देखने आता है कि माजरा क्या है। वह पाता है कि उसकी पत्नी चली गयी है और उसके पदचिह्नों के पीछे-पीछे वह जंगल में जाता है और उसे एक गड्ढे में मार डालता है। सो लिंगो की पत्नी देवी बन जाती है और तेवड़ा में रहने चली जाती है। इसके बाद लिंगो सात स्त्रियों से विवाह करता है। एक तीसरा वर्णन है बैनूर का, जो लिंगो को वापस घोटुल में रहने भेज देता है। चारगाँव में कहानी यह है कि उसके भाई उसे मारने की बजाय उसे बाहर निकाल देते हैं और लिंगो सेमरा के निकट जंगल में अकेला चला जाता है : वह कुर्लू वृक्ष के नीचे झोंपड़ी बनाता है और अपने वाद्यों को बजाते हुए वहाँ रहने लगता है।''[२]

एक दूसरे आख्यान के अनुसार बस्तर के राजा डोकरा के पाँच बेटे थे और लिंगो उसमें सबसे छोटा था। चार भाइयों की शादी समर्थ डोकरा की चार बेटियों से होती है, जिनकी और सात अनब्याही बेटियाँ हैं। इनकी शादी वह लिंगो से करना चाहता है, किन्तु लिंगो मना कर देता है। लिंगो के भाई उनकी शादी की ज़िम्मेदारी लेते हैं और दूल्हे की खोज में गाँव-गाँव भटकते हैं। कछुए की पीठ पर सवार ये लड़कियाँ, जो भी हो, इनकी कभी शादी नहीं होती और बाद में वे गाँव की देवियाँ बन जाती हैं, तालोरमुच्छ।

जब भाई बाहर गये हुए थे, उनकी पत्नियों को बच्चों की लालसा हुई। उन्होंने एक बड़ी ककड़ी ली और उसे झूले में रख दिया, जैसे कि वह एक बच्चा है, उन्होंने कादरेंगल (शिकार का देवता) को अपने पतियों की खोज में भेजा, जो तालोरमुच्छ के प्रेम में पड़ गया और अपना कार्य भूल गया।

जब भाई लौटे, उन्होंने पाया कि उनकी पत्नियाँ झूले से खेल रही हैं और उन्होंने समझा कि झूले में जो बच्चा है वह उनकी अनुपस्थिति में लिंगो से पैदा हुआ है। उन्होंने लिंगो को उबलते तेल में फेंक दिया, किन्तु लिंगो को कुछ नहीं हुआ। वह उसमें से चमकता हुआ और दैदीप्यमान निकला। सातों लड़कियाँ यह देखकर आसक्त हो गयीं और उन्होंने फिर लिंगो से विवाह करने के लिए प्रार्थना की, किन्तु लिंगो ने उन पर अनुकम्पा नहीं की। उसने घर छोड़ दिया और वह बाहर निकल गया। जब वह सैमूर गाँव पहुँचा, वह अब और नहीं चल सकता था और उसने वहाँ शाश्वत समाधि ली।[३]

लिंगो मूड़ियाओं के लिए भगवान शंकर है और सबसे बड़ा देवता। लिंगो सृजनकर्त्ता और अंगा सृजित है। लिंगो अंगा में रहता है। अंगा के पास भी बस्तर के आदिवासियों के वंश-देवताओं का भण्डार है। *अंगा का एक विशिष्ट रूप है, जो किसी प्रेरणा-प्राप्त कलाकार द्वारा बनाया गया है, और परम्परा द्वारा पवित्र किया गया है।*

अंगा साजा (Terminalia Tomentosa) की लकड़ी का बनता है। तीन मजबूत खम्बों को आपस में जोड़ा जाता है। आड़े खम्बों से और उन्हें बाँधा जाता है। मोरपंख के गुच्छे जोड़ों पर बाँधे जाते हैं। चाँदी के सिक्के दो खम्बों के ऊपर ठोक दिये जाते हैं, जो निश्चित ही अंगा को कन्धों पर उठाकर ले जाने के लिए बने हैं। बीच के खम्बे पर अंगा खुद बैठता है, जिसका अगला हिस्सा आगे की तरफ उठा हुआ है एक विचित्र कोण से, फिर पुनः उसे मोड़ा गया है खम्बे के समानान्तर एक सिर की शक्ल देते हुए, जो अंगा को आगे जाने की ज़बरदस्त कोशिश करता हुआ रूप है। एक चाँदी का साँप का फन सिर पर जोड़ा जाता है। चाँदी के कड़े खम्बे के दोनों तरफ ठोके जाते हैं, आगे के हिस्से में दोनों तरफ घण्टियाँ लटकायी जाती हैं, सूर्य और चन्द्रमा के प्रतीक चाँदी में बनाकर यहाँ लगाये जाते हैं। इन खम्बों पर ज्यॉमितिक अलंकरण तराशा जाता है। गहरे काले भूरे रंग से पॉलिश किया जाता है, अंगा की उपस्थिति शक्तिशाली है। वह देखने वाले के ऊपर प्रभाव डालता है, और इसको उठाने वाले व्यक्तियों को हाल आ जाता है, वे इन्हें कन्धे पर उठाये बड़ी तेजी से घूमते हैं, और आसपास देख रहे लोगों के भीतर आतंक फैलता है।

अंगा एक कलाकृति है। यदि आप जादुई शक्तियों पर भरोसा करते हैं। यह उसका प्रतिनिधित्व करता है और उसकी मिसाल है, एक शिल्प की तरह यह आपसे कला के जादू की तरह मिलता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. द सेवेज माइंड, क्लॉड लेवि-स्ट्रॉस, द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, १९७३.

२. द मूड़िया एंड देयर घोटुल, वेरियर एल्विन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४७.

३. रेलोया रे रेलोया, हीरालाल शुक्ल, साँची प्रकाशन, भोपाल, १९८२.

स्मारक खाम्ब

धार, कुक्षी के पास लुनेरा में हज़ारों भील आदमी, औरतें और बच्चे साल में एक बार इकट्ठा होते हैं, उस भील नायक की याद में जो किसी मुठभेड़ में मारा गया है और जिसकी गाथा की स्थापना की जा रही है। गाथा या स्मारक पट्टिका भीलों द्वारा उसकी स्मृति में लगायी जाती हैं जो किसी दुर्घटना या आकस्मिक मौत से मारा गया है। स्त्रियों के लिए लगायी जाने वाली स्मारक पट्टिका को सती कहते हैं। इस तरह की स्मारक पट्टिकाएँ भीलों के देहात में समूह के रूप में फैली पड़ी हैं और कहीं-कहीं निर्जन एकान्त में सड़क किनारे रहस्यमय सी दिखती हैं, किसी आम के वृक्ष के नीचे या महुआ के या वटवृक्ष के नीचे या कुँओं के किनारे। हालाँकि भील अपने चरित्र में बहुत ही व्यक्तिवादी होते हैं, अकेले घरों में रहते हैं। बिखरे हुए गाँव के घरों के बजाय, और इनकी जातीय स्मृति बहुत-से सामूहिक अनुष्ठानों के द्वारा जीवित है और गाथा और सती मृतक और जीवितों के बीच चाक्षुष कड़ी की तरह है। कोरकू जाति में लकड़ी के स्मारक खाम्ब लगाये जाने की परम्परा है और भैंसों के सींग वाले तथाकथित उनके दर्शनीय शिरस्त्राण के कारण प्रसिद्ध माड़िया

भी लकड़ी के स्मारक बनाते हैं। कोरकू खाम्ब को शहडोली मुण्डा कहा जाता है और माड़िया को मुण्डा या खाम्ब। इन सबमें सबसे ज़्यादा विस्तार में काम किया हुआ यद्यपि अनगढ़ तराशा हुआ होता है, माड़िया खाम्ब है। ऊँचाई में लगभग बारह फीट, जबकि भील गाथा या सती चार से छः फ़ीट ऊँचे होते हैं।

भील अपने स्मारक पट्टिकाओं को खुद नहीं बल्कि हिन्दू जाति के मूर्तिकारों से बनवाते है, जो भी है कुछ कम या ज़्यादा, इनको भीलों के निर्देश पर ही उनकी इच्छा के अनुसार तराशा जाता है। इन स्मारक पट्टिकाओं में बनायी गयी मुख्य आकृति पारम्परिक रूप पहले से तय रहता है और सिवाय इसके कि जब कोई ग्राहक उसमें कुछ जोड़ना चाहे और तराशने वाला अपनी कल्पना से उसे प्रभावी बनाये। यह आकृतियाँ गाथा के लिए : एक घुड़सवार आदमी राजा की तरह कपड़े पहने बन्दूक और तलवार लिये ऊपर के हिस्से में और एक सईस घोड़े को नीचे पकड़े हुए खड़ा रहता है; एक स्त्री पानी लाते हुए और दूज का चाँद और सूरज; और सती के लिए : पारम्परिक वस्त्रों में खड़ी एक स्त्री होती है और उसके आभूषण एक बावड़ी के पास; छोटे बच्चे के लिए : छोटी गाथा बनायी जाती है जिस पर एक छोटे बच्चे की आकृति होती है जो हाथ जोड़े हुए है। इन गाथाओं पर रंग भी किया जाता है। पहले के समय में मिट्टी के रंगों का ही इस्तेमाल होता था, अब वे चमकदार एनेमल (enamel) रंगों का इस्तेमाल करते हैं। मुश्ताक़ ने एक गाथा के बारे में बतलाया जिसमें एक बोतल और एक गिलास भी बना है और बताया जाता है कि मरने वाला भील शराबी था। एक दूसरी गाथा में एक मनुष्य बाघ से लड़ रहा है क्योंकि मरने वाला भील बाघ द्वारा मारा गया था। यदि मरने वाला भील धनुर्विद्या का विशेषज्ञ है तब धनुष और तीर हमेशा ही बनाये जायेंगे। कुछ जाने-माने गाथा तराशने वालों के नाम हैं- आनन्दराव चौधरी, भाम्बी कुक्षी से, लक्ष्मण भाई सरगाड़े कुक्षी से, नाथूबाई सरगाड़े बाघ से, कुन्दनलाल भूटा और मदनसिंह राठौर कुक्षी, धार से और मोहन माँगीलाल भाम्बी जोबट से।

कोरकू में *शहडौली मुण्डा* सागौन (Tectona Grandis, Linn) की लकड़ी से बनाया जाता है। मरने वाले के रिश्तेदार सुबह जंगल चले जाते हैं वृक्ष को चुनने के लिए और फिर उसके नज़दीक कुछ अनाज रखकर और उसके चारों तरफ धागा बाँधकर उसे जगाते हैं। दूसरे दिन सूर्योदय पर, मृतक का परिवार, गाँव के अन्य सदस्यों के साथ उस पेड़ पर पुनः जाते हैं और मुर्गी की बलि चढ़ाते हैं और उसकी पूजा करते हैं। पेड़ की एक शाखा काटी जाती है और उसे कपड़े के एक टुकड़े पर रखा जाता है उसे ज़मीन पर गिरने नहीं दिया जाता है। उसके ज़मीन पर गिरने की प्रक्रिया को अमांगलिक माना जाता है। लकड़ी को घर लाया जाता है और गाँव के बढ़ई से खाम्ब बनाने को कहा जाता है। मकड़ी, कुँआ, दूज का चाँद, सूरज, घुड़सवार, ओझा और ओझी (भोग्या और भोगी भी कहा जाता है) की आकृतियाँ तराशी जाती हैं। उसके बाद खाम्ब एक समारोह में ले जाया जाता है उस जगह, जहाँ मृतक को दफ़नाया गया है, और उसकी

स्थापना की जाती है। एक बकरी की बलि दी जाती है और भोज दिया जाता है। यह मान्यता है कि मरे हुए का भूत पुनर्जन्म के लिए तभी मुक्त होता है जब स्मारक खाम्ब लगा दिया जाता है।

माड़िया स्मारक खाम्ब वृक्ष के पूरे तने पर बनाया जाता है और ज़्यादा विस्तार लिये होता है। कुल्हाड़ी से काटे गये खुरदरे, पेड़ सीधे खड़े किये जाते हैं, जिसके शिखर पर चिड़िया, त्रिशूल, घड़ियाल के सिरों की आकृति तराशी जाती है या बर्फ़ी जिन्हें ऊपर क्रॉस की तरह लगाया जाता है। इन्हें लाल, नीला, पीला, हरा और सफ़ेद रंग पोता जाता है। खाम्ब के ऊपर से नीचे तक, चारों तरफ़ मरने वाले के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का चित्रण किया जाता है। रूपंकर के संग्रह में जो खाम्ब है, वह ख़ासतौर से बस्तर के किलेपाल गाँव से माड़िया ने संग्रहालय के लिए बनाया है, एक काल्पनिक मृतक की याद में है और उसमें निम्नांकित चित्रण है : ऊँट, क्योंकि मूर्तिकार ने उसे किसी फ़िल्म में देखा था; गूज (मधुमक्खी); स्त्री चावल की एक टोकनी और सल्फी (Toddy) का एक बर्तन लिये एक शादी में जा रही है; पहले का कोई मनुष्य; तोता और कठफोड़वा; दो बन्दर झगड़ते हुए; घोड़ा सवार के साथ; दो मछलियाँ; दो माड़िया शादी के लिए शराब ले जाते हुए; दो ढोलक दो माड़िया नर्तकियों के साथ; दो माड़िया नर्तक ढोल के साथ; हाथी पर बैठा हुआ एक आदमी एक हाथ में छाता लिये हुए दूसरे हाथ में उल्लू, एक साँप; भैंसासुर; गेंडा, जगदलपुर की एक फ़िल्म में देखा गया; केंकड़ा; बाघ; घड़ियाल; चन्द्रमा; कछुआ; मुर्गी; मोर; कुत्ता; बिच्छू; बगुला; चावल बोने के औज़ार; मछली; ज़मीन जोतता मनुष्य, घुड़सवार उसके खेत को जाँचता हुआ; चीतल; लोमड़ी; संभोग करते कुत्ते; ढका हुआ बर्तन; बाघ का सिर।

माड़िया खाम्ब मृतक के जीवन के मूक गवाह हैं, सामान्य तौर पर इन्हें ऐसी जगह लगाया जाता है जहाँ इसे हर आने-जाने वाले उन्हें देख सकें और जीवन-मृत्यु के गूढ़ प्रश्नों पर मनन कर सकें। उनमें से कई स्वप्रेरणा से तराशे गये हैं, जो कि श्रद्धायुक्त हैं। उनका बैलूरपन उन्हें जीवनदायी कलात्मक शक्तियों से वसीयत करता है।

...

गढ़वा और झारा

परिवार का सबसे युवा और सबसे आलसी लोककथाओं की दुनिया में निश्चित ही विलक्षण भी होगा, होरो झारा, रायगढ़ के बैगान्दी गाँव में पीतल की ढलाई करने वाला होरो झारा हमें यह बतला रहा था : एक समय में बारह भाई जंगल के एक साफ़ क्षेत्र में एक साथ रहते थे। जब सारे भाई मेहनत कर रहे थे सबसे छोटा भाई आलसी और गँवार था और कुछ नहीं करता, घर पर बैठा रहता। भाइयों की सारी समझाइशों और खुशामदों का भी उस पर कोई असर नहीं होता। एक दिन जब भाइयों ने गुस्से से उसे डाँटा, वह रोने लगा और उसके मुँह से लार ज़मीन पर गिरी। ज़मीन गीली हो गयी। वह उसे गूँथने लगा

और लक्ष्मी की एक आकृति बनायी। उसका एक भाई जंगल में पत्तियाँ इकट्ठा करने गया, दूसरा भेड़ को चराने ले गया, जबकि तीसरा नदी को गया और रेत में से पीतल के टुकड़े बटोरकर लाया। जब अगले दिन सारे भाई काम के लिए बाहर चले गये, सबसे छोटे ने सोचा कि उसे मिट्टी की इस आकृति को पीतल में ढालना चाहिए। उसने अपने भाइयों से बकरी देने को कहा, जिसे उसने मार दिया और उसकी चमड़ी से धोंकनी बनायी। फिर उसने आग जलायी और अपनी मूर्ति को पीतल में ढाला। चूँकि वह धातु में ढालने वाला पहला व्यक्ति था इसलिए उसे ढारा कहा गया। समय के अन्तराल में ढारा झारा बन गया और इस तरह झारा अस्तित्व में आया।

रसेल और हीरालाल कहते हैं, सोन झारा या झारा गोंडों के ही वंशज हैं और सम्भवतः उन्हें सोनझारा इसलिए कहा जाता है कि किसी समय वह नदी के पाट की रेत में से सोना इकट्ठा करते थे।[9] जो भी है, रायगढ़ के झारा सोनझारा से किसी भी तरह का सम्बन्ध नकारते हैं और कहते हैं कि वे ओड़िया मलार के वंशज हैं। मलार भी कहा जाता है कि गोंड के वंशज हैं, तो इस तरह झारा और सोनझारा के बीच कोई सम्बन्ध हो सकता है। होरो के द्वारा बतलायी गयी कहानी में, एक भाई नदी के पाट पर रेत से पीतल इकट्ठा करने जाता है। यह शायद उसी कड़ी की तरफ इशारा है। बस्तर के गढ़वाओं के विपरीत झारा घुमक्कड़ समुदाय है और हाल ही में गाँव में रहना शुरू किया है। गढ़वाओं का पीतल का काम सभी जगह जाना जाता है, झारा का काम इन्हीं दिनों प्रकाश में आया है शायद रूपंकर के प्रयासों के कारण। ढालने की पद्धति झाराओं की गढ़वा के समान ही है। जबकि उनकी आकृतियाँ गढ़वाओं से स्पष्ट अन्तर लिए है। पद्धति, इनकी धुँअन की पद्धति है, या मोम के नष्ट होने की पद्धति, जिसे ढोकरा पद्धति की तरह भी जाना जाता है। झारा मधुमक्खी का मोम का इस्तेमाल नहीं करते जैसे गढ़वा करते हैं किन्तु धुँअन का करते है, सराय (Boswellia Serrata) वृक्ष से निकले हुए गोंद का और वे मोम के बारीक धागे बनाने के लिए छलनी का भी इस्तेमाल नहीं करते, बल्कि वे उसे अपने हाथों से बनाते हैं। धुँअन को तेल के साथ मिलाया जाता है और फिर पीतल के बर्तन में एक ख़ास गाढ़ेपन तक उबाला जाता है। इसके बाद उसे कपड़े से छानकर उसे ठण्डा करने के लिए एक दूसरे बर्तन में भरा जाता है, जो पानी से भरा हुआ रहता है। किनारे बारीक पिसी मिट्टी से बनाये जाते हैं और फिर उन्हें छाँव में सुखाया जाता है। जब यह पूरी तरह सूख जाता है, धुँअन को गरम करके लचीला बनाया जाता है, फिर उसे चारों ओर लगा दिया जाता है। सजावट और ज़रूरी जोड़ धुँअन में बनाये जाते हैं और फिर जोड़ दिया जाता है। झारा इस धुँअन को अपने हाथों से खींचकर मोटे धागे की तरह बना लेते हैं। बारीक मिट्टी की एक परत गोबर के साथ मिलाकर इस धुँअन के ऊपर चढ़ायी जाती है। मिट्टी का बना एक कटोरा एक तरफ जोड़ दिया जाता है और इस तरह साँचा तैयार किया जाता है। यह कटोरा धातु को रखने के लिए है। जब साँचा पूरी तरह से सूख जाता है उसे आग में उलटा रख दिया जाता है उसकी सारी धुँअन को बाहर निकालने के लिए। जिसे फिर से इस्तेमाल के

लिए एक अलग पानी से भरे बर्तन में इकट्ठा कर लिया जाता है। धातु के छोटे-छोटे टुकड़े मिट्टी के कप में रखे जाते हैं, जो साँचे के मुख से जुड़ा हुआ है और फिर कप को मिट्टी से बंद कर दिया जाता है। पहले साँचे को भट्टी में उलटा रखा जाता है जिससे धातु पिघल सके। एक बार जब धातु पूरी तरह से पिघल गयी है साँचे को सीधा कर दिया जाता है जिससे कि धातु उन सब जगहों पर जा सके जो धुवन से खाली हुई है। जब साँचा ठण्डा हो जाता है उसे तोड़ते हैं और धातु की मूर्ति बाहर निकाली जाती है, साफ़ किया जाता है और पॉलिश की जाती है।

बर्तनों के अलावा, झारा चिड़ियाओं की आकृति बनाते हैं और जानवरों की। हिन्दू जाति और आदिवासी देवी-देवताओं की, गढ़वाओं के विपरीत झारा के शिल्प भारी होते हैं, कच्ची शक्ति से स्पन्दित हैं।

होरो, गोविन्द, लयान्दे, मिलाओ और वीरसिंह और भी कई रायगढ़ के झारा धातु शिल्पी अपने कला में सिद्धहस्त हैं और बस्तर के गढ़वा धातु शिल्पियों जैसे जयदेव बघेल और सुखचन्द के बरक्स ज़्यादा ध्यान के योग्य हैं।

गढ़वा धातु शिल्पियों के विशेषता यह है कि वे कल्पना की ऊँचाईयों पर भ्रमण करते हैं, उन्हें आसानी से अपने काम में ले आते हैं। झारा के शक्तिशाली और अनगढ़ कलाकृतियों की तुलना में, गढ़वा मूर्तियों में भव्यता है और वे विस्तार और विरूपण के सिद्धान्तों का पालन करते हैं। भाव भरे प्रभाव के साथ। आदिवासियों की ज़रूरत के अनुसार वे छोटी-छोटी प्रतिमाएँ उत्कृष्ट सुन्दरता के साथ बनाया करते हैं, उन्हें इन दिनों बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार मिला हुआ है और अब वे बड़ी आकृतियाँ बनाते हैं। उनकी कला पर बाज़ार का कोई अपमानसूचक प्रभाव नहीं दिखाई देता है, बाज़ार उनकी कल्पना को और ऊँचाइयों तक उकसाने का काम करता है।

गढ़वा बस्तर के घसिया कहे जाते हैं और एल्विन उन्हें सिर्फ़ घसिया कहते हैं और गढ़वा शब्द पारिभाषिक शब्दावली में खोजने पर नहीं दिखायी देता। रसेल और हीरालाल ने घसिया को द्रविड़ियन मूल का शब्द कहा है, जो बस्तर में रहते हैं और धातु का काम करते हैं। जैसा भी हो, आज गढ़वा इस बात को लेकर संवेदनशील हैं और दावा करते हैं कि वे अपने हक़ में एक आदिवासी समुदाय हैं। यह निश्चित हो सकता है, जैसे उनके रीतिरिवाज हैं, विश्वास हैं, देवी-देवता एक हैं, उसी क्षेत्र के अन्य आदिवासी लोगों की तरह। नवल किशोर शुक्ल, एक युवा शोध सहायक ने एक कहानी बतलायी, जो उन्होंने गाँव के बनिया सुखचन्द से सुनी। सुखचन्द के अनुसार, यह उसके दादा और दादी सुमरीबाई के समय में हुआ था। सुमरीबाई महाराज के घर काम करती थीं। एक दिन एक व्यक्ति महाराज के लिए पायल भेंट में लाया, महाराज उस गहने की सुन्दरता से बहुत प्रभावित हुए और उसे गढ़वा कहा, जिसका अर्थ वह जो सुन्दर गहने बनाता है।[२] कुछ कहते हैं कि गढ़वा सदियों पहले महाराजा द्वारा मूलतः उड़ीसा से लाये गये। वे पाँच परिवारों को दन्तेश्वरी माता की मूर्ति बनाने के लिए लाये थे। ये परिवार बस्तर में फैल गये। जो भी हुआ

हो, गढ़वा अपने को आज बस्तर के आदिवासी कहते हैं और जयदेव बघेल उनके कला की उत्पत्ति के बारे में यह बात बतलाते हैं। जब जयदेव सोलह साल का था तब उसके पिता उसे टोंडाबेड़ा गाँव रिश्तेदारों से मिलाने ले गये, जो कि बस्तर के अबूझमाड़ क्षेत्र में ओरछा से दस किलोमीटर दूर था। वहाँ उन्हें अबूझमाड़िया के देवता कोल्हादादो मिले, जो कि गढ़वा के भी देवता हैं। उस क्षेत्र में कई सिरहा और गुनिया से मिलने के बाद उसने गढ़वा कला की उत्पत्ति की यह कहानी जानी। एक बार एक शिकारी पहाड़ पर पहुँचा जहाँ उसे जली हुई चट्टान मिली। गर्मी के कारण चट्टान फट गयी थी और धातु का एक बड़ा टुकड़ा ज़मीन पर गिर गया था। शिकारी ने उसे उठा लिया और अपनी गुफा में ले आया। लोगों ने उस विचित्र चमकती हुई चीज़ को देखा और विस्मय से भर गये। उन्होंने उससे कहा कि वह उनके लिए भी धातु का टुकड़ा लेकर आये। शिकारी फिर से पहाड़ी पर गया और चट्टान की दरारों में देखा, और धातु की एक पतली-सी धार को पाया। उसने धातु को खोदा और उसी तरह के विचित्र आकारों को पाया जो उस पर दबाव से बने हुए थे। वह उस चट्टान की दरार में उतरा और एक मधुमक्खी का छत्ता पाया, जिस पर वैसे ही धातु की तरह के आकार थे। यह मधुमक्खी का छत्ता मिट्टी से छपा हुआ था, उसने लकड़ी के टुकड़े इकट्ठे किये, उससे चट्टान के ऊपर रखा और आग लगा दी। अगले दिन उसे दूसरा धातु का टुकड़ा मिला, जिस पर उसी तरह की आकृतियाँ बनी हुई थीं। इस महान उपलब्धि पर उसने सोचा माता देवी के बारे में और धातु में पहली आकृति माता देवी की बनायी। इस तरह गढ़वा की कला पैदा हुई। बाद में गढ़वाओं ने अन्य देवताओं जैसे कोल्हटदेव, बूढ़ादेव, भीमादेव, भैरमदेव, कोटगुन्दगीन माता देवी, मावली देवी, बूढ़ी माता, दन्तेश्वरी देवी, परदेसी माता आदि-आदि की मूर्तियाँ बनायीं। इन आकृतियों को आदिवासी गाँव में स्थापित किया जाता है और स्थापना के वक़्त गाँव की देवी गाँव के सिरहा में प्रवेश करेगी और बतायेगी कि आकृति अधिकृत रूप से गढ़ी गयी या नहीं? जयदेव कहते हैं कि आदिवासियों के बीच ऊँची और नीची जाति का कोई भेद नहीं था और आज भी नहीं है, और गढ़वा गोंड के ही वंश के हैं, जैसे माड़िया और मूड़िया हैं।[३]

ढलाई की गढ़वा पद्धति इस प्रकार है : मध्य भाग काली मिट्टी से बनाया जाता है। काली मिट्टी, जो खेत से लायी जाती है और चावल के भूसे के साथ मिलाकर उसे धूप में सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। कोर के सूख जाने पर नदी के पाट से लायी मिट्टी को गोबर के साथ मिलाकर उसके ऊपर लगाया जाता है। जब कोर सूख जाती है तब फली की पत्तियों से उसे रगड़ा और घिसा और चमकाया जाता है। यह इसलिए किया जाता है कि जब उस पर वैक्स लगाया जाये तो वह निकल न जाये, इस तरह कोर की सतह अवधारक हो जाती है। इसके बाद उस पर मधुमक्खी के छत्ते का मोम लगाया जाता है। मोम को पहले एक बर्तन में गरम कर पिघलाया जाता है और फिर पानी से भरे बर्तन में उसे साफ़ करने के लिए डाला जाता है। इस साफ़ मोम को एक छलनी में दबाया जाता है जिससे लम्बे धागे उसके बन जाते हैं। इन मोम धागों को उस कोर के चारों तरफ धीमी-धीमी चोट के साथ चढ़ाया जाता है उसकी आकृति को बचाते हुए।

मोम में ज़रूरी अलंकरण जोड़े जाते हैं। पूरी मूर्ति को फिर से नदी की मिट्टी की एक परत से ढका जाता है, जो गोबर और कोयले के चूरे के मिश्रण से तैयार की गयी है। नीचे की तरफ एक छेद छोड़ दिया जाता है। दीमक की बांबी की मिट्टी और चावल के भूसे का मिश्रण इस कोर के ऊपर मोटा-मोटा चढ़ाया जाता है, फिर नीचे की ओर मिट्टी का एक कप ज़रूरी अनुपात की धातु के लिए, इसके नीचे जोड़ा जाता है और फिर उसे धूप में सूखने के लिए रख दिया जाता है। सूख जाने पर, धातु के टुकड़े कप में रखे जाते हैं और उसे बंद कर दिया जाता है, फिर इसे भट्टी में रख देते हैं, जिसकी परिधि लगभग एक फ़ीट की होती है और इतनी ही गहराई उसके बाद भट्टी को लकड़ी और कोयले से ढक दिया जाता है, फिर उसमें आग लगा देते हैं। ज़रूरी तापमान के लिए धोंकनी का इस्तेमाल करते हैं, एक या दो घण्टे के बाद साँचे को निकाल लिया जाता है, उसे पानी में ठण्डा किया जाता है फिर मिट्टी की सतह छीली जाती हैं।

गढ़वा को घसिया की तरह व्यवहृत करने में जो भी सामाजिक खूबियाँ रही हों, जयदेव की कहानी मूल आदिवासी कड़ी को स्थापित करती है और इस तरह धारणा को साथ लिये चलती है। बहुत-से शुद्धतावादी इस क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों से विक्षुब्ध हैं उन तेजी से बढ़ रहे गढ़वा आकृतियों से भी, जो गढ़वा कला आज दे रही है। वे आकृति की पुराने ज़माने से प्रासंगिकता बिठाने की कोशिश करते हैं और संकर नस्लवादिता के ख़तरों की बात करते हैं। वे आदिवासी संस्कृति और सभ्यताओं के बारे में अपरिवर्तनशील सिद्धान्त के सम्बन्ध में सोचते हैं। यह स्थिति कभी नहीं थी और न कभी होगी। गढ़वा कलाकार की विलक्षणता अपनी अभिव्यक्ति बदलती हुई परिस्थितियों में युगों पुरानी कारीगरी से प्राप्त करता रहेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ़ सेन्ट्रल प्रॉविन्सेज़ ऑफ़ इंडिया, आर.वी. रसेल एंड हीरालाल, कास्मो पब्लिकेशन्स, देहली, इंडिया, १९७५.

२. गढ़वा, 'कलावार्ता' में नवलकिशोर शुक्ल का लेख, नवम्बर ५०-५१, अप्रैल-मई, १९८५.

३. गढ़वा आर्ट, ओरिजन एंड डेवलपमेंट, जयदेव बघेले का चौमासा नं.-६, जुलाई-अक्टूबर, १९८६ में छपा लेख.

...

मलिक मोहम्मद जायसी

क्षितिमोहन सेन

बांग्ला से अनुवाद : महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा एवं शान्तनु बनर्जी

सृष्टि जहाँ आनन्द के लिए है, वहाँ कोई यह नहीं कह सकता कि सृष्टि एकमात्र हमारे लिए है या तुम्हारे लिए। तुम्हारी तरफ न देखने पर अगर मेरी सृष्टि का विकास न हो तो उस सृष्टि में तुम्हारा उतना ही हक़ है जितना मेरा। यदि प्रेम और आनन्द को बिलकुल छोड़कर सृष्टि सम्भव होता, तो सृष्टि का एकछत्र राज होता। लेकिन बिना आनन्द के सृष्टि कहाँ? ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम करवाया जा सकता है, स्वार्थ की पूर्ति की जा सकती है, क्रान्ति हो सकती है, किन्तु सृष्टि नहीं हो सकती। जहाँ कहीं भी यथार्थ, सुन्दर और जीवन्त सृष्टि है, वहाँ देखा जा सकता है कि जैसे सृष्टि एक अनन्त पंखुड़ी वाला कमल है। अपने नाल पर स्थित वह कमल प्रकाश की तरफ देखते हुए, उसकी मदद से ही पंखुड़ियों को फैलाकर अपने भीतर में स्थित अमृतरस की मधुर सुरभि को चारों दिशाओं में पूरी तरह से फैला देता है। विश्वदेवता के अनन्त मन्दिर के अन्दर जीवन्त और निस्तब्ध धूपदानी के निःशब्द आरती की तरह वह कमल अपने आत्मिक आनन्द के सार के माध्यम से उस विराट अदृश्य देवता की पूजा और आरती करता चला आ रहा है। किन्तु यह जो कमल है, वह क्या सिर्फ़ अपनी शक्ति से अपनी पंखुड़ियों के आवरण को खोल सकता है? प्राणलोक का स्पर्श न होने से वह बिलकुल ही शक्तिहीन है।

इसीलिए हमारे देश में जो अपने हाथ से सृष्टि करते हैं, उन्हें सृष्टि का पूरा श्रेय नहीं मिलता। बल्कि श्रेय पाने का हक़ भी उनको नहीं है। माँ के स्तन में जो दूध उत्पन्न होता है, वह क्या माँ की अपनी इच्छा के अनुसार होता है? शिशु को यदि छोड़ दिया जाय, तब माँ के स्तन का वह स्तन्य संचार कहाँ चला जाता है? असली बछड़े के न रहने पर ग्वालों को नक़ली बछड़ा लाकर गाय के पास पकड़ना पड़ता है, नहीं तो स्तन की धारा किसी भी रूप में बहना नहीं चाहती। इसी तत्त्व को देखकर हमारे देश के आचार्यों ने कहा है कि सिर्फ़ सृष्टा की अपनी शक्ति से सृष्टि सम्भव नहीं हो सकती, उसके हृदय में प्रेमानन्द की एक गहरे आकर्षण की ज़रुरत होती है, कपिल आदि आचार्यों ने 'गोवत्सतर प्रवृत्ति न्यायेन' के द्वारा सृष्टि की व्याख्या की है। अर्थात् बछड़े के लिए उस बछड़े को जन्म देने वाली गाय का थान जैसे अपने से भर उठता है-ठीक वैसे।

इसीलिए छात्रों को देखते हुए आचार्यों ने कहा है- हे सौम्य ! ये जो मेरे मन की नयी-नयी अनुभूतियाँ हैं, यह सिर्फ़ मेरी नहीं हैं , क्योंकि तुम्हारे प्यासे चित्त को देखकर ये अनुभूतियाँ मुझे हुई हैं। इसलिए ये तुम्हारा भी है। चेतना के नये-नये और विविध प्रकाश के मूल में जो आनन्द है, अध्यापन के

द्वारा उसी आनन्द का ऋण वे चुकाते थे, तनख़्वाह मांगने का अधिकार उन्हें नहीं था। अगर वे उन प्यासे चित्त की तरफ न देखते तो कभी भी आचार्यों को उन अनुभूतियों की प्राप्ति नहीं होतीं। प्रकाश को छोड़कर कमल सिर्फ़ अपनी शक्ति से अपने आवरण को भी खोल पाने में सक्षम नहीं होता। जिस प्रकार गर्भाशय में अवस्थित आनन्दमय चिन्मय कोष अपने आप गर्भावरण को भेदकर बाहर नहीं निकल सकता, उसी तरह अकेले आचार्य भी अक्षम होते हैं। और सृष्टि में जीवन की इतनी सी जो भूमिका है, वही जीवन की सार्थकता है , जीवन का गर्व है। वरना इस जटिल, विशाल विश्वसृष्टि की तरफ देखकर उसको अपनी क्षुद्रता में डूबकर खो जाने का अवकाश ढूंढ मरना होता । किन्तु वैसा तो नहीं है, वह जानता है कि इस विश्व-रचना में जितना हाथ विधाता का है, उतना ही हाथ उसका भी है। इसीलिए दादू ने कहा है-

'सुखि मसितल सुरति मति'

अर्थात् हे चित्रकार, ये जो विश्वचित्र तुमने बनाया है, उसमें जितना श्रेय तुम्हारा है, उतना ही श्रेय मेरा भी है। तुम्हारे सारे रंग सूखे पड़े थे, मेरे प्रेम के नीर में घोलकर ही तुम अपनी तूलिका को चला पाये हो। अकेले तुम्हारी शक्ति-सूखी शक्ति-मेरे प्रेम में भीगकर ही सजीव हुई है।

इसीलिए कबीर ने कहा है-

'तुम हम दो तुम्ब बिच सुर बाजे ताजा ताजा।'

अर्थात, तुम और मै दोनों सृष्टिवीणा के दो तुम्ब हैं। तुम्हारे और हमारे इस तुम्ब के बीच में जो मिलन-तंत्री है, उसी में तो हर पल नये-नये जीवन्त सुर अंकित हो रहा है। यह जो विविध रूपी विश्वसृष्टि है, वही इस द्वैत वीणा के मिलन-तंत्री में झंकृत होने वाला प्रेमानन्द राग है। तुम्ब युग्म में से एक को छोड़ देने से जिस प्रकार नये-नये संगीत जन्म देने वाला तार निराश्रय हो जाता है, उसी तरह तुम और मैं- इस युग्म के किसी एक को भी छोड़ देने पर प्रतिपल नया प्राण झंकार उत्पन्न करने वाला विविधरूपी विश्वसृष्टि का सावित्री मिलन-तंत्री निराश्रय हो जाता है।

इस सार्थकता के चलते पूरे विश्व के जीव को आनन्द की अनुभूति होती है। उसे लगता है कि एक तरह से ये सारा विश्व उनका ही है। हमें छोड़कर यह एक क्षण भी खड़ा नहीं रह सकता। जहाँ तक जीव की दृष्टि जाती है, वहाँ तक वह अपने ह्रदय के आँचल में निःसंकोच रूप से बांध लेता है। जो कुछ भी उसके श्रवण, घ्राण, शरीर को छूता है, उसी से उसका अन्तर्मन नाच उठता है। इसीलिए माँ का स्तन देखकर बच्चा सोचता है- यह तो मेरा ही धन है, इसलिए वह स्तन उसके लिए अमृत समान होता है। शिशु जिस समय स्तन पान करता है, वह उस समय यह नहीं सोचता कि अपने से अलग कोई कृत्रिम चीज का वह पान कर रहा है, वह सोचता है कि वह अपने ही अमृत का पान कर रहा है।

किन्तु इतना बड़ा जो अधिकार है, वह भी जीव भूल जाता है। वह अपने-आप को अलग मानता है, नाना प्रकार के झूठे उपाधियों के द्वारा अपने को विशिष्ट समझता है, इसीलिए इतना बड़ा अधिकार वह खो बैठता है। जिस ज्ञान वृक्ष का फल खाकर मानव को स्वर्ग खोना पड़ा, वह ज्ञान सच्चा नहीं, वह यही मिथ्या ज्ञान है। अलग करके जानना, विशिष्ट करके आंकना ही मिथ्या ज्ञान है। इसी से पैराडाइज़ लॉस्ट होता है। जब मिथ्या असुर सिहांसन पर बैठता है, तब स्वर्ग खोना पड़ता है। उसके बाद इस पैराडाइज़ को रिगेन (पुनः प्राप्त) करता है साधक और कवि। वे लोग जब मनुष्यों के कान में सुना देते हैं, हे अमृत पुत्रो तुम लोग सुनो- मैंने उस सत्य को देखा है-तब सभी आत्मविश्वास से भर उठते हैं। अज्ञान के तिमिर में अन्धे नयन को ज्ञानांजन शलाका के द्वारा वे खोलते हैं इसीलिए हम उन्हें गुरु कहते हैं। ये सब गौरव जो गुरु हमें प्रदान करते हैं, उसका क्या कोई मूल्य हो सकता है?

इसी तरह के एक गुरु की कथा मैं आज आप लोगों के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। ये कवि थे, इसलिए गुरु थे ये साधक थे, इसलिए गुरु थे। इनके पास न हिन्दू था, न मुसलमान था। इनके सामने सारे बाधाओं को तोड़कर, सारे मिथ्या उपाधियों से परे मनुष्य का सत्य विराजमान था। अपने जिस महान अधिकार से वंचित होकर मानव दीन-दुःखी की तरह भटक रहा है, उस अधिकार का रत्न मुकुट उसके सर पर पहनाकर उन्होंने मानव को सम्राट बना दिया था।

इनका नाम मलिक मुहम्मद है। मिर्जापुर में एक बार भारी बरसात के समय इनके द्वारा रचित एक-दो गाना अमेठी के एक साधु से सुना था। कई भक्तों के गानों के साथ इनका भी गाना सुना था। उन गानों में इस प्रकार की गंभीरता और प्रत्यक्ष अनुभूति का भाव था कि मैं उसपर मुग्ध हो गया था। विशेष आश्चर्य की बात ये है कि यह भक्त कवि मुसलमान है, हिन्दू धर्म उन्होंने स्वीकार नहीं किया था, फिर भी उनकी पहुँच भारतीय ब्रह्म विद्या और योगशास्त्र के हृदय तक है। और क्या श्रद्धा है उनकी, कितनी श्रद्धा के साथ उन्होंने शास्त्र के विविध विचारों को भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण किया है ! मन में एक विस्मय का भाव जगा था। किन्तु बाद में लगा इसमें आश्चर्य होने की कोई बात नहीं है, बल्कि यही ज़्यादा स्वाभाविक है। सृष्टि के मामले में सिर्फ़ तत्त्वों के आधार पर सृष्टि नहीं हो सकती, सिर्फ़ अपने से आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी विशेष धर्म के सौन्दर्य की अनुभूति के लिए धर्मभेद की ज़रूरत है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म अपने पर आश्रित लोगों को धीरे-धीरे बढ़ने में मदद करता है, किन्तु बाहरी चित्त के संस्पर्श से वह उसके बहुविध, निगूढ़ और विविध सौन्दर्य को नाना लीलाओं में तरंगित कर प्रत्यक्ष कर सकता है। गोवत्सतर प्रवृत्ति की तरह उसके अन्दर से इस प्रकार की गहरी सौन्दर्यधारा उत्सर्जित हो उठती है, जो उसके स्वयं के वश की नहीं होती। जिस धर्म में मनुष्य जन्म लेता है और जिस धर्म में वह डूबा रहता है, उस धर्म के प्रत्येक क़ायदे-क़ानून में बाहरी लोगों की तुलना में ज्यादा अभ्यस्त होने के बावजूद वह उस धर्म के माधुर्यरस का पान करने का हर समय अधिकारी नहीं होता, बल्कि बाहर से आने पर जो अपूर्व आस्वादन

किया जा सकता है, वह उसमें जन्म लेकर, उसके भीतर रहकर कर पाना कठिन होता है। कुछ हद तक निर्जीव की तरह, कुछ हद तक निश्चेष्ट की तरह, अन्धे रूप में संस्कार को मानकर, जड़ की तरह मतों को ग्रहण कर, अनुगत रूप से आचरणों का निर्वाह कर , बिना किसी तरह के प्रश्न उठाये आराम से दिन व्यतीत किया जा सकता है। किन्तु यदि उसे बाहर से देखा जाय तो उस धर्म का प्रत्येक मत, प्रत्येक आचार देखने वाले के मन को आकर्षित करता है, और मन सजीव होकर देख पाता है, इसीलिए सत्य का आस्वादन कर पाता है। यही कारण है कि हमारे देश के साधन-शास्त्र में बारी-बारी से सारे धर्मों को छोड़कर सिर्फ़ परब्रम्ह पर ही आश्रित होने का उपदेश दिया गया है। परब्रम्ह में अवस्थित होकर देखने पर ही समस्त आचार और अनुष्ठान के माधुर्य की प्राप्ति होती है। आचार और संस्कार बाहरी चीजें हैं, इसीलिए ये परधर्म हैं। इस परधर्म को त्याग कर स्वधर्म को ग्रहण करना ही होगा। परमात्मा पर आश्रित होना ही स्वधर्म है। परमात्मा से ज्यादा 'स्व' और क्या हो सकता है?

लेकिन बाहर से देखने की भी एक समस्या है। वह है श्रद्धा का अभाव। श्रद्धा का अभाव यदि रहता है , तब वह धर्म में अवस्थित अलग-अलग क्रिया-कर्म, आचार-अनुष्ठान आदि को ही देखता है, इन सब के भीतर में सबको मिलाकर जो गंभीरता है, वह उसको नहीं समझ पाता है। चादर के ऊपर नक्काशी कर बनाये गये फूल के उल्टे(दूसरे) हिस्से को जो देखता है, उसको सिर्फ़ सिलाई का धागा ही धागा दिखाई देता है जो सीधा देखता है वह देखता है- कितने फूल, कितने चित्र और कितने सौन्दर्य ! उसी तरह यथार्थ को पकड़कर देखने के लिए एक बड़प्पन चाहिए, वही बड़प्पन इस साधक कवि के पास था। ऐसा लगता है, इसे ही हृदयंगम कर मलिक मुहम्मद ने लिखा है-

भंवर आइ बनखंड सौं
लेइ कँवल रस बास।
दादुर बास न पारइ
भलहि जो आछहि पास।

अनुवाद :- वनभूमि से जो भौंरा आया, उसे कमल रस की सुगंध मिली। बहुत निकट रहने वाले मेंढक को थोड़ा-सी भी गंध नहीं मिली!

इस महापुरुष के पूर्व और एक महात्मा अनासक्त रूप से धर्म के मर्म तक पहुंचे थे। वे हैं भक्त कबीर। कबीर की आध्यात्मिक दृष्टि और संगीत से मलिक पूरी तरह से प्रभावित हुए थे। समस्त हिन्दू पुराण आदि में उनका एकांत सहज प्रवेश था। योग शास्त्र को वे पूरी तरह से जानते थे। फिर भी हमेशा मुसलमान समाज के लोग उनको मुसलमान समाज का ही एक पीर कहकर गहरा सम्मान करते आये है।

हिन्दी साहित्य में मलिक मुहम्मद का योगदान अतुलनीय है। सुप्रसिद्ध 'पदुमावती' (पद्मावती)उनकी ही रचना है। पंडित प्रवर ग्रियर्सन लिखते हैं, एक तो काव्य रूप में यह अति चमत्कारी ग्रन्थ है। दूसरा, भारतीय ग्रंथों में से इस तरह का मौलिक ग्रन्थ मुश्किल से दो-चार और होंगे जिसके नायक राम या कृष्ण नहीं हैं, उनमें से ही एक यह भी है। ग्रन्थ के रूप में यह आद्यांत उदार है। यहाँ वह उदारता इतनी उच्च कोटि की है कि ऐसी उदारता की आशा सिर्फ़ कबीर या तुलसी से ही की जा सकती है। और इस काव्य में वर्णित विषय को बाद में प्राच्य भूमि के नाना ग्रंथों में भी विषय बनाया गया है। फारसी भाषा के कवि हुसे गजनवी ने 'किस्सा-ए-पद्मावत' नामक एक काव्य की रचना की है। १६५२ ई० में रायगोविन्द मुंशी ने फारसी में 'तुक्फात उल-कुलूब' नामक ग्रन्थ की जो रचना की है, उसका भी वर्णित विषय यही है। मीर ज़ियाउद्दीन इशरत और गुलाम अली इशरत इन दो मुसलमान पंडितों ने मिलकर इसका एक उर्दू अनुवाद किया है। मलिक मुहम्मद का ग्रन्थ १५४० ई६ में लिखा गया है।

मलिक मुहम्मद इतने उच्च कोटि के कवि हैं, वह इस ग्रन्थ से प्रमाणित हो जाता है। कह सकते हैं हिंदी भाषा में इसके पहले ऐसा यथार्थ काव्य नहीं रचा गया है। मलिक मुहम्मद को पीर मानकर मुसलमानों ने अत्यंत यत्नपूर्वक और विशुद्ध रूप से उनके ग्रन्थ की रक्षा की है। इसीलिए इसमें अत्यंत प्राचीन हिन्दू का एक अक्षत नमूना मिलता है।

इस कवि के 'अखरावट' नामक रचना को पढ़ने पर यह पता चलता है कि हिन्दू धर्म के रहस्य में उनकी कितनी पैठ थी।

ये कवि मुसलमान साधक मुहीउद्दीन के शिष्य थे। मुहीउद्दीन के गुरु शेख बुरहान बुंदेलखंड के काल्पी में रहते थे। प्रसिद्धि है कि बुरहान एक सौ वर्ष तक जीवित थे। १५६२ ई में बुरहान परलोक सिधारे।

मलिक मुहम्मद ने चिश्तीया निजामिया संप्रदाय के निकट शिष्यत्व ग्रहण किया था। इस संप्रदाय के आदि साधक का नाम निज़ामुद्दीन था। १३२५ ई६ में निज़ामुद्दीन परलोक सिधारे। मलिक मुहम्मद ने अपने ग्रन्थ में अपने गुरुओं की परंपरा के बारे में जो लिखा है, उसे ही उद्धृत करता हूँ-

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिहकर खेवा। १।
अगुवा भएऊ सेख बुरहानू। पंथ लाई जेहिं दीन्ह गिआनू। २।
अलहदाद भल तेहिकर गुरु। दीन दुनिअ रोसन सुरखुरू। ३।
सैयद महम्मद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहि खेला। ४।
दानियाल गुरु पंख लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तेई पाए। ५।
भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरए जहं सैयद राजे। ६।
वहि सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ कथा कबि बरनी। ७।

ओइ सो गुरु हौं चेला नीति बिनबौं भा चेर।

वोहि हुति देखई पावौं दरस गोसाईं केर। १।। २०।।

अनुवाद : कर्णधार गुरु मुहीउद्दीन का मैं सेवक हूँ, उनकी नाव बहुत तेज गति की है। उनसे पहले आये थे शेख बुरहान। उन्होंने मुहीउद्दीन को सत्य के पथ पर लाकर ज्ञान दिया है। उनके भी गुरु थे अलहदाद, सांसारिक जीवन एवं धर्म दोनों के लिए जो प्रकाशस्वरुप और सर्वजन प्रिय थे। वे सैयद मुहम्मद के शिष्य थे। सिद्ध पुरुषों के संगम में उन्होंने क्रीडा की थी। दानियाल के गुरु थे हजरत ख्वाज। दानियाल के साथ-साथ सैयद मुहम्मद पर खुश होकर हजरत ख्वाज ने सैयद मुहम्मद की भेंट सैयद राज़ी हमीद शाह से करवाया था। इस तरह की गुरु परंपरा से धनी गुरु से मैंने हर तरह की योग्यता प्राप्त की है। तब मेरी जुबान खुल गयी। मैंने कवि होकर कथा-वर्णन करना शुरू कर दिया। वे मेरे गुरु हैं और मैं उनका दास होकर नित्य मैं उनकी स्तुति करता हूँ। उनकी कृपा से ही तो मैंने परब्रह्म का दर्शन पाया है।

मलिक मुहम्मद के कवित्व-गुण के लिए स्वयं शेरशाह ने भी उनका बहुत सम्मान किया है। फिर भी इस तापस कवि ने बावले की तरह दरिद्र रूप से अपने दिन व्यतीत किये। यदि वे चाहते तो वे सुख-संपत्ति के साथ अपना दिन बिता सकते थे, लेकिन इस साधक-तापस के भाग्य में यह सुख नहीं लिखा था। वे सम्मान और संपत्ति के प्रलोभन को अग्नि की तरह बचाकर चले हैं। कहा जाता है कि एक बार सम्राट शेरशाह ने उनको आदरपूर्वक अपनी सभा में रहने का अनुरोध किया। उनको मलिक ने कहा था, हे महाराज ! आपके साथ हमारा रहना कैसे हो सकता है? आप सम्राट हैं, मैं कवि हूँ। आप राजा हैं, आप दिन के उज्जवल प्रकाश की तरह भास्वर होकर समस्त कर्म क्षेत्रों को सम्मिलित कर, सारे मनुष्यों को मिलाकर अपना राजसिक रूप सबकी आँखों के सामने उद्‌भासित कर देते हैं। मैं कवि, रात के अन्धकार की तरह धरती के सारे विक्षोभ को शांत कर, लाभ-हानि के मंथन से उत्पन्न धूलि को ढँक कर, तिमिर धारा से सबका अभिषेक करवाकर, ग्रह-चन्द्र-नक्षत्र से विभूषित असीमता को उस तिमिर कमल के ऊपर मातृ रूप में विराजमान करवा देता हूँ। आप राजा हैं, विश्व को पीछे रखकर खुद सारे नियमों के ऊपर बैठना चाहते हैं, और मैं कवि, अपने को छिपाकर अनन्त देवता को सबके सामने उन्मुक्त कर देना चाहता हूँ। संसार रूपी बांस के हर छिद्र को ढंककर आप उसे अपने हाथ की लाठी बनाना चाहते हैं, और मैं, उसके सारे छिद्रों को स्वीकार कर उसे अपनी बंसी बनाकर उसके अन्तर के सुर को बाहर निकालता हूँ।

स्पष्ट है कि दिल्ली के राजसभा में उनका रहना नहीं हो पाया। इस कवि की एक आँख खराब हो गई थी। किन्तु इनके रचना की ख्याति को सुनकर भोजपुर के राजा जगतदेव ने इन्हें आमंत्रित किया था। जगत देव उन दिनों एक पराक्रमी राजा थे। बक्सर के जिस युद्ध में शेरशाह ने हुमायूँ को पराजित किया था, उस युद्ध में जगतदेव शेरशाह के साथ मुग़लों के विरुद्ध लड़े थे। १५२७ ई. में सत्ता पर आसीन होकर १५७३ ई. तक वे भोजपुर और गाजीपुर राज्य के शासक रहे। ऐसा माना जाता है कि निमंत्रण की रक्षा के

लिए जब उनकी सभा में मलिक मुहम्मद उपस्थित हुए, तब राजा उनकी एक खराब आँख को देखकर अपने सभासदों के साथ हँसे थे। राजा का विश्वास था कि ऐसा कवि न जाने कितना सुन्दर होगा। वे दीन वेशधारी एक आँख वाले फ़क़ीर निकलेंगे, इसकी कल्पना उन्होंने नहीं की थी। इसीलिए जब राजा उन पर हँसे, तो सभा के मध्य में खड़े होकर अत्यंत शांत स्वर में उन्होंने राजा से पूछा-

मोहि हँससि कि हँससि कुँहारहि।

अर्थात ये जो आप हँस रहे हैं, वह क्या मुझे देखकर या फिर जिस निर्माता ने मुझे गढ़ा है उस पर।

अर्थात यदि आप मुझे देखकर हँसे हैं तो आपको समझना चाहिए कि मेरा रूप मेरे वश में नहीं था। यह उसी शिल्पी का किया-धरा है जो किसी भी बाहरी नियम-क़ानून से बंधा नहीं होता। और उसके तरफ देखकर यदि आप हँसे तो आप जैसे मूढ़ व्यक्ति को बोलने के लिए कुछ नहीं बचता। ख़ैर, जो भी हो, इस जगतदेव के साथ अन्ततः उनकी गहरी मित्रता हुई और बहुत बार जगतदेव ने काव्यालोचन के लिए उनको आमंत्रित किया।

मलिक मुहम्मद अतिशय मित्रानुरागी व्यक्ति थे। मित्रों के प्रति उनका कैसा गहरा अनुराग था, यह उनके काव्यों में कई जगह दिखाई पड़ता है। इन मित्रों के चुनाव में भी उनके भीतर जाति या धर्म का भेद नहीं था। हिन्दू और मुसलमान- इन दोनों धर्मों के लोगों के साथ उनका सच्चा प्रेम था। मनुष्य को जो मनुष्य मानकर समादर करता है, उनको धर्मभेद कभी भ्रमित नहीं कर सकता।

उनके चार मित्रों का परिचय उनकी 'पद्मावत' में ही मिलता है। उनका परिचय उनकी पुस्तक से ही देखिये-

चारि मीत कबि मुहमद पाए। जोरि मिताई सरि पहुँचाए। १।
यूसुफ मलिक पंडित और ग्यानी। पहिलै भेद बात रहि जानी। २।
पुनि सलार कांदन मति माहाँ। खाँडै दान उभै निति बाहाँ। ३।
मियां सलाने सिंघ अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू। ४।
शेख बड़े बड़ सिद्ध बखाना। कई अदेस सिद्धन्ह बड़ माना। ५।
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गोसाईं गढ़े। ६।
बिरिख जो आछाहे चन्दन पासा। चन्दन होहिं बेधि तेहि बासा। ७।

मुहम्मद चारिउ मीत मिलि भए जो एकइ चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरहि कित्त। १। २२ ।।

अर्थात कवि मुहम्मद को चार मित्रों का साथ मिला, और उनके प्रेम के योग से उन्होंने उनकी समकक्षता को प्राप्त किया। प्रथम मित्र युसूफ़ मलिक ऐसे पंडित और ज्ञानी थे कि सुनते ही सारी बातों का सार ग्रहण कर लेते थे। द्वितीय मित्र महामति सालार कादिम। तीसरे मित्र थे सलोने मियाँ, जो दूसरे वीरों में से सिंह की तरह थे। चौथे मित्र शेख बडे महान सिद्ध पुरुष के रूप में ख्यात थे। उनके उपदेशों का पालन कर सिद्ध पुरुष भी अपने को धन्य महसूस करते हैं। ये चार मित्र चौदह विद्या के पंडित थे। चार वेद, छः वेदांत, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र- यही चौदह विद्या है। ईश्वर ने इन चारों की सृष्टि एक तरह से की है , मैं जो इनके समान बन पाया हूँ उसका कारण है कि अगर कोई वृक्ष चन्दन के पास रहता है तो वह भी चन्दन की खुसबू से बिद्ध होकर चन्दन वृक्ष में ही परिणत हो जाता है। मैं मुहम्मद इन चारों मित्रों से मिलकर एक हो गया। इस जगत में यदि उन लोगों के साथ रहा ,तो परलोक में अलग होने की संभावना कहाँ है?

इन मित्रों में जिनका नाम मियाँ सलोने सिंह है, वे हिन्दू थे। मियाँ देखकर कोई यह न समझे कि वे मुसलमान थे। प्राचीनकाल में मुसलमान दोस्तों ने हिन्दू दोस्तों को इस तरह की उपाधि दी है एवं मुसलमानों ने भी आदरपूर्वक हिन्दुओं की उपाधि ग्रहण की है। अभी भी नागर कोट, कांगड़ा आदि इलाके में मियाँ होशियार सिंह जैसे उच्च पदों पर आसीन हिन्दू हैं। चाम्बा के हिन्दू राजाओं की उपाधि मियाँ है।

उल्लिखित चार दोस्तों में से युसूफ़ मलिक और मियाँ सलोने सिंह जगतदेव के सभासद थे।

किन्तु कुछ वर्षों बाद जो इनके मित्र हुए थे, वे राजा जगत देव की सभा के कथावाचक पंडित थे। उनका नाम था गंधर्व राज। गंधर्व राज संगीत के मूर्त रूप थे। गायक दोस्त के संगीत को सुनकर कवि कई बार पूरी तरह से आत्मविभोर हुए थे। कवि ने इस गायक बन्धु के सुर से अनुप्रेरित होकर कितने गानों की रचना की है, कितने भजन, कितने गीत एक साथ गाकर दोनों परितृप्त हुए थे।

मलिक इस गायक दोस्त से इतने अनुरक्त थे कि मृत्यु के समय उनको आशीर्वाद देते हुए यह भविष्यवाणी करके गए थे कि यह संगीतकला उनके बंश में हमेशा अचल रहेगी। प्रेम के चिह्न के रूप में वे अपने वंशगत उपाधि 'मलिक' अपने मित्र को दान करके गए थे। उसी समय से गन्धर्वराज के वंशज पंडित 'मलिक' के नाम से जाने और माने जाते आ रहे हैं। गन्धर्वराज के वंशज अभी बलिया जिला के हल्दी और रायपुर तालुक में रहते हैं।

अभी भी ये लोग कथावाचक ही हैं और अभी भी इस वंश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष में संगीत विद्या सुप्रतिष्ठित है।

मलिक युसूफ़ और मियाँ सलोने गोरखपुर के निवासी थे। एक बार इनके इलाके के आम में एक प्रकार का विषाक्त कीड़ा लग गया था। उसके ही विष से इन दोनों की मृत्यु हुई।

अमेठी के राजा निःसंतान थे। कहा जाता है कि मलिक के आशीर्वाद से ही उनको संतान की प्राप्ति हुई थी। इसीलिए कवि की मृत्यु के बाद अमेठी में उनको समाधि दी गयी। अभी भी उनकी समाधि स्थल पर उपस्थित होकर भक्तगण पुष्प-चन्दन से उन्हें अभिषित करते हैं। अभी भी बहुत लोग श्रद्धा से वहाँ भजन-साधना करते हैं।

उनकी रचनाओं में उनके बारे में बहुत अधिक जानकारी नहीं मिलती क्योंकि वे कवि थे। उन दिनों के सुख-दुःख के कितने गीत उन्होंने गाये है, उनके संगीत में शाश्वत वस्तु कितनी तरह से मूर्तिमान हुई हैं, उनके छंदों में कितनी चंचल, क्षणभंगुर सुषमा नित्य प्रतिष्ठित हुई है, किन्तु अपने बारे में जहाँ तक संभव हुआ छुपा कर रखा है।

उन दिनों का कितना दैन्य, कितना वैभव, कितनी तपस्या, कितना विलास उनके गीतों में झंकृत हुआ है। जो कुछ भी उन्होंने देखा है, उनके भीतर के गंभीर सौन्दर्य को छंद और सुर के माध्यम से हमारे अन्तर के लीला मन्दिर में आमंत्रित कर उन्होंने उपस्थित किया है। फिर भी उनके गीतों को देखकर उनके अपने सुख-दुःख के बारे में जानना संभव नहीं है। कमलकोश के सुगंध के बीच कीचड़ या गंदे पानी को कौन और कब देख पाया है?

वे स्वयं अपने संगीत को सुनकर अपने मुग्ध होकर बावले की तरह घूमते-फिरते रहे हैं, मानो कोई अदृश्य पुरुष उनके भीतर उनके दुर्बोध सभी गानों को झंकृत कर दिया हो।

उन्होंने स्वयं गाया है- जिस तरह ब्रम्हा अपने नाभि-कमल की ओर निहारकर स्वयं मुग्ध हैं उसी तरह मैं भी।

किस तरह विष्णु के व्याप्त रूप ने मेरे इस नाभिकमल नाल के संकीर्ण पथ के माध्यम से इतना सुन्दर अभिनव जन्म लिया है? अपने नाभि के गंध से चंचल कस्तूरी मृग के समान मैं भी उद्भ्रांत हूँ। पर्वत के झरने की तरह अपने वेग से मैं पूरी तरह से चूर हूँ !

वे स्वयं यह नहीं समझा पाये हैं कि संगीत उनके लिए क्या है? इसलिए एक और हिंदी कवि के एक गीत को देकर आज के वक्तव्य का उपसंहार करता हूँ।

मेरी शक्ति का अतीत मेरा गीत है। हजार लाख प्रयत्न के बावजूद जिसे छिपा नहीं पाया, मेरे जीवन को जलाकर वही वज्र के समान सुर और छंद के रूप में ज्वलित हुआ है। हे मेरी काया, हे मेरी जन्मसंगति और संस्कार, किस तरह से तुम उस बज्राग्नि को पहचानोगे? किस तरह से उस अग्नि को बांधकर रखोगे? समिधा की तरह जलकर तुमलोग सार्थक हो जाओ, इसी में तुम्हारी जीत है। अरे मेरी शक्ति के अतिरिक्त गीत, तुम किस हाथ के झंकार से मेरी सारी शिरा, धमनी तंत्रों के मंथन से उत्पन्न अमृत हो? तुम मेरी साँस हो, तुम स्वाधीन हो। यदि तुम्हें मेरे अधीन किया जाता, तब मेरे प्राण, मेरे प्राणों का प्राण कैसे बचता?

मैं तो तुम्हारा दास हूँ। तुम मेरी काया हो। तुम मेरे प्राण हो। सब कुछ मेरे तुम हो।

। बुधवार, ८ सावन, १९१२ को शान्तिनिकेतन के अध्यापक सम्मेलन में पठित आलेख ।

कविता की एक सतह यह भी

उदयन वाजपेयी

१.

कविता का साक्ष्य अप्रत्याशित होता है। वह किस दृष्टि से संसार की साक्षी होगी, इसका पूर्वाभास सम्भव नहीं है। कविता का स्वभाव अपने आप चरित्रार्थ होता है। इसी तरह कविता में अन्तर्भूत राजनैतिक दृष्टि जो दरअसल कविता की नैतिक दृष्टि का ही प्रतिफलन होती है, भी अप्रत्याशित होती है। उसे राजनैतिक उचित व्यवहार (पोलिटिकल करेक्टनेस) से केवल दूषित किया जा सकता है क्योंकि कविता की राजनैतिक या नैतिक दृष्टि उसके सौन्दर्यबोध का ही एक आयाम होती है। शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि कविता की सौन्दर्यदृष्टि ही एक अलग कोण से उसकी राज-नैतिक दृष्टि ही होती है।

विजयदेव नारायण साही की कविता पर विचार करने से पहले यह याद रखना अच्छा है कि वे हिन्दी साहित्य के बेजोड़ आलोचक हैं। उनके आलोचनात्मक गद्य का समकक्ष किसी भी भारतीय भाषा में कम ही मिल सकेगा। वे गद्य, फिर वह आलोचनात्मक ही क्यों न हो, की लय को साध लेना जानते थे। उनके आलोचनात्मक निबन्ध पढ़ते हुए तर्कपूर्ण विवेक के जितने दर्शन होते हैं उससे कहीं अधिक गद्य में अन्तःसलिल लय का अनुभव होता है। आलोच्य कृति का सौन्दर्य रेखांकित करते हुए उनका गद्य उस स्वयं सौन्दर्य का रूपक बन जाता है। मानो उसने आलोच्य कृति के समक्ष एक ऐसा आईना रख दिया हो जिसमें वह अपना सौन्दर्य अनुभव कर सके।

वे मुक्तिबोध के शब्दों में संवेदनात्मक ज्ञान सम्पन्न आलोचक रहे हैं।

२.

साही हिन्दी में बिरले अध्येता-कवियों में एक हैं। अगर इसमें उनका सामाजिक कार्यकर्ता होना भी जोड़ दिया जाये, वे और अधिक बिरले कवि हो जायेंगे। अध्येता-कवियों की संस्कृत और दूसरी भारतीय भाषाओं में लम्बी परम्परा रही है। यूरोप और लातीन अमरीका में भी ऐसे अनेक कवि रहे हैं। एज़रा पाउण्ड और ऑक्टावियो पाज़ आदि को यही कहा जा सकता है। हिन्दी में प्रसाद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, कमलेश जैसे कवि हुए हैं जो अद्वितीय होने के साथ गहरे अध्येता भी रहे हैं। अगर हम इस वृत्त को कुछ और बड़ा कर इसमें अन्य कला विधाओं को भी शामिल कर लें तो हम पाएँगे कि मसलन ध्रुपद संगीत की डागर परम्परा में अध्येता गायक या वादक लगभग बीस पीढ़ियों तक हुए हैं। उसी तरह मणि कौल, कुमार

शहानी जैसे फ़िल्मकार भी अध्येता फ़िल्मकार ही कहे जायेंगे। बल्कि कुछ फ़िल्म आलोचकों ने महान फ़िल्मकारों को चिन्तक ही माना है।

साही के काव्य सृजन में उनकी अध्येतावृत्ति का भी योगदान हैं। यह नहीं कि वे जो पढ़ते थे वही लिख देते थे। पर उनकी अध्येतावृत्ति ने उनकी कविताओं में वैचारिक उद्वेलन का एक गहरा आयाम जोड़ा है। इससे उनकी कुछ कविताएँ यदि सपाट हो गयी हैं तो कुछ कविताओं ने बिल्कुल ही अनूठा रूप ले लिया है। एक जर्मन अभिव्यंजनावादी चित्रकार (जिनका नाम मैं अभी याद नहीं कर पा रहा) ने एक बातचीत में कहा था कि उनके कला सृजन के दौरान उनका पहले से प्राप्त ज्ञान (जिसे लाबे ने रिसीव्ड आइडियाज़ कहा था) ऐसे चतुर नौकर की तरह उपस्थित रहता है जो सृजन-प्रक्रिया में अनचाहे अतिथियों के हस्तक्षेप को रोकता है। साही के यहाँ जब-जब ये चतुर नौकर उनके कविता लेखन के दौरान सक्रिय हो पाता है, उनकी कविता में गाढ़ी उजास फैल जाती है। कई बार उनका अध्ययन उनकी संवेदना में घुलकर काव्य-प्रक्रिया शामिल हो जाता है और ऐसे क्षणों में उनकी काव्य संवेदना एक ऐसा रूप लेती है जिसमें उनकी समझ की भीनी खुश्बू बिखरी होती है।

उनकी ऐसी ही एक कविता है : 'प्रार्थना : गुरु कबीरदास के लिए'।

यह सम्भवतः साही की सबसे ज़्यादा उद्धृत कविता होगी। इसका शायद एक कारण यह है कि उसकी एक सतह रोज़मर्रा जीवन से जुझते मनुष्य के प्रति गहरी करुणा और संवेदनशीलता को जगाती है। इस सतह पर यह कविता दुःख में डूबे संसार भर के मनुष्यों पर सहानुभूति का कोमल हाथ फेरती महसूस होती है। साथ ही इसमें कवि सच बोलने के अपने अधिकार का भी पूरे ज़ोर-शोर से इसरार करता है। इस कविता की खूबी यह है कि इसे पढ़ते समय इसमें एक से अधिक सतहों का आभास बना रहता है। यह लगता रहा है कि इसमें ऐसा कुछ ज़रूर है जो सीधे-सीधे नज़र नहीं आ रहा। इसकी कोई और सतहें भी हैं जो छिपी हुई-सी है। यह आलेख उनमें से ही एक सतह को किसी हद तक टटोलने की कोशिश है। इस कविता में इन दो के अलावा भी कई और सतहें नये-नये कल्पनाशील पाठकों के संयोग से पैदा होती रहेंगी और उन्हें भी वक़्त-वक़्त पर आलोकित किया जाता रहेगा। कविता शायद इसी तरह उत्तरजीवी होती है।

३.

साही इस कविता में कबीरदास को अपना गुरु बताते हुए, उनसे कुछ प्रार्थना कर रहे हैं। यह प्रार्थना कबीरदास से ही क्यों की जा रही है? हम सिर्फ़ अनुमान लगा सकते हैं। कबीर की अनेक कविताओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनमें अनेक गूढ़ संकेत छिपे हैं जिन्हें समझना आसान नहीं है। मसलन कबीर की कविता में ऐसी अनेक उलटबाँसियाँ हैं जिनके मोटा-माटी अर्थ भी निकालना आसान काम नहीं है। उदाहरण के लिए जब वे अपनी एक कविता में 'दरिया लहर समाय' कहते हैं तब इस उलटबाँसी सीधा-सीधा

अर्थ निकालना मुमकिन नहीं है। आखिर समुद्र अपनी ही एक लहर में कैसे समा सकता है और अगर ऐसा मान भी लिया जाय तो उसका आशय एक विचित्र-सी अतियथार्थवादी छवि के अलावा और क्या होगा? अगर यह नहीं तो फिर इसका ध्वन्यार्थ या संकेत क्या हो सकता है? योगवासिष्ठ जैसे कुछ ग्रन्थों में समग्रता या ब्रह्म को समुद्र या दरिया से उपमित किया गया है। वहाँ यह कहा गया है कि जिस तरह समुद्र में अनेक लहरें होती हैं और हर लहर समुद्र से उठकर उसी में समा जाती है, उसी तरह जीव यानी व्यक्ति ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में समा जाता है। लेकिन यदि इस जीव यानी लहर को यह अनुभव हो जाये कि वह समुद्र ही है तो इसे ज्ञान प्राप्ति कहा जाता है। यह एक ऐसा क्षण है जब लहर में समुद्र समा जाता है। कबीर अपनी कविता में सम्भवतः आत्मबोध के इसी क्षण का संकेत कर रहे हैं। ऐसी उलटबाँसियों और बहुस्तरीय कविता लेखन के उस्ताद कवि कबीरदास से साही शायद यह प्रार्थना कर रहे हैं कि उनकी कविता में भी वे सारे गुण आ जायें जिनका अनुभव साही को कबीर की कविता पढ़ते हुआ था। दूसरी ओर साही की कविता पाठकों को अपने भीतर गूढ़ तत्त्वों को ढूँढ़ने का प्रयास करने का आमन्त्रण दे रही है। वह आग्रह कर रही है कि उसे भी वैसे ही पढ़ा जाय जैसे गुरू कबीरदास की कविता को पढ़ा जाता है। उसके अर्थ केवल उसमें नहीं उसके शब्दों से, शब्द-विन्यासों से कहीं और भी जागते हैं।

४.

परम गुरु
दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अन्तहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूँ
और यह अन्तहीन सहानुभूति
पाखण्ड न लगे।

साही की कबीर को प्रार्थना की शुरुआत ऐसी विनम्रता की माँग (प्रार्थना में 'माँग' के सहारे ही इष्ट को रूप दिया जाता है) से होती है जिससे अन्तहीन सहानुभूति की वाणी बोली जा सके। पहले तो इस 'अन्तहीन सहानुभूति' पर थोड़ा ठहरकर सोचना होगा। यह कब सम्भव है कि कोई मनुष्य सभी के साथ सह-अनुभूति की अवस्था में आ जाये? क्या इसे अभी हाल में सहानुभूति पर प्रकाशित वैज्ञानिक वायलूर रामचन्द्रन के शोध-परिणामों से समझा जा सकता है?

रामचन्द्रन जग प्रसिद्ध और विश्वसनीय न्यूरोलॉजिस्ट हैं। उन्होंने कुछ बरस पहले यह दर्शाया है कि जब हम किसी अन्य की पीड़ा से सहानुभूति रखना शुरू करते हैं, हमारे मस्तिष्क की भी ठीक वही तन्त्रिकाएँ (नर्व सेल्स) सक्रिय हो उठती हैं जो पीड़ित व्यक्ति के मस्तिष्क में पीड़ा के कारण सक्रिय हुई हैं। इस तरह उन्होंने पहली बार यह साबित है कि सह-अनुभूति सिर्फ़ मानसिक अवस्था नहीं है, वह शारीरिक स्तर पर

भी बदलाव लाती है। सहानुभूति अनुभव करने की स्थिति में हम लगभग पीड़ित मनुष्य के जैसे स्थिति से गुज़रने लगते हैं। रामचन्द्रन ने सहानुभूति के फलस्वरूप सक्रिय हुई तन्त्रिकाओं को मिरर न्यूरोन्स कहा है। इस सिद्धान्त की रोशनी में किसी एक व्यक्ति से सहानुभूति रखना तो समझाया जा सकता है पर वह सान्त (स+अन्त) सहानुभूति ही होगी।

ज़ाहिर है साही अपनी प्रार्थना में सहानुभूति के इस स्तर की बात नहीं कर रहे।

अभिनव गुप्त ने बारहवीं शती में रस के अनुभव की जो व्याख्या की है, उससे शायद इस 'अन्तहीन सहानुभूति' को समझने में कुछ मदद मिल सके। उन्होंने कहा है कि रसास्वादन की अवधि में भावक अपरिमित प्रमातृत्व की अवस्था को प्राप्त होता है। इसकी विशद व्याख्या में न जाते हुए हम इसे इस तरह समझ सकते हैं कि यह वह अवस्था है जब भावक खुद को हरेक में अनुभव करता हुआ, हरेक का प्रमाता हो जाता है। वह इस दौरान अपने व्यक्तिगत अहंकार को छोड़कर अपने को हरेक में और हरेक में अपने को अनुभव करना शुरू कर देता है। इसे ही कबीर ने इस तरह कहा है :

हम हां सब मां सब हां हम मां
हम हैं बहुरि अकेला

'अन्तहीन सहानुभूति' केवल रसास्वादन की प्रक्रिया में संलग्न इसी बहुरि अकेला को ही सम्भव है। इसके बिना ये शब्द महज़ शब्द होकर रह जायेंगे। इनका कोई संकेतन नहीं होगा। शायद साही इन शब्दों में कबीर से प्रार्थना कर रहे हैं कि इन्हें पढ़ते समय पाठक 'अन्तहीन सहानुभूति' की अवस्था से गुज़र सके यानि उनकी कविता में रस निष्पत्ति हो।

५.

दो तो ऐसा कलेजा दो
कि अपमान, महत्वाकांक्षा और भूख
की गाँठों में मरोड़े हुए
उन लोगों का माथा सहला सकूँ
और इसका डर न लगे
फिर कोई हाथ ही काट खाएगा।

इन पंक्तियों में 'अपमान' ग़रीब व्यक्ति का द्योतक है, 'महत्वकांक्षा' का संकेत मध्यवर्गीय व्यक्ति की ओर है और 'भूख की गाँठों में मरोड़े हुए' का लक्ष्य ग़रीबी से भी नीचे रहते भिखमंगों लगता है। दूसरे शब्दों में ये सारे ही तबके उन लोगों के हैं जो आधुनिक समाज में कम या अधिक चोट खाये हुए हैं। ये वे लोग हैं जो अपने लगातार होते अपमान, महत्वकांक्षा और निर्धनता में इतने गहरे डूबने के कारण संस्कृति

की तमाम बारीकियों को अविश्सनीय मानने लगे हैं। इनका माथा निर्भय होकर तभी सहलाया जा सकता है, इन्हें सान्त्वना तभी दी जा सकती है जब इनके भीतर के उदात्त स्वरूप जाग्रत किया जा सके जो ग़रीबी और बदहाली में भी अक्षुण्ण बना रहता है। जब इनके क्षुद्र अहंकार को विस्तारित कर उसे अस्तित्व मात्र में रूपान्तरित किया जा सके। इस कविता में कवि एक ऐसी कविता लिख पाने की गुज़ारिश कर रहा है जो इन चोट खाये लोगों को उनकी उदात्तता में जगा सके।

बारहवीं शताब्दी के काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट ने कविता के प्रयोजन के विषय में अपनी पुस्तक 'काव्यप्रकाश' में विस्तार से विचार किया है और उसकी लाजवाब हिन्दी टीका आचार्य विश्वेश्वर ने लिखी है। मम्मट ने कविता के प्रयोजन यश, अर्थ (धन), लोकव्यवहार, अमंगल का नाश और सद्यःपरनिर्वृत्ति गिनाये हैं। इनमें से यश, अर्थार्जन, लोकव्यवहार और अमंगल का नाश सीधे-सीधे समझ में आते हैं। कालिदास की कविता का प्रयोजन यश प्राप्ति है, धावक कवि की कविता का अर्थार्जन और अन्यान्य कविताओं का प्रयोजन लोकव्यवहार और अमंगल का नाश आदि हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन कवियों की कविताओं में सद्यःपरनिर्वृत्ति का प्रयोजन नदारत है। वह भी इन कविताओं में है पर इनमें यश, अर्थ आदि प्रयोजन भी साफ़ दिखायी देते हैं।

सद्यःपरनिर्वृत्ति थोड़ा गूढ़ प्रत्यय है। इसका एक सीधा अर्थ आनन्द है। लेकिन इसकी एक और व्याख्या वागीश शुक्ल ने की है। उनका कहना है कि सद्यःपरनिर्वृत्ति में सद्यः का आशय 'तुरन्त' है। 'पर' का आशय 'दूसरा' या 'दूसरे' है और 'निर्वृत्ति' का आशय 'घेरे से बाहर आना' या 'मुक्त' होना है। अगर इन तीनों हिस्सों को जोड़ दिया जाए तो सद्यःपरनिर्वृत्ति का आशय दूसरे के घेरे से तुरन्त बाहर आना या दूसरे से तुरन्त मुक्त होना निकलेगा। कविता में, मम्मट के अनुसार, ऐसी सामर्थ्य होती है कि उसको अनुभव करते समय पाठक के लिए तुरन्त ही 'अन्य' का लोप हो जाता है। अन्य का लोप तभी हो सकता है जब अहंकार या ईगो का विलय अस्तित्व मात्र में हो जाये। यानि जब वह अपने को अन्यों से अलग मानने के स्थान पर अन्यों और अपने बीच के विभेद को अनुभव करना बन्द कर दें। दूसरे शब्दों में जब उसका अहंकार फैलकर अस्तित्व मात्र हो जायेगा। इसीलिए कवि अपनी कविता का प्रयोजन सद्यःपरनिर्वृत्ति बनाना चाहता है। पर वह इसी कविता के साक्ष्य से यह जानता है कि कविता अपना प्रयोजन अपने रूपाकार में प्रकट करती है। कवि ऐसी कविता लिख सकने की प्रार्थना कर रहा है जिसमें यह मूल्य अनुस्यूत हो।

६.

दो तो ऐसी निरीहता दो
कि इस दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूँ

और इसकी चिन्ता न हो
कि इस बहुमुखी युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल
कौन अपने पक्ष में करेगा।

इन पंक्तियों में एक शब्द ऐसा है जिस पर विचार करना आवश्यक लगता है : निरीहता। निरीहता का हिन्दी में प्रचलित अर्थ 'किम कर्त्तव्य विमूढ़ता' या कमज़ोरी जैसा कुछ हो गया है। पर यह शब्द जहाँ से आया है वहाँ इसका अर्थ बिना प्रयत्न या बिना इच्छा या अनायास है। इसका मूल शब्द 'ईहा' और उपसर्ग 'निः' है। इन पंक्तियों में कवि जो इस कविता का काव्य पुरुष है, गुरु कबीरदास से ऐसा सच बोलने की शक्ति पाने की माँग कर रहा है जो अनायास बोला जा सकता है। यहाँ 'निरीह' (अनायास) का प्रयोग शायद इसलिए किया गया है कि कवि सोचा-समझा सच बोलना नहीं चाहता। ऐसा सच बोलना नहीं चाहता जिसे पहले से ही तय कर लिया गया हो और जिसका पक्ष भी पहले से ही सुनिश्चित कर दिया गया हो। दरअसल वह अप्रत्याशित सच का उच्चार करना चाहता है जो सहज ही कविता लिखने के प्रवाह में खुद-ब-खुद रूप कर ले।

ऐसा कौन सा सच है जो खुद-ब-खुद यानि अनायास ही रूप ग्रहण करता है?

मेरी समझ में वह कवि के होने की अद्वितीयता का सच है। वह उसके 'एकमात्रपन' का सच है। यह अद्वितीयता हर मनुष्य में होती है पर उसका गहरा बोध, लगभग पीड़ादायी बोध या तो सृजनशील व्यक्ति को होता है या फिर प्रेम में डूबे मनुष्य को। यह अद्वितीयता बोध उसके अद्वितीय विवेक के कारण होता है। वैशेषिक दर्शन में यह कहा गया है कि हर मनुष्य का विवेक हर दूसरे मनुष्य से थोड़ा सा अलग होता है। यह विवेक जो उसे उचित-अनुचित, सुन्दर-असुन्दर आदि में फ़र्क़ करने की स्थिति में लाता है, यही वह सच है जो एक सृजनशील कवि में उसके विशिष्ट सौन्दर्यबोध और नैतिक दृष्टि में आकार लेता है। जिस विवेक के आधार पर वह सुन्दर व असुन्दर में फ़र्क़ करता है, ठीक उसी विवेक के आधार पर वह नैतिक-अनैतिक में भी फ़र्क़ करता है। चूँकि यह विवेक कवि की नैतिक दृष्टि को औसत नैतिक मान्यता से थोड़ा अलगाता है, इसीलिए उसकी विशिष्ट नैतिक दृष्टि औसत नैतिक मान्यताओं को प्रश्नांकित करना शुरू कर देती है। साथ ही उसी विवेक की सक्रियता औसत सौन्दर्यबोध को भी प्रश्नांकित करना शुरू कर देती है।

इस कविता में, सम्भवतः कवि अपने अद्वितीय विवेक को ही 'फटकार का सच' कह रहा है। यह फटकार इसीलिए है क्योंकि वह अन्यों की तरह अपने इस अद्वितीय विवेक का औसत विवेक के आगे आत्मसमर्पण करना नहीं चाहता और इसीलिए उसे यह चिन्ता नहीं है कि उसका 'फटकार का सच' 'बहुमुखी युद्ध' में कौन अपने पक्ष में इस्तेमाल करेगा। इस आत्मविश्वास का स्रोत कवि की इस समझ में निहित है कि अद्वितीय नैतिक दृष्टि हर पक्ष को प्रश्नांकित करती है।

यह फिर दोहरा दूँ कि कवि का धर्म, साही की इस प्रार्थना में भी, अपने अद्वितीय विवेक को चरितार्थ करना है। जो यह नहीं कर पाते, वे और सब करते होंगे, साहित्य नहीं रचते।

७.

विजयदेव नारायण साही की यह कविता अपनी ही कविताओं की विफलता का साक्ष्य है। यही उनकी इस कविता के काव्य-पुरुष की सजगता है। शायद इसीलिए वह गुरु कबीरदास से रस निष्पत्ति में समर्थ, अहंकार से मुक्त कर आनन्दित करने वाले और मनुष्य के अद्वितीय विवेक को प्रकट करती काव्य रचना सामर्थ्य की प्रार्थना कर रहा है। यह भी कह रहा है कि अगर उसकी प्रार्थना सुनी न जाये, उसका चुप रहना ही बेहतर होगा।

यह भी न दो
तो इतना ही दो
कि बिना मरे चुप रह सकूँ।

दूसरे शब्दों में वह यह आग्रह कर रहा है कि उसके हाथों इन मूल्यों से लैस कविता लिखी जा सके। यह सिर्फ़ अपने लिए की गयी प्रार्थना नहीं है, यह कवि मात्र के लिए की गयी विनती है। वे अभागे कवि जिनकी कविता में ये गुण नहीं है, उनको चिन्ता की ज़रूरत नहीं है, उन्हें बिना मरे चुप रहने का विकल्प भी इस कविता की अन्तिम पंक्तियों में है।

कविता की साखी और साही का काव्य-न्याय

मदन सोनी

कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्थाबद्ध न्याय की दुनिया में कविता के साक्ष्य के लिए कोई स्वागत-भाव, कोई गुंजाइश तो दूर की बात है, उसकी सम्भावना को भी विचारणीय मानने की कोई इच्छा न तो है और न सम्भवतः कभी रही है। हाँ, अगर न्याय की इस दुनिया में कविता (या उसकी प्रजाति के अन्य वचन-रूपों) की दृश्यता कभी सम्भव होती है, तो वह साक्षी के नहीं, बल्कि आरोपी (एक्यूज्ड) के कटघरे में होती है। वस्तुतः यह उपेक्षा या उदासीनता ही वह गर्भ है जिससे कविता का जन्म होता है। या यूँ कहें कि कविता की रचना ही उन तत्त्वों से होती है जो इस न्याय-व्यवस्था के ख़ास तरह के पूर्वनिर्धारित विन्यास के चलते उसके सुचारु संचालन में बाधा की तरह प्रगट होते हैं; या किंचित रूपकात्मक ढंग से कहें तो, जो इस न्याय-व्यवस्था-रूपी प्रॉसेसर में एरॅर की तरह की तरह प्रगट होते हैं : अन्तर्विरोध, विरोधाभास, हेत्वाभास, द्वैध, श्लेष, परस्पर-व्याप्तियाँ, आदि। उल्लेखनीय है कि ये वे तत्त्व भी हैं जो मनुष्य को रचने वाले, और उसके कृत्यों (जिसमें उसके कथित 'आपराधिक' कृत्य शामिल हैं) में अक्सर निर्णायक भूमिका निभाने वाले, तत्त्वों में प्रमुख रूप से समाहित हैं - वही मनुष्य जो इस न्याय-व्यवस्था के अधीन होता है, लेकिन जिसका इन तत्त्वों से निर्मित हिस्सा अक्सर इस न्याय-व्यवस्था के बाहर बना रहता है। हम इसे मनुष्य का अन्य, अवशिष्ट या 'सबआल्टर्न' हिस्सा कह सकते हैं। इसलिए, इस न्याय-व्यवस्था द्वारा कविता की उपेक्षा या उसके प्रति उदासीनता, प्रकारान्तर से, मनुष्य के इसी अन्य, अवशिष्ट, 'सबआल्टर्न' हिस्से की भी अनिवार्य उपेक्षा या उसके प्रति उदासीनता है। और इसीलिए, अगर कभी कविता को आरोपी के कटघरे में खड़ा किया जाता है, तो यह भी प्रकारान्तर से मनुष्य के इसी हिस्से को आरोप के घेरे में लिया जाना है।

अगर कविता कोई साक्ष्य होना भी चाहती, तो वह इसलिए भी मान्य न होता क्योंकि कविता एक गल्प है, इन्सानी कल्पना की उपज है। और यद्यपि स्थापित न्याय-व्यवस्था भी मूलतः इन्सानी कल्पना की ही उपज है, लेकिन दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ कविता में अपनी इस जन्म-परिस्थिति का गहरा बोध और स्वीकार होता है, वहीं स्थापित न्याय-व्यवस्था में न सिर्फ़ अपनी काल्पनिकता की सम्पूर्ण विस्मृति दिखायी देती है, बल्कि उसमें एक निरपेक्ष सत्य होने का प्रबल आग्रह भी दिखायी देता है।

अगर इसी सिलसिले को जारी रखते हुए बात करें तो, कविता, दरअसल, साक्ष्य से अधिक एक भिन्न और समानान्तर न्याय-व्यवस्था के रूप में प्रगट होती है (जिसे हम शायद काव्य-न्याय भी कह सकते हैं) जो उक्त संस्थाबद्ध न्याय-व्यवस्था के बाहर छूट गये, उसकी उपेक्षा और उदासीनता, और जब-तब उसको सुनायी गयी सज़ा के शिकार हुए मनुष्य के उक्त अवशिष्ट हिस्से का, स्वैच्छिक संज्ञान लेती है। इस न्याय-व्यवस्था की मूलगामी और विलक्षण भिन्नता इस बात में है कि यद्यपि इसमें न्यायाधीश, वादी, प्रतिवादी, गवाह और

पैरोकार सभी होते हैं, लेकिन इनकी ये पहचानें कुछ इस तरह गड्डमड्ड होती हैं कि समूची सुनवाई के दौरान इनमें से सभी एक दूसरे की हैसियत अख़्तियार करते, या एक दूसरे की भूमिका निभाते प्रतीत होते हैं। इस विचित्र क़िस्म की अराजक अवस्था में, मसलन, न्यायाधीश वादी या प्रतिवादी के कटघरे में खड़ा दिखायी दे सकता है, वादी या प्रतिवादी न्यायाधीश की आसन्दी पर बैठा दिखायी दे सकता है, गवाह या वादी-प्रतिवादी पैरोकारों से ज़िरह करते दिखायी दे सकते हैं, और साक्ष्य तथा सन्दिग्ध दस्तावेज़ एक दूसरे की जगह ले सकते हैं। इस अदालत में फ़ैसले नहीं दिये जाते : इसमें न किसी को दोषी ठहराकर दण्डित किया जाता है, न किसी को निर्दोष क़रार दिया जाता है। और यह इस न्याय-व्यवस्था की इस अर्थ में कोई लाचारी नहीं है कि यह किसी ऐसे व्यापक तन्त्र का हिस्सा नहीं होती जिसके बल की मदद से वह अपने नियमों या निर्णयों का पालन करा सके। इसके विपरीत, यह उसका संकल्प है। यह उसका संकल्प है कि फ़ैसला नहीं दिया जा सकता, या शायद एक ही फ़ैसला दिया जा सकता है कि फ़ैसला नहीं दिया जा सकता।

तब फिर कविता की क्या सार्थकता है? अगर स्थापित न्याय-व्यवस्था की पदावली में सोचें, तो उसकी कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती। लेकिन अगर हम कविता के न्याय की पदावली में सोचें तो उसकी सार्थकता इस बात में है कि वह मनुष्य के इस अन्य, अवशिष्ट/सबआल्टर्न हिस्से का - निरा तार्किक नहीं बल्कि ऐन्द्रिय - संज्ञान लेती हुई स्थापित न्याय-व्यवस्था में अन्तर्निहित अन्याय की सम्भावना को जिलाये रखती है। वह इस सम्भावना को जिलाये रखती है कि मनुष्य के कथित अपराधिक कृत्य स्वयं उसके तार्किक (रेशनल) स्वत्व द्वारा उसके इस अन्य, सबआल्टर्न स्वत्व की उपेक्षा या उसके दमन का परिणाम भी हो सकते हैं। और अन्ततः कविता की सार्थकता इस बात में भी है कि वह अपने अराजक विन्यास में सृष्टि की मूलभूत अराजकता का निष्पादन करती हुई इस अराजकता की स्मृति को जिलाये रखती है, और हमारी सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक संरचनाओं की आरोपित तार्किकता के भीतर, उसको बाधित करती, प्रेत-छाया की तरह मँडराती रहती है।

(प्रसंगवश, यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि कविता के बारे में ये सारी बातें कविता के नाम पर गढ़ी जाने वाली उन दयनीय संरचनाओं को ध्यान में रखकर नहीं की गयी हैं जो न्याय की पक्षधरता के नाम पर इस या उस सामाजिक, राजनैतिक या क़ानूनी न्याय-व्यवस्था का अनुमोदन करने और उसका अनुमोदन हासिल करने में अपनी सार्थकता देखती हैं।)

विजयदेव नारायाण साही की एक कविता है, 'सिरनामे की तलाश' : यह साही की परवर्ती और सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण कविताओं के संग्रह साखी की पहली कविता है। इस संग्रह का प्रकाशन साही के मरणोपरान्त हिन्दी के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कवि कमलेश (जो अब दुर्भाग्य से स्वयं भी दिवंगत हैं) द्वारा किया गया था, और कमलेश द्वारा ही सम्भवतः इन कविताओं का चयन और क्रम-संयोजन किया गया था। अगर ऐसा है, तो इस कविता को संग्रह की पहली कविता के रूप में रखकर कमलेश ने मानो साही की

कविताओं पर एक अर्थपूर्ण आलोचनात्मक वक्तव्य दिया है। मानो, संग्रह का एक औपचारिक नामकरण (साखी) करने के बाद, इस कविता को संग्रह की पहली कविता के रूप में प्रस्तुत करते हुए कमलेश इन तमाम कविताओं के लिए, इनकी और इनके रचयिता की मूल भावना के अनुरूप, एक अधिक अनौपचारिक और अर्थगर्भी सिरनामा देते हैं : 'सिरनामे की तलाश'। यानी, कविता का - व्यापक तौर पर कविता-मात्र का, और विशेष तौर पर साही की कविता का - शीर्षक है 'शीर्षक की तलाश' (इस संयोजन में निहित विरोधाभास स्वतः-रेखांकित है)। मैं यहाँ 'सिरनामे' के हिन्दी, बल्कि संस्कृत पर्याय के रूप में 'शीर्षक' शब्द का सुविचारित प्रयोग कर रहा हूँ, जिसका अर्थ व्यवस्था और न्यायालय का निर्णय भी होता है। और 'शीर्षक की तलाश' शीर्षक यह कविता कहती है कि ''शायद हमारी उलझनों में/एक उलझन यही है'' कि ''हमारी उलझनों की दस्तावेज़ें हो सकती हैं/लेकिन सटीक सिरनामा लिखने में हम असमर्थ हैं'' (और, हम ध्यान दें कि इस कथन में भी कोई निश्चयात्मकता, निर्णयात्मकता नहीं है, बल्कि वह शायद-सापेक्ष है - कविता कहती है, ''शायद हमारी उलझनों में/एक उलझन यही है'')। और आधुनिक मनुष्य या आधुनिक मानवीय स्थिति की उलझन सिर्फ़ यह नहीं है कि हम अपनी उलझनों को स्वयं ही कोई सटीक शीर्षक, सटीक व्यवस्था देने में, उनपर कोई निर्णय देने में असमर्थ हैं, और हमारी यह कोशिश शीर्षक, व्यवस्था, निर्णय को निरन्तर स्थगित करते दस्तावेज़ को लम्बा करती जाती है, उसको और अधिक उलझनों, जटिलताओं, ऊहापोहों, दुविधाओं और किंकर्तव्यविमूढ़ताओं से से भरती जाती है, बल्कि इससे बड़ी उलझन यह है कि शीर्षक देने की हमारी आकांक्षा और असमर्थता, इनके संसर्ग से जन्मे हमारे इस दस्तावेज़ को हमेशा ग़लत न्यायाधिकरणों के अधीन ले आती हैं, ''जहाँ उसपर कोई विचार नहीं होता'', जैसाकि इस कविता में कहा गया है।

साही की कविता आधुनिक मनुष्य और आधुनिक मानवीय स्थिति के ऐसे ही अविचारित दस्तावेज़ों का संज्ञान लेती है। और उन ''बेनाम तक़लीफ़ों'' का भी संज्ञान, जिनके लिए ''मेरे सयाने युग में/सटीक और सन्तोषप्रद नाम दिये जा चुके हैं'' ('बेनाम तकलीफ़ों वाला बूढ़ा', साखी)। प्रसंगवश मुझे यहाँ उदयन वाजपेयी के सद्यःप्रकाशित उपन्यास के एक पात्र, 'साँवली' का यह कथन याद आता है : ''...आप लोग माहिर हैं हर चीज़ का शब्द बनाने के। जब आपने न रहने तक के लिए शब्द बना लिया तो किसी और चीज़ की बिसात ही क्या है? जैसे ही कोई मुश्किल घटना होती नज़र आती है, आप जल्दी से जाकर उस पर एक शब्द का ढक्कन रख आते हैं। सारी मुश्किल घटनाओं को, अबूझ चीज़ों को वश में करने का आपने बढ़िया तरीक़ा निकाल रखा है : उसे कुछ नाम दे दो। आप नाम नहीं देते, ढक्कन देते हैं। हर उस चीज़ पर जो आपकी समझ से बाहर होती है।'' लेकिन ये नाम, ये 'शब्द', जैसा कि साही की एक कविता कहती है, 'अभिचारी हैं/कुछ दिन चमकने पर ओछे पड़ जाते हैं'।

साही की कविता ऐसी 'बेनाम तकलीफ़ों' से, 'मुश्किल घटनाओं' से, अबूझ चीज़ों से, 'वारदातों' और दुर्घटनाओं से भरी पड़ी है : 'लाक्षागृह' के 'बेआँच सुरंगों वाले पथ से बच' आये, 'अडिग सुरक्षित' 'वन में बैठे हँसते' 'धवल सत्य' के बावजूद 'कुछ शव हैं' जो 'लाक्षागृह के भीतर' पड़े मिलते हैं; कोई है जो घाटी में

अकेला छूट गया है; उसमें बाँझ कामधेनुएँ हैं; एक अजब तरह की कारा है जिसमें सिर्फ़ दीवारें ही दीवारें हैं; 'एक सिसकती हुई पुकार' है 'जैसे कोई पत्थर के नीचे दबा हुआ कराहता हो'; एक आदमी है जो अपने पैरों के निशानों को देखता हुआ 'आज तक यह हल नहीं कर पाया/कि ये निशान उसे निर्मित करते हैं/या वह इन निशानों को निर्मित करता है'; उसमें 'न जाने कौन कोई एक/ कुएँ में गिर गया है'; उसमें कोई है जो देर रात को न जाने किस दरवाज़े पर बेतहाशा दस्तक देता हुआ हताश पुकार लगा रहा है, 'दरवाज़ा खोलो'; कोई मकान है जो धीरे-धीरे गिर रहा है; कोई है जो हर शाम अपना सिर काटता है; 'कोई दरवाज़ा निकाल रहा है/पुराने मक़बरे से'; उसमें 'प्यास के भीतर प्यास' है 'लेकिन पानी के भीतर पानी नहीं' है; ख़ाली बारहदरी में टहलता कोई आदमी है जिसके चलने से आहट नहीं होती...इत्यादी, इत्यादि।

साही की कविता इनको कोई नाम नहीं देती - वह इस बेनाम, मुश्किल, अबूझ को उसकी समूची नाटकीयता में प्रस्तुत करती है और सिर्फ़ इनको प्रश्नों से वेधती है, या इनके समक्ष स्वयं को प्रश्न-वेध्य बनाती है। ज़रा इन प्रश्नों पर ध्यान दें : 'इन निष्कलंक क्षणों में/हम क्यों इतने अकेले पड़ जाते हैं?/अपने ऊपर से/इस समूची सृष्टि को उतार फेंकने का काम/क्यों इतनी तन्मयता की माँग करता है? क्यों हमारी सारी संवेदनाओं को/बेहोश कर देने के बाद ही/उस अछूते इन्द्रजाल का जन्म होता है?', 'क्या वह था/जो घाटी में छूट जाता है/सबके चले जाने के बाद?', 'समय, तो फिर समय ही क्या है?/स्वप्न-रहित समय/जो धोकर संचित कर देता है/चेतना को/निर्निमेष अशरीरी दृष्टि में बदल देता है?', 'कहाँ है अन्त?/तिलमिलाता, दुर्भेद्य, अन्तिम अन्त?', 'किसने मुझे इस स्वनिर्मित केन्द्र में छोड़ दिया, जिसके चारों ओर खोखले समुद्र की तरह/सिर्फ़ आलोकहीन विस्तार हैं/और दूर किनारों पर/भागते हुए मद्धिम नक्षत्र-लोक?,' 'लेकिन राजन/कल लाक्षागृह के भीतर जो शव पड़े मिले/ वे किसके थे?', 'झूठ सच वाली इस मिली जुली दुनिया में/कौन नहीं/अपनों में सन्त और ग़ैरों में काइयाँ?', 'कैसे? इस धूसर परीक्षण में पंख खोल/कैसे जिया जाता है? कैसे सब हार त्याग/बार बार जीवन से स्वत्व लिया जाता है? कैसे, किस अमृत से/सूखते कपाटों को चीर चीर/मन को निर्बन्ध किया जाता है?' 'कब से यह प्रथा चली है/कि लोग दरवाज़े बन्द कर लें/और जो छूट गये/वे दस्तकें देते रहें?' (प्रसंगवश, हिन्दुस्तान की मौजूदा सत्ता द्वारा ममेतर-विद्वेष और ममेतर-भीति के चलते दरवाज़े बन्द करने की जो मुहिम इस समय चल रही है, उसके सन्दर्भ में उपर्युक्त प्रश्न बहुत मार्मिक होकर उभरता है), 'क्यों ज़िन्दगी चलते चलते/यकायक मौत की तरह लगने लगती है?', 'क्या सचमुच तुम दुश्मन हो?/फिर तुम्हारा नाम इतना घरेलू क्यों लगता है,/जैसे कल तक किसी ने/खुद मुझे इस नाम से पुकारा हो?', 'यहाँ से मैं कहाँ जाऊँगा?/क्या मैं यहाँ से कहीं जाऊँगा?', 'हम यहाँ से क्या ले जाएँगे?', 'मेरे साथ कौन आता है?' 'कहाँ से आता है यह काला प्रकाश/जो अभी भी/तुम्हारी बेज़बान आँखों में जल रहा है?', 'तुम क्यों नहीं इस भँवर से बाहर निकल आते?', 'हर प्रार्थना के मंज़ूर हो जाने के बाद/हर बार एक नया भय/तुम्हारी आत्मा के किस हिस्से से

उपजता है?' 'कालिदास भाई/अब मैं क्या करूँ?', व्यास भाई/अब मैं क्या करूँ?', 'भाई तुलसीदास/अब मैं क्या करूँ?'...

मैं नहीं समझता कि सम्भवतः छायावाद के बाद हिन्दी की कोई भी कविता इतनी प्रश्नाकुल होगी। और, स्पष्ट ही, ये निरे प्रश्न नहीं हैं। ये न छायावादी कविता की तरह की किंचित अबोध और रहस्योद्दीपक जिज्ञासाएँ हैं, और न किन्हीं प्रदत्त उत्तरों से उत्प्रेरित या किन्हीं उत्तरों की पूर्वापेक्षा करते प्रश्नों के छद्मावरण हैं। ये वस्तुतः, अगर हाइडेगर का सहारा लेकर कहें तो, आधुनिक मनुष्य और आधुनिक मानव-स्थिति के सत्त्व का अनिवार्य प्रश्नावतार हैं; आधुनिक मनुष्य के होने की विडम्बनापूर्ण विधि या विधा। ये प्रश्न सघन विमर्शात्मकता, सूक्ष्म विश्लेषण, उत्कट ज़िरह और गहरे आत्मसन्देह, जोकि इन कविताओं के कुछ और अनन्य लक्षण हैं, और इनको सन्तुलित तथा अनुप्राणित करती उतनी ही प्रबल ऐन्द्रियता से उपजे प्रश्न हैं, जिनकी तलाश के लक्ष्य पर इस 'निरपेक्ष, आत्मस्थ, पराये', और अभेद्य प्रतीत होते विराट तन्त्र का, इस ब्रह्माण्ड का वह दुर्बल, वध्य बिन्दु है, जहाँ से इसे वेधा जा सके : 'कहीं इसमें दुर्बलता होगी, इस ब्रह्माण्ड में,/ जहाँ से यह विद्ध होगा; आज रात फिर/मैं उस बिन्दु की तलाश में/एकाग्र देख रहा हूँ;/और गुफा के बाहर से/मेरी आँखें/दो चौकन्ने बिन्दुओं की तरह चमक रही हैं...'।

यह अक्सर देखने में आता रहा है कि जो कविताएँ तात्कालिक या दीर्घकालिक सामाजिक-राजनैतिक सन्दर्भों से प्रतिकृत होती हैं वे, अगर रमेशचन्द्र शाह का पद लेकर कहें तो, 'समकालीनता की चहारदीवारी' में क़ैद होकर रह जाती हैं। कुछेक अपवादों को छोड़ दें, तो मुख्यधारा की ज़्यादातर कथित 'युवा कविता', और उसके बाद की अधिकांश कविता की स्थिति यही रही है। इसके विपरीत जो कविताएँ मानव नियति के अपेक्षाकृत व्यापक प्रश्नों या अस्तित्वपरक उद्विग्नताओं से उलझती हैं, वे प्रायः शाश्वतता के ऐसे अरण्य में आत्मनिर्वासित प्रतीत होती हैं जहाँ इन्सानी बसावट की दैनन्दिन हलचलों की कोई आहट नहीं पहुँचती। यह स्थिति उस अधिकांश कविता की रही है जिसे 'नयी कविता' के नाम से जाना जाता रहा है। (कथित 'प्रगतिवादी' कविता और कथित 'उत्तर-छायावादी' कविता क्रमशः इन दोनों स्थितियों के दयनीयतम उदाहरण कहे जा सकते हैं।) यह विभाजन कुछ ऐसा प्रभाव छोड़ता लगता है, मानो इन दो तरह के सरोकारों - भंगुर प्रतीत होती अनुभूतियों और शाश्वत प्रतीत होते अस्तित्वपरक-बोध - के बीच कोई अनिवार्य विरोध, अपाट्य अन्तराल या असह्य अजनबीयत हो। साही की कविता इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो अपने ही अद्वितीय ढंग से इस छद्म द्वैत को भंग करती है। ये कविताएँ अपने रूपकों और आख्यानों के माध्यम से एक ऐसी इकॉलॉजी का विन्यास करती हैं जिसमें मनुष्य की नितान्त रोज़मर्रा सामाजिक राजनैतिक चिन्ताएँ और उसकी नियतिपरक/अस्तित्वपरक उद्विग्नताएँ एक ही नैसर्गिक आवास में साझा करती हुई, एक-दूसरे को ध्वनित-प्रतिध्वनित करती हैं, परस्पर संवाद करती हैं।

साही का इन्सानी उलझनों का यह शीर्षक-रहित दस्तावेज़, अपने शीर्षक को निरन्तर स्थगित करता, उसकी हर सम्भावना को अपने भीतर समाहित करता जाता, और इस प्रक्रिया में और भी विस्तृत और पेचीदा होता जाता, घटनाओं, दुर्घटनाओं, 'वारदातों' से भरा यह दस्तावेज़, मुख्यतः, उन्हीं के शब्दों में कहें तो, एक 'विषाद-ग्रन्थि' के रूप में सामने आता है जिसके घटकों और कारकों में ये चीज़ें शामिल हैं : हिंसा, भय, विक्षोभ, विवशता, नाउम्मीदी, अपरिवर्तनीयता, चींटी की तरह रेंगते हुए वक़्त का गुज़रना, नॉस्टेल्जिया, निष्क्रियता, घिरे होने की, निरस्त्र, निस्सहाय होने की, पीछा किये जाने की अनुभूति, मृत्यु, आत्मबोध की क्षति का अहसास, चिन्तन के खोखलेपन और कसौटियों के खोटेपन का अहसास, साहसों के आछे पड़ जाने का अहसास, फ़र्कों के मिट जाने की अनुभूति, सत्य और असत्य के महासंग्राम में सत्य की विजय के भ्रम होने का बोध, और इन सबके साथ-साथ करुणा, सहानुभूति, शुभकामना, प्रार्थना...।

उल्लेखनीय है कि ये भाव, अनुभूतियाँ और बोध आदि इन कविताओं में अत्यन्त वैयक्तीकृत हैं, जिसका आलम्बन इन कविताओं में लगभग सर्वनिष्ठ वह 'मैं' है, जिसको हमारे मन में, यद्यपि, कवि, यानी साही के सर्वनाम की तरह देखने का लोभ जाग सकता है, लेकिन जिसमें, वस्तुतः, आधुनिक मनुष्य के भोक्ता-साक्षी-वादी-प्रतिवादी-विश्लेषक-न्यायाधीश आदि विविध पक्ष संश्लिष्ट हैं। इस संश्लेष का वैयक्तीकरण इसे देश-काल-बद्ध करता हुआ अधिक मार्मिक, अधिक ऐन्द्रिय, अधिक दायित्वपूर्ण, अधिक विश्वसनीय बनाता है।

और जिस परिवेश में ये सारे भाव, अनुभूतियाँ, बोध आदि अवस्थित हैं उसकी रचना इन तत्त्वों से होती है : चौकन्ना जंगल, चीड़ के ख़ामोश वन, जलता हुआ जंगल, अर्धभस्म देवदारु, हिम चोटयाँ, बर्फ़ का उजला सरोवर, आदिम अन्धकार, विशाल काल-प्रवाह, समुद्र, समुद्र से समुद्र तक दौड़ती हवा, कोहरा, द्वीप, घाटियाँ, वीरान पठार, विशाल पक्षी, रेगिस्तान, श्मशान, सफ़ेद अस्थियों का ढूह, जीर्ण वसन, मन्त्रोच्चारक, भैरवनाद, जला हुआ कलेवर, विश्वव्यापी प्रतिध्वनियाँ, द्युलोक, अनन्त चमकीले ब्रह्माण्ड, लोकोत्तर छवियाँ, रश्मिव्यूह, अग्निपुरुष, अगाध द्रष्टा, देवता, वरदान, बर्बर सेनानी, व्यूह रचना, एक दूसरे के साथ दाँव खेलते लोग, कमन्द, आततायी, विद्रोही, क़तल, बलात्कार, डरावनी आवाज़ें, ढोल, ताशे, नरसिंघे, दुन्दुभी, नगाड़े, दम साधे अन्त की प्रतीक्षा करता सन्नाटा, कुलबुलाती वैतरणियाँ, मणि-मुकुट, रत्नजटित पादुकाएँ, हिरण्यगर्भ, हिरण्यमय ढक्कन, अग्निकुण्ड, निहत्थे सारथी, शकटार, सर उठाकर टोह लेता नामालूम पौधा, कांक्रीट के नीचे दबा हुआ जंगल, सुनसान शहर, सुन्न मकान, सोयी हुई कराहती हुई सभ्यता, ऐंठती हुई शताब्दि, अन्तरिक्ष में उलटा सिर किये लटके बुज़ुर्ग, अँधेरे मुसाफ़िरख़ाने, स्तब्ध मीनारें, ख़ाली बारहदरी, मेहराबें, चमत्कार की प्रतीक्षा, हवामहल, समतल पगडण्डियों पर चलते, ख़बरें पहुँचाते, मुआयना करते लोग, घिग्घीबन्द पैरोकार, पुकारें, दस्तकें, सुन्न आकाश में बन्दूक़ छूटने की आवाज़...इत्यादि।

निश्चय ही इन सारी संज्ञाओं से, और विशेष रूप से इन संज्ञाओं की भाषिक प्रकृति से निर्मित इन कविताओं का परिवेश अपनी बनावट में किंचित अर्ध-मिथकीय प्रतीत होता है, उसमें समकालीनता और समकालीन दैशिकता का अभाव प्रतीत होता है। लेकिन ये दरअसल रूपकात्मक प्रयोग हैं। और जहाँ उपर्युक्त संश्लिष्ट 'मैं' का वैयक्तीकरण उसे देश-काल-बद्ध करता है, वहीं परिवेश की यह अर्ध-मिथकीयता इस परिवेश को देश-काल के सन्दर्भ में निर्वैयक्तीकृत बनाती है, इसे अपेक्षाकृत सार्वभौम और सार्वकालिक शक्ल प्रदान करती है। इस तरह कविता में एक देश-कालबद्ध, भोक्ता-साक्षी-वादी-प्रतिवादी-विश्लेषक-न्यायाधीश आदि के वैयक्तीकृत संश्लिष्ट स्वत्व की, एक निर्वैयक्तिक, और अपेक्षाकृत सार्वभौम तथा सार्वकालिक परिवेश में अवस्थिति का परिदृश्य निर्मित होता है। यह परिवेश इस संश्लिष्ट स्वत्व और उसके विषाद को, उनकी समकालीनता से उन्मूलित किया बिना, एक व्यापक परिप्रेक्ष्य, या एक क़िस्म की अतिक्रामिता (ट्रांसेंडेण्टलिटी) प्रदान करता है।

इस निबन्ध का, बल्कि कहें इन नोट्स का, समापन करते हुए, मैं साही की कविता के एक और विशिष्ट पक्ष की ओर संकेत करना चाहूँगा। यह है, इनकी आख्यानात्मक या 'एपिसोडिक' बनावट। यह बनावट साही की लगभग हर कविता की विशेषता है। हर कविता किसी घटना, किसी हादसे, किसी दृश्य, या स्वयं साही के प्रिय शब्द का प्रयोग कर कहें तो, किसी 'वारदात' का - जो या तो घटित हो चुकी है या घटित हो रही है - बयान करती है। और जब-तब वह आपको 'आमन्त्रित' करती है किसी ऐसे स्थल पर, जहाँ से आप स्वयं उस दृश्य या घटना को देख सकें :

मैं तुम्हें निमन्त्रित करता हूँ
कि मेरे साथ इस कल्पित खिड़की तक आओ
...
खिड़की के पार
तुम्हें अपनी ओर ताकती हुई
दो आसमान सरीखी आँखें दिखेंगी
या
क्या तुमने एक सिसकती हुई पुकार सुनी
जैसे कोई पत्थर के नीचे दबा हुआ
कराहता हो?
बैठ जाओ, थोड़ी देर में
फिर कराह सुनायी देगी।

या

नदी मूल में

जहाँ रेंगते हुए साँपों का पहरा रहता है

क्या तुम फावड़ा लेकर जा सकते हो?

या

आओ मैं खिड़की से तुम्हें

एक अद्भुत दृश्य दिखाऊँगा।

अपने पर्यवेक्षण या अनुभव में अन्य को सहभागी बनाता, अक्सर एक विश्लेषणपरक बयान। लेकिन ऐसा विश्लेषण जो, विरोधाभासी ढंग से, उस घटना की गुत्थी को सुलझाने की बजाय और अधिक संश्लिष्ट, और अधिक पेचीदा बनाता चलता है। आख्यान या बयान में वाणी का बल, अभिव्यक्ति की मुखरता, उसका अतिरेक निहित है : हम न सिर्फ़ कुछ कहना चाहते हैं बल्कि यथासम्भव वह सब कुछ कहना चाहते हैं जो हमारे साथ घटित हुआ है, या जिसे हमने दूसरे के साथ घटित होते देखा और अनुभव किया है। लेकिन इस बयान में संश्लिष्ट सम्बन्धित घटना का विरोधाभासी विश्लेषण वाणी को मौन-प्रवण बनाता है : हम अन्तिम रूप से कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं रह जा सकते हैं, जैसाकि 'जलते हुए जंगल के पास' शीर्षक कविता में कहा गया है, 'इसके बाद आदमी मितभाषी हो जाता है', इस क़दर कि जब 'हमने पूछा,/हममें से कौन मितभाषी हो जाएगा?/उसने कोई उत्तर नहीं दिया/और चुपचाप चलता रहा।' इस तरह यह विरोधाभासी विश्लेषण से युक्त आख्यानपरकता, न्याय की असम्भाव्यता को उपलक्षित करते साही के काव्य-न्याय का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। काव्य-न्याय, जिसमें अन्याय का जितना गहरा, उत्कट, सूक्ष्म, मर्मभेदक, पीड़क अहसास है, उतना ही प्रबल किन्तु अस्तित्वपरक असहायता से युक्त यह अहसास भी है कि ऐसा कोई भी अचूक, परिपूर्ण नीरन्ध्र न्याय सम्भव नहीं है जिसके भीतर से अन्याय न रिसता हो। वाणी के, दूसरे शब्दों में कविता के, अनवरत कर्म का फल, अनिवार्य निरन्तर बयान का कुल-जोड़, ख़ामोशी है, और अकेलापन। साही की कविता का चरितनायक वाणी के हाथों वाणी के ही मौन में निष्कासित ऐसा ही एक अकेला मनुष्य है। अकेला, किन्तु साहसी; 'साहसी अकेला', निरन्तर जागता हुआ, 'बिना मरे चुप रह सकने' की प्रार्थना करता हुआ, और चमत्कार की प्रतीक्षा करते लोगों से इस सबसे बड़े चमत्कार की प्रतीक्षा का आह्वान करता हुआ कि, 'हवा जैसे गुज़रती है गुज़र जाय/दोपहर जैसे बीतती है, बीत जाय/ नदी जैसे बहती है बह जाय/ सिर्फ़ तुम/ जैसे गुज़र रहे हो गुज़रना बन्द कर दो/जैसे बीत रहे हो बीतना बन्द कर दो/जैसे बह रहे हो बहना बन्द कर दो।'

'समास' की परिक्रमा : एक दृश्यावलोकन

रामशंकर द्विवेदी

'समास' के अंक पाँच से लेकर नौ तक के अंकों में विनिवेशित सामग्री का एक सरसरा विहंगावलोकन समास के पाठक अंक दस में पढ़ चुके हैं। 'समास' साहित्यिक पत्रकारिता में एक नवाचार कहा जा सकता है। यह हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में सचमुच में सामग्री के विनिवेशन, विभिन्न मनीषियों से उदयन वाजपेयी के साक्षात्कार, भारतीय भाषाओं से कविता, उपन्यास, चित्रकला आदि के अनुवाद और सभी के पीछे बहुलतावादी एक भारतीय दृष्टि, वामपंथियों की ख़ेमेबाज़ी या विचार धारा की संकीर्णता से हटकर एक उदार दृष्टि, इन सभी दृष्टियों से समास को एक नया अभियान कहा जा सकता है। वर्ष में इसके तीन अंक निकलते हैं। पठनीय सामग्री से भरपूर समास रज़ा फ़ाउण्डेशन का एक साहित्यिक उपक्रम है। एक सजग, प्रबुद्ध पाठकों के चिन्तन, मनन के लिए जीवन के विविध आयामों के द्वार खोलने वाली एक अनोखी और अद्वितीय पत्रिका। उतनी ही गम्भीर और उतनी ही रोचक। भाषाओं की दृष्टि से देखें तो उर्दू, संस्कृत, उड़िया, असमिया, बाङ्ला, मराठी, गुजराती सभी से चुनी हुई स्तरीय सामग्री। विधाओं की दृष्टि से देखें तो विचार परक प्रबन्ध, आलेख, संस्मरण, कहानी, उपन्यास, कविता, आलोचना, ग्रन्थ समीक्षा। प्रबन्धों का आयाम शिल्प, चित्रकला, संगीत, प्राचीन इतिहास, पुराण का अनुशीलन जो कुछ भी भारत और भारतीयता से संबद्ध है, उस तक विस्तृत सबको समेटने की कोशिश। सम्पादक की दृष्टि एकायामी न होकर बहुआयामी है। इसलिए समास जीवन के हर पक्ष को छूता है। यह कोरा बुद्धि विलास नहीं हर रचना जीवन्त और जीवन के सक्रिय, सचेत आयाम को उद्घाटित करने वाली है।

पहले समास की सम्पादकीय टिप्पणियों पर एक नज़र डालते हैं। अंक १० जुलाई, २०१४। लोक सभा के चुनाव हो चुके थे। पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है, मुक्तिबोध के इस कथन को आधार बनाकर कई वामपंथी आलोचक उनकी विचारधारा से बाहर के अच्छे-अच्छे उत्कृष्ट साहित्यकारों को भी अपदस्थ किया करते थे। इससे हिन्दी साहित्य की जो हानि हुई है उसकी ओर इंगित करते हुए अपने सम्पादकीय में उदयन वाजपेयी ने लिखा है : कोई वामपंथी आलोचक किसी भी लेखक को बिना उसकी कृतियों का विश्लेषण किये, उसे नीचा दिखाना चाहता था, वह उससे व्यंग्य में कहता था, पार्टनर तुम्हारी पॉलटिक्स क्या है? यह प्रश्न पूछते हुए वह अक्सर यह बताना चाहता था कि भले ही यह बेहद नया और चित्राकर्षी लिख रहा हो, भले ही यह अपने लेखन में तमाम सम्भावित गहनता को प्राप्त कर चुका हो पर अगर वह वैसी राजनीति का समर्थन नहीं करता जैसी कि ऐसे प्रश्नों द्वारा परोक्षतः प्रस्तावित की जाती थी, उसमें कोई मूलभूत त्रुटि है। फिर उदयन ने लिखा है, 'यह दरअसल प्रश्न नहीं है, जड़ीभूत विचारधारा को आरोपित करने की समयसिद्ध

युक्ति है।' उन्होंने आगे लिखा है : इसके परिणाम यह हुए कि उन कलाओं और साहित्यों को अस्वीकार किया गया जो इस शर्त पर खरे नहीं उतरते थे। इस छद्म सौन्दर्यशास्त्र का काम विविध कला साहित्य-रूपों को समझना न होकर, उनमें से कुछ को स्वीकारना और अधिकतर को नकारना हो गया है। मुक्तिबोध के प्रश्न की भी यही भूमिका रही है। उन्होंने निष्कर्षतः लिखा है : हम सबके सौभाग्य से इस तथाकथित सौन्दर्यशास्त्र की सीमाएँ पूरी तरह उजागर हो चुकी हैं। अर्थात् साहित्य और कलाएँ किसी उपलब्ध सत्य को प्रचारित-प्रसारित करने का माध्यम नहीं है, वे अपने में ही सत्य-शोधन का साधन है।

अंक-११ का सम्पादकीय (नवम्बर २०१४) हिन्दी को स्मृतिविहीन करने के वामपंथियों के प्रयत्न के खिलाफ संघर्ष करने की अपेक्षा से सम्पन्न है। उन्होंने हिन्दी के हित में जो बात कही है उसके पालन से ही हिन्दी की पुनर्प्रतिष्ठा हो सकती है। अपने सम्पादकीय के अन्त में उन्होंने कहा है 'एक ओर हमें संस्कृत और अन्य प्राचीन भाषाओं में संग्रहीत स्मृति और समझ को एक बार फिर हिन्दी में सक्रिय करना होगा और दूसरी ओर देश-दुनिया की नयी-नयी समझ से भी इसे अलंकृत करना अनिवार्य होगा। हिन्दी भाषियों को सचेत करते हुए उन्होंने कहा है कि उनकी भाषा पर भीतर और बाहर दोनों ही जगहों से पर्याप्त हमले हो रहे हैं। इन सबसे बाहर वह केवल अपने को शक्ति-सम्पन्न करके ही निकल सकती है।

समास-१२, मार्च २०१५। अपने अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित सम्पादकीय में उदयन ने यह बताया है कि हमारे साहित्य और भाषा के आन्तरिक तत्वों को कैसे सक्रिय, ऊर्जस्वित और समृद्ध किया जा सकता है। उनके अनुसार साहित्य को समृद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्राचीन और अर्वाचीन संगीत परम्पराओं, नृत्य परम्पराओं, दार्शनिक दृष्टियों आदि अन्यान्य कलाओं एवं ज्ञान परम्पराओं के प्रति सचेत होना होगा। साहित्य स्वयं से अन्तःक्रिया कर न आज तक समृद्ध हुआ है और न हो सकेगा।

समास-१३, २०१५। 'समास' की मूल चिन्ता भारतीय सभ्यता के अतीत और साम्प्रदायिक सम्भावनाओं को समझने की रही है। इसलिए उसके केन्द्र में वे लेखक प्रमुखता से आते रहे हैं जिन्होंने इस सभ्यता की खूबियों और कमियों को विश्लेषित किया या अपने विचार के केन्द्र में लाते रहे। उनमें कमलेश जी का योगदान कम नहीं रहा है इसलिए समास १३ की तैयारी उनके चले जाने के अवसाद में हुई है। इस अंक के सम्पादकीय का एक बिन्दु समास को दिये गये उनके अवदान पर केन्द्रित है। उसके बाद सम्पादकीय का दूसरा बिन्दु है किस तरह वामपंथियों द्वारा हमारे लेखकों को उनके राजनैतिक दृष्टिकोण से देखा जाता रहा और मुक्तिबोध जैसे लेखक भी यह करने से बाज़ नहीं आ सके। सम्पादक का कहना है : बहुत लम्बे समय तक हमारे प्रगतिशील लेखक अपने से भिन्न दृष्टि या दृष्टियाँ रखने वाले लेखकों को उनकी राजनीति के आधार पर लांछित करने का एक भी अवसर ज़ाया नहीं करते थे। इसका असर युवा लेखकों पर बहुत बुरा हुआ। वे अपनी राजनैतिक अवस्थिति को ठीक करने में लग जाते और अपनी सृजनशीलता को बेहतर बनाने पर ध्यान नहीं देते, परिणाम यह हुआ कि साहित्य का स्तर गिरता गया। अन्त में सम्पादक ने

निष्कर्षतः कहा कि लेखक की राजनीति का सन्दर्भ न विचारधारा हो सकती है और न कोई राजनैतिक दल उसकी राजनीति का सन्दर्भ केवल उसका सत्य का अपना अनुभव हो सकता है।

समास-१४, २०१६। मार्क्सवादी विचारधारा और पश्चिमी दृष्टि से अपने समाज को देखने का यह परिणाम हुआ कि हमारा साहित्य भी स्मृतिविहीन होता गया और हम अपने मूर्धन्यों को भुलाने में ज़रा भी देर नहीं करते हैं। अपने सम्पादकीय में उदयन वाजपेयी ने लिखा है कि साहित्य का एक दायित्व अपनी सभ्यता के नागरिकों को उनकी स्मृतिहीनता-जन्य करुण स्थिति से बाहर लाना भी हुआ करता है। यह कार्य बाङ्ला भाषा में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने किया था। हिन्दी में वासुदेवशरण अग्रवाल, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कमलेश, श्रीकान्त वर्मा आदि लेखकों ने किसी हद तक इसी कार्य में अपना जीवन लगाया। इन लेखकों के कार्य को आगे बढ़ाना और उनका स्मरण करते रहना हमारी सोच में अपनी सभ्यता के दोबारा आत्मविश्वास बनाने की ओर धीरे ही सही, पर सही दिशा में चलना है। अन्त में तीन मूर्धन्यों के दिवंगत होने की दुःखद सूचना भी हृदय को विगलित करने वाली है : श्रेष्ठ रंगकर्मी, नाटककार और कवि कावालम नारायण पणिक्कर, चित्रकार के.जी. सुब्रमणियम और सैयद हैदर रज़ा।

समास-१५, २०१६-१७। इस अंक का सम्पादकीय भारतीय सभ्यता की समावेशिता और अन्य सभ्यताओं से निरन्तर संवाद रत होने में ही उसकी सार्थकता है। इस पर केन्द्रित है सम्पादक का मानना है, यह संवाद तब नहीं हो सकेगा जब हम या तो अपनी सभ्यता की विलक्षणता को जड़ मानकर बरतने लगे या उस विलक्षणता को स्वीकार ही न करें।

समास-१६, जुलाई-सितम्बर २०१७। इस सम्पादकीय के केन्द्र में हैं वे चार मूर्धन्य साहित्यकार जिनकी लगातार उपेक्षा की गयी उनमें हैं श्रीकान्त वर्मा, कमलेश, निर्मल वर्मा और कृष्ण बलदेव वैद। इन्हें भुलाने या भुलाये रखने का मूल कारण उदयन ने यह बताया है कि इन चारों लेखकों की साहित्येतर राजनीति हिन्दी साहित्य में बहुमान्य राजनीति से मेल नहीं खाती थी। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि इन चारों लेखकों के दो-तीन दशक पहले जाएँ, हम देख पाएँगे कि तब के महान हिन्दी लेखक और चिन्तक वासुदेव शरण अग्रवाल और मोतीलाल शास्त्री के साथ भी हिन्दी के साहित्य-समाज ने लगभग यही सलूक किया है। सम्पादक ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए लिखा है, यह गहरी चिन्ता का विषय है कि हमारे साहित्य में लेखकों की स्वीकृति और अस्वीकृति, उनके बलात् स्मरण और बलात विस्मरण के आधार साहित्यिक या सौन्दर्यात्मक नहीं हैं। पूरी तरह राजनीतिक हैं। फिर उसने राजनीतिक विचारधारा पर आधारित आलोचना पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि लेखक की साहित्येतर राजनीति को सृजनात्मक लेखन को परखने का प्रधान मूल्य बनाना हिन्दी आलोचना के आलस्य और किसी हद तक परम्परा-विमुखता का ही द्योतक है।

समास-१७, २०१८। इस अंक के सम्पादकीय का खुलाव हमारे समकाल के एक विशिष्ट दार्शनिक नवज्योति सिंह के असामयिक देहावसान से होता है। लेखक ने उन्हें अपने समय का वैशेषिक दर्शन का एक

ऐसा विचारक बताया है जिसने कलाओं पर भी विचार किया है। उसने खेद पूर्वक कहा है कि उनकी केवल एक पुस्तक प्रकाशित हो सकी जो समास-६ में उनके साक्षात्कार पर आधारित थी। सम्पादक ने बड़े दुःख के साथ कहा है कि हमें यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि हमारी इस बौद्धिक जड़ता के क्या-क्या कारण हैं, किसकी वजह से नवज्योति सिंह का दार्शनिक चिन्तन समकाल के बौद्धिकों, विश्वविद्यालयों और सामान्य पाठकों के मध्य अलक्षित रह गया। उसने एक और अलक्षित रह गये अनुसन्धानकर्ता और चिन्तक धर्मपाल का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऐसा ही कुछ सलूक कुछ वर्ष पहले तक जीवित अद्वितीय इतिहासकार धर्मपाल के साथ भी हुआ है। मुझे लगता नहीं कि भारत का एक भी ऐसा विश्वविद्यालय होगा जहाँ धर्मपाल को पढ़ाया जाता या उन पर गम्भीर शोध किया जा रहा हो (पृष्ठ ५) ६ जुलाई २०१८।

समास ! २०१८-१६, वर्ष-७, अंक १८। इस अंक का सम्पादकीय कलाओं- विशेषकर संगीत और नृत्य पर आधारित है। हमारी सभ्यता पैगन सभ्यता है जहाँ सत्य पहले से उपलब्ध नहीं उसे अर्जित करना पड़ता है इसी तरह हमारा संगीत उपज और बढ़त वाला है, इसका कोई पूर्व निर्मित ढाँचा नहीं होता जैसा कि पश्चिमी संगीत में होता है। इसीलिए हमारा संगीत और नृत्य विविध रूपाकारों में व्यक्त होता है किसी एक ही पूर्वनिर्मित विन्यास में नहीं।

समास-२०१६, वर्ष ७, अंक-१६। समास-१६ का सम्पादकीय एक रोचक क़िस्से से शुरू होता है और यह किस्सा उस युवक का है जो अपनी पढ़ाई छोड़कर सिर्फ़ लेखन करना चाहता है। पर वह ऐसा करने के पहले अपने गुरु से पूछता है कि क्या यह करना उचित है। गुरु का कहना है तब तुम्हें जीविकोपार्जन के लिए दो में से एक विकल्प चुनना होगा या तो किसी महाविद्यालय में अध्यापकी करो अथवा पत्रकारिता करो। और दोनों ही विकल्पों का परिणाम यह होता है कि एक में साहित्य की समझ जड़ होकर रह जाती है और दूसरे में आपकी भाषा सतही, सपाट होने को अभिशप्त है। अन्त में सम्पादक इस कहानी का फलितार्थ इन शब्दों में करता है : अगर हम अपने विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों का सर्वेक्षण करके यह पता करने का प्रयास करें कि इनमें काम करते और इनसे पढ़कर निकले कितने लोग साहित्य के गहरे आस्वादक हो सके हैं, तो हमें गहरी निराशा हाथ लगेगी। हिन्दी पत्रकारिता में कुछ अपवाद छोड़कर अधिकांश पत्रकार लेखक साधारण लेखन ही कर सके हैं (पृष्ठ ५)

समास-२०, वर्ष ७, अंक-२०, २०२०। २४ जुलाई २०२० को लिखे अपने सम्पादकीय में उदयन वाजपेयी ने धर्म का प्रश्न उठाते हुए उसके व्यापक अर्थ पर विचार किया है। धर्म के व्यापक अर्थ पर विचार करते हुए वासुदेव शरण अग्रवाल ने उसे ऋत् और सत्य का पर्याय माना है ऋत् गति का सत्य है और सत्य स्थिति का सत्य है। धर्म में ये दोनों आ जाते हैं। धर्म जो सभी को धारण करो इसी से नैतिक नियम जुड़े हुए हैं। अन्त में सम्पादक का कहना है : जब तक हम इस प्रत्यय को उसके प्राचीन और अर्वाचीन आशयों

में गहराई से और बिना किसी वैचारिक आरोपण के समझने की चेष्टा नहीं करेंगे, हम सामाजिक हिंसा को रोक नहीं सकेंगें। (पृष्ठ ६)

यहाँ तक समास-१० से लेकर समास-२० तक के सम्पादकीयों के मूल वक्तव्यों को प्रस्तुत किया गया। ये टिप्पणियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं इनका व्यापक सम्बन्ध अंक-२० से लेकर २० तक के उन संवादों से है जो उदयन वाजपेयी या किसी अन्य से किसी मनीषी, दार्शनिक, विचारक या साहित्यकार से हुआ है इसलिए ये टिप्पणियाँ सन्दर्भहीन नहीं है। साथ ही इनकी एक विशेषता है इनके परिसर का मात्र दो पृष्ठों का होना। यहाँ मुझे वे सम्पादक याद आते हैं जो अपने द्वारा सम्पादित पत्रिका में सम्पादकीय टिप्पणी के बहाने एक स्वतन्त्र निबन्ध ही लिख डालते थे, फिर उनके उस सम्पादकीय का सम्बन्ध उस अंक में समाविष्ट सामग्री से हो या न हो। इस दृष्टि से समास की सभी सम्पादकीय टिप्पणियाँ बेहद प्रासंगिक और लघु परिसर वाली होते हुए भी गम्भीर, स्पष्ट और तर्क से पुष्ट हैं। इन्हें सम्पादकीय विवेक का एक उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। इनका फलक छोटा होते हुए भी इनमें समाविष्ट विषय का फलक बहुत विस्तृत और विचार-प्रवण है।

पहले अंक ५ से अंक ६ में समाविष्ट सामग्री का आकलन करते हुए यह उल्लेख किया गया था कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में 'समास' पत्रिका की विशिष्टता जिन कारणों से है उनमें एक कारण इसके संवाद हैं। और इन संवादों की प्रकृति हिन्दी में साक्षात्कार विधा की ढर्रे वाली प्रकृति से एक़दम हटकर है। इनमें उदयन वाजपेयी या साक्षात्कार लेने वाला सामने के व्यक्ति को खुलकर बोलने की छूट देता है, वह स्वयं लम्बे भाषण देने लगने की उतावली से बचता है या बीच-बीच में अपना ज्ञान नहीं बघारता है बल्कि उत्प्रेरक, उत्सुकतापूर्ण, कुछ नया जानने की इच्छा से बीच-बीच में प्रश्न करता जाता है। इन संवादों में जिसका साक्षात्कार लिया जा रहा है, उसका जीवन, उसके विचार, उसकी दृष्टि, उसका लेखन और ज्ञान के प्रति एक विनम्र दृष्टि के साथ साहित्य या विचार भारतीय चिन्तन परम्परा को उसकी देन क्या है, यह भी आ जाता है। साक्षात्कार देने वाले की दृष्टि नयी, मौलिक और उस जैसी वैश्विक विचारधाओं से अपनी विचारधारा की तुलना करते हुए उसकी विशिष्टता को रेखांकित करती है। विषय वैविध्य की दृष्टि से ये साक्षात्कार कला, संस्कृति, सभ्यता, दर्शन, धर्म, नीतिबोध, कविता, साहित्य, संगीत, नृत्य और भाषा, समाज, लोक सभी का स्पर्श करते हैं। ये हमें विचारशील या यों कहिए जीवन से जुड़े प्रश्नों पर विचार करने को उकसाते हैं साथ ही ये हमारे बोध को गहरा करते हुए हमें ज्ञान से समृद्ध करते हैं।

समास-१० में सुधारक यादव द्वारा लिया गया उपन्यासकार भालचन्द नेमाड़े का लम्बा साक्षात्कार है और उनके 'हिन्दू' उपन्यास का एक अंश प्रकाशित हुआ है। जैसा कि विदित है उनके विचार अपने हैं और वे एक विवादास्पद लेखक हैं। उनके विचार व्यक्तिगत हैं और उनसे सहमत होना मुश्किल है। स्वयं समास में ऐसी बहुत-सी सामग्री है जो उनके अनुकूल नहीं है। फिर भी उन्हें एक बार पढ़ना ज़रूर चाहिए।

समास-११ में अशोक वाजपेयी के साथ उदयन वाजपेयी की लम्बी बातचीत है। उदयन का अशोक जी के लिए यह कहना कि अशोक वाजपेयी को सच्चे अर्थों में पिछले कई दशकों का एक बड़ा हिन्दी सेवी कहा जा सकता है। अशोक जी के पूरे व्यक्तित्व को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर देता है। पर यह बातचीत 'हिन्दी भाषा के इर्द-गिर्द घूमती उनकी ज़िन्दगी और समझ को आलोकित करने की मंशा से की गयी है। उदयन ने लिखा है 'यह बातचीत भाषा में कवि के और कवि में भाषा के संस्कार के स्वरूप को समझने में सहायक होंगे (पृष्ठ ७)

अशोक वाजपेयी की काव्यभाषा और उनकी गद्य भाषा हिन्दी कविता और हिन्दी आलोचना की पूर्व भाषा की तुलना में एक विराट विचलन है। इनकी भाषा की आप नक़ल नहीं कर सकते। कुछ लेखकों ने इनके द्वारा व्यवहृत शब्दों को आत्मसात कर अपने गद्य में प्रयोग करने की कोशिश की है पर ऐसे छिटपुट शब्द हें उन्हें एक प्रकार का प्रभाव कहा जा सकता है पर उन लेखकों का भाषा व्यवहार एक़दम अपना और मौलिक है। इनमें आप पीयूष दईया, मदन सोनी और ध्रुव शुक्ल को ले सकते हैं। स्वयं उदयन का भाषा-व्यवहार अशोक वाजपेयी से एक़दम अलग और भिन्न है। अभी अशोक वाजपेयी की भाषा के प्रायोगिक पक्ष पर कोई गहरा और विस्तृत काम नहीं हुआ है। अगर आप शमशेर बहादुर सिंह मुक्तिबोध, कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय के भाषा-व्यवहार को सामने रखकर अशोक वाजपेयी की भाषा-दृष्टि तथा उसके प्रायोगिक पक्ष की तुलना करें तो अशोक वाजपेयी की भाषा की विशिष्टताएँ उजागर हो जाएँगी। अशोक वाजपेयी बेहद शब्द-सचेत कवि हैं। पूरा साक्षात्कार उनकी भाषा के स्रोत और उसके तेवरों को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। 'भारतीय नाट्य की अवधारणा एवं रंगकर्म का प्रशिक्षण' इस शीर्षक से उदयन वाजपेयी का संवाद प्रसिद्ध नाट्यकर्मी कावालम नारायण पणिक्कर से अंक-१२ में प्रस्तुत किया गया है। इस संवाद से पणिक्कर के कवि, रंगकर्मी जीवन के पूरे विकास पर प्रकाश पड़ता है। पणिक्कर के जीवन में अन्य जो कवि, रंगकर्मी प्रसंगतः आए उनके जीवन के पक्ष भी इसमें उल्लिखित हैं। एक तरह से इस संवाद से पणिक्कर के जीवन की कहानी का रोचक विवरण एक पाठक के सामने प्रत्यक्ष हो उठता है।

पणिक्कर का एक सुझाव बहुत ग़ौर करने लायक़ है। उन्होंने कहा है, हम जब तक नाट्यशास्त्री के पाठ पर ज़ोर नहीं देते (और इसको पूरा का पूरा सीखना ज़रूरी नहीं है) तब तक हम अपने रंगकर्म को विकसित नहीं कर सकेंगे (पृष्ठ ६४)

समास-१३ की बातचीत बी.एन. गोस्वामी के पहाड़ी चित्रकला के लोक रूपों पर आधारित है। इससे कांगड़ा, वसोली आदि पहाड़ी चित्रकला की राजपूत, मुगल चित्रकला से भिन्न को समझा जा सकता है। बी. एन. गोस्वामी ने इस चित्रकला के पारम्परिक रूपों पर लेखन किया, उसकी बारीकियों की व्याख्या की और इसी कर्म में अपना जीवन समर्पित कर दिया। उदयन ने लिखा है कि यह बातचीत अधूरी है, हो सकता है

इसकी अगली कड़ी समास के इन्हीं पन्नों पर कभी रेखान्कित हो। उनकी डायरी के कुछ पन्ने भी इसी अंक में निकले हैं जो इस कला के विविध रूपों पर प्रकाश डालते हैं।

समास-१४ में 'सभ्यताओं के विविध तत्व' को केन्द्र में रखकर देश के ख्यात विचारक बनवारी से उदयन की बातचीत दी गयी है। बनवारी के बारे में उदयन का यह कहना पर्याप्त है कि उन्होंने भारतीय सभ्यता को गहराई से समझने के लिए न सिर्फ़ इस सभ्यता के बारीक-से-बारीक विवरणों को ध्यान से देखा-परखा है बल्कि अन्य सभ्यताओं के अध्ययन के सहारे भी इसकी विशेषताओं को रेखांकित करने का अनोखा बौद्धिक उपक्रम किया है। (पृष्ठ ७)

समास-१५ की बातचीत के केन्द्र में उर्दू के प्रसिद्ध शायर, आलोचक और उपन्यासकार शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी हैं। इनकी बातचीत के दो बिन्दु हैं एक तो इनकी जातीय ज़िन्दगी पर आधारित है, दूसरा इनके लेखकीय जीवन पर। पूरी बातचीत बहुत ही रोचक पठनीय और विचार बहुल है। अगर इस बातचीत का पूरा विवरण दिया जाए तो एक लम्बी कहानी जैसा बनेगा जो इस लेख की सीमा को देखते हुए मुमकिन नहीं है। पूरा ब्यौरा एक लम्बे लेख की अपेक्षा रखता है। फिर भी पाठकों से यह निवेदन है कि इस समास के इसी अंक में मूल रूप में पढ़कर उसका आस्वादन ज़रूर करें। इसमें उर्दू, फारसी, फ्रेंच आदि के साहित्य से सम्बन्धित कई रोचक तथ्य दिये गये हैं साथ ही १८वीं, १९वीं सदी की दिल्ली के परिवेश की भी इसमें जीवन्त झलक आपको मिल जायेगी। अपने उपन्यास 'कई चाँद थे सरे-आसमां' की रचना-प्रक्रिया वस्तु विन्यास, पात्रों के निर्माण आदि पर उन्होंने जो लम्बी बातचीत की है, वह उर्दू कथा-साहित्य में एक मील का पत्थर है। इस उपन्यास की प्रेरणा भूमि क्या है, इसके पात्रों को उन्होंने इतिहास की किन अँधेरी गुफाओं से उठाया है, कैसे उन्होंने वज़ीर ख़ानम जैसी औरत का चित्रण किया है, कैसे यह एक-के-बाद-एक मर्द बदलती है, या तो मर्द मर जाता है या वह स्वयं छोड़ देती है और दूसरे के पास चली जाती है, वह बड़ा सशक्त स्त्री चरित्र है। इसके गठन के पीछे सौन्दर्य का कौन-सा आधार है, फ़ारूक़ी साहब ने इस बातचीत में पूरी तरह बयान किया है। इसका आनन्द इस बातचीत के पढ़ने में है, इसमें और भी बहुत-सी बातें है जो एक पाठक के मन को समृद्ध करती हैं। 'प्रवास की सुदीर्घ साधना' कृष्ण बलदेव वैद से उदयन की बातचीत समास-१६ की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसकी वजह इसलिए है कि यह पूरी बातचीत ई-मेल पर हुई आमने-सामने बैठकर नहीं। आप सोचिए दोनों तरफ से कितने ई-मेल हुए होंगे और उनके जवाब में वैद साहब को कितने लम्बे-लम्बे उत्तर लिखने पड़े होंगे। पर हर संवाद की तरह यह संवाद अनोखा, विचार बहुल और वैद साहब के लेखक, उसके संघर्ष, उनके उपन्यासों, कहानियों की खूबियों को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

उदयन ने उनके बारे में लिखा है : वैद साहब ने अपने हर उपन्यास में उपन्यास लेखन के क्षेत्र में नये प्रयोग करने का जोखिम उठाया है। उनके लेखन से न सिर्फ़ हिन्दी बल्कि अनेक भारतीय भाषाओं के

कई लेखक गहरे तक प्रभावित रहे हैं। उनके लिखने की शैली तक को वैद साहब के लेखन ने किसी हद तक बदला है। (पृष्ठ १) उन्होंने आगे लिखा है : पाठक इस बातचीत में यह लक्ष्य करेंगे कि वैद साहब ने अपना उच्च अध्ययन शरणार्थी शिविर में रहकर पूरा किया है। वे वर्षों अमरीका में अंग्रेज़ी पढ़ाते रहे हैं और अब कई बरस भारत में गुजारने के बाद दोबारा अमरीका लौट गये हैं। (पृष्ठ १)

समास-१७ की बातचीत आशीष नन्दी से हुई है, इसका शीर्षक है 'आधुनिक भारत की आधार शिलाएँ'। आशीष नन्दी देश के श्रेष्ठ विचारकों में माने जाते हैं। वे राजनैतिक मनोविश्लेषक, समाजशास्त्री और आधुनिकता के समर्थ आलोचक हैं। उन्होंने पिछले अनेक दशकों में उपनिवेशोत्तर भारतीय समाज की आत्म-पहचान के तत्वों को रेखांकित करने का एक ऐसा सैद्धान्तिक उपक्रम किया है जो अपने आप में अनूठा है।

दरअसल समास के हर अंक में किसी-न-किसी से उत्प्रेरक बातचीत रहती ही है। यह उस पत्रिका का स्थायी स्तम्भ है। पर यह बातचीत जितनी गम्भीर, रोचक और विचारपूर्ण रहती है इसमें उतनी ही विविधता रहती है। यह विविधता इसे उबाऊ या ढर्रे की बातचीत में परिणत होने से बचाती है।

आशीष नन्दी से उदयन की बातचीत बहुत लम्बी और विविध विषयों पर आधारित है। उसका सारांश देना कठिन है। पर उनके विचारों में वैयक्तिकता अधिक है। उन्हें इदमित्थं नहीं कहा जा सकता है। पर एक बार उसे पढ़ना ज़रूर चाहिए।

समास-१८ की बातचीत का केन्द्र 'सिनेमा कला और संसार' है जो कुमार शहानी से की गयी है। उदयन ने उन पर केन्द्रित टिप्पणी में लिखा है, 'ऋत्विक घटक और सत्यजीत राय के बाद कुमार शहानी और मणिकौल सम्भवतः देश के सबसे अधिक महत्वपूर्ण फ़िल्मकार रहे हैं। इनकी फ़िल्मों ने न सिर्फ़ हमारे फ़िल्म के देखने में बुनियादी बदलाव लाया है बल्कि इन फ़िल्मों की रोशनी में हम वास्तविकता और स्वयं अपने आप को भी कुछ और तरह से ही अनुभव करने के रास्ते खोज सके हैं या खोज सकते हैं। उन्होंने लिखा है कुमार शहानी से बात हमेशा हर्षित करती है। वे अपने भीतर दुनिया की तमाम कला परम्पराओं के बहावों को मानो लेकर चलते है, इसलिए उनसे बात करना अनिवार्य रूप से गहन कलात्मक और दार्शनिक अनुभव होता है। (पृष्ठ २)

समास-१६ के वार्तालाप का विषय न्यायशास्त्र की दृष्टि से कलाएँ हैं। यह बातचीत ख्यात न्यायशास्त्री, काशी निवासी प्रोफेसर प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय से की गयी है। इस वार्तालाप का शीर्षक है आधुनिक भारत की निर्मिति पर न्यायशास्त्रीय दृष्टि। मैंने कई बार इन वार्तालापों की विलक्षणता का संकेत किया है। दिलचस्प बात यह है कि उदयन की हर बातचीत का प्रस्थान बिन्दु नितान्त मौलिक और नया होता है। बातचीत के पहले जिससे बातचीत करनी है उसके जीवन, बौद्धिक रुचि, कार्यक्षेत्र का संक्षिप्त विवरण के साथ उदयन

उस विद्वान से उनका व्यक्तिगत परिचय कैसे हुआ इसका भी संकेत कर उस बातचीत की ओर जीवन्त तथा वैयक्तिकता से जोड़ देते हैं। इससे उस बातचीत में जो आत्मीयता का रंग आ जाता है, वह इसे एक रोचक आसंग दे देता है। इन वार्तालापों को पढ़ते हुए मुझे प्लेटो और अरस्तू के वार्तालाप याद आते रहे और श्री अरविन्द और नीरदवरन के साथ दिलीप कुमार राय और रोम्याँ रोलाँ, रवीन्द्रनाथ, बट्रेन्ड रसेल, गाँधी और श्री अरविंद से उनकी बातचीत भी याद आ गयी। संगीतकार श्री दिलीप का यह वार्तालाप उनकी ख्यात बाङ्ला पुस्तक तीर्थंकर में संकलित है। यह बहुत ही रोचक बौद्धिक दीप्ति से युक्त और उजास से भरा हुआ है। प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय जी से उदयन का परिचय प्रसिद्ध दार्शनिक नवज्योति सिंह के माध्यम से हुआ था। उन्हीं के प्रयास से वाराणसी में आयोजित नाट्यशास्त्र पर पाँच दिवसीय कार्यशाला में उदयन ने उन्हें सुना और यह बातचीत भी मुखोपाध्याय के घर पर हुई। बाद में उदयन की तीसरी बार की बनारस यात्रा के दौरान सम्पन्न हुई।

बातचीत के प्रारम्भ में मुखोपाध्याय ने भारतीय पश्चिमी संस्कृति के विभेद के बारे में बताते हुए कहा है कि भारतीय संस्कृति में खुद को अदृश्य रखना एक बड़ा मूल्य है, पश्चिमी संस्कृति में इससे ठीक विपरीत खुद को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना। इसके बाद उन्होंने रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द में अन्तर की जो रेखा खींची है उसके अनुसार परमहंस जी के माध्यम से विराट के दर्शन होते थे जबकि स्वामी विवेकानन्द को देखकर हमारी दृष्टि उन्हीं पर अटक कर रह जाती थी। मुखर्जी के इस मूल्यांकन से मैं सहमत नहीं हूँ किन्तु क्यों उसके विस्तार में जाने की यह जगह नहीं है। आगे उन्होंने आधुनिक मन का जो लक्षण बताया है वह इस प्रकार है 'आधुनिकता की दो चीज़ों ने समाज को आक्रान्त कर रखा है। पहला व्यक्तिवाद (इण्डिविजुअलिज़्म) और दूसरा है मौलिकता। उन्होंने आगे कहा है ज़्यादातर मौलिकता का यह दावा अज्ञान आधारित होता है। हमारी अधिकांश मौलिकता का अर्थ इतना भर है कि हमें यह पता नहीं रहता कि हमारी मौलिक बात कोई अन्य कह चुका है। (पृष्ठ २)

पर मुखोपाध्याय का यह सशक्त विचार है जिसमें यह अपेक्षा है कि हमारी जड़ें अपनी संस्कृति में होनी चाहिए और उसके बाद ही हमें विचार-विमर्श करना चाहिए (पृष्ठ ४)

मुखर्जी ने राष्ट्रवाद पर खुली दृष्टि से विचार किया है। उनकी दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द और टैगोर दोनों अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे केवल महात्मा गाँधी ही एकनिष्ठ राष्ट्रवादी थे। उनकी (मुखर्जी की) दृष्टि में राष्ट्रवाद का आशय अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठा है, यह मेरे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण मूल्य है (पृष्ठ ५)। मुखर्जी ने भारत में राष्ट्रीयता का उद्भव और विकास कैसे हुआ इस पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने अपने वार्तालाप में जिस महापुरुष सतीशचन्द्र मुखर्जी और उनकी डॉन सोसायटी का उल्लेख किया है उनके कार्यकलापों और डॉन सोसायटी पर भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में

विस्तार से चर्चा की है। डॉन सोसायटी और उनके पत्र डॉन पर बाङ्ला की एक पत्रिका में विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है।

मुखर्जी ने राष्ट्रवाद की तरह धर्म की पश्चिमी दृष्टि की आलोचना की है। पश्चिम के लोगों की दृष्टि विकासवाद से प्रभावित है। वे हिन्दू धर्म की निरन्तरता न मानकर उसके तीन सोपान मानते हैं। पश्चिम के द्वारा धर्म के निरन्तर किये जा रहे अपमान को न सहकर सबसे पहले ब्रह्मधर्म ने ही उसका उत्तर दिया। इसी के साथ उन्होंने चार बड़े आन्दोलनों की चर्चा की है। पहला राष्ट्रीय धार्मिक आन्दोलन जिसमें हमें अपनी संस्कृति पर पुनर्विचार करने और पश्चिम की वैचारिक चुनौती का प्रत्युत्तर देने को प्रेरित किया। दूसरा आन्दोलन राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन था, तीसरा राष्ट्रीय राजनैतिक आन्दोलन था और चौथा स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय शिक्षा नीति का आन्दोलन था, जिसके तहत कोठारी आदि कई आयोग बने पर किसी ने भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले हुए राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के दस्तावेजों को नहीं पढ़ा। अगर पढ़ते तो हमारी शिक्षा नीति में जो कमी रह गयी वह न रह जाती।

भारत में विकास की जो परिकल्पना की गयी है वह मुखर्जी की दृष्टि में भारतीय समाज को बिना जाने। पश्चिम का समाज सपाट है, भारतीय समाज सपाट नहीं है। इसी तरह भारतीय समाज में अतीत की धारणा अनन्त है, भविष्य की सान्त (स+अन्त)। पर पश्चिम में ठीक इसका उलटा है। वहाँ अतीत सान्त है और भविष्य अनन्त। इसीलिए वे न कर्म का सिद्धान्त मानते हैं न पुनर्जन्म का। हमारे यहाँ बौद्ध, जैन, सिख सभी कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी। मुखर्जी के शब्दों में आपको ऐसा शायद ही कोई भारतीय मिलेगा जो कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म में विश्वास न करता हो, चाहे वह बौद्ध हो, जैन हो या हिन्दू। इस तथ्य को दबाने की क्या ज़रूरत है? ये सभी कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं और कर्म के सिद्धान्त की तार्किक परिणति अतीत की अनन्तता में होती है, साथ ही इसका अन्तर्सम्बन्ध भारत की समय की धारणा से जुड़ा हुआ है। (पृष्ठ १७)

मुखर्जी के विचार हमें हर चीज़ पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करते हैं चाहे हमारे समाजवादी लोकतान्त्रिक गणराज्य की स्थापना हो, शिक्षा आन्दोलन हो, भक्ति आन्दोलन हो- सब पर। उनका कहना है हमें पश्चिम की दृष्टि से अपनी हर चीज़ पर विचार करना छोड़ना चाहिए और यह खोजना चाहिए कि हमारी अपनी दृष्टि क्या है, भारत क्या है, भारतीयता क्या है?

मुखर्जी के विचार बहुत ही उत्प्रेरक और सोचने को विवश करते हैं। उदयन वाजपेयी के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा है आज दोयम दर्जे के लोग हर क्षेत्र में शासन कर रहे हैं। यह क्षेत्र चाहे राजनीति का हो या संस्कृति का हो या यान्त्रिकी का हो, वह हर जगह शासन कर रहे हैं। यह न सिर्फ़ अपने आप में ग़लत है बल्कि इसके कारण वास्तविक प्रतिभा सम्पन्न लोगों को ऊपर नहीं आने दिया जाता। (पृष्ठ २२) उन्होंने दूसरी बात यह कही कि हमने सोच-विचार करना छोड़ दिया है। उन्होंने अंग्रेज़ी लेखक बर्नार्ड शॉ को

उद्घृत करते हुए कहा है 'सतहीपन एक बीमारी है जो दूसरी बीमारियों की तरह हमने ही बनायी है। मुखर्जी के अनुसार वैचारिकता किसी भी संस्कृति की आधारशिला होती है, उसके जीवत्व के लिए, उसे बनाए रखने के लिए। (पृष्ठ २२)

उन्होंने मार्ग संगीत बरक्स रवीन्द्र संगीता अतुल प्रसाद सेन संगीत और दिलीप कुमार राय के गायन के साथ घूर्णटी प्रसाद मुखर्जी के संगीत चिन्तन पर भी विचार किया है। वे बेगम अख़्तर की गायकी के बेहद प्रशंसक हैं। इससे मुखर्जी की संगीत विशेषज्ञता का भी पता चलता है। उनके अनुसार जिस संगीत में स्वर के साथ काव्य भी उच्चकोटि का हो वही उत्कृष्ट संगीत होता है।

कला के बारे में मुखर्जी का कहना है कि भारत में कला के सिद्धान्त तो विकसित हुए पर कला का दर्शन विकसित नहीं हुआ। उदयन वाजपेयी के एक प्रश्न, कला की उत्प्रेरणा क्या हो सकती है के उत्तर में उन्होंने कहा, 'अगर मैं इसे आस्कर वाइल्ड की भाषा में कहूँ, कला प्रकृति की अनगढ़ता के विरुद्ध मनुष्य का साहसिक संघर्ष है। कला की उत्प्रेरणा का यह एक पहलू है। जो अपूर्ण है, अपर्याप्त है, उसे पूर्ण बनाना उन्होंने कहा है लेखक-कलाकार की संवेदना न सिर्फ़ उस जगत की अपर्याप्तता पहचानने को प्रेरित करती है, उसमें यह विश्वास भी उत्पन्न करती है कि वह एक परिपूर्ण जगत बना सकता है। उन्होंने कला और दर्शन तथा विज्ञान में अन्तर बताते हुए कहा है, दर्शन और विज्ञान जानने की आकांक्षा रखते हैं, कला सृजन करने की, इसलिए वह व्यावहारिक होती है। (पृष्ठ ५७) मुखर्जी का सम्पूर्ण चिन्तन दर्शन से आक्रान्त है इसलिए उनका कहना है कला आपको एक काल्पनिक जगत में अस्थायी सुख देती है जबकि दर्शन आपको स्थायी समाधान देता है।

असल में मुखर्जी के विचार इस तर्क पद्धति पर चलते हैं जैसा कि प्रश्नकर्त्ता उदयन ने लक्ष्य किया कि पहले वे किसी पूर्व पक्ष को अच्छी तरह प्रस्तुत करते हैं फिर उत्तर पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए उसे तर्क के द्वारा काट देते हैं यह तर्क पद्धति है क्योंकि वे नव्य न्यायशास्त्री है। जैसे उन्होंने कहा कि कला प्रकृति के अनगढ़पन को एक सुन्दर विन्यास में बदल देती हैं, और ईश्वर का बनाया संसार अपूर्ण है, उसमें कमी है, कला उसी कमी को अपनी कल्पनात्मक सृजनशक्ति के द्वारा पूरा करती है। पर आगे वो कहते हैं संसार तो पूर्ण है, यह कलाकार की अपर्याप्तता है कि वह प्रकृति में छिपे पूर्ण को, उसमें छिपे शिल्प को, सौन्दर्य को नहीं देख पाता, शिल्प में वह उसी सौन्दर्य को व्यक्त कर देता है जैसे पत्थर में छिपे डेविड को माइकेल ऐंजिलो ने अपनी सर्जना शक्ति से पत्थर से अतिरिक्त वस्तु को छेनी-हथौड़े से हटा दिया और उससे डेविड का सुन्दर शिल्प निकाल लिया। यह उदाहरण मुखर्जी ने दिया है। कला की तरह संगीत के बारे में भी उनके विचार हैं उन्हें समास के पृष्ठों पर पढ़ना चाहिए। उनकी विचार सारणी से अलगाकर उन्हें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता इससे उनकी विचार पद्धति की श्रृंखला या उसका तारतम्य टूट जाने का ख़तरा है।

उदयन के एक प्रश्न के उत्तर में मुखर्जी का यह कहना उचित ही है कि भारत की सारी ज्ञान परम्पराएँ एक ही स्रोत से आयी हैं और उनमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है जबकि पश्चिम की दृष्टि ज्ञान को टुकड़ों में देखने की अभ्यस्त है। वहाँ ज्ञान-परम्पराओं के बीच का विभाजन स्वार्थ की विविधता के कारण हुआ, हमारे यहाँ सभी ज्ञान परम्पराओं में एक मूल्य सामान्य हैः ज्ञान केवल ज्ञान के लिए नहीं है। ज्ञान मनुष्य के कल्याण, समृद्धि और विस्तार के लिए है। वह व्यक्तिगत समृद्धि के लिए भी है और सामाजिक समृद्धि के लिए भी। (पृष्ठ ६७)

समास-२० का वार्तालाप प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान सामदोंग रिनपोछे और उदयन के बीच हुई बातचीत पर आधारित है। इसका शीर्षक है 'जीवन और जगत पर विचारों का सिलसिला'।

इस बातचीत की शुरुआत तिब्बती भाषा जानने से हुई। रिनपोछे ने बताया कि आज जो तिब्बती भाषा और उसका व्याकरण, लिपि उपलब्ध है वह सातवीं शताब्दी की है। तिब्बती लिपि उस समय प्रचलित देवनागरी की मैथिली से बनी हुई है। वे लोग जो नालन्दा, विहार के इलाके में पायी जाने वाली पुरानी मैथिली पढ़ पाते हैं, वे तिब्बती लिपि पढ़ सकते हैं। भाषा के विकास के साथ तिब्बत में बौद्ध धर्म का विकास कैसे हुआ इसकी रिनपोछे ने रोचक कहानी बतायी है। उनके अनुसार आठवीं शताब्दी में वहाँ बौद्ध धर्म के विस्तार के लिए आचार्य शान्तरचित को आमन्त्रित किया गया। वे नालन्दा के विद्वान थे और वृद्धावस्था में तिब्बत गये थे। वे तब सत्तर वर्ष के थे और उनका शेष जीवन तिब्बत में ही बीता। उनसे जब राजा ने यह आग्रह किया कि उन्हें तिब्बत में बौद्ध धर्म का विस्तार करना है, उन्होंने जवाब दिया, इसके लिए दो कार्य करने होंगेः प्रथम, सारे बौद्ध वाङ्मय को तिब्बती भाषा में अनूदित करना होगा। दूसरा, अपने कुल पुत्रों से भिक्षु संघ की स्थापना करनी होगी। अनुवाद करने के लिए तिब्बती भाषा को संस्कृत के समकक्ष लाना आवश्यक था जिससे अनुवाद में कोई त्रुटि न हो। इस तरह तिब्बत में सबसे बड़े बौद्ध मठ 'सम्ये' की स्थापना हुई। यह आजकल तिब्बत के दक्षिण में है, अब इसके अवशेष बाक़ी हैं, हालाँकि १९५९ में जब रिनपोछे तिब्बत से यहाँ आये थे, वह साबुत था। (पृष्ठ ३)

उस मठ में तीन विभाग थे, एक साधना विभाग जिसे संकाय कहते थे, एक अनुवाद विभाग और एक अध्ययन-अध्यापन विभाग। भारत के उसमें चार-पाँच सौ संस्कृत के विद्वान रहते थे और उनके साथ तिब्बत के चार-पाँच सौ विद्यार्थी भी रहते थे। उस मठ में संस्कृत का अध्ययन और अध्यापन होता था, साथ ही साधना होती थी और अनुवाद भी। रिनपोछे के अनुसार अनुवाद की पद्धति बड़ी ही वैज्ञानिक और सटीक थी। अनुवाद सही है या नहीं इसकी जाँच के लिए एक समिति बनी हुई थी। उसकी स्वीकृति के बाद ही वह अनुवाद छापा जाता था।

रिनपोछे भारत कैसे आए, वे किस गाँव के थे, भिक्षु कैसे बने, भारत में हिन्दी, अंग्रेज़ी की उनकी शिक्षा कैसे हुई इसका विस्तार से वृत्तान्त उपलब्ध होता है। उदयन वाजपेयी ने उनसे विविध प्रश्न किये हैं

और उन्होंने इनके बड़े ही विस्तार से उत्तर दिये है। इसका विवरण इस बातचीत में पढ़ा जा सकता है। तिब्बत पर चीनी आक्रमण १९५१ में हो गया था। सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर तिब्बत के मठ, मन्दिर वहाँ की कला, साहित्य इस क्रान्ति में सब नष्ट कर दिया गया। इस विवरण के अलावा बौद्ध धर्म की शिक्षाओं, उसके दार्शनिक पक्ष, साधना और शिक्षा पद्धति का, स्मृति क्या है, चित्त क्या है, मृत्यु क्या है, आत्मा क्या है, बौद्ध धर्म का मुख्य उद्देश्य क्या है, बुद्धत्व क्या है, धर्मचक्र प्रवर्तन क्या है। इन सबका विवरण इस वार्तालाप का विषय है। रिनपोछे की दृष्टि में आधुनिकता क्या है, विकास क्या है, इस पर भी इस बातचीत में प्रकाश डाला गया है। एक उद्धरण पर्याप्त हैः आधुनिकता का विष इतना सूक्ष्म और अदृश्य है कि आपको सालों साल स्वस्थ रखे रहेगा, स्वस्थ होने का आभास देगा लेकिन जब वह आपके पूरे शरीर में फैल जायेगा तो उससे मुक्त होने का कोई उपाय बचेगा नहीं। फिर आपकी मृत्यु होकर रहेगी। आज तो हर चीज़ पर 'टर्मिनेटर' लगा दिया गया है। इससे मनुष्य के विवेक और उसकी विश्लेषण सामर्थ्य को ही मानो समाप्त कर दिया है। हम जीवन पर्यन्त बड़े-बड़े कारपोरेशन के बाज़ार बन गये हैं। उन्होंने आगे कहा है, हमारा दिमाग़ इस तरह बना दिया है कि हम उन चीज़ों के बिना जी ही नहीं सकते। अब कोई आदमी यह कल्पना नहीं कर सकेगा कि वह स्मार्ट फ़ोन के बिना दस दिन भी रह सकेगा? (पृष्ठ ६०-६१)

अंक-२० से अंक २० तक उदयन से जिन मनीषियों की बातचीत हुई उसका सार-संक्षेप यहाँ तक दिया गया है। यह बातचीत इतनी महत्वपूर्ण हैं कि इसे अलग-अलग पुस्तकाकार प्रकाशित होना चाहिए। इससे हमारी जानकारी के साथ हमारी समझ और विवेक में वृद्धि होगी। हमें अपने देश को, संस्कृति को, सभ्यता को, कलाओं को समझने में सुविधा होगी।

समास पत्रिका का परिसर सिर्फ़ इन लम्बे वार्तालापों में ही सीमित नहीं है। उसमें और भी महत्वपूर्ण सामग्री निकलती रहती हैं। इसके अन्य स्तम्भ भी अद्वितीय और सम्पादकीय विवेक के परिचायक हैं। पूरा अंक श्रृंखलाबद्ध और विचारपूर्ण सामग्री से भरपूर रहता है। जैसे इसमें प्रकाशित होने वाले उपन्यास अंश, कहानियाँ या कभी-कभी ठेठ लोकभाषा की कहानी, इसके विश्लेषणात्मक प्रबन्ध, संस्मरण, कभी-कभी पत्र सम्भार, चित्रकला और चित्रकारों का इतिहास, संगीत, भाषा, संस्कृति, वेद और वेदों के विशेषज्ञों पर परिवेशित सामग्री इसकी अद्वितीयता को रेखांकित करती है। उदाहरण के लिए इसमें उपन्यासों के दो तरह के अंश प्रकाशित होते हैं। एक मौलिक और दूसरे किसी भारतीय भाषा से अनूदित। अब अंक-१० से लेकर अंक २० तक प्रकाशित इन उपन्यांशों पर एक सरसरी निगाह डाली जाए।

अंक-१० में उपन्यासों के दो अंश निकले। एक तो भालचन्द्र नेमाड़े का चर्चित उपन्यास 'हिन्दू' का एक अंश और दूसरा अमित दत्ता का क्रमशः। नेमाड़े के उपन्यास अंश का शीर्षक है जीने की समृद्ध कबाड़ और अमित दत्ता के उपन्यास का कोई उपशीर्षक नहीं है। नेमाड़े के उपन्यास का अनुवाद गोरख थोरात ने सीधे मराठी से किया है, अमित दत्ता का मौलिक हिन्दी में लिखा उपन्यास है। अंक-११ में एक उपन्यास का

अंश है और एक कहानी दी गयी है। उपन्यास का अंश आनन्द हर्षुल का लिखा हुआ है, जिसका शीर्षक है स्त्री का सौन्दर्य और कहानी बांग्ला की ख्यात लेखिका तिलोत्तमा मजूमदार की है, जिसका शीर्षक है अवगाहन, अनुवादक हैं रामशंकर द्विवेदी। अंक-१२ में अलका सरावगी के उपन्यास का अंश है जिसका शीर्षक है क्या आप मुझे एक मुर्दा दिलवा सकते हैं। अंक-१३ में उपन्यास का कोई अंश नहीं है सिर्फ़ एक कहानी है नय्यर मसूद की जिसका शीर्षक है 'शीश घाट' अनुवादक हैं रिज़वानुल हक़। सम्पादकीय टिप्पणी के अनुसार नय्यर मसूद उर्दू और फ़ारसी के बड़े विद्वान हें और उन्होंने दोनों सहित्यों में पी-एच.डी. की है। वे उर्दू के सबसे प्रतिष्ठित कहानीकारों में एक हैं। अंक-१४ में दो कहानियाँ हैं एक रिज़वानुल हक़ की 'कुछ सामान' और 'जन्म पत्री' शर्मिला बोहरा जालान की। इसमें उपन्यास का कोई अंश नहीं है। अंक-१५ में दो उपन्यास अंश हैं एक शम्सुर्रहमान फ़ारुकी का क़ब्ज़े ज़माँ और वागीश शुक्ल का विशेष। इसमें उपन्यासों के दो अंश और दिये गये हें, एक 'चीनी कोठी' सिद्दीक़ आलम का और एक मदन सोनी के उपन्यास का अंश, जिसका शीर्षक नहीं दिया गया है, इसके अतिरिक्त छह लेखकों के उपन्यासों के अंश और देकर सम्पादक ने इस अंक को एक तरह से उपन्यासों पर ही केन्द्रित कर दिया है। एक अंश बोली के उपन्यास का भी है 'कचनार' जिसे संगीता गुन्देचा ने लिखा है। बाकी छह का विवरण इस प्रकार है। आखिरी सवारियाँ- सैयद मुहम्मद अशरफ़, 'वह और वह'- राकेश श्रीमाल, 'नेमत ख़ाना'- ख़ालिद जावेद, रानीखेत एक्सप्रेस- गीत चतुर्वेदी, प्रूफ़रीडर के नाम ख़त, आशुतोष भारद्वाज और तिलोत्तमा मजूमदार के उपन्यास राजपाट का एक अंश। अंक-१६ में हेमंत शेष के उपन्यास का अंश 'पीछे ले जाते पेड़' दिया गया है, इसके बाद यह अंक एक तरह से संस्मरणों पर केन्द्रित है। अंक-१७ में तीन कहानियाँ दी गयी हैं एक आख़िरी दावत, ख़ालिद जावेद की, इन्हीं की एक दूसरी कहानी, ज़िन्दों के लिए' एक ताज़ियनामा और बांग्ला के ख्यात कहानीकार जय गोस्वामी की कहानी, संशोधन या काटाकूटी। अंक-१८ में दो कहानियाँ और दो उपन्यास के अंश दिये गये हैं। दो कहानियाँ, सिद्दीक़ आलम की और चक्रव्यूह प्रेमलता वर्मा की। उपन्यासों के अंश क्रमशः गुरूप्रीत साहिनी (पंजाबी से अनुवाद जसविन्दर कौर बिन्द्रा) तथा 'क़यास', उदयन वाजपेयी का। यह अंक एक तरह से निबन्धों पर केन्द्रित है। अंक-१९ में एक कहानी है अलफतिया ध्रुव शुक्ल की और उपन्यास का अंश है देवेश राय का तिस्तापार का वृत्तान्त (अनुवाद रामशंकर द्विवेदी)। अंक-२० में तीन उपन्यासों के अंश दिये गये हें, सात कुबड़ों की सीक्रेट सोसाइटी, अमित दत्ता, नेमत ख़ाना, ख़ालिद जावेद और स्वर्गद्वार, प्रभात त्रिपाठी। इसमें कहानी कोई नहीं है। 'समास' का महत्वपूर्ण अंश विचार और विवेचनात्मक निबन्धों पर केन्द्रित है। समास का उद्देश्य पाठकों में जीवन, साहित्य, संस्कृति, कला से संबद्ध विविध विषयों पर उन्हें वैचारिक खुराक देने के साथ उन्हें विचार-प्रवण बनाना है। वे सभ्यता से जुड़े विषयों पर सोचें और कला और सौन्दर्य के विविध पक्षों पर चिन्तन करें।

समास-१० में निबन्धों की एक विधा इतिहास की व्याख्याओं के अन्तर्गत दी गयी है। इन्हें व्याख्यात्मक निबन्ध कहते हैं। ये निबन्ध वैयक्तिक, ललित और विचारात्मक निबन्धों से पृथक् होते हैं। इनमें किसी विषय

को ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यों के साथ व्याख्यायित किया जाता है। ये ज्ञानात्मक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। समास-१० में छह व्याख्यात्मक निबन्ध दिये गये हें जिनके शीर्षक हैं 'देश के अभिमान' विश्वम्भर पाठक, हिन्द महासागर में समुद्री वाणिज्य, अशीन दास गुप्त (बांग्ला से अनूदित) रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विनाश, कमलेश, वेदपाठियों का सान्निध्य, संगीता गुन्देचा, आधुनिक सभ्यता का अर्थ, राममनोहर लोहिया तथा धार्मिक आन्दोलनों में एकता का आधार, आचार्य नरेन्द्र देव। पर इसी अंक में दो निबन्ध और हैं एक विचारात्मक और एक ललित। विचारात्मक निबन्ध भारतीय धर्म के लेखक, आचार्य नरेन्द्र देव हैं और ललित के लेखक वागीश शुक्ल हैं। उनके निबन्ध का शीर्षक है, रसोई में नमक। अंक-११ में छह विचारात्मक निबन्ध हैं, 'एक व्याख्यात्मक निबन्ध है' और एक कविता की कुछ पंक्तियों की टीका है, जिसे व्याख्यात्मक निबन्ध कहा जा सकता है। विवेचनात्मक निबन्धों का विषय हिन्दी भाषा है, जिस पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। 'ज्ञानदीक्षा' क्षितिमोहन सेन का निबन्ध है जो उन्होंने एक व्याख्यान के रूप में बम्बई विद्यापीठ के दीक्षान्त समारोह में दिया था और जिसमें उन्होंने हिन्दी की महत्ता पर प्रकाश डाला था। 'वैदिक समाज, भाषा और बोलियाँ, भगवान सिंह का गम्भीर निबन्ध है जिसमें उन्होंने वैदिक भाषा के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी की बोलियाँ वैदिक शब्दावली से अनुस्यूत है। 'मेरी भाषा' निबन्ध में कमलेश जी ने यह प्रतिपादित किया है कि अपने पारिवारिक परिवेश ने किस तरह और कितनी तरह से उनके भाषायी संस्कारों को समृद्ध किया है। हिन्दी का परिसर और क्षितिमोहन सेन (रामशंकर द्विवेदी) निबन्ध में क्षितिमोहन सेन के आसपास बांग्ला भाषा के हिन्दी परिसर की पड़ताल की गयी है और यह बताया गया है कि काशीवासी क्षितिमोहन सेन ने महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी की प्रेरणा से किस तरह हिन्दी सन्तकवियों पर काम किया। क्षितीश बाबू मूलतः हिन्दीभाषी थे, बांग्ला उन्होंने शान्तिनिकेतन जाकर सीखी। घर में बंगाली बोलने के बाद भी उनकी शिक्षा-दीक्षा हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के माध्यम से हुई थी। नीलिम कुमार ने 'मेरे खून में एक और भाषा' लेख में अपने भाषायी संस्कारों की छानबीन की है। 'हिन्दी संसार में मेरी यात्रा के कुछ पड़ाव' में प्रवासिनी महाकुद ने हिन्दी कविता पर विचार किया है। यह लेखक ओडिया से 'पूर्णचन्द्ररथ' ने हिन्दी में अनुवाद किया है, इसी तरह नीलिम कुमार का लेख असमिया से किशोर कुमार जैन ने अनूदित किया है जिसमें उनके हिन्दी प्रेम की झलक मिलती है। इसी अंक में कमल किशोर गोयनका का 'प्रेमचन्द और समाजवाद' जैसे विषय पर व्याख्यात्मक निबन्ध दिया गया है।

अंक-१२ एक तरह से बांग्ला कवि और मनीषी प्रबन्धकार, समीक्षक शंख घोष पर केन्द्रित है। उनकी बातचीत के साथ उनके दो निबन्ध दिये गये हैं। निबन्ध एवं व्याख्यान में नवज्योति सिंह का विश्लेषणात्मक व्याख्यान कला की अवधारणा है और उदयन वाजपेयी का व्याख्यान 'कला और राजनीति' पर है। राधावल्लभ त्रिपाठी का व्याख्यान, छन्दों में दुनिया और दुनिया में छन्द पर आधारित है। पर ये तीनों व्याख्यान लिखित होने से इनमें निबन्ध के तत्व अपने आप संक्रान्त हो गये। चित्तरंजन बंद्योपाध्याय का लेख, देश की पुस्तकें

विदेश में (बांग्ला से अनुवाद रामशंकर द्विवेदी) विवरणात्मक हैं कि किस तरह हमारी ज्ञान की पूँजी विदेशों में जाती रही और हम उसे सहेज नहीं सके।

समास का अंक-१३ एक तरह से भ्रमण वृत्तान्त पर केन्द्रित है। इस अंक में मौलिक और अनूदित आठ यात्रा-वृत्तान्त दिये गये हैं। एक वृत्तान्त बोली में भी है जो विवेकानन्द झा का है। इसका शीर्षक है अमरनाथ यात्रा। यह शायद मैथिली में है। सभी यात्रा वृत्तान्त बहुत दिलचस्प और यात्रा स्थल की भौगोलिक स्थिति के साथ वहाँ के सामाजिक परिवेश का भी जीवन्त चित्र उपस्थित करते हैं।

समास-१४ यह पूरा का पूरा अंक एक तरह से मनीषी, कवि, विचारक कमलेश जी को समर्पित है। छह संस्मरणात्मक और समीक्षात्मक लेखों में उनके जीवन और साहित्य-साधना की पड़ताल की गयी है। इस अंक में निबन्ध तीन है, स्वभाव, सम्बन्ध और सभ्यता, ध्रुव शुक्ल का गम्भीर विवेचनात्मक निबन्ध है और पश्यन्ति की व्युत्पत्तियाँ गौतम चटर्जी का और प्रूस्त की क़िताब के कुछ पन्ने शिरीष ढोबले का ध्रुव शुक्ल का लेख मनोवैज्ञानिक धरातल पर मनुष्य के स्वभाव, संसार से उसके सम्बन्ध और सभ्यता के सोपानों की खोज करता है। गौतम चटर्जी का लेख नाट्यशास्त्र की दृष्टि से दर्शक मंच पर क्या देखता है और किस माध्यम से देखता है, उसमें अभिनेता की दृष्टि, उसका मनोवियोग, उसकी पश्यन्ती प्रज्ञा, प्रतिमा सब मिलकर जिस दृश्य की रचना करते हैं एक दर्शक उसी प्रतीयमान जगत में डूबकर एकाकार हो जाता है पश्यन्ती वृत्ति की यही व्युत्पत्तियाँ हैं। अंग्रेज़ी से अनूदित 'प्रूस्त की क़िताब के कुछ पन्ने' (अनुवाद शिरीष ढोबले) में प्रूस्त की कला, उसकी लेखन प्रक्रिया का गहन आख्यान पिरोया हुआ है।

अंक-१५ में सिर्फ़ एक आलोचनात्मक लेख है और वह भी मदन सोनी का परती परिकथा पर। अंक-१६ में सिर्फ़ उदयन वाजपेयी का निबन्ध है, अहिंसा का विचार और महात्मा गांधी। अंक-१७ में तीन निबन्ध संकलित हें। एक वागीश शुक्ल का 'भारतीय उपन्यास की अवधारणा', दूसरा कैसे प्रकाशित हुए पाथेर पांचाली (सागरमय घोष) और सुधाकर यादव का 'चित्रमय भारत'। यह एक तरह से चित्रकला का इतिहास है, जिसके सोपान चित्रकारों के परिचय, उनकी कला की मूल अवधारणाओं से होते हुए आगे बढ़ते हैं। पाथेर पांचाली कैसे प्रकाशित हुई वैसे तो इसकी भूमि संस्मरण की है, पर इसमें यह विचार निहित है कि क्या उपन्यास के हर अध्याय की लम्बाई-चौड़ाई शब्द संख्या से निर्धारित की जा सकती है अथवा यह मुक्त और खुला हुआ एक स्वतन्त्र व्यापार है।

समास का अंक-१८। निबन्धों की विविधता की दृष्टि से यह अंक बेहद आकर्षक और सराहनीय है। 'समास' की कई विशेषताएँ हैं उनमें एक विशेषता है हर अंक में पाठक की उत्सुकता को बनाए रखना। यह उदयन वाजपेयी किस सजगता और रचनाओं के चयन के साथ करते हैं, यह एक रहस्य और सम्पादक की डेस्क के पीछे चलने वाली एक प्रक्रिया है। वे लेखकों से संवाद का रचनाएँ लिखवाते हैं या लेखक स्वतः प्रवृत्त होकर भेजते हैं इसकी जानकारी उन्हीं से प्राप्त की जा सकती है। इसी तरह समास में जो दीर्घ परिसर

व्यापी बातचीत प्रकाशित की जाती है, यह पहले रिकार्ड की जाती हैं, बाद में कोई तो इसे ध्वनि अंकन से शब्दों में उतारता होगा, वह भी एक नेपथ्यचारी माध्यम हे पर उसका अवदान, धीरज भी कम सराहनीय नहीं है।

तो हाँ, इस अंक में छह निबन्ध परिवेशित किये गये हैं। छहों की प्रकृति विभिन्न है। 'फ़िक्शन की सच्चाइयाँ' शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी का शमीम निकहत स्मारक व्याख्यान माला में दिया गया पहला व्याख्यान है। व्याख्यान और निबन्ध में कसावट या प्रबन्धत्व का फ़र्क़ होता है। फ़िक्शन किसे कहेंगे इस पर उन्होंने कई दृष्टियों से विचार किया है, जैसे क्या यह झूठ है, क्या यह हक़ीक़त है, क्या यह किसी घटनाचक्र का सिलसिलेवार बयान है, इसे हम क्यों पसन्द करते हैं आदि-आदि। अन्त में उन्होंने फ़िक्शन के तीन तत्व बताये हैं जो इसमें ज़रूर होने चाहिए। एक, यह जानते हुए कि यह फर्जी है फिर भी हम उसे हकीकी मानते हैं। दूसरी सचाई फ़िक्शन में जो कुछ हो रहा है उसमें निरन्तरता है, तीसरी सच्चाई यह है कि उपन्यासकार उपन्यास में अपनी मर्ज़ी का नहीं, बल्कि उसकी अन्तर्निहित कला के अधीन होता है। पर इस पूरे व्याख्यान में उर्दू लफ़्ज़ों का इस तरह घमासान है कि साधारण पाठक के पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। यह लिप्यान्तरण है अनुवाद नहीं, इसका अनुवाद हिन्दी में होना चाहिए।

'भक्तिः सिद्धान्त और साहित्य' वागीश शुक्ल का सुविचारित, तार्किक क्रम से युक्त एक कसा हुआ निबन्ध है। उन्होंने कई उपशीर्षकों में विभाजित कर भक्ति के तत्व पर विचार किया है।

बूझती अँगुलियाँ जे. स्वामीनाथन का मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ के आदिवासियों के रहन-सहन, संस्कृति, सभ्यता, दिनचर्या और वैदिक साहित्य में उल्लिखित वर्ण आदि शब्दों के माध्यम से एक नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन है। यह एक तरह का इतिहास है। अंग्रेज़ी में लिखे उनके लेखक अनुवाद अखिलेश ने किया है। इस अंक का एक और मज़ेदार निबन्ध है 'गणेश और आधुनिक बौद्धिक'। इसके लेखक क्लॉद अल्वारेस हैं। मूल अंग्रेज़ी से अनुवाद मदन सोनी ने किया है। यह उनका व्याख्यान है जो उन्होंने प्रभाष जोशी की स्मृति में दिया था। यह भाषण कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण हैं अपनी अस्मिता को पहचानने, विज्ञान, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, शिक्षा, उत्पादन, जल संरक्षण, वनस्पति विज्ञान और गाय-भैंसों के पालने आदि की दृष्टि से भारत के योगदान को सामने रखने और सभी चीज़ों के पीछे पश्चिमी दृष्टि को मानने के कारण जो हानि हो रही है, उस हानि से कैसे बचा जाए इस दृष्टि से इस भाषणकर्त्ता का धन्यवाद करना चाहिए।

सोपान जोशी का आलेख पत्रकारिता, यात्रा वृत्तान्त, पर्यावरण और 'जल-थल-मल' परियोजना के अन्तर्गत विभिन्न विद्वानों, विशेषज्ञों, सामान्य ज्ञानियों तथा अपने विषय से सम्बन्धित अंग्रेज़ी, मराठी और हिन्दी के ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री को पुस्तकाकार कैसे लिखा जाए इस पर आधारित है। लेख लम्बा होते हुए भी बहुत ही रोचक और दिलचस्प है। इसमें आत्मकथा, जीवनी और संस्मरणों का भी आत्मीय पुट है। उनका आलेख उनके जीवन की तरह सहज, सरल और ज्ञान बघारने के बोझ से रहित होने के कारण बेहद

दिलचस्प है। यह पता चलता है कि जोशी ख्यात पत्रकार और लेखक प्रभाष जोशी के सुपुत्र हें पर उनका जीवन उनकी नकल या कॉपी नहीं है। इसी तरह उन्हें अनुपम मिश्र जैसे पर्यावरणविद का प्रेम, सान्निध्य और जीवन को देखने तथा कार्य करने की सहज दृष्टि मिली जो गांधी के जीवन से प्राप्त की गयी थी।

'सुनो भाई साधो' कबीर की उक्ति से प्रारम्भ राजेन्द्र मिश्र का लेख विजयदेव नारायण साही की आलोचना दृष्टि और छायावाद पर आधारित है।

दो महत्वपूर्ण व्याख्यान हैं, निर्मल वर्मा की स्मृति में दिये गये, एक है उदयन वाजपेयी का 'कहानियों में स्वरलिपियाँ' तथा दूसरा है ख़ालिद जावेद का, निर्मल वर्मा की कहानियों में दार्शनिक प्रश्न।' निर्मल वर्मा की कहानियाँ पढ़ते हुए उदयन को जो अनुभव हुआ वह इस प्रकार है : आप उनकी कहानियाँ जैसे ही पढ़ना शुरू करते हैं आपके भीतर एक तरह का संगीत बजने लगता है जो आपने अब तक नहीं सुना था। आपने शायद ध्यान दिया हो कि उनके लिखने का ढंग भी कुछ ऐसा है जो उनकी इस स्वर-लिपि-रचना में सहायक होता है। (पृष्ठ ३५८)

और ख़ालिद जावेद का क्या कहना है : मुझे लगता है कि निर्मल की कहानी वहाँ नहीं है, जहाँ वो हे, वह वहाँ है, जहाँ लिखा हुआ शब्द संकेत कर रहा है। उनका शब्द वहाँ नहीं है जहाँ वह लिखा हुआ है, बल्कि कोई और शब्द है जिसकी ओर वे शब्द संकेत कर रहे हैं। जावेद का यह कहना कितना हक़ीक़त से भरा है कि मैं कहानीकार शायद बन ही नहीं पाता अगर मैंने निर्मल वर्मा को नहीं पढ़ा होता। (पृष्ठ ३६०)

कवि, चिन्तक कमलेश जी पर ध्रुव शुक्ल, मदन सोनी और नीलिम कुमार के तीन चिन्तन पूर्ण छोटे-छोटे निबन्ध हैं जिनमें कमलेश के अवदान को रेखांकित किया गया है और दिवंगत युवा कवि प्रकाश पर भी एक आलेख है जिसके लेखक आस्तीक वाजपेयी हैं और मदन सोनी के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह विक्षेप पर मिथिलेश शरण चौबे की सुचिन्तित समीक्षा है। निबन्धों की दृष्टि से समास-१६ का परिसर बहुत सघन और उन्मेषकारी है। इसमें विविधतापूर्ण आठ निबन्धों ने स्पेस घेर रखा है। जिनके लेखक और निबन्धों की विषयवस्तु का खुलासा इस प्रकार है :

कविता का सत्य अशोक वाजपेयी का एक व्याख्यान है जो उन्होंने कवि निरंजन भगत की स्मृति में आयोजित एक समारोह में दिया था। इस व्याख्यान में कविता और सत्य पर खुली दृष्टि से विचार किया गया है। उन्होंने कविता के सच पर बात करते हुए कहा है कि वह समय, समकाल, झूठ, निरपेक्ष सच, अथवा बना-बनाया सच नहीं होता। कविता का सच सतत होने की प्रक्रिया में रहता है। कविता हमेशा सत्ता, अधिकार तन्त्र और राजनीतिक सच को प्रश्नांकित करती रहती है। उन्होंने इस ओर भी इशारा किया है कि आजकल भाषा पर अभिघा का अधिकार है और वह अपनी अन्तर्ध्वनियाँ खोती जा रही है। उसे अपभाषा से

पूरा किया जा रहा है। अन्त में उन्होंने कहा है कि कविता का रास्ता सत्ता और अधिकार से अलग है। उसे पाने और समझने वाले तीसरे रास्ते पर ही होते हैं। (पृष्ठ १४१)

भक्ति पर वागीश शुक्ल को पिछले अंक में भी (अंक १८, भक्ति का सिद्धान्त और साहित्य, पृष्ठ २०४) पढ़ चुके हैं। इस आलेख (अनेकधा भक्ति) में उन्होंने भक्ति के अनेक प्रकारों का विवरण दिया है, निष्कर्ष रूप में उन्होंने कहा हैः भक्ति का शास्त्रीय व्यवस्थापन करने में मुख्यतः तीन समानान्तर विचार एकसाथ कार्यरत रहे हैं। पहला है अद्वैत-सम्प्रदाय के उस दृढ़ सिद्धान्त का प्रतिरोध जिसके अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए एकमात्र ब्रह्मात्मैक्यज्ञान को ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ माना गया है। इसके विपरीत पुराण वर्णित शरणागति का मार्ग ही सर्वसुलभ माना गया है। दूसरा मार्ग ज्ञान-मिश्रा और कर्म-ज्ञान-मिश्रा भक्ति का है। इन दोनों मार्गों की भक्ति का आधार अद्वैत ही है इसलिए तीसरा प्रकार रसात्मकता या रागानुगा भक्ति का है जो सगुण के प्रति पूर्ण समर्पण पर आधारित है।

एक दूसरा दिलचस्प निबन्ध है शशिकान्त अनन्ताचारी का जिसका अंग्रेज़ी से अनुवाद किया है मदन सोनी ने और जिसका शीर्षक है 'कभी न चुकाये जा सकने वाले ऋण'। दरअसल यह लेख एक तरह का संस्मरण जैसा है जिसमें सत्यजित राय की पाथेर पांचाली और अपराजित फ़िल्मों के चरित्रों, दृश्यबिम्बों और चित्रणों, ब्यौरों की पृष्ठभूमि को याद करते हुए ऋत्विक घटक की फ़िल्म मेघे ढाका तारा की शूटिंग, रचना-प्रक्रिया, उसके दृश्यांकन, ऋत्विक अपनी फ़िल्मों के साथ क्या और कैसे करना चाहते थे इस सबका स्मृत्यंकन किया जाता है। पर इस आलेख में बार-बार दुहराव, श्रृंखला या तारतम्य का टूटना, बार-बार उसी प्रसंग पर आना है जिससे पाठक के मन पर एक खण्डित प्रभाव पड़ता है। दरअसल ऋत्विक की सिने कला या अभिनय-प्रविधि पर अभी तक हिन्दी में कोई पुस्तक नहीं है। इस लेख के लेखक ने अगर सत्यजित की अपू की पांचाली अथवा अपू त्रयी का उल्लेख किया होता तो शायद और बेहतर होता।

'नृत्यालोचना के सन्दर्भ में प्राश्निक की भूमिका' निबन्ध के अन्त में चेतना ज्योतिषी ब्योहार ने प्राश्निक की भूमिका के बारे में लिखा है। प्रत्येक प्रस्तुति, जिस पर अपनी सम्मति देनी हो, उसे पूर्णरूप से धैर्यपूर्वक देखने का अभ्यास एक योग्य प्राश्निक का गुण है। विषय का ज्ञाता होते हुए भी बालसुलभ जिज्ञासा से प्रस्तुति के प्रत्येक पक्ष को जानने की चेष्टा, उसके सजग और सहृदय होने के संकेत हैं तभी वह समाज के सांस्कृतिक पुररुत्थान में अपनी महत् भूमिका निभा सकता है (पृष्ठ १८२)।

योगेश प्रताप शेखर का रसखान पर सुचिंतित निबन्ध महत्वपूर्ण है। कई इतिहास ग्रन्थों की छानबीन कर उनकी ऐतिहासिकता, उसकी कृष्ण भक्ति की चर्चा की गयी है।

बूझती अँगुलियाँ जगदीश स्वामीनाथन का आदिवासियों पर लिखे निबन्ध का दूसरा भाग है। पहला भाग समास-१८ में निकला था। आदिवासी समाजों की समाज-व्यवस्था, रहन-सहन उनकी सृजनात्मक प्रवृत्ति

आदि को समझने के लिए स्वामीनाथन का यह अध्ययन अत्यन्त खोजपूर्ण और कई जानकारियों से भरा हुआ है। आज आवश्यकता इस आदिवासी समाज से समाज होने की है, उसे जानने, समझने और अपने में आत्मसात करने की।

'गाँधी और उनके हत्यारे' जेम्स डब्लू डगलस (अनुवाद मदन सोनी) का एक लम्बा आलेख है जिसे एक पूरी पुस्तक कहना चाहिए। समास ने जिसे साहसपूर्वक छापा है। असल में इसका विषय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान फैलती हिंसात्मक गतिविधियों के औचित्य पर प्रश्न करते हुए उसे ग़लत ठहराया गया है और यह बताया गया है कि गाँधी जी ने ऐसी घटनाओं का सदा विरोध किया और अन्त में वे स्वयं ऐसी ही एक घटना के शिकार हो गये। यह बड़े अचरज की बात है कि गाँधी जी अपने हत्यारे से पूर्व परिचित थे और उसे उन्होंने अपने साथ एक सप्ताह रहने के लिए आमन्त्रित किया था। आलेख महत्वपूर्ण और हमारी राजनीति के एक काले पक्ष को उजागर करता है।

विकास कपूर की 'कैच-२२ एक कालजयी रचना' एक ऐसे उपन्यास की विवरणात्मक समीक्षा है जिसकी अब तक एक करोड़ से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं। जोसेफ़ हेलर का कैच-२२ एक ऐसा उपन्यास है जो द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका के बाद अमेरिका से निकला जिसका केन्द्रबिन्दु युद्ध से उत्पन्न अवसाद, निराशा आदि है। लेखक का कहना है बीसवीं शताब्दी का यह विलक्षण उपन्यास केवल इसलिए याद नहीं रहेगा कि उसमें लेखन का एक अभिनव प्रयोग प्रस्तुत हुआ है, वरन इसलिए भी इसमें आने वाली पीढ़ियों के लिए महायुद्ध के कारणों की सच्ची तस्वीर पेश की है (पृष्ठ ३३७)।

इस अंक में चार समीक्षक लेख हैं जो क्रमशः गिरधर राठी, रघुवीर चौधरी, मिथिलेशशरण चौबे द्वारा लिखे गये हैं। पुस्तकें हैं सब इतना असमाप्त (कुँवर नारायण), नक्षत्रहीन समय में (अशोक वाजपेयी), प्रवास और प्रवास (कृष्ण बलदेव वैद से उदयन की बातचीत) और उपन्यासकार का सफ़रनामा (शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी से उदयन वाजपेयी की बातचीत)।

समास-२० में छह निबन्ध संकलित हैं। समास की निबन्ध सम्पदा उसके गम्भीर पक्ष को उपन्यस्त करती है। अमृता भारती का सृष्टि निबन्ध में वैदिक परम्परा में सृष्टि कैसे हुई इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। अमृता भारती श्री अरविन्द आश्रम में रहती हैं और हिन्दी की अच्छी लेखिका हैं। इनका विवेचन साफ़, पारदर्शी और प्रमाणों से पुष्ट है। ऋचाओं का अनुवाद भी सटीक है। इनके लेखन पर श्री अरविन्द का प्रभाव स्पष्ट है।

'कला और कबीर' अवनीन्द्र नाथ टैगोर के ग्रन्थ वागीश्वरी शिल्प प्रबन्धावली के एक अध्याय का अनुवाद है। अनुवाद महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा, शान्तनु बनर्जी का है। लेकिन अनुवादकों का यह कहना तथ्यहीन है कि कबीर ने कला पर लिखा और अवनीन्द्र ने उन्हें कला के सन्दर्भ में उद्घृत किया। दरअसल

अवनीन्द्र नाथ की वागीश्वरी शिल्प प्रबन्धावली सिर्फ़ शिल्प पर लिखी रचना है। ऐसा नहीं है शिल्प पर विचार करते हुए उन्होंने काव्य, दर्शन, नाटक पर भी लिखा है। कबीर को उन्होंने दर्शन की दृष्टि से उद्घृत किया है न कि उन्हें चित्रकला के पारखी के रूप में।

'भक्ति पर भास्कर राय' वागीश शुक्ल का यह तीसरा लेख है, जिसमें उन्होंने भास्कर राय की दृष्टि से भक्ति का पुनर्विवेचन किया है। दरअसल भक्ति का विवेचन हमारे शास्त्रों में बहुविध उपलब्ध होता है। जैसे वैधीभक्ति, अवैधी भक्ति, रागनुगा भक्ति, परमप्रेम रूपा भक्ति, मधुरा भक्ति, आदि-आदि। आज का बुद्धिजीवी अत्यन्त तार्किक है। बिना तर्क, प्रमाण के वह कुछ भी स्वीकार नहीं करता है। इसलिए वागीश शुक्ल ने उसी तर्कणा पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने इस लेख में भक्ति का विवेचन किया है। उनकी विवेचना-पद्धति अत्यन्त स्पष्ट और बोधगम्य है। उन्होंने भक्ति प्रक्रिया में उपासना, पूजन, अर्चन, यज्ञ आदि सोपानों से लेकर ध्यान आदि प्रक्रियाओं तक भक्ति की अवस्थिति मानी है। उन्होंने निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादित किया है कि 'कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकलता है कि जो आसक्ति लौकिक प्रियपात्र के प्रति होने पर निन्दनीय मानी जाती है वही ईश्वर के प्रति होने पर वन्दनीय हो जाती है। उन्होंने आगे बहुत साफ़ भाषा में कहा है, इसका आशय यह है कि लौकिक प्रेम में अन्तःकरण की प्रवृत्तियों का विषय कोई मनुष्य होता है जबकि इसके विपरीत 'भक्ति' में अन्तःकरण की प्रवृत्तियों का विषय ईश्वर है और इस प्रकार भक्ति अ-लौकिक प्रेम है। आगे इस कड़ी को किस तरह बढ़ायेंगे इसका खुलासा करते हुए उन्होंने कहा हैः हमें इस फलक की पड़ताल करनी होगी जिसे अपनी कठोर वैचारिकता की कसावट को बिना शिथिल किये ही अद्वैत के आचार्यों ने इतना लचीला बनाया है कि उसमें याज्ञिक उपासना से लेकर भावाविष्ट देवरति तक का समाहार हो सका। उन्होंने लिखा हैः इस कड़ी में आगे आने वाले लेखों में हम इस पर एकाग्र रहेंगे। (पृष्ठ ३०६)

'हिन्दी भक्ति साहित्यः बांग्ला दृष्टि' महेन्द्र प्रसाद कुशवाहा और शान्तनु बनर्जी का आलेख है। इसमें उन्होंने कई प्रश्न उठाकर यह कहा है कि हिन्दी भक्ति साहित्य पर बांग्ला में जो काम हुआ है उसकी जानकारी हिन्दी के साहित्यकारों और पाठकों को नहीं है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ, क्षितिमोहन सेन के अलावा हरप्रसाद शास्त्री, बंकिमचन्द्र, सतीशचन्द्र दास गुप्ता, क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम, समकालीन पत्रकार शंकरनाथ राय और इसमें बांग्ला साहित्य के इतिहास लेखक सुकुमार सेन भी शामिल किया है। इस सन्दर्भ में मेरा कहना यह है कि शायद यह थीसिस (प्रतिपाद्य विषय) उनकी किसी भावी परियोजना का अंग है जिसमें पूर्व पक्ष में यह सिद्ध करना पड़ता है कि अभी इस विषय पर काम नहीं हुआ है, और यह विषय नवीन और मौलिक है। मुझे अगर इसे विषय पर काम करने दिया जाए तो इस विषय के द्वारा साहित्य में ज्ञान की नयी दिशाएँ खुलेंगी इस पर अधिक न लिखकर सिर्फ़ यह कहना पर्याप्त होगा कि बंगाल में हिन्दी के भक्ति साहित्य पर हिन्दी में या बांग्ला में जो काम हुआ है। उसकी सम्यक जानकारी न कुशवाहा को है न बनर्जी को। मैं सिर्फ़

एक ग्रन्थ के उल्लेख किये दे रहा हूँ 'मध्ययुगीन हिन्दी सन्त साहित्य और रवीन्द्रनाथ' इसके लेखक हैं विश्वभारती के पूर्व अध्यक्ष डॉ. रामेश्वर मिश्र और इसे विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी ने छापा है। इसे पढ़ लीजिए। दूसरे हजारीप्रसाद द्विवेदी का मृत्यंजय रवीन्द्रनाथ तथा उनका कबीर पढ़ लीजिए। इसके साथ क्षितिमोहन सेन का कबीर भी पढ़ सकते हैं, जहाँ तक अवनीन्द्रनाथ के 'वागीश्वरी शिल्प प्रबन्धावली' का प्रश्न है उसका उत्स कबीर नहीं है न उनका ग्रन्थ भारतीय शिल्प के षडंग हैं, जिसका अनुवाद वर्षों पहले महादेव साहा ने सम्मेलन पत्रिका के कला अंक के लिए किया था। उसकी भी प्रेरणा का स्रोत कबीर नहीं हैं 'वादे वादे जायते तत्वबोध' इस दृष्टि से यह टिप्पणी की। क्योंकि समास जैसी पत्रिका में कोई ऐसी बात नहीं जानी चाहिए जो अधूरे ज्ञान पर आधारित हो।

इसी अंक में दो विचारपूर्ण निबन्ध और हैं जो कहानी और जीवन पर आधारित हैं। एक के लेखक हैं 'जयशंकर' और दूसरे के 'उदयन वाजपेयी'। जयशंकर का प्रतिपाद्य यह है: हमारा जीवन को देखने का ढंग ही हमारे कहानी लिखने के ढंग को प्रभावित करता जान पड़ता है। यहाँ मैं कहना चाहूँगा कि कथाकार जितने अलग-अलग ढंग से जीवन को देख पायेगा, उतनी अलग-अलग कहानियाँ लिख सकेगा। (पृष्ठ ३१३) उन्होंने इसी दृष्टि से हिन्दी के कहानीकारों की समीक्षा करने की कोशिश की है। फिर कहानी हमारे साथ क्या करती है इसे रेखान्कित करते हुए जयशंकर का कहना है: कहानी हमें कुछ और मनुष्य बनाती है और उसका लेखक, लेखक से कुछ और ज्यादा मनुष्य बन जाता है। लेकिन उन्होंने कहानी की आलोचना पर असंतोष व्यक्त करते हुए कहा है : कहानी और जीवन के प्रगाढ़ रिश्तों, उनके रिश्तों की सच्चाइयों और स्वप्नों को लेखकों और पाठकों को समझाने में हिन्दी कहानी की आलोचना, एक बड़ी और निर्णायक भूमिका निभा सकती थी। लेकिन दुर्भाग्यवश हिन्दी में कहानी की आलोचना उतनी जिम्मेवार, उतरी प्रौढ़ नहीं हो पायी हैं, जितना उसे हो सकना था। (पृष्ठ ३१५)

जयशंकर के इस कथन पर प्रो. धनंजय वर्मा और मधुरेश को विचार करना चाहिए।

उदयन वाजपेयी का आलेख एक तीव्र धार वाला झरना है जो कहानी के बहाने सिनेमा, नृत्य, चित्रकला और संगीत पर बहता हुआ विश्व और भारत के उपन्यासों और कहानियों पर कुछ कहता जा रहा है। उनका आलेख कहानी की भाषा और कहानीकारों पर एक टिप्पणी है। सिनेमा के आविर्भाव के पहले विश्व के कहानी, उपन्यास कैसे थे बाद में किस तरह के हुए उन्होंने इसको भी पड़ताल की है। निर्मल वर्मा की कहानियों की सांगीतिक अनुगूँजों पर भी उन्होंने ध्यान दिया है।

श्रीकान्त वर्मा की कविता पर तीन लोगों के विमर्शात्मक आलेख भी इस अंक की एक उपलब्धि है। वे लेखक हैं मदन सोनी (बुख़ार में कविता), ध्रुव शुक्ल (तीसरा रास्ता), उदयन वाजपेयी (बेघर कवि की कविताएँ)। अन्त में दो समीक्षाएँ, विनोबा के उद्धरण (ध्रुव शुक्ल), मिथिलेश शरण चौबे, परस्पर भाषा, साहित्य, आन्दोलन।

समास का बहुत बड़ा भाग उसकी कविताओं और संस्मरणों का परिसर है। कविताओं में हिन्दी, बांग्ला, चीनी, रूसी, मराठी, संस्कृत, ओड़िया, सिन्धी, असमिया, उर्दू, मणिपुरी, इतालवी/अंग्रेज़ी से अनुवाद। इन कविताओं का विवेचन एक अलग आलेख की माँग करता है जो इस आलेख की सीमा को देखते हुए सम्भव नहीं लगता। एक-एक कवि और एक-एक भाषा की कविताओं की भूमि, उनका शिल्प समास का एक अद्वितीय अवदान है। हर अंक में कविताएँ प्राथमिकता के साथ अपना परिसर बनाती हैं, यह उल्लेखनीय है।

कविताओं की तरह संस्मरणों के लिए भी समास ने खुली ज़मीन दी है, उनका विवेचन भी एक अलग ही आलेख को आवश्यक मानता है इसलिए संकेत ही काफ़ी है।

किसी भी पत्रिका का मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह पत्रिका पाठकों में क्या भाव जगाती है। समास अन्य पत्रिकाओं की तुलना में साहित्यिक पत्रकारिता की दृष्टि से थोड़ा हटकर है। इसी बात पर इसकी अद्वितीयता आधारित है। समास एक ऐसी पत्रिका है जो पाठकों में ज्ञान के प्रति, कुछ और जानने के प्रति उत्सुकता जगाती हैं पाठकों के ज्ञान में कुछ जोड़ने के अलावा अन्य मानविकी, विज्ञान, विद्या, वांग्मय, भाषा के बारे में पाठकों को जिज्ञासु बनाना इसका एक और उल्लेखनीय पक्ष है। इसके साथ-साथ इसके वार्तालापों या विवेचनात्मक निबन्धों, व्याख्यानों में जिन ग्रन्थों का उल्लेख होता है उन्हें खोजकर पढ़ने की इच्छा जगाना भी इसका एक सकारात्मक पक्ष है। यह किसी विचारधारा की पत्रिका नहीं है, वरन ज्ञान की विमर्शात्मक दिशाओं को उन्मुक्त करने वाली पत्रिका है। जिन विषयों का इसमें प्रतिपादन किया गया है, उन्हीं विषयों के और-और पक्षों को जानने की इच्छा जगाना भी इसकी एक और दिशा है। इसमें जो संस्मरण दिये गये हैं, या उदयन वाजपेयी की जिन लेखकों, विचारकों से बातचीत हुई है उन्होंने अपनी बातचीत में जिन मनीषियों, लेखकों का उल्लेख किया है उनके बारे में, उनके जीवन के बारे में जानना भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है। समास को पढ़कर पाठक वही नहीं रह जाता, जो पढ़ने के पहले था। वह और उसका मन, उसकी ग्रहणशीलता बहुत कुछ बढ़ जाती है, वह बहुत कुछ बदल जाता है।

लेखक परिचय

क्षितिमोहन सेन – शान्तिनिकेतन के प्रतिष्ठित अध्यापक। आमतौर से बांग्ला में ही लिखते थे पर स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में उन्होंने हिन्दी के महत्व और सामर्थ्य को जाना-पहचाना था।

जगदीश स्वामीनाथन – महान चित्रकार, कवि-लेखक। भारतीय चित्रकला और सभ्यता पर विशद चिन्तन। बहुकला केन्द्र भारत भवन, भोपाल की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान। भारत भवन के कला संग्रहालय रूपंकर के संस्थापक एवं निदेशक। भावनगर, गुजरात में ग्रुप १८६० की स्थापना करने वाले १२ प्रमुख कलाकारों में से एक। परधान चित्र शैली के प्रथम चित्रकार जनगण सिंह श्याम के खोज कर्त्ता।

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी – हमारे समय के महान लेखक। १६६६ से 'शबख़ून' पत्रिका का सम्पादन और लगभग उसी वक़्त उर्दू में आलोचना लेखन आरम्भ। उनकी 'लफ़्ज़ ओ मानी', 'शेर ग़ैर शेर और नस्र', 'इस्बात ओ नफ़ी', 'तनक़ीदी अफ़कार' आधुनिक आलोचना की और 'तफ़हीमे-ग़ालिब' तथा 'शेर ए शोर अंगेज़' उर्दू की क्लासिकी शाइरी पर बेहतरीन क़िताबें। कहानी संग्रह 'सवार और दूसरी कहानियाँ', 'कई चाँद थे सरे आसमाँ' उपन्यास प्रकाशित। इसके बाद एक और उपन्यास 'कब्ज़े ज़माँ' छपा। राजकमल प्रकाशन से हाल में रज़ा पुस्तक माला के तहत फ़ारूक़ी साहब से बातचीत की क़िताब 'उपन्यासकार का सफ़र' शाया हुई है। 'कब्ज़े ज़माँ' का हिन्दी में लिप्यन्तरण हाल ही में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है। आपकी मृत्यु कोरोना महामारी से दिनांक २५ दिसम्बर २०२० को इलाहाबाद में हुई।

अशोक वाजपेयी – हिन्दी के मूर्धन्य कवि, व्याख्याता, अनुवादक और निबन्धकार-आलोचक। दो दर्जन से अधिक कविता संग्रह और आलोचना ग्रन्थ प्रकाशित जिनमें 'यहीं-कहीं-वहीं', 'दुःख एक चिट्ठी रसा है', 'तिनका-तिनका' और 'इस नक्षत्रहीन समय में' कविता संग्रह और 'फिलहाल' आदि प्रमुख आलोचना संग्रह हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत के रबीन्द्रनाथ टैगोर के बाद सबसे महत्वपूर्ण कला संस्थाओं के आकल्पक और निर्माता। 'भारत भवन' आदि अनेक संस्थाओं के स्थपति। 'पूर्वग्रह', 'बहुवचन' जैसी अनेक विचारोत्तेजक साहित्यिक-कला पत्रिकाओं के संस्थापक-सम्पादक। कविताओं और अन्य लेखन का बीस से अधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं।

वागीश शुक्ल – हिन्दी के गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक। समास के नियमित लेखक। इनकी तीन पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' 'चन्द्रकान्ता (सन्तति) का तिलिस्म' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की

विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं, जिसके कुछ अंश समास- छः और पन्द्रह में प्रकाशित हुए हैं। इन दिनों बस्ती (उ.प्र.) में रहते हैं।

रामशंकर द्विवेदी - अनुवादक और समीक्षक। बांग्ला की श्रेष्ठ कृतियों का ४५ वर्षों से बांग्ला से हिन्दी में निरन्तर अनुवाद। रबीन्द्रनाथ टैगोर तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के सौन्दर्य बोध पर 'साहित्य और सौन्दर्य बोध' पुस्तक प्रकाशित। समास के पिछले कुछ अंकों में आपके किये अनुराधा महापात्र, जीवनानन्द दास आदि के कई अनुवाद प्रकाशित। महाश्वेता देवी के उपन्यास 'झाँसी की रानी', सुनील गंगोपाध्याय की आत्मकथा 'अधूरा सफ़र' आदि के अनुवाद प्रकाशित। उरई (उ.प्र.) में रहते हैं।

अमृता भारती - हिन्दी कवि और गद्य लेखिका। सात कविता संग्रह और एक गद्य संग्रह प्रकाशित। पुदुचेरी में रहती हैं।

वरयाम सिंह - रूसी भाषा से हिन्दी में अनुवाद की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। लगभग सभी महत्वपूर्ण रूसी कवियों की कविताओं का मूल रूसी भाषा से प्रांजल हिन्दी अनुवाद किया है। वर्षों तक दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया है।

मदन सोनी - हिन्दी के आलोचक और अनुवादक। 'कविता का व्योम और व्योम की कविता,' 'विषयान्तर', निर्मल वर्मा पर 'कथापुरुष', 'विक्षेप' पुस्तकें। बर्टोल्ट ब्रेख़्त और कालिदास के नाटकों के बुन्देली में अनुवाद। हर्मन हेस के उपन्यास 'सिद्धार्थ' और उम्बर्टो इको के उपन्यास 'द नेम ऑफ़ द रोज़' के हिन्दी अनुवाद 'ख़ाली नाम गुलाब का' के साथ इज़राईली इतिहासकार युवाल नोआ हरारी की कई क़िताबों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। भोपाल में रहते हैं।

ध्रुव शुक्ल - हिन्दी के कवि, कथाकार, उपन्यासकार और टिप्पणीकार। कई कविता संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी' और 'एक बूँद का बादल' प्रमुख हैं। इनके तीन उपन्यास 'उसी शहर में', 'अमर टॉकीज़' और 'कचराघर' प्रकाशित। कहानी संग्रह 'हिचकी', सामयिक विषयों पर टिप्पणियों का संग्रह, 'एक नागरिक की डायरी', महात्मा गाँधी की प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिन्द स्वराज' पर केन्द्रित सुदीर्घ निबन्ध, 'पूज्य पिता के सहज सत्य' आदि प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी साहित्य की पत्रिका, 'पूर्वग्रह' में सम्पादन सहयोग और 'साक्षात्कार' का सम्पादन किया है। आप भोपाल में रहते हैं।

यशोधरा डालमिया - कला-इतिहासकार हैं और स्वतन्त्र रूप से कला-प्रदर्शनियों का संयोजन करती हैं। समकालीन भारतीय कला पर अनेक निबन्धों और समीक्षाओं आदि का लेखन। पुस्तकों में अमृता शेर-गिल : अ लाइफ़, द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इण्डियन आर्ट : द प्रोग्रेसिव्स। उन्होंने कई कला-प्रदर्शनियों को संयोजित किया है, जिनमें मुम्बई की नेशनल गैलरी ऑफ़ मॉडर्न आर्ट की शुभारम्भ प्रदर्शनी द मॉर्डन्स और २०१४ में

अमृता शेरगिल की जन्मशती के अवसर पर नेशनल गैलरी ऑफ़ मॉडर्न आर्ट नयी दिल्ली, मुम्बई और बेंगलूरू में आयोजित प्रदर्शनी अमृता शेर-गिल : द पैशनेट क्वेस्ट प्रमुख रूप से शामिल हैं। वे दिल्ली में रहती हैं।

ख़ालिद जावेद – बरेली में कई साल तक दर्शन शास्त्र पढ़ाते रहे। फिर उर्दू में एम.ए., पीएच.डी. और इन दिनों जामिया मिल्लिया इस्लामिया में उर्दू के प्रोफ़ेसर हैं। ख़ालिद जावेद के दो कहानी संग्रह 'बुरे मौसम में' और 'आख़िरी दावत' तथा दो उपन्यास 'मौत की क़िताब' और 'नेमत ख़ाना' प्रकाशित हैं। 'आख़िरी दावत' उपन्यास हिन्दी में भी प्रकाशित हुआ है।

अखिलेश – चित्रकार अखिलेश की मक़बूल फ़िदा हुसैन की जीवनी, मार्क शगाल की आत्मकथा का अनुवाद तथा 'अचम्भे का रोना', 'दरसपोथी', 'शीर्षक नहीं' और 'देखना' आदि कई गद्य कृतियाँ प्रकाशित हैं। भोपाल में रहते हैं।

मनोज कुमार झा – कविता की एक पुस्तिका 'हम तक विचार' तथा दो कविता संग्रह 'तथापि जीवन' एवं 'कदाचित अपूर्ण' प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख और समकालीन चिंतकों एवं दार्शनिकों के अनुवादों का नियमित प्रकाशन।

रिज़वानुल हक़ – उर्दू के अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न कथाकार। जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में अध्ययन। कहानी-संग्रह 'बाज़ार में तालिब' प्रकाशित। शोधकार्य 'उर्दू फ़िक्शन और सिनेमा' भी प्रकाशित। शमीम हनफ़ी के कई लेखों का उर्दू से हिन्दी में और कुछ कहानियों का अंग्रेज़ी से उर्दू में अनुवाद। उर्दू का अध्यापन। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं। पिछले दिनों जनाब शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी के उपन्यास 'कब्ज़े ज़मा' का आपका हिन्दी अनुवाद राजकमल प्रकाशन से शाया हुआ है।

कृष्णमोहन झा – द्विभाषी कवि। हिन्दी में 'समय को चीरकर' (१९९८) और मैथिली में 'एकटा हेरायल दुनिया' (२००८) प्रकाशित। विद्यापति के गीतों के एक संचयन 'भनइ विद्यापति' का सम्पादन। कविताओं के अंग्रेज़ी में अनूदित संग्रह 'होम फ्रॉम अ डिस्टेंस' के सहयोगी कवि। बाँग्ला, मराठी, तेलुगु, नेपाली और अंग्रेज़ी में कविताएँ अनूदित एवं प्रकाशित। इन दिनों असम विश्वविद्यालय, सिलचर के हिन्दी विभाग में अध्यापन।

राजेन्द्र पांचाल – अनूठे कलाकर्मी। जन्म और आरम्भिक शिक्षा राजस्थान में। संगीत में स्नातक और रंगकर्म में स्नातकोत्तर डिप्लोमा राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली के स्नातक। कई कार्यशालाएँ संचालित कर नाटक तैयार किये, जिनमें जेल में रहने वाले कैदियों, अनाथ बच्चों, रेलवे प्लेटफ़ार्म पर काम करने वाले बच्चों आदि के साथ विशेष रूप से कार्य। कई नाटकों में अभिनय किया है। कई नाटकों का निर्देशन किया, जिनमें 'कथा सुकवि सूर्यमल्ल की', 'फूल केसुला', 'शकुन्तला', 'फैज़ एहमद

फैज़' आदि प्रमुख हैं। कोटा के निकट 'रोटेडा' में अपनी रंग संस्था 'पेराफ़िन' स्थापित की, वहीं रहकर रंगकर्म का प्रशिक्षण दे रहे हैं। संगीत में गहरी रुचि है।

संगीता गुन्देचा – कवि, कथाकार, निबन्धकार, अनुवादक और नाट्यशास्त्रज्ञ। प्रकाशित पुस्तकें 'एकान्त का मानचित्र' 'नाट्यदर्शन', 'उदाहरण काव्य', 'मटमैली स्मृति में प्रशान्त समुद्र', 'कावालम नारायण पणिक्कर : परम्परा एवं समकालीनता', 'भास का रंगमंच', 'समकालीन रंगकर्म में नाट्यशास्त्र की उपस्थिति'। सूफ़ी तबस्सुम की कविताओं की पुस्तक 'टोट बटोट' का सम्पादन। इन दिनों मालवी उपन्यास पर कार्य, 'समास' में सम्पादन सहयोग और केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल में सहायक आचार्या।

ISSN-2394-2355

क्षितिमोहनसेन
जगदीशस्वामीनाथन
शम्सुर्रहमानफ़ारूक़ी
अशोकवाजपेयी
वागीशशुक्ल
रामशंकरद्विवेदी
अमृताभारती
वरयामसिंह
चन्द्रभूषण
मदनसोनी
ध्रुवशुक्ल
यशोधराडालमिया
ख़ालिदजावेद
अखिलेश
मनोजकुमारझा
रिज़वानुलहक़
कृष्णमोहनझा
महेन्द्रप्रसादकुशवाह
शान्तनुबनर्जी
राजेन्द्रपांचाल
संगीतागुन्देचा

समास, प्रकाशक : अशोक वाजपेयी, प्रबन्ध न्यासी द्वारा द रज़ा फ़ाउण्डेशन, सी-४/१३९, सफ़दरजंग डेवलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित। मुद्रक : भण्डारी ऑफ़सेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.) सम्पादक : उदयन वाजपेयी
Samas, A Literary Quarterly Magazine, Language : Hindi, published by Ashok Vajpeyi, Managing Trustee, The Raza Foundation, C-4/139, Safdarjung Development Area, New Delhi-110016 Edited by Udayan Vajpeyi.